श्रीराधा-माधव-चिन्तन



श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीराधा-माधव-चिन्तन



ग्रन्थकार—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् २०१२, प्रथम संस्करण ५,०००

मूल्य ३.५० (तीन रुपया पचास नये पैसे)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

नम्र निवेदन

भक्ति-रसमें ब्रज-रसकी माधुरी अनुपमेय है। भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने ब्रजमें प्रकट रहकर रसकी जो मधुरातिमधुर धारा बहायी, उसकी जगत्‌में क्या, विश्व-ब्रह्माण्डमें कोई तुलना नहीं है। बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र तथा ज्ञानी-विज्ञानी इस रसके लिये तरसते हैं। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने समय-समयपर इस विषयपर 'कल्याण' के लिये लिखे गये लेखोंमें, विशेष अवसरोंपर पढ़े गये लिखित व्याख्यानोंमें तथा व्यक्तिगत पत्रोंके रूपमें जो कुछ लिखा है तथा दैनिक सत्संगमें अथवा अन्य समारोहोंमें मौखिकरूपसे जो कुछ कहा है, वह आध्यात्मिक जगत्‌की एक अमूल्य निधि है। सहृदय पाठक-पाठिकाओंका बहुत दिनोंसे यह आग्रह रहा है कि उनके ब्रज-रस-सम्बन्धी लेखों आदिका एक स्वतन्त्र संग्रह पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी आग्रहका सुमधुर फल है। अवश्य ही इस संग्रहमें उनके उन्हीं लेखों, व्याख्यानों तथा पत्रों

आदिका आंशिक समावेश हुआ है, जो मधुर रस अथवा कान्ताभाव-से सम्बन्ध रखते हैं। उनके इतर रस-सम्बन्धी लेख आदि प्रायः इसमें नहीं आ पाये हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने मौखिक प्रवचनों एवं व्यक्तिगत पत्रोंमें इस विषयपर इतना अधिक कहा और लिखा है कि वह सब तो संगृहीत हो ही नहीं सकता।

विषयको भलीभाँति हृदयंगम करानेके लिये एकत्रित सामग्रीको सात प्रकरणोंमें बाँटा गया है। पहले प्रकरणका शीर्षक है—'श्रीराधा'। कहना न होगा कि व्रज-रसके प्राण श्रीव्रजराजकुमारकी आत्मा श्रीराधिका हैं—'आत्मा तु राधिका तस्य।' एक रूपमें जहाँ श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका—उपासिका हैं, दूसरे रूपमें वे उनकी आराध्या—उपास्या भी हैं—'आराध्यते असौ इति राधा'। शक्ति और शक्तिमान्‌में वस्तुतः कोई भेद न होनेपर भी भगवान्‌के सविशेष रूपोंमें शक्तिकी प्रधानता है। शक्तिमान्‌की सत्ता ही शक्तिके आधारपर है। शक्ति नहीं तो शक्तिमान् कैसे? 'रस्यते असौ इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रसकी सत्ता ही आस्वादके लिये है। अपने-आपको अपना आस्वादन करानेके लिये ही स्वयं रसरूप ('रसो वै सः') श्रीकृष्ण 'राधा' बन जाते हैं। इसीलिये व्रज-रसमें 'राधा' की विशेष महिमा है। श्रीकृष्ण प्रेमके पुजारी हैं, इसीलिये वे अपनी पुजारिनकी पूजा करते हैं, उन्हें अपने हाथों सजाते-सँवारते हैं, उनके रूठ जानेपर उन्हें अपने प्राणोंके निर्मञ्छनद्वारा प्रसन्न करते हैं। 'चाँपत चरन मोहनलाल' तथा—

'ढुरत्यौ दुरयौ मैं कुंज कुटीर मैं बैठ्यो पलोटत राधिका पायन'

—आदि उक्तियोंद्वारा रसिक कवियोंने श्रीकृष्णकी इसी प्रेम-प्रवणताकी ओर संकेत किया है। शक्तिकी प्रधानताको द्योतित करनेके लिये ही 'राधाकृष्ण' 'सीताराम' आदि युगल नामोंमें 'राधा' और 'सीता' का नामोल्लेख पहले किया जाता है। इसी परिपाटीके

अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थमें भी 'श्रीराधा' शीर्षक प्रकरणको प्रथम स्थान दिया गया है। आकारकी दृष्टिसे भी यह प्रकरण सबसे बड़ा है। इस प्रकरणमें श्रीराधाका दिव्यातिदिव्य स्वरूप, उनके प्रेमकी अलौकिक महिमा, श्रीकृष्णके साथ उनका पवित्रतम सम्बन्ध आदि दुरूह एवं गूढ़ विषयोंका मार्मिक विवेचन किया गया है तथा प्रसङ्गवश श्रीराधाके विषयमें तथा श्रीराधाकृष्णके प्रेम-सम्बन्धमें उठायी गयी विविध शङ्काओंका बड़े ही सुन्दर ढंगसे समाधान किया गया है।

दूसरे प्रकरणका शीर्षक है—'श्रीकृष्ण'। इसमें श्रीकृष्णकी पूर्ण भगवत्ता, उनका परम दिव्य स्वरूप, उनका सच्चिदानन्दमय भगवद्देह, श्रीकृष्णके प्राकट्यकी महिमा तथा उनका जन्म-महोत्सव, उनकी विरुद्धधर्माश्रयता, उनकी सर्वमान्यता, श्रीकृष्ण-चरित्रकी उज्ज्वलता तथा उनको प्रियतमरूपमें प्राप्त करनेकी साधना आदि विषयोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरणका शीर्षक है—'राधा-माधव'। इसमें युगल तत्त्वकी एकता, युगल स्वरूपकी उपासना, राधाकृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा आदि विषयोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है।

इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपको, उनके परस्परके पवित्रतम सम्बन्धको, उनकी विभिन्न मधुर लीलाओंको—जिनमें प्रणय, मान एवं विरह, सभी हैं—ठीकसे समझनेका 'मापदण्ड' इस ग्रन्थमें प्राप्त होता है। साथ ही श्रीराधा-कृष्णके सम्बन्धमें अबतक जो भी साहित्य संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओंमें प्राप्त है, उसके अध्ययन, मनन एवं आलोचनकी 'कसौटी' यह ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। बिना एक 'कसौटी' को सामने रक्खे—श्रीराधा-माधवके स्वरूप तथा उनकी पारस्परिक मधुर लीलाओंके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही—न केवल हिंदी साहित्यमें प्राप्त रचनाओं अपितु संस्कृत-साहित्यकी भी एतद्विषयक रचनाओंके अध्ययनके सम्यक् आनन्दसे हम अभीतक बहुत अंशोंमें वञ्चित रहे हैं तथा हमने अनेकों भ्रान्त

धारणाओंका सृजन कर लिया है । अपनी मानी हुई कसौटीके आधारपर ऐसा करके जहाँ एक ओर हमने अपनी हानि की है, वहाँ दूसरी ओर श्रीराधा-कृष्णविषयक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों एवं कवि-लेखकोंके प्रति अन्याय भी किया है !

साहित्यके अध्ययन करनेवालोंकी भाँति ही, साहित्य-प्रणेताओंके समक्ष भी श्रीराधाकृष्णके स्वरूप एवं उनकी लीलाओंके सम्बन्धमें एक सैद्धान्तिक मापदण्ड न रहनेके कारण सूरदास आदि कुछ भक्तकवियोंको छोड़कर शेष कवि, जिन्होंने श्रीराधामाधवको अपने काव्यका विषय बनाया, बहुत कुछ पथ भूल गये हैं । अतः श्रीराधाकृष्णविषयक साहित्यके प्रणेता कवि एवं लेखकोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थमें प्रस्तुत किये गये श्रीराधाकृष्णके पवित्रतम स्वरूप एवं सम्बन्धको अपने सामने रखकर साहित्यका सृजन करेंगे तो ऐसा सात्त्विक साहित्य प्रकट होगा जो भक्तिक्षेत्रकी तो अमूल्य निधि होगी ही, समाजके पतनोन्मुख नैतिक स्तरको भी उन्नत करनेमें सक्षम होगा ।

चौथे प्रकरणका शीर्षक है—'भावराज्य और लीलारहस्य' । इसमें भावराज्यकी लोकोत्तर महिमा, ज्ञानराज्यकी सीमाको पार करनेपर भावराज्यमें प्रवेशके लिये अधिकारकी प्राप्ति, भावराज्यमें प्रिया-प्रियतमका नित्य लीलाविहार, भगवदवतारका रहस्य तथा श्रीकृष्णकी माखन-चोरी, चीरहरण एवं रासक्रीडा आदि मधुरातिमधुर किंतु तर्कशील व्यक्तियोंको भ्रमित कर देनेवाली विविध दिव्य लीलाओंका मर्म बड़ी ही सुन्दर एवं सुबोध शैलीसे समझाया गया है, जिसे पढ़कर उनके सम्बन्धमें अज्ञानवश की जानेवाली अनेकानेक शङ्काओंका सम्यक्तया निराकरण हो जाता है । रासलीलाके सम्बन्धमें प्राचीन आचार्यों एवं अन्य महानुभावों-के कई मत हैं । कुछ लोग इसे आध्यात्मिक रूपक मानते हैं, कोई-कोई इसे काम-विजयकी लीला कहते हैं—इत्यादि । इन सभी

मतोंकी समीक्षा करते हुए श्रीभाईजीने यह बतलाया है कि यह तो भगवान्‌का आत्मरमण—अपनी स्वरूपभूता श्रीगोपीजनोंके साथ रमण है, जिसके द्वारा प्रभुने यह दिखलाया है कि लोक-वेद—सबका त्याग करके उनपर अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाले भक्तोंको किस प्रकार वे अपना स्वरूपदान करते हैं, सर्वथा उनके अधीन हो जाते हैं। श्रीकृष्णका यह रमण वस्तुतः 'स्वरूप-वितरण' ही है। इसी प्रसङ्गमें यह भी बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णका सम्पूर्ण चरित्र परमोज्ज्वल एवं आदर्श होनेपर भी उनकी सभी लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं तथा सबका अनुकरण करने जाकर मनुष्य पतनके महान् गर्तमें गिर जायगा। भक्त-शिरोमणि सम्राट् परीक्षित्‌के द्वारा रासलीलाके प्रसङ्गमें शङ्का उठाये जानेपर श्रीमद्भागवतके वक्ता स्वयं शुकदेव मुनि इस प्रकारकी चेतावनी बहुत पहले हम लोगोंको दे गये हैं।

पाँचवें प्रकरणका शीर्षक है—'प्रेमतत्त्व'। इसमें प्रेमतत्त्वकी बड़ी ही मार्मिक एवं अधिकारपूर्ण व्याख्या की गयी है तथा प्रेमके रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव—इन आठ स्तरों एवं उनके अवान्तर भेदोंको बड़े ही सुन्दर ढंगसे समझाया गया है। 'प्रेम' शब्दका प्रयोग आजकल लौकिक पति-पत्नीके पारस्परिक सम्बन्धके अर्थमें होने लगा है, कहीं-कहीं तो अवैध आसक्तिको भी प्रेम कहा जाता है, जिससे इस शब्दकी सात्त्विकता एवं पवित्रता नष्ट हो गयी है और लोग 'प्रेम' नामसे ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धका नाम 'प्रेम' नहीं 'काम' है, जिसका आधार है भोग—निजेन्द्रिय-तृप्ति, जब कि प्रेमका आधार है त्याग—प्रेमास्पद-सुखैक-लालसा। भगवत्प्रेमी इस लोक और परलोकके भोगोंसे ही नहीं, मोक्षतकके सुखसे बहुत पहले ऊपर उठ जाता है। इसीलिये प्रेमियोंने भगवत्प्रेमको अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारोंसे ऊँचा पञ्चम पुरुषार्थ माना है। इसमें स्व-सुख-

वासनाका लेश भी नहीं होता। इस प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति ही श्रीराधारानी हैं। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति उत्कट चाहसे तथा भगवत्कृपासे ही सम्भव है, त्यागकी भित्तिपर ही प्रेमके दिव्य प्रासादका निर्माण होता है, प्रेमके लिये विषय-वैराग्यकी परम आवश्यकता है—इत्यादि विषयोंपर भी इस प्रकरणमें अद्भुत प्रकाश डाला गया है।

छठे प्रकरणका शीर्षक है—'गोपाङ्गना'। प्रेमकी चरम परिणति श्रीगोपीजनोंमें ही हुई है। इन्हें प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। इसीलिये 'प्रेमतत्त्व' के अनन्तर ही 'गोपाङ्गना' शीर्षक प्रकरणकी अवतारणा की गयी है। इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीराधाकी ही अंशभूता अथवा कायव्यूहरूपा हैं। इनका एकमात्र कार्य है श्रीप्रिया-प्रियतमका परस्पर मिलन कराना एवं दोनोंकी प्राणपणसे प्रेममयी सेवा करना। 'तत्सुख-सुखित्वम्' ही इनका आदर्श है, जो प्रेमका मूलमन्त्र है। इसीलिये देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रोंमें इन्हींको भक्तिका सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना है—'यथा व्रजगोपिकानाम्'। जिनकी चरण-रजकी कामना जगत्पिता ब्रह्माने ही नहीं, उद्धव-जैसे भक्ताग्रगण्योंने की है, जिनका दर्जा भगवान्‌ने ब्रह्मा, शंकर, भगवान् संकर्षण, भगवती लक्ष्मीसे—यहाँतक कि अपनेसे भी ऊँचा बताया है—'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥' उन श्रीगोपीजनोंकी महिमा क्या कही जाय। इन गोपीजनोंके सहस्रशः यूथ हैं और सखी, सहचरी, प्रियनर्मसखी, मञ्जरी, दूती आदि अनेकों भेद हैं। इन सबके स्वरूप, सेवा, प्रेम तथा गोपीभावकी साधना आदि अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यपूर्ण विषयोंकी बड़ी ही समीचीन एवं साङ्गोपाङ्ग व्याख्या इस प्रकरणमें की गयी है। इसी प्रसङ्गमें यह बताया गया है कि गोपीभावकी साधना केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हों, ऐसी बात नहीं है। सुतरां इसके लिये स्त्रियोचित वेष सजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे तो गोपीभावका एक प्रकारसे उपहास ही करते हैं।

वस्तुतः स्त्री-पुरुषसम्बन्धकी तो कोई कल्पना ही नहीं है। यह तो एक पवित्रतम अप्राकृत भाव है, जो सर्वथा राग-गन्धसे शून्य है। स्वकीया एवं परकीया भावोंको लेकर भी साधनाक्षेत्रमें तथा साहित्यिक क्षेत्रमें श्रीराधा-माधवके पवित्रतम सम्बन्धके प्रति अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। इस ग्रन्थमें स्वकीया और परकीया-भावका यत्र-तत्र जो विवेचन हुआ है, उसे दृष्टिमें रखकर श्रीराधा-माधव एवं गोपी-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धके विषयमें विचार करनेपर हृदय उसकी पवित्रतम एवं उज्ज्वलतम आभासे उद्भासित हो उठता है।

जिन स्फुट विषयोंका समावेश उक्त छहों प्रकरणोंमें नहीं हो सकता था, उन सबको एक अलग प्रकरणमें रक्खा गया है जिसका शीर्षक है—'प्रकीर्ण'। यद्यपि यह अन्तिम प्रकरण है, किंतु सरसताकी दृष्टिसे यह अपने पूर्वके छः प्रकरणोंसे किसी भी प्रकार न्यून नहीं है।

प्रत्येक प्रकरणके आदि और अन्तमें तथा कहीं कहीं प्रकरणके बीचमें भी प्रतिपाद्य विषयके संग्राहक, ग्रन्थकारके कुछ पद भी दे दिये गये हैं, जिनसे प्रकरणोंमें और भी सजीवता आ गयी है। इस प्रकार वर्तमान संग्रह व्रज-रस—मधुररसका एक अमूल्य आकर बन गया है। इन पंक्तियोंके लेखककी धारणाके अनुसार इस विषयपर ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण, सुगम, सरस और प्रामाणिक विवेचनात्मक ग्रन्थ कदाचित् किसी भी भाषामें आजतक नहीं लिखा गया है। संस्कृत-साहित्यमें अवश्य ही इस प्रकारकी सामग्री प्रचुररूपमें उपलब्ध है, परंतु वह यत्र-तत्र इतनी बिखरी पड़ी है कि उसके मर्मको हृदयंगम करते हुए उसका सम्यक्तया विश्लेषण तथा उपयोग करके समन्वित रूप देना श्रीभाईजी-जैसे पुरुषका ही काम था। मेरी समझसे इसमें भक्तिशास्त्रका मर्म एवं व्रज-साहित्यका निचोड़ बहुत कुछ आ गया है। इसमें जो कुछ लिखा गया है, वह वैष्णव-शास्त्र एवं रसिक-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंद्वारा पूर्णतया सम्मत है। मेरी अपनी मान्यता एवं विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीराधाकृष्णके उपासकोंके लिये अनुपम पथ-प्रदर्शकका काम करेगा। इस ग्रन्थके मनोयोगपूर्वक अध्ययन-मननसे एवं इसमें वर्णित सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें

उतारनेसे मनुष्य परम दुर्लभ, मोक्षको भी लघु बना देनेवाले भगवत्प्रेमके मार्गमें अनायास ही अग्रसर हो सकता है।

मधुरभावकी साधना करनेवालोंके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। मधुर-भावकी उपासनाके नामपर व्यक्तिगत जीवनमें तथा समष्टिरूप समाजमें बहुत गंदगी आयी है और आनेकी सम्भावना है, कारण, मधुर-रसका 'पारा' यदि विधिपूर्वक सेवन न किया गया तो वह फूट पड़ता है और सारे शरीर और मनको क्षत-विक्षत कर डालता है। इस ग्रन्थमें प्रस्तुत मधुर-भावकी उपासनाके सिद्धान्तोंको पकड़कर चलनेवालेका नैतिक स्तर निरन्तर उन्नत होता जायगा और वह सांसारिक भोगोंके दलदलसे—नीच कामके चंगुलसे निकलकर विशुद्ध प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर पायेगा।

अन्तमें यह निवेदन है कि इस ग्रन्थमें संगृहीत सामग्री गत ३५ वर्षोंके सुदीर्घकालमें समय-समयपर तथा भिन्न-भिन्न अवसरोंपर लिखी होनेके कारण इसमें यत्र-तत्र पुनरुक्तिका दोष अवश्य दृष्टि-गोचर होगा, यद्यपि जहाँ-जहाँ वह ध्यानमें आया है, उसके निराकरणका प्रयास किया गया है—जिससे मूल लेखोंका रूप कुछ विकृत भी हुआ है। किंतु लेखोंमें निरूपित विषयोंके परस्पर सम्बद्ध होनेके कारण कहीं-कहीं उन पुनरुक्तियोंको उसी रूपमें रखना अनिवार्य हो गया है। साथ ही प्रतिपाद्य विषयको हृदयङ्गम करानेके लिये कहीं-कहीं एक ही बातको बार-बार दोहराना आवश्यक भी होता है। फिर, इसमें आये हुए प्रसङ्ग तो इतने मार्मिक, भावपूर्ण, रोचक एवं हृदयग्राही हैं कि उन्हें जितनी बार पढ़ा जायगा वे हृदयको उतना ही पवित्र एवं भगवद्भावसे पुष्ट करेंगे। इन सब दृष्टियोंसे ये सब पुनरुक्तियाँ क्षम्य ही नहीं, अपितु सहृदय सज्जनोंकी दृष्टिमें गुणाधायक ही सिद्ध होंगी। हाँ, यह बात अवश्य ध्यानमें रखनेकी है कि जो सामग्री इस ग्रन्थमें संकलित की गयी है, वह 'कल्याण' की विगत ३५ वर्षोंकी फाइलोंमें विभिन्न रूपोंमें बिखरी पड़ी थी। उसे जहाँ-तहाँसे छाँटकर एकत्रित करने, प्रकरणोंमें बाँटने, शृङ्खलाबद्ध करने आदिमें सम्भव है, अपने प्रमादवश—अज्ञानवश बहुत-सी भूलें रह गयी हों। यदि ग्रन्थकार स्वयं इस कार्यको सम्पन्न करते तो निश्चित

है, इसका और ही रूप हमारे सामने उपस्थित होता; किंतु स्वयं ग्रन्थकारको न इतना अवकाश था और न रुचि ही कि वे इन स्थलोंको पुनः पढ़ते और परिमार्जित एवं शृङ्खलाबद्ध करते। इस संग्रहको छापनेकी अनुमति भी उन्होंने हमलोगोंकी रुचिको रखनेके लिये ही बड़े संकोचसे दी है। ऐसी दशामें, इस ग्रन्थमें यदि कोई त्रुटि रह गयी है तो वह इन पंक्तियोंके लेखककी ही माननी चाहिये।

अन्तमें 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इस भावसे इस संग्रहको हम श्रीनिकुञ्जेश्वर तथा श्रीनिकुञ्जेश्वरीके पावन चरणोंमें भक्ति-पूर्वक निवेदित करते हैं; क्योंकि इन पंक्तियोंके लेखकका विश्वास है कि इस ग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है, उन्हींकी प्रेरणासे लिखा गया है, अथवा यों कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि उन्होंने ग्रन्थकारके हृदयमें स्थित होकर लिखा है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्रज-रसका सिद्धान्त-पक्ष उपन्यस्त किया गया है। लीलापक्षका इसमें विशेष रूपमें समावेश नहीं है।

प्रतिपाद्य विषयको अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करानेकी दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें दस रंगीन तथा चार लाइन-चित्र भी दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थकी उपादेयता बढ़ गयी है।

अन्ततोगत्वा हमारी श्रीभाईजीसे विनीत प्रार्थना है कि वे हमारी प्रसन्नताके लिये ही प्रस्तुत ग्रन्थपर विहङ्गम दृष्टि डालकर यदि उन्हें ऐसा लगे कि इस विषयका कोई आवश्यक अङ्ग छूट गया है तो उसे कृपया पूरा कर दें, जिसे अगले संस्करणमें उसे जोड़ दिया जाय! श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।

गोरखपुर
श्रीराधाष्टमी,
२०१८ वि०

भक्तोंकी चरण-रज—
चिम्मनलाल गोस्वामी
एम्० ए०, शास्त्री



विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

श्रीराधा-माधव ... ... (३०५–३५०)

विषय | पृष्ठ-संख्या



चित्र-सूची

तिरंगा

सादे (लाइन)



ागा-या म।-यन

श्रीराधा

प्रार्थना

स्वामिनी हे वृषभानुदुलारि !
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्तिकुमारि ॥
नित्य निकुंजेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-आधार ।
परम रसिक रसराजाकर्षिणि उज्ज्वल-रसकी धार ॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरि-लीला-जीवनकी मूल ।
मोहि बनाय राखु निसिदिन निज पावन पदकी धूल ॥



नारदकृत राधा-स्तवन

एक समय नारदजी यह जानकर कि 'भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रकट हुए हैं' वीणा बजाते हुए गोकुल पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने नन्दजीके गृहमें बालकका स्वाँग बनाये हुए महायोगीश्वर दिव्य-दर्शन भगवान् अच्युतके दर्शन किये। वे स्वर्णके पलंगपर, जिसपर कोमल श्वेत वस्त्र बिछे थे, सो रहे थे और प्रसन्नताके साथ प्रेमविह्वल हुई गोपबालिकाएँ उन्हें निहार रही थीं। उनका शरीर सुकुमार था; जैसे वे स्वयं भोले थे, वैसी ही उनकी चितवन भी बड़ी भोली-भाली थी। काली-काली घुँघराली अलकें भूमिको छू रही थीं। वे बीच-बीचमें थोड़ा-सा हँस देते थे, जिससे दो-एक दाँत झलक पड़ते थे। उनकी छविसे गृहका मध्यभाग सब ओरसे उद्भासित हो रहा था। उन्हें नग्न बालरूपमें देखकर नारदजीको बहुत ही हर्ष हुआ।

उन्होंने नन्दजीसे कहा—'तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको, जो नारायणके भक्तोंका परम दुर्लभ जीवन है, इस जगत्में कोई नहीं जानता। शिव, ब्रह्मा आदि देवता भी इस विचित्र बालकमें निरन्तर अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभीके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली तुम्हारे शिशुमें स्नेह रखते हुए जो लोग इसके पुण्य चरित्रका सहर्ष गान, श्रवण तथा अभिनन्दन करेंगे, उन्हें कभी भव-बाधा न होगी। गोपवर! तुम परलोककी इच्छा छोड़ दो और अनन्यभावसे इस दिव्य बालकमें अहैतुक प्रेम करो।'

यह कहकर मुनिवर नारदजी नन्दभवनसे निकले। नन्दने भी विष्णु-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करके उन्हें विदा दी। इसके बाद महाभागवत नारदजी यह विचारने लगे—'भगवान्की कान्ता लक्ष्मीदेवी भी अपने पति नारायणके अवतीर्ण होनेपर उनके विहारार्थ गोपीरूप धारण करके कहीं अवश्य ही अवतीर्ण हुई होंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। अतः व्रजवासियोंके घरोंमें उन्हें खोजना चाहिये।'

ऐसा विचारकर मुनिवर व्रजवासियोंके घरोंपर अतिथिरूपमें जा-जाकर उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। उन्होंने भी गोपोंका नन्दनन्दनमें उत्कृष्ट प्रेम देखकर मन-ही-मन सबको प्रणाम किया।

तदनन्तर वे नन्दके मित्र महात्मा भानुके घरपर गये। उन्होंने इनकी विधिवत् पूजा की। तब महामना नारदजीने उनसे पूछा—'साधो! तुम अपनी धार्मिकताके कारण विख्यात हो। क्या तुम्हें कोई सुयोग्य पुत्र अथवा सुलक्षणा कन्या है, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त लोकोंको व्याप्त कर सके?'

मुनिवरके ऐसा कहनेपर भानुने पहले तो अपने महान् तेजस्वी पुत्रको लाकर उससे नारदजीको प्रणाम कराया। तदनन्तर अपनी कन्याको दिखलानेके लिये नारदजीको घरके अंदर ले गये। गृहमें प्रवेशकर उन्होंने पृथ्वीपर लोटती हुई नन्ही-सी दिव्य बालिकाको गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था।

कन्याके अदृष्ट तथा अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त नारदजी मुग्ध हो गये। वे एकमात्र रसके आधार परमानन्दमय समुद्रमें गोते लगाते हुए दो मुहूर्ततक पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे, फिर उन्होंने आँखें खोलीं और महान् आश्चर्यमें पड़कर वे मूकभाव-से ही बैठे रहे।

अन्ततोगत्वा महाबुद्धिमान् मुनिने मनमें इस प्रकार विचारा—'मैंने स्वच्छन्दचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परंतु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या कहीं भी नहीं देखी। ब्रह्मलोक, रुद्रलोक और इन्द्रलोकमें भी मेरी गति है; किंतु इस कोटिकी शोभाका एक अंश भी मुझे कहीं नहीं दीखा। जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित हो जाता है, उस महामाया भगवती गिरिराजकुमारीको भी मैंने देखा है। वह भी इसकी शोभाको नहीं पा सकती। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति और विद्या आदि देवियाँ इसकी छायाका भी स्पर्श कर सकती हों—ऐसा भी नहीं देखा जाता। अतः इसके तत्त्वको जाननेकी शक्ति मुझमें किसी तरह नहीं है। अन्य जन भी

प्रायः इस हरिवल्लभाको नहीं जानते । इसके दर्शनमात्रसे गोविन्दके चरण-कमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई है, वैसी इसके पहले कभी नहीं हुई थी। अस्तु, अनन्त वैभव दिखानेवाली इस देवीकी मैं एकान्तमें वन्दना करूँ। इसका रूप भगवान् श्रीकृष्णके लिये परमानन्दजनक होगा ।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोपप्रवर भानुको कहीं अन्यत्र भेज दिया और एकान्तस्थानमें उस दिव्यरूपिणी बालाकी स्तुति करने लगे—

'देवि ! अनन्तकान्तिमयी महायोगेश्वरि ! तुम्हारा अङ्ग मोहन एवं दिव्य है, उससे अनन्त मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है । तुम्हारा हृदय महान् अद्भुत रसानन्दसे पूर्ण रहता है । तुम मेरे किसी महान् सौभाग्यसे आज नेत्रोंकी अतिथि बनी हो । देवि ! तुम्हारी दृष्टि अन्तःकरणमें निरन्तर सुखदायिनी प्रतीत होती है । तुम अपने अंदर महान् आनन्दसे तृप्त-सी दीख पड़ती हो । तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर तथा सौम्य मुखमण्डल हृदयको सुख देनेवाले किसी महान् आश्चर्यको व्यक्त कर रहा है । अत्यन्त शोभामयि ! तुम रजोगुणकी कलिका और शक्तिरूपा हो । सृष्टि, पालन और संहाररूपमें तुम्हारी ही स्थिति है । तुम विशुद्ध-सत्त्वमयी और विद्यारूपिणी पराशक्ति हो तथा परमानन्द-संदोहमय वैष्णव-धामको धारण करती हो । ब्रह्मा और रुद्रके लिये भी तुम्हारा जानना कठिन है । तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है । तुम योगीश्वरोंके भी ध्यान-पथका कभी स्पर्श नहीं कर सकती । मेरी बुद्धिमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—ये सब तुम्हारी अंशमात्र हैं ।

'मायासे ही विशुद्ध रूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सभी तुम्हारी अंशांशमात्र हैं । ईश्वरि ! तुम निस्संदेह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम्हारे साथ श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ा करते हैं । कुमारावस्थामें ही तुम अपने सुन्दर रूपसे विश्वको मुग्ध कर रही हो । न जाने यौवनका स्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप-लावण्य तथा हास-विलासयुक्त निरीक्षण कैसा अद्भुत होगा । हरिवल्लभे ! तुम्हारे उस पूजनीय दिव्य स्वरूपको मैं देखना चाहता हूँ, जिससे नन्द-

नन्दन श्रीकृष्ण मुग्ध हो जायँगे। महेश्वरि! माता! मुझ शरणागत तथा प्रणत भक्तके लिये दया करके तुम अपना स्वरूप प्रकट कर दो।'

यों निवेदन करके नारदजीने तदर्पित चित्तसे उस महानन्दमयी परमेश्वरीको नमस्कार किया और भगवान् गोविन्दकी स्तुति करते हुए वे उस देवीकी ओर ही देखते रहे। जिस समय वे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन कर रहे थे, उसी समय भानु-सुताने चतुर्दशवर्षीय, परम उत्तम, अत्यन्त मनोहर दिव्य रूप धारण कर लिया। तत्काल ही अन्य व्रजबालाओंने, जो उसीकी समान अवस्थाकी थीं तथा दिव्य भूषण एवं सुन्दर हार धारण किये हुए थीं, बालाको चारों ओरसे आवृत कर लिया। उस समय बालिकाकी सखियाँ उसके चरणोदककी बूँदोंसे मुनिको सींचकर कृपापूर्वक बोलीं—

'महाभाग मुनिवर! वस्तुतः आपने ही भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना की है; क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये जिसका दर्शन मिलना कठिन है, उसी अद्भुत वयोरूप-सम्पन्ना विश्वमोहिनी हरिप्रियाने किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश आज आपके दृष्टिपथपर पदार्पण किया है। ब्रह्मर्षे! उठो, उठो; शीघ्र ही धैर्य धारणकर इसकी परिक्रमा तथा बार-बार नमस्कार करो। क्या तुम नहीं देखते कि इसी क्षणमें यह अन्तर्धान हो जायगी, फिर इसके साथ किसी तरह तुम्हारा सम्भाषण नहीं हो सकेगा।'

उन प्रेमविह्वला सखियोंके वचन सुनकर नारदजीने दो मुहूर्ततक उस सुन्दरी बालाकी प्रदक्षिणा करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसके बाद भानुको बुलाकर कहा—'तुम्हारी पुत्रीका प्रभाव बहुत बड़ा है। देवता भी इसका महत्त्व नहीं जान सकते। जिस घरमें इसका चरण-चिह्न है, वहाँ साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं और समस्त सिद्धियोंसहित लक्ष्मी भी वहाँ रहती हैं। आजसे सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित इस सुन्दरी कन्याकी महादेवीके समान यत्नपूर्वक घरमें रक्षा करो।' ऐसा कहकर नारदजी हरि-गुण गाते हुए चले गये।



श्रीवृषभानुनन्दिनीसे प्रार्थना

सच्चिदानन्दघन दिव्यसुधा-रस-सिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य निवास है प्रेमधाम व्रजमें और उनका चलना-फिरना भी है व्रजके मार्गमें। यह मार्ग चित्तवृत्ति-निरोध-सिद्ध महाज्ञानी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है। व्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित रहती है,—जहाँ न निरा निरोध है और न उन्मेष ही, बल्कि दोनोंकी चरम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी

श्रीश्रीराधारानीका दिव्य वसनाञ्चल विश्वकी विशिष्ट चिन्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है, किसी समय उस वसनाञ्चलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंका अपने श्रीअङ्गसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदनपर्यन्त अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा—सबका नमस्कार !—

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक् गोप-वधूटी-विटरूपमें वर्तमान रहते हैं, जो समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृङ्खलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शंकर, शुक, नारद और भीष्मादि 'महतो महीयान्' पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हार मानकर मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्यस्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्त शक्ति रखता है, उस अनन्तशक्ति श्रीराधिका-चरण-रेणुका हम अपने अन्तस्तलसे बार-बार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं—

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥

विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें बिन्दुरूपसे जो विदग्धभाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य) और केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है—रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्तसमुद्रवती

श्रीराधिका श्यामसुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं—नित्य कुलत्यागिनी हैं। इन्हींके सहज सरल स्वच्छभावके शुद्ध रससे, इन्हींके भावानुरागरूप दधिमण्डसे, इन्हींकी वात्सल्यमयी दुग्ध-धारासे, इन्हींकी परम स्निग्ध घृतवत् अपार कृपासे, इन्हींकी लावण्य-मदिरासे, इन्हींके छविरूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलि-विलास-विन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्वब्रह्माण्ड नित्य अनुरञ्जित, अनुप्राणित और ओतप्रोत हैं। ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्ति श्रीवृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ—अनर्थ है। देवी राधिके! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो—

वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः ।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः ॥

श्रीराधिके! वह शुभ सौभाग्य-क्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायगी, जब तुम्हारे चरणचिह्नोंसे अङ्कित वृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे—मेरे सारे अङ्ग उसमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण-पद्मोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी—मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा—

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
पादौ तत्पदकाङ्कितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु ।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदये तस्याः पदं ध्यायतात्
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः ॥



श्रीराधाजी कौन थीं ?

मेरे विश्वासके अनुसार श्रीराधा-कृष्णतत्त्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत है—जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि-शरीरसे अप्राकृत पात्रोमें हुई थीं।* अप्राकृत लीलाको देखने, सुनने, कहने और समझनेके लिये अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी और मन-बुद्धि चाहिये। अतएव मुझ-सा प्राकृत प्राणी, प्राकृत मन-बुद्धिसे कैसे इस तत्त्वको जान सकता है और कैसे प्राकृत वाणीमें उसका वर्णन कर सकता है ? अतएव इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मै जो कहता हूँ यही तत्त्व है, इससे परे और कुछ नही है; न यह मानना चाहिये कि मै किसी मत-विशेषपर आक्षेप करता हूँ, या किसी तार्किकका मुँह बंद करनेके लिये ऐसा

* श्रीभगवान्‌के देहादि यदि उस मायाके कार्य पञ्चमहाभूतोसे निर्मित—प्राकृत होते, जो माया आवरणरूपा है तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के सौन्दर्य, उनकी अङ्ग गन्ध, उनकी चरणधूलिके लिये लालायित न होते।

लिखता हूँ, अथवा आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादना चाहता हूँ। मेरा यह कहना कदापि नहीं है कि मेरी लिखी बातोंको पाठक मान लें। यह तो सिर्फ अपने विश्वासकी बात—शास्त्र और संतोंद्वारा सुनी हुई—अपने कल्याणके लिये लिखी जा रही है। मेरी प्रार्थना है कि पाठकगण तर्क-बुद्धिका आश्रय करके मुझसे इसके सम्बन्धमें कोई प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया न रक्खें। विवादमें तो मैं अपनी हार पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि मैं इस विषयपर तर्क करना ही नहीं चाहता। अवश्य ही मेरे विश्वासका बदलना तो अन्तर्यामी प्रभुकी इच्छापर ही अवलम्बित है।

परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर, दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें मैं कोई भी भेद नहीं मानता और इसी प्रकार भगवती श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी और श्रीसीताजी आदिमें भी मेरी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है। नाम-रूपोंमें पृथक्ता दीखनेपर भी वस्तुतः वे सब एक ही हैं। स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही श्रीराधाजीसे कहा है—

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती॥
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती॥
त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती॥
× × × ×
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड १२६। ९६–९८, १००)

'हे राधे! जिस प्रकार तुम गोलोक और गोकुलमें श्रीराधिकारूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वतीके रूपमें विराजमान

हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो। तुम ही धर्मपुत्रकी कान्ता लक्ष्मी-स्वरूपिणी शान्ति हो। तुम ही भारतमें कपिलकी प्रिय कान्ता सती भारती हो। तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो। तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही मिथिलामें सीता हो। तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपमें रावणने हरण किया था।'

भगवान्के दिव्य लीलाविग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे है। श्रीभगवान् अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नवीन रूपमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। भगवान्के उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधारानीजी हैं और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधिकाजी प्रेममयी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है, वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधारानी हैं। अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्णका विछोह कभी सम्भव ही नहीं। न श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण कभी रह सकते हैं और न श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाजी। श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससारविग्रह होनेसे ही श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और वह नित्य-निरन्तर आनन्दरससार, रसराज, अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यनिधि, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, अविचिन्त्यशक्ति, आत्मारामगणाकर्षी, प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती रहती हैं। इस ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, सहेली, सहचरी और दूती आदि रूपोंसे श्रीराधाकृष्णकी सेवा किया करती हैं; श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। इन्हींका नाम श्रीगोपीजन है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह, पूर्णब्रह्म परमात्मामें सुखेच्छा कैसे हो सकती है?—यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं। प्रेमाश्रयका भाव प्रेमविषयमें और प्रेम-विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। श्रीगोपीजन प्रेमका आश्रय हैं और श्रीकृष्ण प्रेमके विषय हैं। श्रीगोपियोंका अप्राकृत दिव्य भाव ही परब्रह्ममें दिव्य सुखेच्छा उत्पन्न कर देता है। प्रेमका महान् उच्च भाव ही उस पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तमें अतृप्ति, क्रियाहीनमें क्रिया और आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जाग्रत् कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड इन्द्रियजन्य नहीं है, इस मर्त्य जगत्की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी सदा अभिन्न हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

'यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्।

(ब्रह्मवैवर्त० कृष्णखण्ड १४। ५८-५९)

'जो तुम हो, वही मैं हूँ; हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथिवीमें गन्ध रहती है, उसी प्रकार मैं सदा तुममें रहता हूँ।'

अब रही श्रीराधिकाजीके विवाहकी बात, सो इस रूपमें इनका लौकिक विवाह कैसा! वृन्दावन-लीला ही लौकिक लीला नहीं है। लौकिक लीलाकी दृष्टिसे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीकृष्ण व्रजका परित्याग करके मथुरा पधार गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें स्त्रियोंके साथ प्रणयकी बात ही कल्पनामें नहीं आती। और अलौकिक जगत्में दोनों सर्वदा एक ही हैं। फिर भी भगवान्‌ने ब्रह्माजीको श्रीराधाजीके दिव्य चिन्मय प्रेम-रस-सार विग्रहका दर्शन करानेका वरदान दिया था, उसकी पूर्तिके लिये एकान्त अरण्यमें

ब्रह्माजीको श्रीराधिकाजीके दर्शन कराये और वहीं ब्रह्माजीके द्वारा रसराज और महाभावकी विवाहलीला भी सम्पन्न हुई। ये विवाहिता श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके सङ्ग रहती हैं। अवश्य ही छिपी रहती हैं। श्रीकृष्णकृपा होनेपर ही किन्हीं प्रेमी महानुभावको इस 'जुगल जोड़ी'के दुर्लभ दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम प्रकटरूपमें नहीं आया है, यह सत्य है; परंतु वह उसमें उसी प्रकार छिपा हुआ है, जैसे शरीरमें आत्मा। प्रेमरससार-चिन्तामणि श्रीराधाजीका अस्तित्व ही आनन्द-रससार श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमलीलाको प्रकट करता है। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ श्रीराधा नहीं हैं—यह कहना ही नहीं बनता। तार्किकोंको नहीं, भक्तों और शास्त्रके सामने सिर झुकानेवालोंको तो भगवान्‌के ये वाक्य सदा स्मरण रखने चाहिये—

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः ॥
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः ।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम् ॥
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः ।
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ० १५ । ६७–७०)

'जो नराधम हम दोनोंमें (श्रीकृष्ण और श्रीराधामें) भेद-बुद्धि करता है, वह जबतक चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तबतकके लिये कालसूत्र' नामक नरकमें रहता है। उसके पहलेके सात और पीछेके सात पुरुष अधोगामी होते हैं और उसका कोटिजन्मार्जित पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है। जो नराधम अज्ञानवश हमलोगोंकी निन्दा करते हैं, वे पापात्मा भी चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक घोर नरक भोगते हैं।'

अब रही गोपियोंके प्रेमके शुद्ध होनेकी बात। इसपर रासपञ्चाध्यायीका यह श्लोकार्द्ध स्मरण रखना चाहिये—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।

'छोटे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला करते हैं, वैसे ही रमेश भगवान्‌ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा की ।' लीला-रसमय आनन्द-कन्द भगवान् स्वभावसे ही प्रेमवश हैं । अतएव उन्होंने प्रेमभावसे ही अपनी आनन्दस्वरूपा शक्तिद्वारा अपने ही प्रतिबिम्बरूप प्रेमस्वरूपा महाभागा गोपियोंके साथ क्रीड़ा की । उनका तो यह आत्मरमण था और गोपियोंका इसमें श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र उद्देश्य था । अतएव प्रेममयी गोपी और आनन्दमय श्रीकृष्णकी यह लीला सर्वथा कामगन्धशून्य थी । गोपियोंका प्रेम अत्युच्च—पराकाष्ठाका भाव था । इसीसे उसे 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं । इसमें निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छाके संस्कारकी भी कल्पना नहीं थी । यह इस जगत्‌की काम-क्रीड़ा नहीं थी । यह तो दिव्य आनन्दमय, पवित्र प्रेममय जगत्‌की अति दुर्लभ रहस्यमय लीला थी, जिसका रसास्वादन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और सिद्ध महात्मागण भी लालायित थे । और कहा जाता है कि इसीलिये उन्होंने व्रजमें आकर पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लता-पताके रूपमें जन्म लिया था । श्रीगोपियोंके इस कामशून्य प्रेमभावको, श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीराधारानीके महाभावको और निजानन्दमें नित्यतृप्त परमात्मामें सुखेच्छा क्यों उत्पन्न होती है और कैसे उन्हें प्रेमरूपा शक्तियोंके साथ लीला करनेमें सुख मिलता है, इस बातको समझने-समझानेका अधिकार श्रीकृष्णगतप्राण, भजनपरायण, प्रेमी रसिक भक्तोंको ही श्रीकृष्णकृपासे प्राप्त होता है । मुझ-जैसा विषयी मनुष्य इसपर क्या कहे-सुने ? मेरी तो हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि अपने मनकी मलिनताका आरोप भगवान्‌के पवित्र चरित्रोंपर कोई कदापि न करें और शङ्का छोड़कर जिसको भगवान्‌का जो नाम-रूप प्रिय लगता हो, जिसकी जिसमें रुचि हो, भगवान्‌के दूसरे नाम-रूपको उससे नीचा न समझकर बल्कि अपने ही इष्टदेवका एक भिन्न स्वरूप समझकर, अनन्यभावसे अपने उस इष्टकी सेवामें लगे रहें ।

श्रीराधानाम और राधा-उपासना सनातन हैं

कुछ महानुभावोंका कथन है कि श्रीकृष्णचरित्रमें गोपी-चरित्रका, खास करके श्रीराधा-चरित्रका समावेश अत्यन्त आधुनिक है। कुछ लोग तो यहाँतक कह देते हैं 'अधिक-से-अधिक तीन-चार सौ वर्षोंसे ही इसका प्रचलन हुआ है। न तो प्राचीन ग्रन्थोंमें राधाका नाम है न खास प्राचीनतम पुराणोंमें ही। श्रीमद्भागवतमें भी राधाका नाम नहीं है।' यद्यपि भक्तोंकी दृष्टिमें इन सब आलोचनाओंका तनिक भी महत्त्व नहीं है,—वे तो अपने अनुभवसे भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपीजनकी सत्यताको जान चुके हैं तथा श्रद्धाकी आँखोंसे नित्य ही उनको देखते रहते हैं,—पर दूसरोंके लिये भी ऐसी

बात नहीं है। श्रीराधाका नाम तथा उनकी उपासना बहुत पुरानी है। श्रीनिम्बार्काचार्यको हुए हजारों वर्ष हो गये। उन्होंने अपने सम्प्रदायमें श्रीराधा-कृष्णकी उपासनाका प्रवर्तन किया था। उनकी 'वेदान्तदशश्लोकी' में यह श्लोक आया है—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

कविवर भासके समसामयिक नरपति हालके द्वारा अनुमानतः दो हजार वर्ष पूर्व गाथा-सप्तशतीका संकलन हुआ था। इस गाथा-सप्तशती ग्रन्थमें श्रीराधिका (राहिआ), कृष्ण (कण्ह) और कृष्णजननी यशोदादेवी तथा गोपियोंका उल्लेख है—

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिअइ जसोआए।
कण्ह-मुह-पेसिअच्छं निभुअं हसिअं बअवहूहिं॥

श्लोकका संस्कृतरूप है—

अद्यापि बालो दामोदर इति इह जल्प्यते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः॥

हालसप्तशतीमें एक और श्लोक है—

मुह-मारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एदाणं बल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥

इसका संस्कृतरूप है—

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥

गाथासप्तशतीका एक श्लोक श्रीरूपगोस्वामी महोदयने उज्ज्वल-नीलमणिमें उद्धृत किया है—

लीलाहि तुलिअसेलो रक्खउ वो राहिआत्थनपफंसे।
हरिणो पढमसमागमसज्झस वेवल्लिओ हत्थो॥

इसी श्लोकके अनुरूप एक श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में मिलता है—

यो लीलया गोकुलगोपनाय गोवर्द्धनं भूधरमुद्दधार।
स्विन्नः सकम्पः स बभूव राधापयोधरक्ष्माधरदर्शनेन ॥

महाकवि कालिदासने मेघदूतमें गोपवेशधारी विष्णुका वर्णन किया है और रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरमें जिस प्रकार वृन्दावनके सौन्दर्यका वर्णन किया गया है, उससे पता लगता है कि कवि व्रज-सौन्दर्यकी स्मृतिसे मुग्ध हो गया है।

पञ्चतन्त्रकी रचना लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुई थी, उसमें वर्णन है कि एक तन्तुवाय (बुनकर) का पुत्र श्रीकृष्ण सजकर अपने सूत्रधर मित्रकी सहायतासे लकड़ीके बने गरुड़पर सवार होकर किसी राज-अन्तःपुरमें पहुँच गया और उसने अपनी प्रणयिनी राजकन्यासे कहा—

सुभगे! सत्यमभिहितं भवत्या परं किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथम आसीत्।

प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व हुए भट्टनारायणने अपने 'वेणीसंहार' नाटकके मङ्गलाचरणके श्लोकमें 'श्रीहरिचरणयोरञ्जलिरयम्' अर्पण करते हुए प्रार्थना की है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ॥

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व संकलित नेपालमें प्राप्त 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय'में भी राधाका नाम है—

× × धेनुदुग्धकलशानादाय गोप्यो गृहं
दुग्धे वष्कयिणीकुले पुनरियं राधा शनैर्यास्यति।
इत्यस्य व्यपदेशगुप्तहृदयः कुर्वन् विविक्तं व्रजं
देवः कारणनन्दसूनुरशिवं कृष्णः स मुष्णातु वः ॥

कवि क्षेमेन्द्रके दशावतारचरितमें राधाका उल्लेख है—

इत्यभून्मदनोद्दामयौवने कालियद्विषि ।
गोपाङ्गनानां संरम्भगर्भोपालम्भविभ्रमः ॥
प्रीत्यै बभूव कृष्णस्य श्यामानिचयचुम्बिनः ।
जातीमधुकरस्येव राधैवाधिकवल्लभा ॥

प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व संकलित कश्मीरके प्रसिद्ध आलंकारिक विद्वान् आनन्दवर्द्धनके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थमें उद्धृत किसी पूर्ववर्ती कविके द्वारा रचित दो श्लोकोंमें श्रीराधा-कृष्णकी लीलाओंका वर्णन है—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहस्साक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत् प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

इसके अतिरिक्त दक्षिणके बहुत-से प्राचीन ग्रन्थोंमें राधाका उल्लेख है। भक्तकवि बिल्वमङ्गलका 'कृष्णकर्णामृत' श्रीराधा-कृष्ण-लीलासे ही ओतप्रोत है।

श्रीमद्भागवतमें भी प्रच्छन्नरूपसे राधाका उल्लेख है। इसके सिवा पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, भविष्यपुराण, श्रीमद्देवीभागवत, गर्गसंहिता, नारदपाञ्चरात्र आदि अनेकों ग्रन्थोंमें 'राधा-महिमा' का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह कहना सर्वथा भ्रम है कि राधा-कथाका समावेश या राधा-नामका प्रचार तीन-चार सौ वर्षोंसे ही हुआ है। उपर्युक्त प्रमाण भक्त-प्रेमियोंके लिये नहीं दिये गये हैं, ये तो शङ्काशील बुद्धिवादी पुरुषोंकी शङ्का-निवृत्तिके लिये हैं। पर संदेहवादी पुरुषोंका संदेह इससे पूर्णतया निवृत्त हो ही जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, संदेहवादी पुरुषोंके तर्कसे श्रद्धालु लोग भ्रममें न पड़ जायँ, इसमें यह विवेचन सहायक हो सकता है।



श्रीराधा-प्रेमका स्वरूप

प्रिय महोदय, सादर प्रणाम । आपने श्रीराधाके प्रेमका स्वरूप पूछा सो इसका उत्तर मै प्रेमशून्य जन्तु क्या दूँ, यद्यपि मैं 'राधा' पर बोलने-लिखनेका दुस्साहस सदा करता रहता हूँ । मुझे इसमें सुख मिलता है । इसीसे ऐसा करता हूँ । राधा या राधा-प्रेम-तत्त्वका विवेचन मेरी शक्तिसे परेकी चीज है । पर सदा लिखता हूँ—इसलिये आपको भी दो-चार शब्द लिख ही देता हूँ ।

श्रीराधाका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है । उसका वर्णन न श्रीराधा कर सकती हैं, न श्रीमाधव ही करनेमें समर्थ हैं । कहनेके लिये इतना ही कहा जाता है कि वह प्रेम परम विशुद्ध तथा परम उज्ज्वल है । स्वर्णको बार-बार अग्निमें जलानेपर जैसे उसमें मिली हुई दूसरी धातु या दूसरी चीजें जल जाती हैं और वह स्वर्ण जैसे अत्यन्त विशुद्ध और उज्ज्वल हो जाता है, वैसे ही राधाका प्रेम केवल विशुद्ध प्रेम है । पर वह स्वर्णकी भाँति जलानेपर विशुद्ध नहीं हुआ है, वह तो सहज ही ऐसा है । सच्चिदानन्दमयमें दूसरी धातु आती ही कहाँसे ? यह तो साधकोंके लिये बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण-प्रेमकी साधनामें परिपक्व व्रजरसके साधकके हृदयसे दूसरे राग और दूसरे काम सर्वथा जल जाते हैं और उनका प्रेम एकान्त परिशुद्ध हो जाता है । श्रीराधामें यह दिव्य प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ़ है । इसी राधाप्रेमका दूसरा नाम अधिरूढ़ महाभाव है । इसमें केवल 'प्रियतम-सुख' ही सब कुछ है ।



श्रीराधाका त्यागमय एकाङ्गी निर्मल भाव

पवित्रतम प्रेम-सुधामयी श्रीराधाने प्रियतम प्रेमार्णव श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करके सर्वसमर्पण कर दिया। अब वे आठों पहर उन्हींके प्रेम-रस-सुधा-समुद्रमें निमग्न रहने लगीं। श्यामसुन्दर मिलें-न-मिलें—इसकी तनिक भी परवा न करके वे रात-दिन अकेलेमें बैठी मन-ही-मन किसी विचित्र दिव्य भावराज्यमें विचरण किया करतीं। न किसीसे कुछ कहतीं, न कुछ चाहतीं, न कहीं जाती-आतीं। एक दिन एक अत्यन्त प्यारी सखीने आकर बहुत ही स्नेहसे इस पर-अज्ञात् विलक्षण दशाका कारण पूछा तथा यह जानना चाहा कि वह सबसे विरक्त होकर दिन-रात क्या करती है। यह सुनकर श्रीराधाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु गिरने लगे और वे बोलीं—'प्रिय सखी! हृदयकी अति

गोपनीय यह मेरी महामूल्यमयी अत्यन्त प्रिय वस्तु, जिसका मूल्य मैं भी नहीं जानती, किसीको दिखलाने, बतलाने या समझानेकी वस्तु नहीं है; पर तेरे सामने सदा मेरा हृदय खुला रहा है। तू मेरी अत्यन्त अन्तरङ्गा, मेरे ही सुखके लिये सर्वस्वत्यागिनी, परम विरागमयी, मेरे रागकी मूर्तिमान् प्रतिमा है; इससे तुझे अपनी स्थिति, अपनी इच्छा, अभिलाषाका किंचित् दिग्दर्शन कराती हूँ। सुन——

'प्रिय सखी ! मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें मैं और जो कुछ भी मेरा था, सब समर्पित हो गया। मैंने किया नहीं, हो गया। जगत्में, पता नहीं किस कालसे जो मेरा डेरा लगा था, वह सारा डेरा सदाके लिये उठ गया। मेरी सारी ममता सभी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितियोंसे हट गयी, अब तो मेरी सम्पूर्ण ममताका सम्बन्ध केवल एक प्रियतम प्रभुसे ही रह गया। जगत्में जहाँ कहीं भी, जितना भी, जो भी मेरा प्रेम, विश्वास और आत्मीयताका सम्बन्ध था, सब मिट गया। सब ओरसे मेरे सारे बन्धन खुल गये। अब तो मैं केवल उन्हींके श्रीचरणोंमें बँध गयी। उन्हींमें सारा प्रेम केन्द्रित हो गया। उन्हींका भाव रह गया। यह सारा संसार भी उन्हींमें विलीन हो गया। मेरे लिये उनके सिवा किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिकी सत्ता ही शेष नहीं रह गयी, जिससे मेरा कोई व्यवहार होता। पर सखी ! मैं नहीं चाहती मेरी इस स्थितिका किसीको कुछ भी पता लगे। और तो क्या, मेरी यह स्थिति मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी सदा अज्ञात ही रहे। प्यारी सखी ! मैं सुन्दर सरस सुगन्धित सुकोमल सुमनसे (सुन्दर मनसे) सदा उनकी पूजा करती रहती हूँ, पर बहुत ही छिपाकर करती हूँ; मैं सदा इसी डरसे डरती रहती हूँ, कहीं मेरी इस पूजाका प्राणनाथको पता न चल जाय। मैं केवल यही चाहती हूँ कि मेरी पवित्र पूजा अनन्त कालतक सुरक्षित चलती रहे। मैं कहीं भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, इस पूजाका कभी अन्त न हो और मेरी यह पूजा किसी दूसरेको——प्राणप्रियतमको भी आनन्द देनेके उद्देश्यसे न हो, इस मेरी पूजासे सदा-सर्वदा मैं ही आनन्द-लाभ करती रहूँ। इस पूजामें ही मेरी रुचि सदा बढ़ती रहे, इसीसे नित्य ही परमानन्दकी प्राप्ति होती रहे। यह पूजा सदा बढ़ती रहे और यह बढ़ती हुई पूजा ही इस पूजाका एकमात्र पवित्र फल

हो। इस पूजामें मैं नित्य-निरन्तर प्रियतमके अतिशय मनभावन पावन रूप-सौन्दर्यको देखती रहूँ। पर कभी भी वे प्रियतम मुझको और मेरी पूजाको न देख पायें। वे यदि देख पायेंगे तो उसी समय मेरा सारा मजा किरकिरा हो जायगा। फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव नहीं रह सकेगा। फिर तो प्रियतमसे नये-नये सुख प्राप्त करनेके लिये मनमें नये-नये चाव उत्पन्न होने लगेंगे।'

यों कहकर राधा चुप हो गयी, निर्निमेष नेत्रोंसे मन-ही-मन प्रियतमके रूप-सौन्दर्यको देखने लगी।

हुआ समर्पण प्रभु-चरणोंमें जो कुछ था सब, मैं, मेरा।
जग-जगसे उठ गया सदाको चिरसंचित सारा डेरा॥
मेरी सारी ममताका अब रहा सिर्फ प्रभुसे सम्बन्ध।
प्रीति, प्रतीति, सगाई सबही मिटी, खुल गये सारे बन्ध॥
प्रेम उन्हींमें, भाव उन्हींका, उनमें ही सारा संसार।
उनके सिवा, शेष कोई भी बचा न, जिससे हो व्यवहार॥
नहीं चाहती जाने कोई, मेरी इस स्थितिकी कुछ बात।
मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी यह सदा रहे अज्ञात॥
सुन्दर सुमन सरस सुरभित मृदुसे मैं नित अर्चन करती।
अति गोपन, वे जान न जायें कभी, इसी डरसे डरती॥
मेरी यह शुचि अर्चा चलती रहे सुरक्षित काल अनन्त।
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, पर इसका कभी न आये अन्त॥
इस मेरी पूजासे पाती रहूँ नित्य मैं ही आनन्द।
बढ़े निरन्तर रुचि अर्चामें, बढ़े नित्य ही परमानन्द॥
बढ़ती अर्चा ही अर्चाका फल हो एकमात्र पावन।
नित्य निरखती रहूँ रूप मैं, उनका अतिशय मनभावन॥
वे न देख पायें पर मुझको, मेरी पूजाको न कभी।
देख पायँगे वे यदि, होगा मजा सभी किरकिरा तभी॥
रह नहिं पायेगा फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव।
फिर तो नये नये उपजेंगे 'प्रिय' से सुख पानेके चाव॥



श्रीराधाभावकी एक झाँकी

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ११ । २५-२६)

भक्तहृदय वृत्रासुरने मरते समय श्रीभगवान्से प्रार्थना की—'हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर इन्द्रपद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम—सारी पृथ्वीका एकछत्र राज्य, पातालका ऐकाधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ और अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता । जैसे पक्षियोंके बिना पाँख उगे बच्चे अपनी माँ चिड़ियाकी बाट देखते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ गैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी प्रियतमा पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये छटपटाती रहती है, वैसे ही कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है ।'

उपर्युक्त वाक्य भगवत्प्रेमीके हृदयकी त्यागमयी अभिलाषाके स्वरूपको व्यक्त करते हैं। भगवत्प्रेमी सर्वथा निष्काम होता है। प्रेममें किसी भी स्व-सुखकी कामनाको स्थान नहीं है। प्रेमी देना जानता है, लेना जानता ही नहीं। प्रेमास्पदके सुखके लिये उसका सहज जीवन है, उसके जीवन-का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कल्पना है। प्रेमास्पद प्रभुको सुखी बनानेवाली सेवा ही उसके जीवनका स्वभाव है। उसको छोड़कर वह संसारके—इहलोक, परलोकके बड़े-से-बड़े भोगकी तो बात ही क्या, पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी, देनेपर भी स्वीकार नहीं करता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३)

भगवान् (श्रीकपिलदेव) कहते हैं—'मेरे प्रेमी भक्त—मेरी सेवाको छोड़कर—सालोक्य (भगवान्‌के नित्यधाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-भोग), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूप प्राप्त करना) और एकत्व (भगवान्‌में मिल जाना—ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाना)—ये (पाँच प्रकारकी दुर्लभ मुक्तियाँ) दिये जानेपर भी नहीं लेते।'

भगवत्प्रेमियोंकी पवित्र प्रेमाग्निमें भोग-मोक्षकी सारी कामनाएँ, संसार-की सारी आसक्तियाँ और ममताएँ सर्वथा जलकर भस्म हो जाती हैं। उनके द्वारा सर्वस्वका त्याग सहज स्वाभाविक होता है। अपने प्राणप्रियतम प्रभुको समस्त आचार अर्पण करके वे केवल नित्य-निरन्तर उनके मधुर स्मरणको ही अपना जीवन बना लेते हैं। उनका वह पवित्र प्रेम सदा बढ़ता रहता है; क्योंकि वह न कामनापूर्तिके लिये होता है न गुणजनित होता है। उसका तार कभी टूटता ही नहीं, सूक्ष्मतररूपसे नित्य-निरन्तर उसकी अनुभूति होती रहती है और वह प्रतिक्षण नित्य-नूतन मधुररूपसे बढ़ता ही रहता है। उसका न वाणीसे प्रकाश हो सकता है न किसी चेष्टासे ही उसे दूसरेको बताया जा सकता है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । (नारदभक्तिसूत्र ५१)

इस पवित्र प्रेममें इन्द्रिय-तृप्ति, वासनासिद्धि, भोग-लालसा आदिको स्थान नहीं रहता। बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ—सभी नित्य-निरन्तर परम प्रियतम प्रभुके साथ सम्बन्धित रहते हैं। मिलन और वियोग—दोनों ही नित्य-नवीन रसवृद्धिमें हेतु होते हैं। ऐसा प्रेमी केवल प्रेमकी ही चर्चा करता है, प्रेमकी चर्चा सुनता है, प्रेमका ही मनन करता है, प्रेममें ही संतुष्ट रहता और प्रेममें ही नित्य रमण करता है। वह लवमात्रके लिये भी किसी भगवत्प्रेमीका सङ्ग प्राप्त कर लेता है तो उसके सामने मोक्षतकको तुच्छ समझता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

'भगवदासक्त प्रेमी भक्तके लवमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और अपुनर्भव—मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

इस परम पवित्र, भुक्ति-मुक्ति-त्यागसे विभूषित उज्ज्वलतम प्रेमकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति व्रजगोपियोंमें हुई। उनमें श्रीकृष्ण-सुख-लालसाके अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। अपनी कोई चिन्ता उन्हे कभी नहीं हुई। ये सब गोपाङ्गनाएँ श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा हैं और उन्हींके सुख-सम्पादनार्थ अपना जीवन अर्पण करके प्रेमका परम पवित्र आदर्श व्यक्त कर रही हैं। इनमें श्रीराधारानीकी सखियोंमें आठ प्रधान हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा और रङ्गदेवी। इनमें प्रत्येककी अनुगता आठ-आठ किंकरियाँ हैं तथा अनेक मञ्जरीगण हैं। ये सभी श्रीराधा-माधवकी प्रीतिसाधनामें ही नित्य संलग्न रहती हैं। इन सबकी आधाररूपा हैं श्रीराधिकाजी। प्रेमभक्तिका चरमस्वरूप श्रीराधा-भाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। श्रीराधा शङ्का, संकोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह,

राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तमें जिस स्वरूपको प्राप्त होता है, उसे 'महाभाव' कहा गया है। इस महाभावके उदय होनेपर क्षणभर भी प्रियतमका वियोग नहीं होता। श्रीराधा इसी महाभावकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। वे महाभाव-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्णकी समस्त प्रेयसीगणोंमें वे सर्वश्रेष्ठ हैं। नित्य-नव परम सौन्दर्य, नित्य-नव माधुर्य, नित्यनव असमोर्ध्व लीलाचातुर्यकी विपुल नित्यवर्धनशील दिव्य सम्पत्तिसे समलंकृत प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाके प्रेमके आलम्बन हैं और श्रीराधा इस मधुररसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। ये श्रीराधा कभी प्रियतमके संयोग-सुखका अनुभव करती हैं और कभी वियोग-वेदनाकी। इनका मिलन-सुख और वियोग-व्यथा—दोनों ही अतुलनीय तथा अनुपमेय हैं। श्रीरूपगोस्वामी महोदय वियोगकी एक झाँकीका दर्शन इस प्रकार कराते हैं—

अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्य पुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्तते॥

श्रीराधिकाकी एक सखी श्यामसुन्दरसे कहती है—'वेणुधर! तुम्हारे अदर्शनसे राधाकी दशा आज कैसी हो रही है! उनके नेत्रोंसे जलकी इतनी अधिक वर्षा हो रही है कि उससे यमुनाजीका जल बढ़कर दूना हो गया है। उनके शरीरसे इस प्रकार पसीना झर रहा है, जैसे चाँदनी रात्रिमें चन्द्रकान्तमणि पसीजकर रस बहाने लगती है। उनका शरीर भी चन्द्रकान्त मणिकी भाँति ही स्तब्ध (निश्चेष्ट) हो गया है और उसका वर्ण भी उसी मणिके सदृश पीला पड़ गया है। उनके कण्ठकी वाणी रुक-रुककर निकलती है तथा उसका स्वर भङ्ग हो गया है। उनका सर्वाङ्ग कदम्बके केसरकी भाँति पुलकित हो रहा है। भयंकर आँधी-पानीमें जैसे केलेका वृक्ष काँपकर भूमिपर गिर जाता है, वैसे ही उनकी अङ्ग-लता भूमिपर गिर पड़ी है।'

ये सब महान् भाव-तरङ्गें श्रीराधाके महाभाव-सागरको प्रकट दिखला रही हैं।

वस्तुतः श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपाङ्गनासमूह एवं उनकी मधुरतम लीलाओंमें कोई भेद नहीं है। रस-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर ही अनन्त-अनन्त रसोंके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करते हैं। वे स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक और आस्वाद बने हैं। तथापि श्रीराधा-माधवका मधुरातिमधुर लीला-रस-प्रवाह अनादि-अनन्तरूपसे चलता रहता है। श्रीकृष्ण और श्रीराधाका कभी बिछोह न होनेपर भी वियोगलीला होती है; पर उस वियोग-लीलामें भी संयोगकी अनुभूति होती है और संयोगमें भी वियोगका भान होता है। ये सब रस-समुद्रकी तरङ्गें हैं। प्रेम-का स्वभाव श्रीराधाके अंदर पूर्णरूपमें प्रकट है। इसलिये वे अपनेमें रूप-गुणका सर्वथा अभाव मानती हैं। श्रीकृष्णको नित्य अपने सांनिध्यमें ही देखकर सोचती है कि मेरे मोहमें प्राणनाथ यथार्थ सुखसे वञ्चित हो रहे है। अच्छा हो, मुझे छोड़कर ये अन्यत्र चले जायँ तथा सुख-सम्पादन करें। पर श्रीकृष्ण कभी इनसे पृथक् नहीं होते। इस प्रकार प्रेमका प्रवाह चलता रहता है। परम त्याग, परम प्रेम और परम आनन्द—प्रेमकी इस पावन त्रिवेणीका प्रवाह अनवरत बहता ही रहता है!

एक विचित्र बात तब होती है, जब श्रीकृष्ण मथुरा पधार जाते है, श्रीराधा तथा समस्त गोपीमण्डल एवं सारा व्रज उनके वियोगसे अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। यद्यपि श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमें नित्य श्रीराधाके समीप ही रहते है, पर लोगोकी दृष्टिमें वे चले जाते हैं। मथुरासे संदेश देकर वे श्रीउद्धवजीको व्रजमें भेजते हैं।

श्याम-सखा श्रीउद्धवजी व्रजमें आकर नन्दबाबा एवं यशोदा मैयाको सान्त्वना देते हैं, फिर गोपाङ्गना-समूहमें जाते हैं; वहाँ बड़ा ही सुन्दर प्रेमका प्रवाह बहता है और उसमें उद्धवका समस्त चित्तप्रदेश आप्लावित हो जाता है। तदनन्तर वे श्रीराधिकाजीसे एकान्तमें बात करते हैं। श्रीराधाकी बड़ी ही विचित्र स्थिति है। वे जब उद्धवजीसे श्रीश्यामसुन्दरका मथुरासे भेजा हुआ संदेश सुनती हैं, तब पहले तो चकित-सी होकर मानो संदेहमें पड़ी हुई-सी कुछ सोचती हैं। फिर कहने लगती हैं—

'उद्धव ! तुम मुझको यह किसका कैसा संदेश सुना रहे हो ? तुम झूठमूठ मुझे क्यों भुलावेमें डाल रहे हो ? मेरे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर तो यहीं हैं। वे कब परदेश गये ? कब मथुरा गये ? वे तो सदा मेरे पास ही रहते हैं। मुझे देखे बिना एक क्षण भी उनसे नहीं रहा जाता, मुझे न पाकर वे क्षणभरमें व्याकुल हो जाते हैं, वे मुझे छोड़कर कैसे चले जाते ? फिर मैं तो उन्हींके जिलाये जी रही हूँ, वे ही मेरे प्राणोंके प्राण हैं। वे मुझे छोड़कर चले गये होते तो मेरे शरीरमें ये प्राण कैसे रह सकते ?'

उद्धव ! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश ?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर ? प्रियतम कहाँ गये परदेश ?
देखे बिना मुझे पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते !
क्षणभरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते ?
मैं भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणोंके प्राण।
छोड़ चले जाते तो कैसे तनमें रह पाते ये प्राण ?

इतनेमें ही श्रीकृष्ण खड़े दिखलायी दिये। तब श्रीराधा बोलीं—'अरे देखो, उधर देखो, वे नन्दकिशोर कदम्बके मूलमें खड़े कैसी निर्निमेष दृष्टिसे मेरी ओर देख रहे हैं और मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं ! देखो तो, मेरे मुखको कमल समझकर प्राणप्रियतमके नेत्र-भ्रमर मतवाले होकर मधुर रस पान कर रहे हैं।'

देखो—वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नंदकिशोर।
खड़े कदम्ब-मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुखको पङ्कज मान।
प्राणप्रियतमके दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रसपान॥

'देखो, भौंहें चलाकर' और आँखें मटकाकर वे मेरे प्राणधाम मुझसे इशारा कर रहे हैं तथा अत्यन्त आतुर होकर मुझको एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं। उद्धव ! तुम भौंचक्के-से होकर कदम्बकी ओर कैसे देख रहे हो ? क्या तुम्हें श्यामसुन्दर नही दिखायी देते, अथवा क्या तुम उन्हें देखकर प्रेममें डूब गये हो ?'

भ्रकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राणनिकेत॥



श्रारा० मा० । श्रीराधा-उद्धव (१) पृष्ठ ५८



श्रीरा० मा० १ श्रीराधा-उद्धव (२) पृष्ठ ८०

कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर ?
क्या तुम नहीं देख पाते ? या देख हो रहे प्रेम-विभोर ॥

श्रीराधिकाजी यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दरके दर्शन होने बंद हो गये; तब वे अकुला उठीं और बोलीं—

'हैं, यह सहसा क्या हो गया ? श्यामसुन्दर कहाँ छिप गये ? हाय ! वे आनन्दनिधान मनमोहन मुझे क्यों नहीं दिखायी दे रहे हैं ? वे लीलामय क्या आज पुनः आँखमिचौनी खेलने लगे ? अथवा मैंने उनको तुम्हें दिखा दिया, इससे क्या उन्हें लाज आ गयी और वे कहीं छिप गये ?'

हैं, यह क्या ? सहसा वे कैसे, कहाँ हो गये अन्तर्धान ?
हाय, क्यों नहीं दीख रहे मुझको मनमोहन मोदनिधान ॥
आँखमिचोनी लगे खेलने क्या वे लीलामय फिर आज ?
दिखा दिया मैंने तुमको, क्या इससे उन्हें आ गयी लाज ॥

'नहीं, नहीं ! तब क्या वे सचमुच ही मुझे छोड़कर चले गये ? हाय ! क्या वे मुझसे मुख मोड़कर मुझे अपरिमित अभागिनी बनाकर चले गये ? हाय उद्धव ! तुम सच कहते हो, तुम सत्य संदेश सुनाते हो ! वे चले गये ! हा ! वे मेरे लिये रोना शेष छोड़कर चले गये !'

नहीं, नहीं ! तब क्या वे चले गये सचमुच ही मुझको छोड़ !
मुझे बनाकर अमित अभागिन हाय गये मुझसे मुख मोड़ !
सच कहते हो उद्धव ! तुम, हो सत्य सुनाते तुम संदेश ?
चले गये, हा ! चले गये वे, छोड़ गये रोना अवशेष ॥

'पर ऐसा कैसे होता ? जो पल-पलमें मुझे अपलक नेत्रोंसे देखा करते; जो मुझे सुखमय देखनेके लिये बड़े सुखसे मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ, सुख-दुःख—सब सहते; मेरा दुःख जिनके लिये घोर दुःख और मेरा सुख ही जिनका आत्यन्तिक सुख था, वे मुझे दुःख देकर, कैसे अपने जीवन-सुखको खो देते ? अतएव वे गये नहीं हैं ! यहीं छिपे होंगे !'

प्रतिपल जो अपलक नयनोंसे मुझे देखते ही रहते,
सुखमय मुझे देखनेको जो सभी द्वन्द्व सुखसे सहते ।

मेरा दुःख दुःख अति उनका, मेरा सुख ही अतिशय सुख ,
वे कैसे मुझको दुख देकर खो देते निज जीवन-सुख ॥

इतना कहते-कहते ही राधाका भाव बदला। उनके मुखपर हँसी छा गयी और उल्लसित होकर वे कहने लगीं—'हाँ ठीक, वे चले गये। मुझे परम सुख देनेके लिये ही वे मथुरामें जाकर बसे हैं। मैं इसका रहस्य समझ गयी। मैं सुखी हो गयी मुझे सुख देनेवाले प्रियतमके इस कार्यको देखकर ! मुझे वे सब पुरानी बातें याद आ गयीं, जो मुझमें-उनमें हुआ करती थीं। उनके जानेका कारण मैं जान गयी। वे मुझे सुखी बनानेके लिये ही गये हैं। इसीसे देखो, मैं कैसी प्रफुल्लित हो रही हूँ—मेरा अङ्ग-अङ्ग आनन्दसे किस प्रकार रोमाञ्चित हो रहा है।'

मुझे परम सुख देनेको ही गये मधुपुरीमें बस श्याम।
समझ गयी, मैं सुखी हो गयी, निरख सुखद प्रियतमका काम ॥
याद आ गयी मुझको सारी मेरी-उनकी बीती बात।
जान गयी कारण, इससे हो रही प्रफुल्लित, पुलकित-गात ॥

''बताऊँ, क्या बात है ? मुझमें न तो कोई सद्गुण था न कोई रूप-माधुरी ही। मैं दोषोंकी खान थी। पर मोहविवश होनेके कारण मनमोहन श्यामसुन्दरको मुझमें सौन्दर्य दिखलायी देता और वे मुझे अपना सर्वस्व—तन-मन-धन देकर मुझपर न्योछावर हुए रहते ! वे बुद्धिमान् होकर मोहवश मुझे 'मेरी प्राणेश्वरी', 'मेरी हृदयेश्वरी' कहते-कहते कभी थकते ही नहीं। मुझे इससे बड़ी लज्जा आती, बड़ा संकोच होता। मैं बार-बार उन्हें समझाया करती—'प्रियतम ! तुम इस भ्रमको छोड़ दो।' पर मेरी बात मानना तो दूर रहा, वे तुरंत मुझे हृदयसे लगा लेते, मेरे कण्ठहार बन जाते, मैं उन्हें अपने गलेसे लिपटा हुआ पाती ! मैं गुणसे, सौन्दर्यसे रहित थी; प्रेमधनसे दरिद्र थी, कला-चतुरतासे हीन थी; मूर्खा, बहुत बोलनेवाली, झूठे ही मान-मदसे मतवाली, मन्दमति तथा मलिन स्वभावकी थी। मुझसे बहुत-बहुत अधिक सुन्दरी, सद्गुण-शीलवती, सुन्दर रूपकी भंडार अनेकों सुयोग्य सखियाँ थीं, जो प्रियतमको अत्यन्त सुख देनेमें समर्थ थीं। मैं उनके नाम बता-बताकर प्रियतमको उनसे स्नेह करनेके लिये कहती; परंतु वे

कभी भूलकर भी उनकी ओर नहीं ताकते और सबसे अधिक—अधिक क्यों, वे प्रियतम सारा ही प्यार सब ओरसे, सब प्रकारसे, अनन्यरूपसे केवल मुझको ही देते। इस प्रकार प्रियतमका बढ़ा हुआ व्यामोह देखकर मुझे बड़ा संताप होता और मैं देवतासे मनाया करती कि 'हे प्रभो ! आप उनके इस मोहको शीघ्र हर लें।' मेरा बड़ा सौभाग्य है कि देवताने मेरी करुण पुकार सुन ली। मेरे प्राणनाथ मोहनका मोह आखिर मिट गया और अब वे मथुरामें अपार आनन्द प्राप्त कर रहे होंगे। मेरे प्राणाराम वे किसी नगरनिवासिनी चतुर सुन्दरीको प्राप्त करके अनुपम सुख भोग रहे होंगे। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। आज मैं परम सुखवती हो गयी। आज मेरे भाग्य खुल गये, जो मुझको आनन्द-मङ्गलमय, जीवनको सजानेवाला, सुखकी खानरूप श्यामसुन्दरका यह संदेश सुननेको मिला।"

सद्गुणहीन, रूप-सुषमासे रहित, दोषकी मैं थी खान।
मोहविवश मोहनको होता मुझमें सुन्दरताका भान॥
न्यौछावर रहते मुझपर सर्वस्व स-मुद कर मुझको दान।
कहते थकते नहीं कभी 'प्राणेश्वरि !' 'हृदयेश्वरि !' मतिमान॥
'प्रियतम ! छोड़ो इस भ्रमको तुम'—बार-बार मैं समझाती।
नहीं मानते, उर भरते, मैं कण्ठहार उनको पाती॥
गुण-सुन्दरता-रहित, प्रेमधन-दीन, कला-चतुराई-हीन।
मूर्खा, मुखरा, मान-मद-भरी मिथ्या, मैं मतिमन्द मलीन॥
मुझसे कहीं अधिकतर सुन्दर सद्गुण-शील-सुरूप-निधान।
सखी अनेक योग्य, प्रियतमको कर सकतीं अतिशय सुख-दान॥
प्रियतम कभी, भूलकर भी, पर नहीं ताकते उनकी ओर।
सर्वाधिक क्यों, प्यार मुझे देते अनन्य प्रियतम सब ओर॥
रहता अति संताप मुझे प्रियतमका देख बढ़ा व्यामोह।
देव मनाया करती मैं, 'प्रभु ! हर लें सत्वर उनका मोह॥'

× × × ×

मेरा अति सौभाग्य, देवने सुन ली मेरी करुण पुकार।
मिटा मोह मोहनका, अब वे प्राप्त कर रहे मोद अपार॥
पाकर सुन्दर चतुरा किसी नागरीको वे प्राणाराम।
भोग रहे होंगे अनुपम सुख, पूर्ण हुआ मेरा मन-काम॥

परम सुखवती आज हुई मैं, खुले भाग्य मेरे हैं आज।
सुना श्याम-संदेश सुखाकर, मुद-मङ्गलमय, जीवन-साज॥

यह कहते-कहते ही पुनः भावमें परिवर्तन हो गया। वे दृढ़तापूर्वक बोलीं—"नहीं-नहीं, प्रियतमसे ऐसा काम कभी हो ही नहीं सकता। मुझसे कभी पृथक् होना उनके लिये सम्भव ही नहीं। मेरा और उनका ऐसा सुन्दर, प्रिय और अनन्य—अनोखा सम्बन्ध है, जो कभी मिट ही नहीं सकता। मुझे छोड़कर 'वे' और उनको छोड़कर 'मैं' कभी रह ही नहीं सकते। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। वे मैं हूँ, मै वे हैं। दोनों एक तत्त्व हैं। दोनों सब प्रकारसे एकरूप ही हैं।"

नहीं, नहीं! ऐसा हो सकता नहीं कभी प्रियतमसे काम।
मेरा-उनका अमिट अनोखा प्रिय अनन्य सम्बन्ध ललाम॥
मुझे छोड़ 'वे' उन्हें छोड़ 'मैं' रह सकते हैं नहीं कभी।
'वे मैं', 'मैं वे'—एक तत्त्व हैं—एकरूप हैं भाँति सभी॥

राधा यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दर सहसा दिखायी दिये। वे बोल उठीं—'अरे, अरे उद्धव! देखो, वे सुजान फिर प्रकट हो गये हैं। कैसा मनोहर रूप है, कैसी सुन्दर प्रेमपूर्ण दृष्टि है! अधरोंपर मृदु मुसकान खेल रही है। ललित त्रिभङ्ग मूर्ति है। घुँघराले कुटिल केश हैं, सिरपर मोर-मुकुट तथा कानोंमें कमनीय कुण्डल झलमला रहे हैं। मुरलीधरने अधरों-पर मुरली धर रखी है और उससे मधुर तान छेड़ रहे हैं।'

अरे-अरे उद्धव! देखो, वे पुनः प्रकट हो गये सुजान।
प्रेमभरी चितवन सुन्दर, छायी अधरोंपर मृदु मुसुकान॥
ललित त्रिभङ्ग, कुटिल कुन्तल, सिर मोर-मुकुट, कल कुण्डल कान।
धर मुरली मुरलीधर अधरोंपर हैं छेड़ रहे मधु तान॥

यों कहकर राधा समाधिमग्न-सी एकटक देखती निस्तब्ध हो गयीं। इस प्रकार प्रेम-सुधा-समुद्र श्रीराधामें विविध विचित्र तरङ्गोंको उछलते देखकर उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो गये। उनके सारे अङ्ग सहसा विवश हो गये। उनको अपने शरीरकी सुधि नहीं रही। उनके हृदयमें नयी-नयी उत्पन्न हुई



ना० मा०] श्रीराधा-उद्धव (३) [पृष्ठ ३०



श्रीरा० भा०] **श्रीराधा-उद्धव (४)** [पृष्ठ ३३

शुभ प्रेम-नदीमें अकस्मात् बाढ़ आ गयी। कहीं ओर-छोर न रहा। वे आनन्दमग्न होकर भूमिपर लोटने लगे और उनका सारा शरीर शुभ राधा-चरण-स्पर्श-प्राप्त व्रजधूलिसे धूसरित हो गया।

प्रेम-सुधा-सागर राधामें उठतीं विविध विचित्र तरङ्ग।
देख विमुग्ध हुए उद्धव अति, बरबस विवश हुए सब अङ्ग॥
उदित नवीन प्रेम-सरिता शुभ बढ़ी अचानक, ओर न छोर।
भू-लुण्ठित, तन धूलि धूसरित शुचि, उद्धव आनन्दविभोर॥

× × × ×

इस प्रकार अभिन्नस्वरूपा होनेपर भी श्रीराधारानी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखसे वञ्चित करके उनका सुख चाहती है। उनका सारा श्रीकृष्णानुराग, श्रीकृष्णसेवन श्रीकृष्णसुखके लिये ही है। वे जब यह सोचती है कि श्रीकृष्णको मुझसे वह सुख नही मिलता, जो अन्यत्र मिल सकता है तो वे देवताको मनाती है कि श्रीकृष्ण मुझको छोड़कर अन्यत्र सुख प्राप्त करें।

उनकी सखी गोपियाँ भी श्रीराधा-श्यामसुन्दरके सुखसम्पादनमें ही नित्य लगी रहती हैं। वे कभी श्यामसुन्दरसे मिलती भी हैं तो उनके रसास्वादनकी वृद्धिके लिये ही, स्वसुखके लिये नहीं। इसी प्रकार जिनमें नवप्रीतिभावका प्रस्फुटन हुआ है, तुलसी-मञ्जरीकी भाँति अथवा नवोद्गत पल्लवके अग्रभागके सदृश जो नवीन रसभावयुक्त है, वे मञ्जरीगण भी नित्य-निरन्तर श्रीश्यामा-श्याम-युगलके सुखसम्पादन अथवा प्रीतिवहनमें ही अपनेको कृतार्थ मानती है। उनमें तनिक भी निज सुख-भोगका न तो प्रलोभन है न दूसरेका सुख-सौभाग्य देखकर ईर्ष्याजनित जलन है।

एक बार श्रीराधिकाजीने मणिमञ्जरीके प्रेम-भावका आदर्श देखनेके लिये एक सखीको उनके पास भेजकर उसीकी ओरसे यह कहलवाया—'सखी! श्रीललिता, विशाखा आदि श्रीराधा-माधवकी सेवामें सखीभावसे तो रहती ही है। कभी-कभी वे नायिकाके रूपमें भी श्यामसुन्दरके समीप पधारती है। तुम भी इसी प्रकार श्रीकृष्णके समीप जाकर उन्हें सुख प्रदान करो और स्वयं उनसे सुख प्राप्त करो। श्रीकृष्ण-मिलनके समान सुखकी कहीं तुलना तो दूर रही, तीनों लोकों और तीनों कालोंमें उसकी कल्पना भी नहीं

की जा सकती। तुम्हारा रूप-गुण, सौन्दर्य-माधुर्य, चातुर्य—सभी विलक्षण हैं; अतएव तुम इस परमानन्दसे वञ्चित क्यों रहती हो? श्यामसुन्दरके समीप जाकर उनका प्रत्यक्ष सेवानन्द प्राप्त करो।' इस बातको सुनकर मणिमञ्जरीने उक्त सखीसे कहा—'बहिन! कल्याणमयी श्रीराधा श्रीश्यामसुन्दरके साथ मिलकर जो सुख प्राप्त करती हैं, वही मेरे लिये मेरे अपने मिलनसे अनन्त-गुना अधिक सुख है। मैं अपने लिये दूसरे किसी सुखकी कभी कल्पना ही नहीं कर सकती। तुम मुझे क्यों भुलाती हो? मुझे तो तुम भी यही वरदान दो कि मैं श्रीराधा-माधवके मिलनसुखको ही नित्य-निरन्तर अपना परम सुख मानूँ और उसी पवित्र कार्यमें अपने जीवनका एक-एक क्षण लगाकर अनिर्वचनीय और अचिन्त्य सुख प्राप्त करती रहूँ।' यही प्रेमकी महिमा है।

इसीसे इस पवित्र सर्वत्यागमय प्रेमकी तुलनामें इन्द्रका पद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि एवं मोक्षपर्यन्त सभी नगण्य हैं; क्योंकि उन सभीमें स्व-सुख-कामनाका किसी-न-किसी अंशमें अस्तित्व है, पूर्ण त्याग नहीं है। इस पूर्ण त्यागको ही परम आदर्श माननेवाला मानव त्यागके मार्गमें अग्रसर होकर परम प्रेम और परमानन्दको प्राप्त करके धन्य होता है!

घर, पड़ोस, गाँव, देश, विश्व, विश्वात्मा और सबके मूल स्वरूप सर्वाधार, सर्वमय, सर्वातीत भगवान्‌के लिये जितना-जितना ही त्याग होता है, उतना-उतना ही भोगासक्ति, प्राणि-पदार्थोंकी ममता, विषयकामना, मिथ्या अहंकारका नाश होकर दिव्य प्रेम प्राप्त होता है और उतना-उतना ही दिव्य मधुर अनन्त आनन्द बढ़ता है। इसीसे भक्तोंने प्रेमको पुरुषार्थ-चतुष्टयके मोक्षसे भी उच्चतम पञ्चम पुरुषार्थ बताया है।

मानवके लिये इसीसे परम कर्तव्य है—सर्वत्याग। त्यागका अनिवार्य फल है—त्यागमय अनन्यप्रेम और त्यागमय प्रेमका ही परिणाम है—विशुद्धतम दिव्य आनन्द!

काली-कृष्ण और शिव राधा

एक बार परम कौतुकी लीलामय भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—'देवि ! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतलपर कहीं पुरुषरूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा । यहाँ जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा । बस, यही मेरा अभीष्ट है । तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो, इसे भी पूर्ण करो ।'

शक्तिमान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे दी और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली नामकी मूर्ति है, वही श्रीकृष्ण-रूपसे पृथ्वीपर अवतार लेगी; अब आप भी अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये ।'

शिवजी परम संतुष्ट होकर बोले—'मै तुम्हारी प्रियकामनासे भूतलपर नौ रूपोमें प्रकट होऊँगा । शिवे ! मै स्वयं परम प्रेममयी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके रूपमें अवतीर्ण होऊँगा और तुम्हारी प्राणप्रिया होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगा । इसके अतिरिक्त मेरी आठ मूर्तियाँ आठ रमणियोंके रूपमें प्रकट होंगी, वे ही मनोहरनयना श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि तुम्हारी आठ पटरानियाँ होंगी । इसके अतिरिक्त जो मेरे ये भैरवगण हैं, वे भी रमणीरूप धारणकर भूमिपर अवतीर्ण होंगे ।'

देवीने कहा—'आपकी इच्छा सफल हो, मैं आपकी इन सभी मूर्तियोंके साथ यथोचित विहार करूँगी । प्रभो ! मेरी जया तथा विजया नामकी जो दोनों सखियाँ हैं, वे पुरुषरूपमें श्रीदामा और सुदामा होंगी । विष्णुभगवान्‌के साथ मेरा पहलेसे समझौता हो चुका है, वे हलायुध रूपमें बड़े भाई होंगे और सदा मेरे प्रिय कार्योंका साधन करेंगे । उन महाबलीका नाम राम होगा । इस प्रकार मैं तुम्हारा कार्य सिद्ध-कर अपनी महती कीर्तिकी स्थापना करके पुनः भूतलसे लौट आऊँगी ।'

इसी निश्चयके अनुसार पृथ्वी और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर श्रीपार्वतीजी श्रीकृष्णरूपमें तथा श्रीशिवजी श्रीराधारूपमें प्रकट हुए ।

यह एक कल्पमें श्रीराधा-कृष्णके अवतारका बाहरी रहस्य है । भगवान् और भगवतीके अवतारकी गूढ़ अभिसंधिको तो दूसरा कौन जान सकता है । (महाभागवतके आधारपर)

श्रीराधाका स्वरूप

(सं० २०१२ वि० के श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

[दिनमें]

साधनाकी दो धाराएँ हैं—अनादिकालसे। एक धारामें 'अहम्' के परिणामकी चिन्ता है, 'अहम्'के मङ्गलकी भावना है। दूसरी धारामें 'अहम्' का सर्वथा समर्पण है। इन्हीं दोनों धाराओंके अनुसार अध्यात्मराज्यकी सारी साधनाएँ चलती हैं। इस समय विशेष विस्तारकी आवश्यकता नहीं, संक्षेपमें जिस धारामें कर्मकी और ज्ञानकी प्रधानता है, उस धारामें आत्मपरिणामकी चिन्ता है; 'अहम्'के मङ्गलकी भावना है। भगवान्‌ने गीताके अन्तिम उपदेशमें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यह बड़ा सुन्दर, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश भगवान्‌का है। परंतु इस उपदेशमें 'पापनाशका प्रलोभन' है। 'तुम्हारे पापोंका नाश मैं कर दूँगा,

तुम चिन्ता न करो ।' पापका भय है, नहीं तो चिन्ताकी कोई आवश्यकता नहीं । साधक समझता है कि मेरे पापका नाश कैसे होगा, मेरा मङ्गल कैसे होगा । 'अहम्'के मङ्गलकी भावना है, इसमें 'अहम्'के परिणामकी चिन्ता है ।

इससे आगे और बढ़ते हैं तो कहते हैं कि 'हमारा बन्धनसे छुटकारा हो जाना चाहिये, मुक्ति मिल जानी चाहिये । किसको ? जिसे बन्धन है, उसको । मुक्तिकी चाहमें 'अहम्'की अपेक्षा है ही । बन्धनकी कल्पनामें यह सहज बात है कि 'मैं' बन्धनमें हूँ, मुझे मुक्ति मिले ।' यहाँ मोक्षकी इच्छा है, जिसे 'मुमुक्षा' कहते हैं । इसका अर्थ यही होता है कि उसे बन्धनकी तीव्र वेदना है और वह बन्धनसे छूट जाना चाहता है । 'मैं बन्धनमें हूँ और मै छूट जाऊँ' यह जो बन्धनका बोध है, इसमें 'अहम्'के मङ्गलकी आकाङ्क्षा भरी है । इसीसे जहाँ कोई प्रलोभन नहीं, जहाँ ऐसी कोई भावना नहीं, इसके बादकी वह स्थिति बतलाते हैं । कुछ नयी-सी बातें माळूम होगी, क्षमा कीजियेगा—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

यहाँ 'पापनाशका प्रलोभन' नहीं है । यहाँ साधकके मनमें यह नहीं है कि मुझे पाप लगेगा । यहाँ तो वह 'ब्रह्मभूत' है, 'प्रसन्नात्मा' है । उसे न सोच है न आकाङ्क्षा है । स्वयमेव अपने-आप भगवान् आते हैं, भगवान्की भक्ति प्राप्त होती है । 'मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है', यह दूसरे स्तरकी चीज है—'मद्भक्तिं लभते पराम्' । पर यहाँ भी भक्तिलाभकी आकाङ्क्षा है । जहाँ कोई आकाङ्क्षा नहीं, जहाँ कोई वासना नहीं, जहाँ 'अहम्'का सर्वथा विस्मरण—समर्पण है, जहाँ केवल प्रेमास्पदके सुखकी स्मृति है और कुछ भी नहीं—यह एक विचित्र धारा है और इस धाराका मूर्तिमान् रूप ही श्रीराधा हैं । जितनी और सखियाँ हैं, जितनी और गोपाङ्गनाएँ हैं, ये तो राधाव्यूहके अन्तर्गत आती हैं और राधा इस भावधाराकी मूर्तिमती सजीव प्रतिमा है । राधाका आदर्श—राधाका जीवन इसीलिये 'ब्रह्मविद्या'के लिये भी आकाङ्क्षित है । यह कथा आती है

पद्मपुराणके पातालखण्डमें—ब्रह्मविद्या स्वयं तप कर रही हैं। उनको तप करते देखकर ऋषि पूछते हैं कि 'आप कौन हैं? आप क्यों इतना कठिन तप कर रही हैं?' ब्रह्मविद्याने कहा, 'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' ऋषियोंने पूछा, 'आपका कार्य?' ब्रह्मविद्याने कहा कि 'सारे जगत्को अज्ञानसे मुक्त करके ब्रह्ममें प्रतिष्ठित कर देना—यह मेरा कार्य है।' सारे जगत्के अज्ञान-तिमिरको सर्वदाके लिये हर लेना और ज्ञानको प्रकाशित करना—यह उनका स्वाभाविक कार्य है। ऋषियोंने पूछा—'तो फिर आप तपस्या क्यों कर रही हैं?' वे यह तो न कह सकीं कि 'राधाभावकी प्राप्तिके लिये।' उनकी यह कह सकनेकी भी हिम्मत न पड़ी। उन्होंने कहा—'गोपीभावकी प्राप्तिके लिये।' गोपीभाव बड़ा विलक्षण है। श्रीराधा-माधवके सुखकी सामग्री एकत्र कर देना जिनके जीवनका स्वभाव है—वे हैं गोपी। अपनी बात कहीं नहीं है, जगत्की स्मृति नहीं है, ब्रह्मकी परवा नहीं है, ज्ञानका प्रलोभन नहीं है। अज्ञानका तिमिर तो है ही नहीं। वहाँ केवल एक ही बात है, दूसरी चीज है ही नहीं। गोपी केवल एक ही बातको लेकर जीवित रहती है कि वह राधा-माधवको कैसे सुखी देख सके। बस! इसी गोपीभावमें इस प्रकारका प्रलोभन है, इस प्रकारका आकर्षण है कि ब्रह्मविद्या ही नहीं, स्वयं भगवान् इस भावकी प्राप्तिके लिये, इस रसका आस्वादन करनेके लिये, इस प्रकारकी लीला करनेको बाध्य होते हैं, जिससे इस परम पुनीत, परम आदर्श प्रेम-राज्यकी कुछ थोड़ी-सी झाँकी जगको प्राप्त होती है!

तो यह श्रीराधा-भाव क्या है? भगवान्के स्वरूपका एक भाव है—आनन्द। यह अंश नहीं, आनन्दांश नहीं। सत् भगवान्का स्वरूप, चित् भगवान्का स्वरूप, आनन्द भगवान्का स्वरूप। तो भगवान्का जो स्वरूपानन्द है, उस स्वरूपानन्दका वैष्णव-शास्त्रोंमें नाम है—'आह्लादिनीशक्ति'। इस आह्लादिनीका जो सार है, जो सर्वस्व है, उसे कहते हैं 'प्रेम'। उस प्रेमका जो परम फल है, उसे कहते हैं 'भाव' और वह भाव जहाँ जाकर परिपूर्ण होता है, उसे कहते हैं 'महाभाव' यह महाभाव ही 'श्रीराधा' हैं।

भावके अनेक स्तर हैं—रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग,

भाव और महाभाव । ये सभी आह्लादिनीशक्तिके ही भाव हैं । इन सारे भावोंका जहाँ पूर्णतम प्रकाश, अनन्ततम प्रकाश है,—वह श्रीराधा-भाव है । अब श्रीराधा क्या हैं ? यह कोई नहीं बता सकता कि वे क्या हैं । राधा हैं—श्रीकृष्णका सुख । राधा हैं—श्रीकृष्णका आनन्द । राधा न हों तो श्रीकृष्णके आनन्दरूपकी सिद्धि ही न हो । श्रीकृष्णके आनन्दका नाम है—'राधा' । इस राधाके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं, अनेक विकास हैं । इसलिये आजका यह उत्सव कोई तमाशा नहीं है, न यह किसीका जन्मोत्सव मनाया जाना ही है । यह एक बहुत ऊँचे—ऊँचे-से-ऊँचे साधनका संकेत है । इस साधनके संकेतमें जो साधनकी दृष्टिसे समवेत होते हैं, उन्हे परमोच्च साधनका लक्ष्य प्राप्त होता है । तमाशा देखनेवालोंको तमाशा दीखता है, दोष देखनेवालोंको दोष ही मिलता है !

श्रीराधा-भावमें दोषदर्शन भी है, राधा-भावमें गुणदर्शन भी है, राधा-भावमें निर्गुणकी झाँकी भी है और राधाभाव इन सबसे परेकी अचिन्त्य वस्तु भी है । जिसका जैसा भाव है, वह अपने भावके अनुसार 'राधा'के दर्शन करता है । अपने साधनकी दृष्टिसे ही वह राधाको देखता है । परमोच्च प्रेमराज्यकी आदर्श महिमा यदि कहीं प्रकट हुई है तो वह राधा-भावमें हुई है । राधाभावका संकेत श्रीमद्भागवतमें भी है । राधाभाव नित्यभाव है । जैसे राधा नित्य हैं, वैसे ही राधाका भाव नित्य है, वैसे ही उनका रास नित्य है । इसमें किस तरहकी साधना किस प्रकारसे करनी पड़ती है, इसका संकेत शायद रातको कुछ बताया जा सकता है । इतनी समझ लेनेकी चीज है कि यह साधन-राज्यकी एक ऐसी विलक्षण धारा है, जिस धारामें किसी भी दूसरे प्रकारका इसके साथ वैसा सम्पर्क नहीं है जो इसको प्रभावित कर सके । इसीलिये राधाभावकी साधनावाले जो लोग हैं, वे इस भावको ज्ञान-कर्मादिसंस्पर्शशून्य कहते हैं । इसमें उनके संस्पर्श-लेशका भी अभाव है । तो क्या यहाँ अज्ञान है ? तो क्या इस साधनामें किसी क्रियाका सर्वथा अभाव है ? न तो इसमें क्रियाका सर्वथा अभाव है न यहाँपर ज्ञानका अभाव है तथा न यहाँपर अज्ञानकी सत्ता है । इसीलिये यह इस प्रकारका विलक्षण भाव है कि जहाँ पूर्ण ज्ञान होते हुए भी ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जहाँ जीवनमें एक-एक क्षण,

एक-एक पल प्रेमास्पदकी सेवामें रममाण रहते हुए भी क्रियाका सर्वथा अभाव है। क्षणभरके लिये भी अवकाश नहीं है—प्रेमीको। वह सोता नहीं, अलसाता नहीं, भागकर जंगलमें जाता नहीं, वह घरमें रमता नहीं, परंतु उसको अवकाश नहीं। फिर भी उसके पास कर्म-संश्रव-लेश नहीं। कर्म-संस्पर्शशून्य जीवन है उसका। उसका राधाभावमें कर्मसंस्पर्शशून्यता है और है ज्ञान-संस्पर्श-शून्यता। जो ज्ञान अज्ञानको मिटाता है, जो ज्ञान किसीको प्रभावित करत , जिस ज्ञानसे किसी ज्ञानकी सत्ताकी सिद्धि होती है, वह ज्ञान यहाँ नहीं है। ज्ञानकी असत्ता है—पर पूर्णतम ज्ञान है। कर्मकी असत्ता है, पर प्रेमास्पदकी सेवारूप कर्ममय जीवन है। कर्म नहीं, ज्ञान नहीं। ज्ञान-कर्मादिसंस्पर्शशून्य जो केवल प्रेमभाव है, वही महाभाव है और उसी महाभावकी मूर्तिमती प्रतिमा श्रीराधा हैं। यह राधाका एक आदर्श स्वरूप है—संक्षेपमें।

[रात्रिमें]

श्रीराधाजीके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाय, सब ठीक है। अपनी-अपनी आँखोंसे श्रीराधा और श्यामसुन्दरको सबने देखा और सबने भिन्न-भिन्न भावसे देखा है। श्रीकृष्णकी राधा एक हैं, शुकदेव मुनिकी राधा एक हैं, भक्तोंकी—प्रेमियोंकी राधा एक हैं, कवियोंकी राधा एक हैं और मनमें गंदगी रखनेवालोंकी भी राधा एक हैं। इन सबका अगर मिश्रण कर लिया जाय तो राधाका स्वरूप एक विचित्र-सा बन जाता है। अपने-अपने भावसे, अपनी-अपनी आँखोंसे जिन्होंने जैसा देखा, जिनको जैसा रुचा, वैसा ही उन लोगोंने कहा और इसके लिये उनका क्षेत्र उनकी सराहना करता है। राधाके सम्बन्धमें आज दिनमें संक्षेपमें जो कुछ कहा गया था, उसका सार यह था कि दो धाराएँ हैं साधनाकी। एक धारामें 'अहम्'के परिणामकी चिन्ता है, 'अहम्'के मङ्गलकी आकाङ्क्षा है और दूसरी धारा इस प्रकारकी है कि जहाँ 'अहम्'की सर्वथा सम्पूर्णतया विस्मृति है।

जहाँ 'अहम्'की सर्वथा विस्मृति है, उसीका मूर्तिमान् रूप श्रीराधा हैं। इस साधनराज्यमें भी राधाके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। राधा श्रीकृष्णकी भक्ता हैं, प्रेमिका हैं, उपासिका—आराधिका हैं और राधा श्रीकृष्णकी

उपास्या—आराध्या भी हैं। श्रीकृष्ण राधाकी उपासना भी करते हैं। ये सब-की-सब बातें प्रेमराज्यके ही विभिन्न स्वरूप हैं—विभिन्न स्तर है, एक ही चीजको बतानेवाली हैं। परंतु विभिन्न साधकोंके लिये विभिन्न आदर्श उपस्थित करती हैं, उनको साधनका अपना-अपना मार्ग बताती हैं। इसलिये जिसकी दृष्टिमें जो मार्ग ठीक जँचता है, यदि वह भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिका इच्छुक है तो उसके लिये वही मार्ग प्रशस्त है। असलमें गोपियोंने, राधाने, (जहाँतक, जिस राधाको मैं देखता हूँ, उस राधाके लिये यह बात है। उस राधाने) कामसे, क्रोधसे, मोहसे, लोभसे या भयसे श्रीकृष्णको नहीं भजा; उस राधाने मुक्तिकी इच्छासे भी श्रीकृष्णकी उपासना नहीं की।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

'जबतक भुक्ति और मुक्तिकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक प्रेमसुखका अभ्युदय नही हो सकता, प्रेमाङ्कुरका प्रादुर्भाव सम्भव नही।'

जो श्रीगोपाङ्गनाएँ प्रेमराज्यकी अधिष्ठात्री देवता है, जिनके लिये नारदने उदाहरण देते हुए कहा—'यथा व्रजगोपिकानाम्' और उद्धवके ये वाक्य है कि—'वे व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते है, मुक्ति नहीं चाहते—भगवान्‌का वह पार्षदत्व भी नही चाहते, जो उनका प्राप्य है, जिसके वे अधिकारी है। वे कहते है कि वृन्दावनमें कही मै लता-गुल्म-ओषधि बन जाऊँ, जिससे मेरे ऊपर श्रीगोपाङ्गनाओंके चरणकी धूलि निरन्तर पड़ती रहे और मै निहाल हो जाऊँ!' वे गोपिकाएँ कामुका नहीं, श्रीकृष्णकी प्रेमसुख-कामनाको पूर्ण करनेवाली हैं। श्रीपरीक्षित् महाराजको संदेह हो गया और उन्होने जब नीची भूमिकापर उतरकर बात कही, तब उसके समाधानके लिये दूसरा कोई साधन नहीं था कहनेका शुकदेवजीके पास। परीक्षित्‌ने पूछा—'जो धर्मके लिये, धर्मकी रक्षाके लिये अवतीर्ण हुए, उन्होंने इस प्रकारका निन्दनीय कर्म कैसे किया? पूर्णकाम होकर भी उन्होंने ऐसा क्यों किया?' शुकदेवजीने जब यह देखा कि परीक्षित् गोपियोंके तथा श्यामसुन्दरके अत्यन्त पवित्रतम प्रेमको न समझकर उसे भौतिकरूपमें देख रहे हैं, तब उन्होंने परीक्षित्‌की दृष्टिके अनुरूप ही

उनका समाधान करनेके लिये दो बातें कहीं। एक तो यह कि 'भाई! ईश्वर-कोटिके जो लोग हैं, उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये, उनके उपदेशोंके अनुसार ही आचरण करना चाहिये। भगवान् शंकर नीलकण्ठ हो गये जहर पीकर, तुम-हम नहीं पी सकते। अग्नि, सूर्य आदि सब कुछ खा जाते हैं, हम वैसा नहीं कर सकते।' दूसरी यह कि 'भगवान् किसके आत्मा नहीं हैं? वे गोपियोंके पतियोंके भी आत्मा हैं। वे सबके साक्षी और परमपति हैं और वे स्वयं श्रीभगवान् हैं, इसलिये उनमें औपपत्य नहीं घटता।' भागवतमें यह भी है कि 'भगवान्‌का जिसके मनके साथ सम्पर्क हो गया, फिर वह चाहे किसी प्रकारसे भी हो—क्रोधसे हो, कामसे हो, लोभसे हो, मोहसे हो, उनका सम्पर्क हो गया, ब्रह्म-संस्पर्श हो गया तो वह सब प्रकारसे कल्याणकारी ही है।' इसका यह मतलब नहीं कि श्रीगोपाङ्गनाओंके मनमें कामवासना थी। श्रीगोपाङ्गनाओंका बड़ा ही विचित्र निष्काम प्रेमभाव है। वे श्रीकृष्णको अपने लिये नहीं चाहतीं, श्रीकृष्णके लिये ही चाहती हैं। वहाँ न भोगकी आकाङ्क्षा है न मोक्षकी! किसी भी कामना-वासनाका तो कोई सम्पर्क ही नहीं है। उनका तो इतना ऊँचा भाव है कि वे केवल यही चाहती हैं कि हमारा जीवन, हमारे जीवनका क्षण-क्षण केवल इसीमें बीते कि जिससे हमारी स्वामिनी श्रीराधा और हमारे प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर सुखी हों। बस, इसके सिवा न तो उन्हें भोग-मोक्ष—किसी वस्तुकी चाह है न किसीकी परवाह है। वे न मोक्ष जानती हैं न भोगको जानती हैं। वास्तवमें एक बात और भी है कि यदि गोपीकी आँखसे हम देखें तो गोपी किसीके लिये साधनका आदर्श भी नहीं है। गोपीजगत्‌में न साधक है और न साधना है। भगवान् श्रीकृष्णका जो गोपीजगत्‌का विहार है, वह कुछ अद्भुत है। वहाँ श्रीकृष्ण यदि नारायणरूपमें आते हैं तो गोपियोंका प्रेम उन्हें नहीं मिलता। एक कथा आती है—यह श्रीगोपियोंकी निकुञ्जलीलाकी है। श्रीकृष्ण एक बार कहीं जाकर छिप गये। श्रीराधा प्रतीक्षामें थीं। छिप गये तो गोपियोंने पता लगा लिया। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे वहाँ जा पहुँचीं। दूरसे देखा, गोपियोंने समझा कि यहाँ श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण समझ गये कि गोपियाँ आ गयी हैं

तो वे उसी समय, उसी क्षण नारायणस्वरूप हो गये, चतुर्बाहु हो गये—चतुर्भुज बन गये। गोपियाँ आयीं, देखा श्रीनारायण हैं तो प्रणाम किया। वहाँ प्रेम-भाव नहीं आया। प्रणाम करके कहा—'भाई! ये तो नारायण हैं' और उनसे प्रार्थना भी की कि 'श्रीकृष्णमें हमारी रति हो, उनमें हमारा भाव हो!' और चल दीं वहाँसे। तो श्रीनारायणको देखकर भी जिनका प्रेम नहीं उमड़ता, श्रीनारायणके उस दिव्य परम ऐश्वर्यमय महान् सुन्दर चतुर्भुज स्वरूपको देखकर भी जिनका प्रेम ढक जाता है, छिप जाता है, अन्तर्हित-सा हो जाता है, मुरझा जाता है और वहाँसे हटना चाहता है, उन गोपियोंकी महिमा कोई क्या कहे। वे गोपियाँ वस्तुतः किसी साधन-राज्यके लिये आदर्श नहीं बन सकतीं। वे तो बिल्कुल अलग चीज हैं। वहाँ न जगत् है न लोक है, न लोकसंग्रह है। वस्तुतः लोकसंग्रह तो अर्जुनकी 'शरणागति'में भी नहीं है।

जहाँ भगवान् श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें 'लोकनेता'के रूपमें प्रवचन करते हैं, वहाँ उन्होंने बताया है—'यद्यपि तीनों लोकोंमें मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो, तथापि मैं कर्म करता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो मेरी देखा-देखी लोग सत्कर्मोंका परित्याग कर दें और वे सब-के-सब नष्ट हो जायँ। और मैं सबके नष्ट होनेमें निमित्त बनूँ। इसलिये मुझे कर्म करना पड़ता है। ओर तुमको भी लोकसंग्रहके लिये जनकादिकी भाँति कर्म करना चाहिये।' पर वही भगवान् जब अर्जुनसे एकान्तमें कहते हैं—

'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'—तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय हो, दृढ इष्ट हो—'इष्टोऽसि मे दृढमिति' और वहाँ वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—'सर्वधर्मान् परित्यज्य'।

जो स्वयं धर्म नहीं छोड़ना चाहते लोकसंग्रहके लिये, वे अपने शिष्यसे—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहनेवाले शिष्यसे कहते हैं कि 'तुम सब धर्मोंको छोड़ दो।'

यहाँ भी लोक नहीं, यहाँ भी लोकसंग्रह नहीं। फिर जहाँ श्रीगोपाङ्गनाओं-का प्रेम-राज्य है, उससे भी आगे बढ़कर जहाँ श्रीराधा-माधवका निकुञ्ज-

क्षेत्र है, वहाँ तो न लोककी कोई कल्पना है न लोकसंग्रहकी ही। वहाँ न साधन है न साध्य। वहाँ किसी वस्तुकी प्राप्तिकी कोई भी कामना नहीं। किसी वस्तुकी सत्ता नहीं; कोई बन्धन नहीं, इसीसे वहाँ मुक्तिकी कामना भी नहीं। बन्धन है तो बस—

अब तो बंध-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

यह भी दूसरे लोग ही बताते हैं, गोपिकाएँ नहीं बतातीं कि 'मुक्ति श्रीकृष्णचरणोंसे झरती है।' वहाँ तो मुक्तिकी भी मुक्ति हो चुकती है। वहाँ तो 'ब्रज-रज उड़ि मस्तक चढ़ै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय।' भाग्यसे ब्रज-रज उड़कर मस्तकपर पड़ जाय तो मुक्तिकी भी मुक्ति हो जाय। मुक्तिको भी एक बन्धन रहता है—वह महापुरुषोंको वरण करती है, संतों-महात्माओंको वरण करती है। एक प्रसङ्ग आया है—

प्राचीनकालकी बात है, सुधन्वा-जैसा योद्धा रणभूमिमें मरने जा रहा है। पत्नीका नवयुवक पति, तरुण स्वामी मरने जा रहा है। पत्नी जान गयी है कि ये वापस नहीं लौटेंगे। उस समय पत्नी कहती है कि—'आज आपका एकपत्नीव्रत नष्ट होगा।' वहाँ उस राज्यमें नियम था कि कोई भी पुरुष दूसरा विवाह नहीं कर सकता था। श्रीकृष्णने इसपर विनोद किया अर्जुनसे कि 'भैया! हमलोग इन्हें कैसे जीतेंगे? सुधन्वाके यहाँ तो पिता-पुत्र सभी एकपत्नीव्रती हैं। राज्यमें सभी एकपत्नीव्रती हैं। किंतु तुमने कई विवाह कर लिये और मेरे तो सहस्रों स्त्रियाँ हैं। तो तुम-हम इनका कैसे मुकाबला कर सकेंगे?' सुधन्वाकी पत्नीने कहा कि 'आज आपका एकपत्नीव्रत नष्ट होगा।' सुधन्वाने पूछा 'कैसे?' पत्नीने मुसकराकर कहा—"युद्धक्षेत्रमें आज आपको 'मुक्ति' देवी वरण करेगी। इस प्रकार आपका व्रत भंग हो जायगा।"

सुधन्वाने उत्तर दिया—"आज तुम्हारा भी पातिव्रत्य भङ्ग होगा। तुम आज मेरे साथ सती होकर 'मोक्ष'को वरण करोगी।" 'मुक्ति' स्त्रीलिङ्ग है और 'मोक्ष' है पुँल्लिङ्ग। यह विनोद था। मुक्तिका भी एक बन्धन है। ब्रजरज मुक्तिको भी मुक्त करनेवाली मानी गयी है, जहाँ बन्धनमें मुक्तिकी

इच्छा नहीं है। श्रीकृष्णके एक राधा हैं और राधाके एक श्रीकृष्ण हैं। वहाँपर साधना नहीं है, साध्य नहीं है, कोई साधक नहीं है। वहाँ केवल राधा हैं और हैं श्रीकृष्ण। वे दोनों एक हैं और एक होकर ही दो बने हुए परस्पर रसास्वादन करनेके लिये नित्य प्रेम-लीला करते हैं, विहार करते हैं और उसीमें प्रमत्त रहते हैं। यह उनका अलग साम्राज्य है। उनकी देखा-देखी यदि कोई दूसरा आदमी, जिसके मनमें काम और क्रोधका भी त्याग नहीं है, जिसके मनमें नाना प्रकारके विकारोंका दोष भरा है, वह श्रीकृष्ण-लीलाका, श्रीराधाकी लीलाका अनुकरण करने चले तो वह तो जहर पीता है। इसीलिये राधाके अलग-अलग विभिन्न भाव हैं। कवियोंमें भी बड़ा अन्तर है। सूर भी कवि है, नन्ददासजी भी कवि है और दूसरे लोग भी कवि हैं; परंतु श्रीसूरदासजीकी तथा नन्ददासजीकी आँखमें और दूसरे कवियोंकी आँखमें बड़ा भारी अन्तर है।

श्रीजयदेवके गीत पढ़िये। गीतगोविन्दमें खुला शृङ्गार है। जयदेव महात्मा थे। वे जिस प्रकारके अधिकारी थे, उस प्रकारके अधिकारी शृङ्गारी कवि कौन हैं? इसीलिये जयदेवको आदर्श मानकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने जगह-जगह उनका स्मरण किया है—जो चैतन्य इतने बडे त्यागी थे कि स्त्रीका नामतक नही लेते थे। वे 'स्त्री'शब्दका उच्चारण नहीं करते थे। वे स्त्रीको 'प्रकृति' कहते थे। उस समय श्रीमहाप्रभुके साढ़े तीन भक्त माने जाते थे। उसमें आधेमें एक वृद्धा माधवीदेवी मानी जाती थीं। इस प्रकारकी परम भक्ताके पाससे उनके एक भक्त छोटे हरिदास भिक्षाके लिये चावल माँग लाये। महाप्रभुने पूछा कि 'ये चावल कहाँसे लाये?' उत्तर मिला 'माधवी मैयाके यहाँसे।' महाप्रभुने हरिदासको तुरंत निर्वासित कर दिया। कह दिया—'तुम हमारे आश्रममें मत आना।' अस्सी वर्षकी महाभक्ता माधवीके यहाँके चावल ले आनेके कारण महाप्रभुने इतनी कठोर आज्ञा दे दी। अत्यन्त प्रेम होनेपर भी महाप्रभुने यह आज्ञा दी। भक्त हरिदासके चले जानेपर उसके वियोगमें वे रोये, दुखी हुए। दो वर्ष बाद हरिदासने त्रिवेणीमें जाकर अपना देह-विसर्जन कर दिया। पर महाप्रभु बोले नहीं। उन्होंने कहा कि 'यह दण्ड मैने उसे नहीं, स्वयं अपनेको दिया है। यह

दण्ड मेरे संन्यास और आश्रमकी मर्यादाकी रक्षाके लिये था।' इस प्रकारके महात्यागी चैतन्य कवि जयदेवके श्रृङ्गारभरे पदोंको सुनकर नाच उठते थे। उनकी आँखें और थीं। पर जो श्रीकृष्णको, श्रीराधाको कामजगत्के खुले श्रृङ्गारमें उतारकर, गंदगीमें उतारकर अपनी गंदी वासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं, उनकी आँखें दूसरी हैं। बोलचालमें लोग कहते हैं 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।' यह बोलचालकी राधा दूसरी है। राधा क्या चीज है? चैतन्यचरितामृतमें इसका उत्तर है, बड़ा सुन्दर है—मनन करने योग्य है। वहाँ ग्रन्थकार कहते हैं—

राधा भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति हैं।
'कृष्णके आह्लादे, ताते नाम आह्लादिनी।'

श्रीकृष्णको आह्लादित करती हैं, इससे उनका नाम आह्लादिनी है और उसी शक्तिके द्वारा उस सुखका आस्वाद वे स्वयं करती हैं—श्रीकृष्णको आह्लादित करके स्वयं आह्लादित होती हैं। 'तत्सुखे सुखित्वम्।' यह प्रेमका स्वरूप है। बड़ी सुन्दर चीज है। जहाँपर अपने सुखकी वाञ्छा है—किसीके द्वारा, भगवान्‌के द्वारा भी, मोक्षकी भी, वहाँ प्रेम नहीं है, काम है। 'निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।' कामना और प्रेममें यही अन्तर है। कामना चाहती है अपना सुख और प्रेम चाहता है प्रेमास्पदका सुख। यही भेद है। इसीलिये गोपियोंका 'काम' शब्द प्रेमका ही वाचक है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्।

गोपिकाओंका काम—काम नहीं था। उसका नाम काम है, पर वहाँ काम-गन्धलेश भी नहीं है। वह दिव्य प्रेम है।

जो आह्लादिनी शक्ति है, वह श्रीकृष्णको आह्लादित करती है और 'आह्लादिनीर सार अंश प्रेम तार नाम'। जो उसका सार अंश है, उसका नाम प्रेम है; वह प्रेम आनन्द-चिन्मयरस है। और इस प्रेमका जो परम सार है, वह है महाभाव। इसी महाभावकी मूर्तिमती प्रतिमा, महाभावरूपा ये राधारानीजी हैं। एक मूर्तिमती प्रेम-देवी हैं। कहते हैं कि यह प्रेमका जो सार है, वही राधा बन गया है। ये श्रीकृष्णकी परमोत्कृष्ट

प्रेयसी हैं। श्रीकृष्णवाञ्छा पूर्ण करना ही इनके जीवनका कार्य है। इनमें काम-क्रोध, बन्ध-मोक्ष, भुक्ति-मुक्ति—कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छाको पूर्ण करना—यही इनका स्वरूप-स्वभाव है। यह बड़ी भारी अनोखी चीज है। भगवान् इच्छारहित हैं। यह प्रेमका ही जादू है, यह गोपी-प्रेमका जादू है कि जो सर्वथा इच्छारहित हैं, वे इच्छावाले बन जाते हैं। जिनको किसी वस्तुका अभाव नहीं, वे अभावग्रस्त बन जाते हैं। वे इस रसके लिये मतवाले बन जाते हैं। ये महाभाववाली गोपी श्रीराधा हैं। ललितादि सखियाँ इनकी कायव्यूहरूपा हैं। श्रीकृष्ण-स्नेह ही इनका सुगन्धित उबटन है। कारुण्यामृत, तारुण्यामृत और लावण्यामृतकी धारासे ये स्नान करती हैं। निज लज्जा ही इनका श्याम-परिधान है। स्त्रीको लज्जा ढकनेके लिये वस्त्र चाहिये। श्यामसुन्दर ही इनके श्याम-वस्त्र हैं। कृष्णानुरागरूपी वस्त्र ही इनकी कुसुँबी—लाल ओढ़नी है। ये नील पट पहने हैं और उसपर इनकी लाल ओढ़नी फहराती है। प्रणय, मान, स्नेह इत्यादि भाव ही इनके वक्षःस्थलका आच्छादन करनेवाली इनकी कञ्चुकी हैं। सखी-प्रणय चन्दन कुंकुम है। स्मितकान्तिरूपी कर्पूर ही अङ्ग-विलेपन है। श्रीकृष्णका मधुर-रस ही मृगमद—कस्तूरिका है। इसी मृगमदसे इनका कलेवर चित्रित है। रागरूप ताम्बूलके रागसे इनके अधर रञ्जित हैं। प्रेमकौटिल्य ही इनके नेत्र-युगलोंका कज्जल है। हर्ष आदि संचारी सुदीप्त सात्त्विक भाव ही इनके अङ्गोंके आभूषण है। हाव, भाव, लीला आदि रमणियोंके भाव ही इनके बीस गुण तथा श्रेष्ठ भाव विविध फूलोंकी मालाएँ हैं। मध्यवय.-स्थितिकी सखीके कंधेपर हाथ रखकर ये चलती हैं। श्रीकृष्णलीला-मनोवृत्ति इनकी आस-पासकी सखियाँ हैं। श्रीकृष्णके अङ्ग-स्पर्शद्वारा सेवित निजाङ्ग-सौरभालय ही इनके बैठनेका पर्यङ्क है। इसपर ये बैठी-बैठी श्रीकृष्ण-सङ्गका निरन्तर चिन्तन करती हैं, उन्हींसे आलाप करती हैं। कृष्ण-नाम ही, उनका नाम-यश-गुण ही इनका कर्णाभूषण है। श्याम-मधु-रसका ये श्रीकृष्णको पान कराती हैं। अर्थात् शृङ्गार-रसका अनुभव देती हैं। इनके जीवनका उद्देश्य है—श्रीकृष्णकी सारी कामनाओंको निरन्तर पूर्ण करते रहना। इनको श्रीकृष्णके विशुद्ध प्रेम-रत्नोंकी खानि समझो। श्रीकृष्णका प्रेम चाहो तो इनके प्रेमाकरसे उसे निकालो। इस प्रकार इनका

कलेवर अनुपम गुण-समूहसे परिपूर्ण है। श्रीकृष्णकी परम प्रेयसी सत्यभामाजी वाञ्छा करती हैं कि इन-जैसा सुहाग मुझे मिले। कला-विलासमें चतुर व्रज-रमणियाँ भी इनसे कला-विलास सीखना चाहती हैं। और किसकी बात कहें—सौन्दर्य-माधुर्य एवं पातिव्रत्यमें लक्ष्मी और पार्वती सबसे बड़ी, सबसे उत्तम मानी गयी है। ये दोनों भी इनके सौन्दर्य-माधुर्यकी कामना करती हैं। जहाँ कामनाका कलङ्क है, वहाँ सौन्दर्य नहीं है। एक राधा ही ऐसी हैं, जो कामना-कलङ्क-शून्य परम सुन्दर हैं। कामनाकी कालिमाका लेश भी इनमें नहीं है। ये कामना जानतीं ही नहीं। ये तो श्रीकृष्ण-कामना-कल्पतरु हैं। ये नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी कामना पूर्ण करती रहती हैं। लक्ष्मीमें कामना है, पार्वतीमें कामना है। वे अपने स्वामियोंकी सेवा चाहती हैं, पर इनमें यह कोई-सी भी कामना नहीं है। अनसूया, अरुन्धती—ये सब पातिव्रत्य-धर्म चाहती हैं। पर सच्चे पातिव्रत्य-धर्मका पालन तो श्रीराधाने ही किया।

निज तन-मन जिनके नहीं, प्रिय-तन-मन कौं धार।
प्रियमय, राधा-सी सती, अन्य कौन संसार॥

इसीलिये ये अनसूया आदि पतिव्रता-शिरोमणियाँ भी चाहती हैं कि राधाका-सा सतीत्व हमें प्राप्त हो जाय। श्रीकृष्ण जगत्की सब चीजोंको जानते हैं, वे सबका पार पा जाते हैं, उनका पार कोई नहीं पाता। पर इन राधाजीके सद्गुणोंका, इनके गुणगणोंका वे भी पार नहीं पा सकते। ये श्रीराधाजी नित्य-विहारके अतिरिक्त और कुछ नहीं करतीं। निरन्तर कृष्णानुराग-लीला ही इनका चरित्र है।

श्रीराधाका यह छोटा-सा स्वरूप है। इसमें विशेषता क्या है? इसमें कहींपर भी कोई भी लौकिकता है ही नहीं। इसमें कहींपर भी किसी भी कामनाका गन्ध-लेश भी नहीं है, स्वतन्त्र 'अहम्' का कहीं अस्तित्व ही नहीं है, इसीसे 'अहम्' के परिणाम या मङ्गल-चिन्ताकी भी कल्पना नहीं है। ये केवल श्रीकृष्णकी आनन्दमूर्ति हैं। ये श्रीकृष्णको आनन्द देती हैं। श्रीकृष्ण ही आनन्द हैं। उनसे सर्वथा अविच्छिन्न, उनसे सर्वथा संलग्न हैं ये। इसी आनन्दके भाव, इसीकी संक्षिप्त व्याख्या करनेवाले हैं—रति, प्रेम, स्नेह, भाव, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, फिर महाभाव। चित्तमें श्रीभगवान्‌के

सिवा अन्य किसी विषयकी जरा भी चाह नहीं रहती । जब सर्वेन्द्रियके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवामें ही निरत हुआ जाता है, तब उसे 'रति' कहते हैं । रति प्रगाढ़ होनेपर उसे 'प्रेम' कहते हैं । प्रेममें अनन्य ममता होती है । सब जगहसे सारी ममता निकलकर यह भाव हो जाय कि सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा एकमात्र श्रीकृष्णके सिवा और कोई भी मेरा नहीं है—इसीका नाम प्रेम है । इस प्रेममें जब प्रगाढ़ता आती है, तब उसे 'स्नेह' कहते हैं । हमलोग छोटोंके प्रति होनेवाले बड़ोंके वात्सल्य-भावको स्नेह कहते हैं, पर यहाँ चित्तकी द्रवताका नाम स्नेह है । जो केवल भावान्वित-चित्त होकर अपने प्रियतमके प्रेममें द्रवित रहता है, उस द्रवित-चित्तकी स्थितिका नाम स्नेह है । यह स्नेह जब प्रगाढ़ होता है, तब स्नेहकी मधुरताका विशेष रसास्वादन करनेके लिये दक्षिणभावका परित्याग होकर वामभावकी सृष्टि होती है । नकारात्मकभावमें स्नेहका माधुर्य-रस अधिक प्राप्त होता है । उस माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये जो भाव जाग्रत् होता है, वह 'मान' कहलाता है । जगत्का मान तो आसुरभाव है, त्याग करने योग्य है । परंतु यह परम मधुर 'मान' बड़ा पवित्र है । इसका यथार्थ आदर्श श्रीमती राधाके प्रेममें प्राप्त होता है । इस 'मान'का भङ्ग करने अथवा इसका 'सम्मान' करनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीश्यामसुन्दरको अपनी प्रेमाश्रु-सुधा-धारासे श्रीराधारानीके श्रीपादपद्मोंको पखारना पड़ता है और प्रेम-गद्गदकण्ठसे यह कहना पड़ता है—

राधे ! 'मुञ्च मयि मानमनिदानम् ।'
'स्मर गरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं
धेहि पदपल्लवमुदारम् ।'

अदम्य वेगमयी भागीरथीका तीव्र प्रवाह कहीं तनिक-सी बाधा पाकर जैसे उद्दीप्त गर्वसे उच्छ्वसित हो उठता है और अन्तमें दोनों तटोंको बहाकर सुनील सागरमें सम्मिलित हो जाता है, श्रीराधाका प्रेम भी मानसे उच्छ्वसित होकर शेषमें कलहान्तरके पश्चात् मधुरतम श्यामसागरमें मिलकर आत्मसमर्पण कर देता है । कितना सुन्दर, कितना मधुर है यह 'मान' ! यह 'मान' जब प्रगाढ़ होता है, तब 'प्रणय' होता है । उसमें विश्रम्भ होता है जो दो रूपोंमें अभिव्यक्त होता है—१ मैत्र २. सख्य । विनययुक्त विश्रम्भको 'मैत्र'

और भयहीन विश्रम्भको 'सख्य' कहते हैं। इन दोनोंमें—'सख्य' और 'मैत्र'में—बड़ा अन्तर है। मित्र अपमान नहीं करता अपने मित्रका, पर सख्यभावमें भगवान्‌के व्रजसखा श्रीकृष्णका पद-पदपर अपमान करते हैं। एक बार व्रजसखा कहने लगे—

> न्यारी करौ हरि आपनि गैयाँ।
> ना हम चाकर नंदबबा के ना तुम हमरे नाथ गुसैयाँ॥

प्रणय जब प्रगाढ़ होता है, उसका फल 'राग' होता है। इसमें अपने प्रियतमके लिये प्राप्त होनेवाले महान् दुःख भी सुखरूप भासते हैं, दीखते हैं, अनुभूत होते हैं। इसीका नाम 'राग' है; यह गंदा 'विषयानुराग' नहीं है।

एक बारकी बात है। ज्येष्ठ मास था। मध्याह्नकाल। श्रीराधाजीको पता चला कि श्रीश्यामसुन्दर गोवर्धनपर विराज रहे हैं। नंगे पैरों, जलती हुई भूमिपर वे चलीं। श्रीकृष्णसे मिलना उन्हें आकाङ्क्षित है। इसलिये कि मिलनेसे श्रीकृष्णको सुख होगा। वे अपने सुखके लिये उनसे नहीं मिलतीं। गोपियाँ शृङ्गार क्यों करती हैं? केश क्यों रखती हैं? वेणी क्यों बाँधती हैं? अच्छे कपड़े क्यों पहनती हैं? शृङ्गारके लिये? नहीं? उनको इस रूपमें देखकर श्रीकृष्णको सुख होता है, इसीलिये। और कोई भी हेतु नहीं है। जीना उनके लिये, खाना-पीना उनके लिये, ओढ़ना-पहनना उनके लिये, सब कुछ उनके लिये। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि श्रीकृष्ण यदि चाहें कि गोपियाँ हमें गाली दें, हमारा अपमान करें, तो वे वैसा ही करती हैं। क्षोभमें गाली नहीं देतीं, अपमान नहीं करतीं। क्षोभमें मनमानी गाली देना तो काम-जनित क्रोधका कार्य है। वे तो उनकी तुष्टिके लिये ही उन्हें गाली देती हैं; इससे प्रियतम श्रीकृष्णको अधिक प्रेम-रसका आस्वादन प्राप्त होता है। श्रीकृष्णको यथेच्छ प्रेम-रसका पान करानेके लिये ही वे श्रीकृष्णकी अवज्ञा करती हैं, उनका तिरस्कार करती हैं। इसमें भी उद्देश्य है, उनको सुखी करना। एक दिन निकुञ्जमें श्रीराधारानीका आदेश हो गया—'श्रीकृष्णको निकाल दो, वे हमारे यहाँ आने न पायें।' सखियोंका पहरा बैठ गया। यह केवल इसीलिये कि श्रीकृष्ण ऐसा चाहते हैं। प्रियतम चाहते हैं। प्रियतमकी चाह पूरी करनेमें यदि प्रियतमकी अवज्ञा भी करनी पड़े तो वह स्वीकार है। यह 'राग' कहलाता है। इसके बाद अनुराग होता है। इसमें नित्य

नव अनुरागकी अनुभूति होती है। प्रियतमकी नित्य नये-नये रूपमें अनुभूति होती है और क्षण-क्षणमें नये-नये अनुरागकी वृद्धि होती है। यह 'अनुराग' है। नया मकान, नया बगीचा, नया प्रेमी, नयी प्रेमिका, नया वस्त्र, नयी मोटर और नयी कमाईमें भी अनुराग होता है; पर उनके स्थायी हो जानेपर वह अनुराग घट जाता—मिट जाता है। वे चीजें पुरानी हो जाती हैं, आकर्षण नष्ट हो जाता है। पर यहाँ तो श्यामसुन्दर नित्य नव सुन्दर दीखते हैं। नित्य उनका सौन्दर्य बढ़ता ही जाता है, नित्य नये प्रेमके रसकी लहरें उठती हैं। कभी यह रुकता ही नहीं। जिसकी वृद्धिका कभी प्रवाह रुके नहीं—नित्य नया रस, नित्य नया प्रेम, नित्य नया आनन्द—वह यहाँ अनादिकालसे चलता रहता है। इस श्रीकृष्ण-लीला-विलासका नाम 'अनुराग' है।

यह जब प्रगाढ़ होता है, तब 'भाव' कहलाता है। यह भाव जब पूर्ण परिणतिको प्राप्त हो जाता है, तब वह 'महाभाव' कहलाता है। यह महाभाव ही राधाका स्वरूप है। यह 'महाभाव' ही गोपी-उपासनाकी पद्धति है, यही लक्ष्य है। यही गोपी-उपासनाका प्राण है, आत्मा है और इसीका आश्रय लेकर श्रीकृष्ण तृप्त रहते हैं। यह महाभाव न हो तो कुछ नहीं। गोपाङ्गनागणोंकी, श्रीकृष्णकी सत्ता इस 'महाभाव'को लेकर ही है। यह नहीं तो श्रीकृष्णकी सत्ता नहीं। परमात्मा रहें, ब्रह्म रहें, ईश्वर रहें, लोक-परलोकके सृजनकर्ता रहें, जगन्नियन्ता रहें, सब रहें; पर प्रियतम—प्रेष्ठ तो ये श्रीकृष्ण ही हैं। 'स प्रेष्ठं लभते।' जिस प्रियतमके प्रेमके सामने कोई चीज नहीं रही, सबकी विस्मृति हो गयी—सबका विलोप हो गया—वह प्रेम, जो सब कुछ जलाकर उसके ध्वंसावशेषपर हर्षोन्मत्त होकर नाच उठता है, उसे प्राप्त होता है। जहाँ यह प्रेम रहता है, वहाँ सबकी राख करनी पड़ती है। जो सबको जलाकर, सबको फूँककर, लोक-परलोकको ध्वंसकर, भुक्ति-मुक्तिका धूआँ उड़ाकर सबके भस्मावशेषपर नाचना चाहता है, वही इस प्रेमको प्राप्त करता है। श्रीराधाकी दया बनी रहे, हमलोग उनका प्रेमकण प्राप्त करनेके लिये उनकी ओर बढ़ें, चलें—यही परम सौभाग्यकी बात है। हरिः ॐ तत्सत्

राधा-कृष्णकी अभिन्नता तथा राधा प्रेमकी विशुद्धता

(सं० २०१३ वि०के श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

(१) दिनमें

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश और अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। वे सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वग, अनन्त, विभु हैं। वे सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान् हैं। वे अनन्त शक्तियोंके परमाधार और एकाधार हैं। वे सगुण, निर्गुण, निराकार और साकार हैं। वे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं, वे ही आश्रयतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ।

वे ही द्विभुज मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर नराकृति परब्रह्म, लीलामय, लीलापुरुषोत्तम, भुवनमोहन-श्रीविग्रह हैं। वे विरुद्ध-धर्माश्रय और अपार करुणामय हैं। वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं। वे आनन्द-चिन्मय-रस-समुद्र, रसस्वरूप, आस्वाद्य और आस्वादक, रसिकशेखर हैं। वे अपने असमोर्ध्व नित्य परिवर्द्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा विश्वविमोहन—सर्वचित्ताकर्षक हैं, सर्वचित्तहर हैं, यहाँतक कि अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर स्वयं ही मुग्ध हो जाते हैं—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।
(श्रीमद्भा० ३ । २ । १२)

अपने ही इस नित्य सौन्दर्य-माधुर्य-रसका समास्वादन करनेके लिये वे स्वयं अपनी ह्लादिनी शक्तिको अथवा आनन्दस्वरूपको सदा-सर्वदा श्रीराधा-

रूपमें अभिव्यक्त किये हुए हैं। श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णकी ही स्वरूपाशक्ति हैं। वे श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीराधाके अभिन्न स्वरूप हैं। इनकी यह रसमधुर लीला सत्य और नित्य है। वस्तुतः लीला तथा लीलामय भी अभिन्न ही हैं। तत्त्व और लीला एक ही स्वरूपकी दो दिशाएँ हैं। तत्त्वमें जो अव्यक्त है, वही लीलामें परिस्फुट है। तत्त्वमें जो बीज है, वही लीलामें विशाल विशद वृक्ष है। दूसरे शब्दोंमें, तत्त्व लीलारूप अक्षय सरोवरका एक जलबिन्दु है। लीला तत्त्वका प्रकट विग्रहरूप है, तत्त्वकी समग्रता ही लीला है। लीलाका निगूढ रहस्य ही तत्त्व है। एक ही परम नित्यानन्द रसब्रह्म तत्त्व नित्य अखण्ड रहकर ही आस्वाद्य और आस्वादक रूपसे दो रूपोंमें अभिव्यक्त होकर लीलायमान है—एक व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और दूसरी वृषभानुदुलारी श्रीराधा। श्रीकृष्ण रसमय हैं और श्रीराधा भावमयी हैं।

रतिकी दृष्टिसे श्रीराधारानी मूर्तिमान् अधिरूढ़ महाभावरूपा या मधुरा रतिकी सजीव प्रतिमा हैं। मदीया रति यानी 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' यह भाव ही गोपीभाव है। इसी भावकी चरम परिणति महाभावस्वरूपिणी वृषभानु-नन्दिनी श्रीराधारानी हैं। मदीया रतिकी इस चरम और परम पूर्णतम परिणतिमें शक्तिमान् श्रीकृष्ण निज स्वरूपाशक्ति श्रीराधारानीके प्रति सोल्लास आत्मसमर्पण करते हैं—'धेहि पदपल्लवमुदारम्'। कायव्यूहा-शक्ति-रूपिणी व्रजदेवियोंके सहित शक्ति और शक्तिमान्का यह नित्य मधुर लीला-विलास ही नित्य महारास है। इस मधुरातिमधुर अनन्त विचित्र महारासकी आत्मा, अखिल आनन्द-चिन्मय-रसामृतरूपिणी श्रीराधारानी हैं।

श्रीराधाभावकी साधना जगत्के कामराज्यकी वस्तु तो है ही नहीं, उसकी अत्यन्त विरोधिनी है। श्रीराधारानीके स्वरूपतत्त्वका अध्ययन और श्रीराधाभावका साधन कामके कलुषको सदाके लिये धो डालनेवाला है। इतना होनेपर भी यह शुष्क नहीं है, नीरस नहीं है, चित्तमें खिन्नता उत्पन्न करनेवाला नहीं है, निदारुण निर्वेदजनक नहीं है। यह रसमय है, आनन्दमय है, छविमय है, मधुरिमामय है और मोक्षनिरस्कारी दिव्य

भगवद्भावको प्राप्त करानेवाला है। इसमें आत्यन्तिक विषय-विराग है, पर वह भी एक मधुर राग है। प्रेमी साधक इस रागके रसिक होते हैं। महात्मा गोकर्णजीने इसी ओर संकेत करते हुए—'वैराग्यरागरसिको भव' कहा है। कामरूप अन्धकारका प्रभाव वहींतक है, जहाँतक दिव्य गोपीभाव या राधाभावका निर्मल भास्कर उदय नहीं होता। राधाभावके परमोज्ज्वल रस-साम्राज्यमें कलङ्की कामका प्रवेश ही नहीं है। अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्यराशि, रोम-रोम-मधुर श्रीकृष्ण जब अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर विस्मित और विमुग्ध होते हैं, उस समय उस मुग्धतासे उनकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य श्रीराधारानीमें ही है। इसीसे श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहेऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

ये श्रीराधारानी अनादि हैं, इनका प्राकट्य स्वयं भगवान्‌के प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य रूपमें हुआ करता है। आज इन्हीं सच्चिदानन्दविग्रहा, आनन्दांशघनीभूता, आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविता, ह्लादिनीमूर्ति वृषभानु-दुलारी श्रीश्रीराधारानीका प्राकट्य-महोत्सव है। यह न कौतुक है न तमाशा है, न यह मनोरञ्जनकी वस्तु है, न यह काव्यकलाके कल्पना-काननके किसी सुगन्धित सुमनकी कल्पित छाया है। यद्यपि श्रीराधारानी सकल कलाओंकी प्रसविनी हैं, निखिल ललित कलामयी हैं, निर्मल संगीत-सौन्दर्य, कलाविलासकी जीती-जागती प्रतिमा हैं, अनन्त विश्वब्रह्माण्डके 'समष्टि मन' रूप भगवान् श्रीकृष्णके मनको मोहित तथा रञ्जित करनेवाली हैं, परम कौतुकमयी हैं, तथापि इनका यह सभी कुछ दिव्य है। श्रीराधारानीके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेवाले परम भाग्यवान् लोग ही इसका अनुभव कर सकते हैं। श्रीराधा-रानी, उनकी कायव्यूहरूपा किन्हीं व्रजदेवी अथवा श्रीराधारानीके अभिन्न-स्वरूप, उनके नित्य आराध्य और नित्य आराधक श्रीकृष्णकी कृपासे ही इसमें प्रवेश पाया जा सकता है और उनकी कृपासे ही अनुभूति भी हो सकती है।

राधारानी कौन थीं ! उनके साथ श्रीकृष्णका लौकिकरूपसे क्या

सम्बन्ध था, विवाह हुआ था या नहीं—इन सब बातोंपर बहुत आलोचना हो चुकी है और इस विचारमें कोई लाभ भी नहीं है।

आज इस प्राकट्य-महोत्सवके दिन हम सब श्रीवृषभानुदुलारी कीर्तिदाकुमारीके पावन चरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्त प्रणिपात करके उनसे उनके पवित्र प्रेमकी भिक्षा माँगते हैं।

बोलो श्रीवृषभानुदुलारी श्रीकीर्तिदाकुमारीकी जय !

(२) रात्रिमें

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारद-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥

समस्त संसारके प्राणी भोग-सुखकी कामना करते हैं। सभीके मन सदा भोग-लालसासे भरे रहते हैं। मनुष्य दिन-रात इसी चिन्तानलमें जलते रहते हैं कि उनकी भोग-लालसा पूरी हो। इस भोग-कामको लेकर ही जगत्के प्राणी निरन्तर दुःखसागरमें डूबते-उतराते रहते हैं। यह भोग-काम मनुष्यके ज्ञानको ढके रखता है। मनुष्य भूलसे भोग-कामको ही प्रेम मान लेते हैं और कामके कलुषित गरल-कुण्डमें निमग्न रहकर प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित करते हैं। वस्तुतः काम और प्रेममें महान् अन्तर है। जैसे काँच और हीरा देखनेमें एक-से दिखायी देते हैं, पर दोनोंमें महान् भेद होता है—अनुभवी जौहरी ही असली हीरेको और उसके मूल्यको पहचानते-जानते हैं, उसी प्रकार प्रेमकी पहचान भी किन्हीं विरले भोग-काम-लेश-शून्य प्रेमी महानुभावोंको ही होती है। काम अन्धतम है, प्रेम निर्मल भास्कर है। अंधा मनुष्य अपनेको ही जानता है, दूसरेको नहीं; परंतु कामान्ध पुरुष तो अपना हित भी नहीं देखता। इसीसे कामको 'अन्धतम' कहा गया है। कामका उदय होनेपर विद्वान्‌की विद्वत्ता, त्यागीका त्याग, तपस्वीकी तपस्या, साधुकी साधुता और वैरागीका वैराग्य—सभी हवा हो जाते हैं। कामान्ध मनुष्य अपना कल्याण ही नहीं नष्ट

करता, सर्वनाश कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें और प्रेमका लक्ष्य रहता है ऊर्ध्वतम भगवान्‌के आनन्द-विधानकी ओर। कामसे आत्माका अधःपात होता है और प्रेमसे दिव्य भगवदानन्दका दुर्लभ आस्वादन मिलता है। अतएव काम तथा प्रेम परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। 'काम' और 'प्रेम'का भेद बतलाते हुए श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल,
कृष्णसुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म,
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्वत्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर—
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥

मनुष्यकी कामना जब शरीरमें केन्द्रित होती है, तब उसका नाम होता है 'काम' और जब श्रीकृष्णमें केन्द्रित होती है, तब वही 'प्रेम' बन जाती है।

यह निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा, भोग-सुख-कामना जिसकी जितनी कम है, वह उतना ही महान् है। जो निज-भोग-सुखको सर्वथा भूलकर सर्वथा पर-सुखपरायण हो जाते हैं, वे सच्चे महापुरुष हैं; और जिनका आत्मसुख सदा-सर्वदा सर्वथा श्रीकृष्णसुखमें परिणत हो जाता है, वे तो महापुरुषोंके द्वारा भी परम वन्दनीय हैं। उनकी तुलना जगत्‌में कहीं किसीसे होती ही नहीं। श्रीगोपाङ्गनाएँ ऐसी ही कृष्णसुख-प्राणा और सहज कृष्ण-सुख-स्वभावा थीं। वे ही सच्ची प्रेमिकाएँ थीं। इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, स्वजन एवं आर्यपथ—यों 'सर्वत्याग' करके सदा श्रीकृष्णका सहज भजन करती थीं। जबतक मनमें जरा भी लोक-परलोक, भोग-मोक्ष आदिकी कामना रहती है, तबतक 'सर्वत्याग' हो ही नहीं सकता। श्रीकृष्णसुखके लिये सर्वत्याग—यही गोपीकी विशेषता है।

निजसुखके लिये लोग बहुत कुछ त्याग करते हैं, परंतु केवल कृष्णसुखके लिये 'सर्वत्याग' करना केवल गोपीमें ही सम्भव है। वस्तुतः यह 'कृष्णसुख' गोपीप्रेमका स्वरूप-लक्षण है और 'सर्वत्याग' तटस्थ लक्षण है।

निज-सुख-कामनाको प्रीतिरसकी 'उपाधि' कहा गया है। गोपीप्रेममें यह उपाधि नहीं है, इसीसे गोपीप्रेमको 'निरुपाधि' प्रेम कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है—तो क्या श्रीकृष्णके दर्शनकी भी गोपीजनोंको इच्छा नहीं है ? और क्या उनका दर्शन प्राप्त करके भी वे सुखी नहीं होतीं ? इसका उत्तर यह है कि निश्चय ही श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णदर्शनके लिये नित्य-नित्य समुत्सुका रहती हैं और निश्चय ही श्रीकृष्णके दर्शनसे उन्हे परम सुखकी अनुभूति होती है। इतना अधिक सुख उन्हें होता है कि उससे उनके मुखमण्डलपर, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, उनके रोम-रोममें प्रफुल्लताकी बाढ़ आ जाती है। पर यह सब इसी कारण होता है कि इससे प्रियतम श्रीकृष्णको अपार सुख मिलता है, उनका हृदय एक अभिनव महान् उल्लाससे भर जाता है। मुझे देखकर श्रीकृष्णको कितना महान् सुख प्राप्त हो रहा है—इस अनुभूतिसे प्रत्येक गोपीका सुख-समुद्र उमड़ उठता है और उससे उसके प्रत्येक अङ्गकी और मुखकी कान्ति और भी समुज्ज्वल, सुमधुर हो जाती है। गोपीकी इस परम मधुर आनन्दज्योतिप्रसरित मुख-श्रीपर श्यामसुन्दरके नेत्र निर्निमेष होकर गड़ जाते हैं और उनके अन्तरके सुख-समुद्रमें विपुल रूपमें आनन्दकी तरङ्गें लहराने लगती हैं। श्रीकृष्णका यह परम सुख गोपियोंको पुनः-पुनः श्रीकृष्णके सुख-दर्शनके लिये प्रेरित करता है। 'श्रीकृष्णसुखत्वे गोपीसुखत्वं तत्सुखत्वेन पुनः श्रीकृष्णसुखत्वम्।' वस्तुतः श्रीकृष्णसुख ही गोपीका सुख है, स्वतन्त्र सुखानुसंधानकी उसमें कल्पना भी नहीं है। श्रीकृष्ण-आस्वादनजनित सुख भी उसको स्व-तन्त्ररूपसे नहीं होता; कृष्णसुख-परतन्त्र ही होता है।

गोपीका वस्त्राभूषण धारण करना, शृङ्गार करना, खाना-पीना, जीवन धारण करना—सभी सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये हैं। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥

'अर्जुन ! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी रक्षा या देख-भाल भी इसीलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है । गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ प्रेमपात्र और कोई नहीं है ।'

गोपी अपने देहकी रक्षा, सार-सँभाल तथा शृङ्गार-सज्जा करती हैं—यह सत्य है । अवश्य ही यह साधन-राज्यमें एक नयी बात है । सभी साधन-क्षेत्रोंमें शरीरकी इतनी देख-भाल साधनमें बाधक मानी जाती है । सभी देहको तुच्छ समझकर देहकी सेवा छोड़ देनेकी सम्मति देते हैं । यह अनोखी प्रणाली तो गोपी-भजनकी ही है, जिसमें देहकी सेवा भी भजनमें सहायक होती है । पुजारी प्रतिदिन पूजाके प्रत्येक पात्रको माँजकर उज्ज्वल करता है और सजाता है । गोपियोंका यह विश्वास तथा अनुभव है कि श्रीकृष्णकी सेवामें जिन-जिन उपचारोंकी आवश्यकता है, उनमें उनका शरीर भी एक आवश्यक उपचार है; इसलिये वे शरीररूप इस पात्रको नित्य उज्ज्वल करके श्रीकृष्ण-पूजाके लिये सुसज्जित करती हैं । पूजाका उपचार वस्तुतः पुजारीकी सम्पत्ति नहीं होती, वह तो भगवान्‌की ही सम्पत्ति है । पुजारी तो उसकी देख-रेख, सँभाल-सजावट करनेवाला है । इसी प्रकार गोपियोंके शरीर श्रीकृष्णकी सम्पत्ति हैं, गोपियोंके ऊपर तो उनके यथायोग्य यत्नपूर्वक सँभाल करनेका भार है । गोपियोंके तन-मन—सभीके स्वामी श्रीकृष्ण हैं । शरीरको धो-पोंछकर वस्त्राभूषणोंसे सजानेपर उसे देखकर श्रीकृष्ण सुखी होंगे, इस कृष्ण-सुख-कामनाको लेकर ही ये प्रातः-स्मरणीया व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णके सेवोपचारके रूपमें अपने शरीरोंकी सावधानीके साथ सेवा करती हैं । यह शरीर-सेवा श्रीकृष्ण-सेवाके लिये ही है । अतः यह भी परम साधन है, प्रेमका एक लक्षण है ।

अपने पृथक् सुखसे तो गोपियोंकी सहज ही विरक्ति है । एक दिन एक गोपी श्रीकृष्णकी सेवामें लगी थी, इससे उसे बड़ा आनन्द मिला और उस आनन्दके कारण उसमें प्रेमके विकार—अश्रुपात, कम्प, जडता आदि

उत्पन्न हो गये। इस प्रेमानन्दसे क्षणकालके लिये सेवानन्दमें बाधा आ गयी। बस, गोपीको बड़ा क्रोध आ गया। आनन्दपर क्रोध! यहाँ यह क्रोध वस्तुतः उस सेवानन्दजनित प्रेमानन्दपर नहीं है, यह आनन्दजनित विकारपर है; क्योंकि इस प्रेमविकारने सेवानन्दमें बाधा उपस्थित कर दी।

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूरभिवर्षणम् ।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना ॥

'कमलनयना गोपीने आँसू बरसानेवाले प्रेमानन्दकी उच्चस्वरसे निन्दा की।'

गोपीगीतमें श्रीगोपियाँ गाती हैं—

यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं, उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर बहुत डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हे चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर वनमें भटक रहे हो। कंकड़-पत्थर आदिके आघातसे उनमें क्या पीड़ा नहीं होती? हमें तो इसकी सम्भावना मात्रसे ही चक्कर आ रहा है। श्रीकृष्ण! हमारे श्यामसुन्दर! प्राणप्रियतम! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये ही जी रही हैं, हम तुम्हारी ही हैं।'

इस श्लोकमें आये हुए शब्दोंपर गहराईसे ध्यान देनेपर तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. गोपियाँ अपनी विरह-व्यथासे जितनी व्यथित हैं, उससे कहीं बहुत अधिक पीड़ा उनको इस विचारसे हो रही है कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलको चोट लगेगी।

२. गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णका चरणस्पर्श प्राप्त करके महान् सुखको प्राप्त होती हैं, परंतु उस सुखमें प्रियतमके सुखको नहीं भूल जातीं; गोपियोंको अपने सुखका विरोधी भय लगा रहता है, इसीसे वे डरती-डरती श्यामसुन्दरके चरणोंको धीरे-धीरे हृदयपर धारण करती हैं।

३. गोपियोंके हृदयोंपर चरण रखनेसे श्रीकृष्णको भी सुख ही होता है, पर उस सुखमें भी गोपियोंको यह शङ्का हो जाती है कि कहीं कोमल चरणकमलोंको चोट न लग जाय।

गोपियोंमें इसीलिये सहज ही निजसुखका अनुसंधान नहीं है। उनकी शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और संकल्प श्रीकृष्णसुखके लिये ही होते हैं; इसीसे उनका 'सर्वत्याग' स्वाभाविक है। गोपियोंमें 'सर्वत्याग'-की भी विचार-बुद्धि नहीं है। हमारे सर्वत्यागसे श्रीकृष्ण सुखी होंगे—इस प्रकारके विचारसे वे सर्वत्याग नहीं करतीं। उनमें श्रीकृष्णसुखकामनाकी कर्त्तव्य-बुद्धि भी नहीं है। श्रीकृष्णके प्रति सहज अनुराग ही यह सर्वत्याग कराता है; यह तो गोपियोंका सहज स्वभाव है, उनका स्वरूपभूत लक्षण है। उनकी प्रत्येक क्रिया सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २१)

'गोपियो! इसमें संदेह नहीं कि तुमलोगोंने 'मदर्थ—मेरे लिये' लोकमर्यादा, वेद-मार्ग और अपने स्वजनोंका भी त्याग कर दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न चली जाय, मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये परोक्षमें तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं यहीं छिप गया था।'

भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः॥

'मेरा मन ही गोपियोंका मन है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं और मदर्थ—मेरे लिये उन्होंने देहके सारे लौकिक कार्य त्याग दिये हैं।'

इसी प्रकार गोपियोंको अपने दुःखका भी अनुसंधान नहीं है। उनका महान् दुःख भी यदि श्रीकृष्णके सुखका साधन है तो वह उनके लिये

ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर सुखरूप है। श्रीकृष्ण थोड़ी ही दूरपर मथुरामें रहे, पर उनकी इच्छाके प्रतिकूल गोपियोंके मनमें कभी मथुरा जाकर श्रीकृष्णसे मिलनेकी कल्पना भी नहीं आयी। असह्य दुःखमें भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना वे कैसे करती हैं—इसका एक उदाहरण देखिये। व्रजसे मथुरा जाते समय श्रीराधाने हँसकर उद्धवसे कहा—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

'उद्धव! यद्यपि श्रीकृष्णके गोष्ठमें पधारनेसे हमें बड़ा सुख होता, तथापि यदि इसमें उनकी जरा भी क्षति हो तो वे कभी न पधारें दूसरी ओर, उनके मथुरा नगरीसे यहाँ न आनेसे यद्यपि हमें बड़ी भारी पीड़ा होती है, फिर भी यदि इससे उनके चित्तमें सुखका उदय होता हो तो वे सदा वहीं निवास करें।'

इससे सिद्ध है कि गोपीमें निज-सुख-कामका सर्वथा सहज ही अभाव है। श्रीकृष्ण-सुख ही उनका सर्वस्व है, स्वभाव है, जीवन है।

इसीसे श्रीकृष्ण गोपियोंके नित्य ऋणी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह सिद्धान्त घोषित किया है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (जो मुझको जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।) इसका यह तात्पर्य समझा जाता है कि भक्त जिस प्रकारसे तथा जिस परिमाणके फलको दृष्टिमें रखकर भजन करता है, भगवान् उसको उसी प्रकार तथा उसी परिमाणमें फल देकर उसका भजन करते हैं—सकाम, निष्काम (मुक्तिकाम), शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य आदिकी, जिस प्रकारकी कामना-भावना भक्तकी होती है, भगवान् उसे वही वस्तु प्रदान करते है; परंतु यहाँ गोपियोंके सम्बन्धमें भगवान्के इस सिद्धान्त-वाक्यकी रक्षा नहीं हो सकी। इसके प्रधान कारण तीन हैं—१. गोपीके कोई भी कामना नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण उसे क्या दें। २. गोपीके कामना है केवल श्रीकृष्ण-सुखकी; श्रीकृष्ण इस कामनाकी पूर्ति करने जाते हैं तो उनको स्वयं अधिक सुखी

होना पड़ता है। अतः इस दानसे ऋण और भी बढ़ता है। ३. जहाँ गोपियोंने सर्वत्याग करके केवल श्रीकृष्णके प्रति ही अपनेको समर्पित कर दिया है, वहाँ श्रीकृष्णका अपना चित्त बहुत जगह बहुत-से भक्तोंके प्रति प्रेमयुक्त है। अतएव गोपीप्रेम अनन्य और अखण्ड है, कृष्णप्रेम विभक्त और खण्डित है। इसीसे गोपीके भजनका बदला उसी रूपमें श्रीकृष्ण उसे नहीं दे सकते और इसीसे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'गोपियो! तुमने मेरे लिये घरकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नहीं चुका सकता। मैं सदा तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही, प्रेमसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

प्रेममार्गी भक्तको चाहिये कि वह अपनी समझसे तन, मन, वचनसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको श्रीकृष्णसुखके लिये ही करे। जब-जब मनके प्रतिकूल स्थिति प्राप्त हो, तब-तब उसे श्रीकृष्णकी सुखेच्छाजनित स्थिति समझकर परम सुखका अनुभव करे। यों करते-करते जब प्रेमी भक्तका केवल श्रीकृष्णसुख-काम अनन्यतापर पहुँच जाता है, तब श्रीकृष्णके मनकी बात भी उसे मालूम होने लगती है। गोपियोंके 'श्रीकृष्णानुकूल जीवन' में यह प्रत्यक्ष है। उनके जीवनको श्रीकृष्ण अपना सब कुछ बना लेते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'गोपियाँ मेरी सहायिका, गुरु, शिष्या, भोग्या, बान्धव, स्त्री हैं। अर्जुन! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं अर्थात् सब कुछ हैं। अर्जुन! मेरी महिमाको, मेरी सेवाको, मेरी श्रद्धाको और मेरे मनके भीतरी भावोंको गोपियाँ ही जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।'

श्रीकृष्णसुखगतजीवना, श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णपरिनिष्ठित-मति गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य। कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य॥
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार। कृष्ण-सुख हेतु करे संगम-विहार॥
आत्मसुख-दुःख गोपी ना करे विचार। कृष्ण-सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग। कृष्ण-सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

यह गोपीस्वरूपकी एक छोटी-सी झाँकीकी छायामात्र है। इन गोपियोंमें सर्वशिरोमणि हैं वृषभानुदुलारी श्रीराधाजी। गोपियाँ श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं। गोपियोंका परम आदर्श और परम सेव्य श्रीराधामें ही निहित है। श्रीराधारूपी दर्पणमें ही श्रीकृष्णका पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है और वह दर्शन भी श्रीकृष्णको ही होता है। दर्पणका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है; क्योंकि दर्पण केवल प्रतिबिम्बको—छायाको ग्रहण करता है, परंतु प्रेमीका प्रेमभरा हृदय तो बिम्बको—मूल वस्तुको ही ग्रहण करता है। प्रेमीके हृदयमें परम प्रियतम श्रीकृष्णके रूपकी छाया नहीं पड़ती, वहाँ तो वे स्वयं सदा सुखपूर्वक निवास करते हैं। वाल्मीकिजीने स्थान-निर्देश करते हुए भगवान् श्रीरामको उनके नित्य निवासके लिये निज घर बतलाया था—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥

प्रेमका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

ध्वंसका कारण समुपस्थित होनेपर भी जो ध्वंस नहीं होता, जो

कभी रुकता, घटता और मिटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेमकी ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता होती है, त्यों-त्यों उसमें नये-नये रूपोंका आविर्भाव होता रहता है। रसशास्त्रमें उन्हींको विभिन्न नामोंसे बतलाया गया है। प्रेम प्रगाढ़ होते-होते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावका स्वरूप प्राप्त करता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरा रतिमें भी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्णता है। मधुरा रति अत्युत्कृष्ट है। इसमें अनुरागकी बड़ी वृद्धि होती है। यही अनुराग प्रगाढ़ होकर 'भाव' तथा 'महाभाव' बन जाता है। जैसे मधुरा रतिमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—चारों रतियोंका समावेश रहता है, वैसे ही 'महाभाव'में भी स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव सम्मिलित रहते हैं।

'राग' की स्थितिमें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी सम्भावना होनेपर असीम और भयंकर-से-भयंकर दुःखमें भी सुखकी प्रतीति होती है। तीव्र प्रेम-पिपासाके कारण इष्ट वस्तुमें होनेवाली परमाविष्टताका नाम ही 'राग' है। इसी रागकी परिपक्वता होनेपर 'अनुराग' होता है। अनुरागमें श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिक्षण नया-नया दिखायी देता है। जितना ही देखा-सुना जाता है, उतना ही अनुराग बढ़ता है और जितना अनुराग बढ़ता है, उतनी ही रूपकी नव-नवरूपता बढ़ती चली जाती है।

श्यामसुन्दरमें नित्य नव-सौन्दर्यका दर्शन करनेवाली एक गोपी दूसरी नयी गोपीसे कहती है—

सखी री ! यह अनुभवकी बात।
प्रतिपल दीखत नित नव सुंदर, नित नव मधुर लखात॥
छिन छिन बढ़त रूप गुन माधुरि, छिन छिन नूतन रंग।
छिन छिन नित नव आनँद धारा, छिन छिन नयी उमग॥
नित नव अलकनि की छबि निरखत अलि-कुल नित नव लाजै।
नित नव सुकुमारता मनोहर अंग अंग प्रति राजै॥
नित नव अंग सुगंध मधुर अति मनहिं मत्त करि डारत।
नित नव दृष्टि सुधामयि जन के ताप असेष निवारत॥

नित नव अरुनाई अधरनि की, नित नूतन मुसुक्यान।
नित नूतन रस-सुधा-प्रवाहिनि मधु मुरली की तान॥
नित नूतन तारुन्य, ललित लावन्य नित्य नव बिकसै।
नित नव आभा बिबिध बरन की पिय के तनु तें निकसै॥
कछुवै होत न भासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।
देखत देखत जनम सिराम्यो, तऊ नैन नित तरसत॥

अनुरागकी पूर्ण परिणति या निस्सीमता—महाभावकी समीपवर्तिनी प्रेमकी स्थितिका नाम 'भाव' है। भावकी पराकाष्ठा ही 'महाभाव' है। महाभाव सूर्यके सदृश है। सूर्यके दो स्वभाव हैं—जिसके साथ सूर्यका सम्पर्क होता है, उसके अन्धकारका नाश कर देना और अपनी शुभ किरणमालासे उसे स्नान करा देना। इसी प्रकार 'महाभाव' भी भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे जिसके हृदयमें उदित हो जाता है, उसके हृदयमें अनादिकालसे स्थित 'स्वसुखतात्पर्य'-रूप अन्धकारको वह सदाके लिये हर लेता है और निज सम्बन्धी जनमात्रके भीतर-बाहरको नित्य परमानुरागमय बना देता है।

महाभावकी 'रूढ़' और 'अधिरूढ़'—दो अवस्थाएँ हैं। महाभावकी जिस अवस्थामें सात्त्विक भाव उद्दीप्त हो उठते हैं, उसे 'रूढ़' महाभाव कहते हैं। गोपी-प्रेममें इस रूढ़ भावकी अभिव्यक्ति होती है। यह 'रूढ़ महाभाव' श्रीकृष्णकी पटरानियोंके लिये अति दुर्लभ है। यह तो केवल व्रजदेवियोंके द्वारा ही संवेद्य है, व्रजसुन्दरियोंमें ही सम्भव है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥

जिसमें रूढ़भावोक्त समस्त अनुभावोंसे सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उसे 'अधिरूढ़' महाभाव कहते हैं। श्रीराधा इस अधिरूढ़ महाभावकी घनीभूत प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। श्रीराधाके प्रेमका नाम ही 'अधिरूढ़ महाभाव' है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णके मिलन और विरह-जनित सुख और दुःखोंका साथ-ही-साथ अतुलनीय रूपमें उदय होता है।

इस 'अधिरूढ़ महाभाव'के दो प्रकार हैं —'मोदन' और 'मादन'। 'मोदन' महाभाव श्रीकृष्णमें भी होता है। श्रीराधारानीकी विरह-व्याकुल स्थितिको भी 'मोदन' या 'मोहन' कहते हैं। 'मोहन' अवस्थाको दिव्योन्माद भी कहा जाता है। 'मादन' महाभाव श्रीराधाकी ही एकमात्र सम्पत्ति है। ह्लादिनी शक्तिकी परिपूर्ण परिणति ही 'मादन' है। इसमें श्रीराधारानी नित्य अनवच्छिन्न मिलनानन्दका अनुभव करती है।

श्रीकृष्णके नित्य नवीन माधुर्यके प्रादुर्भावका कारण श्रीराधा ही हैं। श्रीराधाका दुर्लभ प्रेम श्रीकृष्णकी अप्रतिम माधुर्यराशिको सर्वतोभावसे केवल ग्रहण ही नहीं करता, ग्रहण करके वह उस माधुर्यको और भी विशेषरूपसे उज्ज्वल तथा अनवरत उज्ज्वलतर करता रहता है। श्रीकृष्णमाधुर्यके नित्य नवीनत्वकी प्रकाशभूमि है श्रीराधाकी नित्यवर्धनशील उत्कण्ठा। श्रीराधाका प्रेम विभु होकर भी नित्य वर्धनशील है और श्रीकृष्णका माधुर्य नित्य वस्तु होकर भी नित्य नवायमान है। श्रीकृष्णका सांनिध्य ही श्रीराधा-प्रेमकी वर्धनशीलता है और श्रीराधाका सांनिध्य ही श्रीकृष्णमधुरिमाकी नित्य नवायमानता है। यह महाभावकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है। श्रीकृष्णनिष्ठ मधुरिमा और श्रीराधानिष्ठ उत्कण्ठा दोनों ही असीम और अनन्त हैं। श्रीराधारानी श्रीकृष्ण-माधुरीका आस्वादन नित्य निरन्तर सम्पूर्ण-रूपसे करती रहती हैं; तो भी उस माधुर्यका कहीं अन्त तो आता ही नहीं, वह उत्तरोत्तर अपने मधुर स्वरूपमें तथा परिमाणमें बढ़ता ही रहता है और श्रीराधाकी माधुर्यास्वादनकी पिपासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

यह 'राधा-कृष्ण'का नित्य विहार अनादिकालसे अनन्तकालतक नित्य निरन्तर चलता ही रहता है। श्रीराधाभाव दिव्यातिदिव्य प्रेम-माधुर्य-सुधा-रसका एक अगाध अनन्त असीम महासमुद्र है। उसमें नित्य नयी-नयी अनन्त दिव्य अमृतमयी मधुरिमा तथा महिमामयी अनन्त वैचित्र्यमय महातरङ्गे उठती रहती है। यह आजका राधाभावका दिग्दर्शन भी राधाभाव-महासागरकी किसी एक तरङ्गका सीकरमात्र है। प्रातःस्मरणीय आचार्यों तथा प्रेमी महात्माओने उनके जो विभिन्न रूपोके दर्शन और वर्णन किये

हैं, वे सभी सत्य हैं। श्रीराधाके असीम तथा अनन्त महिमामय स्वरूप तथा तत्त्वकी, उनके आनन्द और प्रेमकी, उनके श्रीकृष्णमिलन और विरहकी व्याख्या मुझ-सरीखा तुच्छ जीव कैसे कर सकता है। उनकी एक-एक तरङ्गमें अनन्तकालतक निवास तथा विचरण किया जा सकता है।

यों श्रीराधा श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान्का आनन्दस्वरूप ही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा-श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रेयसी है, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका हैं, उनकी भक्ता है; श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या—उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी है, विश्वमयी हैं, विश्वस्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमाया हैं, दैवी माया है, निजमाया हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा कवियोंकी काव्य-सामग्री है। श्रीराधा सबकी आराध्या है, श्रीराधा अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं।

मेरे एक राधा नाम अधार ॥
कोउ देखत 'निज रूप' ब्रह्म पर निराकार अविकार ।
कोउ करि निज तादात्म्य आत्म महँ, जो सम सर्वाधार ॥
कोउ द्रष्टा देखत प्रपंच जिमि मिथ्या स्वप्न-विकार ।
कोउ निरखत नित दिव्य ज्योति हिय परम तत्व साकार ॥
कोउ कुंडलिनी कौं जाग्रत करि षट्चक्रनि करि पार ।
पहुँचत सिखर सहस दल ऊपर, जोग सिद्धि को सार ॥
कोउ अनहद धुनि सुनत दिवस निसि अजपा जाप सँभार ।
कोउ निष्काम कर्म रत जोगी, कोउ नित करत विचार ॥
कोउ कमलापति, कोउ गिरिजापति नाम रूप उर धार ।
भक्त-कल्पतरु राम-कृष्ण कोउ सेवत अति सत्कार ॥
हौं जडमति अति मूढ़ हठीलो नटखट निपट गँवार ।
राधे राधे रटौं निरंतर मानि सार को सार ॥

बोलो श्रीवृषभानुदुलारी कीर्तिदाकुमारीकी जय !

श्रीराधाकी प्रेम-साधना और उनका अनिर्वचनीय स्वरूप

(सं० २०१४ वि०के राधाष्टमी-महोत्सवपर रतनगढ़ (राजस्थान) में दिया हुआ प्रवचन)

[दिनमें]

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम् ।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम् ॥

बंदौं राधा के परम पावन पद-अरबिन्द ।
जिन को मृदु मकरंद नित चाहत स्याम-मिलिंद ॥

जगज्जननी श्रीकृष्णस्वरूपा भगवती श्रीराधा बहुत-से लोगोंके लिये एक विलक्षण पहेली बनी हुई हैं। और श्रीराधाके अनिर्वचनीय तत्त्व-रहस्यको जबतक कोई जान नहीं लेगा, तबतक उसके लिये ये पहेली ही

बनी रहेंगी; क्योंकि ये साधन-राज्यकी सर्वोच्च सीमाका साधन तथा सिद्ध-राज्यमें समस्त पुरुषार्थोंमें परम और चरम पुरुषार्थमय हैं। गोपी-रहस्य ही परम गुह्य है, फिर राधाजीकी तो बात ही क्या है। लोगोंकी समझमें ही नहीं आ सकता कि मोक्षतककी आकाङ्क्षा न रखकर, भगवान्‌से अपने लिये कभी कुछ भी चाहनेकी इच्छा न रखकर भगवान्‌से प्रेम करनेका क्या अभिप्राय हो सकता है। जिस भगवान्‌की भक्ति करें या जिससे प्रेम करें, उससे अपने लिये कभी कुछ भी न चाहें—यह कैसी भक्ति! और फिर यह और भी आश्चर्यकी बात है कि इस भक्ति या प्रेममें सर्वविध शृङ्गार तथा भोग प्रत्यक्ष देखने-सुननेमें आते हैं। यद्यपि उस शृङ्गार-भोगसे गोपियोंका अपना कुछ भी सम्पर्क नहीं है—केवल प्रियतम श्रीकृष्ण-सुखेच्छामें ही उनके जीवनके प्रत्येक श्वासका, मनकी प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्तिका और शरीरकी प्रत्येक क्रियाका प्रयोग और उपयोग सहज ही होता है, तथापि इस प्रकार परम त्याग तथा समस्त भोगोंका एक साथ रहना लोगोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न कर देता है और पहेली और भी दुरूह हो जाती है। इसीसे जहाँ नित्य ब्रह्मानन्द-स्वरूपमें परिनिष्ठित परंतु इस महान् रस-रहस्यके मर्मज्ञ श्रीशुकदेव मरणासन्न परीक्षित्‌को रासलीला सुनाते हुए हर्षोत्फुल्ल तथा मुग्ध होकर पवित्रतम गुह्य रहस्य खोलने लगते हैं, जहाँ प्रेम-भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीगोपीजन तथा श्रीराधाके भावोंका स्मरण, श्रवण तथा गान करके बाह्यज्ञानशून्य होकर आनन्द-राज्यमें पहुँच जाते हैं और जहाँ श्रीविद्यापति-सरीखे भावुक कवि बड़ी ही पवित्र भावनासे मधुरतम भावोंका गान करते हैं, वहीं अनेकों प्रसिद्ध विद्वानों तथा प्रख्यात कवियोंने उन्हीं दिव्य प्रेम-रसमय श्रीराधा-कृष्णका वर्णन साधारण नायक-नायिकाके रूपमें किया है और उसी भावसे उनके हाव-भाव, आकृति-प्रकृति, प्रचेष्टा-प्रयत्न, व्यापार-व्यवहारका चित्रण भी किया है। वस्तुतः इससे भी बहुत अनर्थ हुआ और श्रीराधा-कृष्णके परम अलौकिक दिव्यातिदिव्य रूपको भूलकर लोग अत्यन्त मलिन तथा दोषपूर्ण भावोंसे तथा अपवित्र दोषदृष्टिसे उन्हें देखने लगे। रीतिकालीन परम्परासे प्रभावित प्रायः सभी कवियोंने यही किया और इसीसे सच्चे प्रेमी भक्त

सूरदास, नन्ददास, चण्डीदास आदि तथा जयदेव और विद्यापति आदि जिन्होंने श्रीराधा-कृष्णको परम परात्पर ब्रह्म मानकर ही उज्ज्वल-रसकी पवित्र मधुर पीयूषधारा बहायी थी, उन सभीके काव्य तथा लीलाचित्रणका भी गंदे 'काम' के पोषणमें ही प्रयोग होने लगा। श्रीराधा-कृष्णके पवित्र दिव्य प्रेमकी जगह श्रीराधा-कृष्णके नामपर मलिन-वासनाकी पूर्ति की जाने लगी। इससे राधा-रहस्यकी पहेलीकी गाँठ और भी गहरी हो गयी।

'काम' अन्ध तम है। कामकी दृष्टि सदैव रहती है अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी ओर। उससे कामकलुषित-हृदय मनुष्य अपनेद्वारा ही अपना सर्वनाश कर डालता है; परंतु त्यागमय दिव्य प्रेमकी दृष्टि होती है—ऊर्ध्वतम भगवान्के आनन्दस्वरूपकी ओर। काम अधःपात कराता है और भगवत्प्रेम दिव्य भगवदानन्दका आस्वादन। अतएव अधोगतिकारक इन्द्रिय-तृप्तिकर कामका तो परित्याग करना ही चाहिये। भोग-सुख-कामनाकी प्रत्येक तरङ्गका निवारण भी बड़ी दृढ़ता तथा सावधानीके साथ करना चाहिये और अपने प्रत्येक साधनका परहित तथा पर-सुखके प्रति समर्पण कर देना चाहिये। जो अपने दुःखसे जरा भी नहीं घबराते, न अपना सुख चाहते हैं, परंतु जिनका हृदय जरा-से भी पर-परितापसे पिघल जाता है तथा जो अपने सारे सुख-साधन पर-परितापके नाशमें लगा देते हैं, वे ही संत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने संत-हृदयका चित्रण किया है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

इस प्रकार जो 'पर-दुःखकातर' और 'पर-सुखपरायण' होते हैं, वे ही संत माने जाते हैं और जिनका आत्मसुख सदा-सर्वदा सर्वथा केवल परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके सुखमें ही परिणत हो जाता है, वे तो संतों तथा महापुरुषोंके भी वन्दनीय होते हैं।

भोग-कामना-त्यागके बाद भी एक 'मोक्ष-कामना' रह जाती है। यह मोक्षकी कामना जबतक रहती है, तबतक भी 'सर्वत्याग' नहीं माना जाता; परंतु श्रीकृष्णप्रिया गोपाङ्गनाओंमें यह 'सर्वत्याग' सहज था। वे सच्ची

प्रेमिकाएँ थीं; इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, आत्मसुख, देह-सुख, स्वजन, आर्यपथ—सबका सहज त्याग करके केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये श्रीकृष्णका सब प्रकारसे तथा समस्त करणोंसे अनन्य भजन करती थीं। इतना होनेपर भी उन्हें अपने इस महान् सुर-मुनि-मन-प्रलोभनीय उच्च-स्वरूपका जरा भी ज्ञान नहीं था। इसलिये गोपी-प्रेमको 'निरुपाधि' प्रेम कहा गया है। इसीसे देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धव-सरीखे महापुरुषने श्रीगोपी-पद-रजकी प्राप्तिके लिये वृन्दावनमें लता-गुल्म-औषध बननेकी इच्छा प्रकट की है तथा यह वरदान माँगा है।

इन सब गोपियोंमें श्रीराधिकाजी सर्वप्रमुख हैं; बल्कि श्रीराधाजीसे ही समस्त गोपियाँ बनी हैं और वे उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। श्रीराधाजीका तात्त्विक स्वरूप तो श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न है।

सामरहस्योपनिषद्में कहा गया है—

अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति॥

'वह अनादि पुरुष एक ही है, पर अनादि कालसे ही वह अपनेको दो रूपोंमें बनाकर अपनी ही आराधनाके लिये तत्पर है। इसलिये वेदज्ञ पुरुष श्रीराधाको रसिकानन्दरूपा बतलाते हैं।'

राधातापनी-उपनिषद्में आता है—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।

'जो ये राधा और जो ये कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर खेलके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

ब्रह्माण्डपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।
वृन्दावनेश्वरी राधा राधैवाराध्यते मया॥

'राधाकी आत्मा सदा मैं श्रीकृष्ण हूँ और मेरी (श्रीकृष्णकी) आत्मा

निश्चय ही राधा हैं। श्रीराधा वृन्दावनकी ईश्वरी हैं, इस कारण मैं राधाकी ही आराधना करता हूँ।'

> यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।
> एकं ज्योतिर्द्विधा भिन्नं राधामाधवरूपकम्॥

'जो श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीराधा हैं और जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं; श्रीराधा-माधवके रूपमें एक ही ज्योति दो प्रकारसे प्रकट है।'

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान्के वचन हैं—

> आवयोर्बुद्धिभेदं च यः करोति नराधमः।
> तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

''मुझमें (श्रीकृष्णमें) और तुममें (श्रीराधामें) जो अधम मनुष्य भेद मानता है, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, तबतक 'कालसूत्र' नामक नरकमें रहेगा।''

भगवान् श्रीकृष्णने राधासे कहा है—

'प्राणाधिके राधिके ! वास्तवमें हम-तुम दो नहीं हैं; जो तुम हो, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही तुम हो। जैसे दूधमें धवलता है, अग्निमें दाहिका शक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार मेरा-तुम्हारा अभिन्न सम्बन्ध है। सृष्टिकी रचनामें भी तुम्हीं उपादान बनकर मेरे साथ रहती हो। मिट्टी न हो तो कुम्हार घड़ा कैसे बनाये; सोना न हो तो सुनार गहना कैसे बनाये। वैसे ही यदि तुम न रहो तो मैं सृष्टिरचना नहीं कर सकता। तुम सृष्टिकी आधाररूपा हो और मैं उसका अच्युत बीज हूँ।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड)

भगवान् श्रीकृष्णने एक बार श्रीराधाजीसे कहा था—

> प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद-
> स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
> त्वं मे ते स्यामहमिति च यत् तच्च नो साधु राधे
> व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः॥

इसका अर्थ है—

'मैं प्रियतम, तू प्रेयसि मेरी'—यों कहना है निरा प्रवाद।
'तू मम प्राण, प्राण मैं तेरे'—यह भी है प्रलाप-संवाद॥
'तू मेरी, मैं तेरा'—राधे! यह भी नहीं साधु व्यवहार।
समुचित नहीं कभी हममें 'तू-मैं' का कोई भेद-विचार॥

'मैं प्रियतम हूँ और तू मेरी प्रियतमा है'—यों कहना केवल किंवदन्तीमात्र है; 'तू मेरे प्राण है और मैं तेरे प्राण हूँ'—यह कहना भी प्रलाप ही करना है; 'तू मेरी है और मैं तेरा हूँ'—यह भी कोई साधु (शुद्ध) प्रयोग नहीं है। हम दोनोंमें कभी 'तू' और 'मैं' का किसी प्रकार भी कोई भेद सूचित हो, यह उचित नहीं। अर्थात् तू मैं हूँ और मैं तू है। हम दोनोंमें कभी कोई भेद है ही नहीं।

यों व्रजठकुरानी श्रीराधामहारानी श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्नस्वरूपा सच्चिदानन्दघनस्वरूपिणी, श्रीकृष्णात्मस्वरूपिणी, श्रीकृष्णानुगामिनी, परम-तत्त्वाभिरामिणी, स्वेच्छाविलासिनी, दिव्याह्लादिनी, परमपराशक्तिस्वरूपिणी, दिव्यलीलामयी, अखिलविश्वमोहनमोहिनी, नित्यरासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी और श्रीकृष्णप्राणेश्वरी हैं।

ये श्रीराधाभगवती श्रीकृष्णकी भाँति ही नित्य-सच्चिदानन्दघनस्वरूपा हैं। समय-समयपर लीलाके लिये प्रकट भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति ही ये भी आविर्भूत होती हैं। एक बार ये दिव्य गोलोकधाममें श्रीकृष्णके वामांशसे प्रकट हुई थीं। उन्होंने ही फिर व्रजभूमिके अन्तर्गत बरसाने (वृषभानुपुर) में महान् भाग्यशाली अखिलपुण्यपुञ्ज श्रीवृषभानु महाराजके घर परमपुण्यमयी श्रीकीर्तिरानीजीकी कोखसे प्रकट होनेकी लीला की थी। आज यह उसीका महोत्सव है। हमलोगोंका परम सौभाग्य है कि इस जीवनमें इस सुअवसरपर हम सबको एकत्र होकर श्रीराधाभगवतीके पुण्य स्मरणका महान् अवसर मिला।

अब श्रीश्रीकृष्णप्रेम या श्रीकृष्णकी सहज प्राप्ति करानेवाली उस प्रेमसाधनाको देखना है, जो श्रीराधाजीके स्वरूपगत तथा स्वभावगत है।

एक दिन श्रीराधाजी एकान्तमें किसी महान् भावमें निमग्न बैठी थीं। एक श्रीकृष्णप्रेमाभिलाषिणी सखीने आकर बड़ी ही नम्रतासे उनसे प्रियतम श्रीकृष्ण अथवा उनका विशुद्ध अनन्य प्रेम प्राप्त करनेका सर्वश्रेष्ठ साधन पूछा। बस, श्रीकृष्णप्रेमके साधनका नाम सुनते ही श्रीराधिकाजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे गद्गद वाणीसे रोती हुई बोलीं—

अरी सखि ! मेरे तन, मन, प्रान—
धन, जन, कुल, गृह—सब ही वे हैं सील, मान, अभिमान ॥
आँसू सलिल छाँडि नहिं कछु धन है राधा के पास।
जाके बिनिमय मिलैं प्रेमधन नीलकांतमनि स्याम ॥
जानि लेउ सजनी ! निस्चै यह परम सार कौ सार।
स्याम प्रेम कौ मोल अमोलक सुचि अँसुवन की धार ॥

वे बोलीं —'अरी सखी ! मैं क्या साधन बताऊँ, मेरे पास तो कुछ और है ही नहीं। मेरे तन, मन, प्राण, धन, जन, कुल, घर, शील, मान, अभिमान—सभी कुछ एकमात्र वे श्यामसुन्दर ही हैं। इस राधाके पास अश्रुजलको छोड़कर और कोई धन है ही नहीं, जिसके बदलेमें उन प्रेमधन स्वयं नीलकान्तमणिको प्राप्त किया जाय। सजनी ! तुम यह निश्चित परम सारका सार समझो—अमूल्य श्यामप्रेमका मूल्य केवल पवित्र आँसुओंकी धारा ही है। सब कुछ उन्हींको समर्पणकर, सब कुछ उन्हींको समझकर उन्हींके प्रेमसे, उन्हींके लिये जो निरन्तर प्रेमाश्रुओंकी धारा बहती रहती है, बस वह पवित्र अश्रुजल ही उनके प्रेमको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। यह है उनके साधनका स्वरूप।

श्रीराधिकाजीकी सम्पूर्ण व्रज-रस-लीला ही बड़ी दिव्य और मधुर है। परंतु यह सदा ही अप्रकट है। इसका प्राकट्य कुछ विरले लौकिक-काम-गन्ध-लेश-शून्य किसी महाभाग गोपीजन या श्रीसखी-सहचरीके कृपाप्राप्त प्रेमी संत साधकके हृदय तथा जीवनमें ही किसी अंशमें होता है। यों तो श्रीकृष्णको मनुष्य माननेवाले लोगोंके लिये तो वे ग्यारह वर्षकी वयसके

पहले ही गोपियोंको छोड़कर मथुरा पधार गये थे। अतः इस बालकपनमें शृङ्गार-रसका उद्भव ही सम्भव नहीं है। अवश्य ही श्रीब्रह्माजीके द्वारा श्रीकृष्ण-राधाका विवाह कराये जानेका भी वर्णन ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आता है; पर वह विवाह भी अप्रकट ही है।

ये श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय देहसे भगवान् श्रीकृष्णके साथ नित्य लीलारत रहती हैं और उनकी एक मायामयी कृत्रिम स्थूलच्छाया ससुरारमें रहती है, ऐसा वर्णन ग्रन्थान्तरोंमें मिलता है। जो कुछ भी हो, श्रीसीताजी तथा श्रीरुक्मिणीजीकी भाँति श्रीराधाका विवाह श्रीकृष्णके साथ नहीं होता; पर राधा-कृष्णतत्त्वमें विवाहकी आवश्यकता भी नहीं है। वह तो दिव्य चिन्मय राज्यका नित्य अभिन्न चिन्मय सम्बन्ध है और उसी राज्यकी ये सब लीलाएँ भी हैं। हमारे लौकिक स्थूल जगत्के लिये तो इस लीलासे सर्वोच्च उपदेश यही प्राप्त होता है कि प्रेमका ऊँचे-से-ऊँचा स्तर त्यागसे प्राप्त किया जाता है। जहाँ त्याग है, वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। साधन-जगत्के लिये यह उपदेश मिलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमप्रेमास्पद हैं और श्रीराधा-मुख्या गोपीजनोंकी भाँति श्रीकृष्ण-सुखको जीवनका सहज सुख बना लेना ही सर्वोच्च साधन है। यही शिक्षा इससे लेनी है। और इस साधनके द्वारा श्रीकृष्णको परमप्रेष्ठके रूपमें प्राप्त कर लेना ही जीवनका परम साध्य है।

परम प्रिय श्रीराधा-नामकी महिमाका स्वयं श्रीकृष्णने यों गान किया है—

'रा' शब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमाम्।
'धा' शब्दं कुर्वतः पश्चाद् यामि श्रवणलोभतः॥

"जिस समय मैं किसीके मुखसे 'रा' सुन लेता हूँ, उसी समय उसे अपनी उत्तम भक्ति—प्रेम दे देता हूँ और 'धा' शब्दका उच्चारण करनेपर तो मैं प्रियतमा श्रीराधाका नाम-श्रवण करनेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चलने लगता हूँ।"

अन्तमें श्रीराधाकी महिमाके कुछ श्लोक पढ़कर और उनके श्रीचरणोंमें

प्रणाम करके वक्तव्यको समाप्त करता हूँ और अतिविनीत प्रार्थना करता हूँ कि वे पवित्रतम भगवत्प्रेम-समुद्रका कोई एक क्षुद्र सीकर प्रदानकर कृतार्थ करें।

आनन्दचन्द्रोदितकौमुदी या
श्रीमोहनस्यापि सुमोहनश्रीः ।
सौन्दर्यनाम्नो निकषोपलस्य
सुवर्णरेखा वृषभानुकन्या ॥

'श्रीवृषभानुकुमारी आनन्दचन्द्रकी कौमुदी हैं। अर्थात् रसराज श्रीकृष्ण ही आनन्दरूप चन्द्रमा हैं और वृषभानुनन्दिनी राधाजी उनकी ज्योत्स्ना हैं। शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नताके कारण दोनों अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण श्रीलक्ष्मीको भी मोहित करते हैं, परंतु वृषभानुदुलारी अपनी सौन्दर्य-सुषमासे उन श्रीमोहनको भी विमुग्ध करती हैं। वे प्राकृत-अप्राकृत सौन्दर्य-रूप कसौटीपर खरी उतरनेवाली सुवर्ण-रेखा हैं।'

लावण्यपाथोनिधिसारसम्पत्
कलाकलापाकरभूमिरेका ।
गुणाख्यरत्नौघखनिः प्रसिद्धा
श्रीराधिका श्रीव्रजचन्द्रकान्ता ॥

'वे व्रजचन्द्र श्रीकृष्णकी प्रियतमा श्रीराधिका नामसे प्रसिद्ध हैं। वे सम्पूर्ण लावण्यसमुद्रकी सार-सम्पदा हैं, कला-कलाप—वैदग्ध्यसमूहकी एक-मात्र आकर-भूमि—उत्पत्तिस्थानरूपा हैं और कारुण्यादि गुणरूप रत्नोंकी खान हैं।'

गौरीसहस्रादधिकापि गौरी
श्यामा तथापि श्रुतिषु प्रसिद्धा ।
सुरूपिणी याप्यसुरूपिणी च
सखीकदम्बस्य विभाति राधा ॥

'वे सहस्र-सहस्र गौरीकी अपेक्षा भी अधिक गौरवर्णा हैं, तथापि श्रुतियोंमें वे श्यामाके नामसे प्रसिद्ध हैं। वे सुरूपिणी—(सुन्दर

रूपसमन्वित) होकर भी असु—प्राणरूपिणी अर्थात् सखियोंके लिये प्राण-स्वरूपा हैं ।'

केचित् परामेव वदन्ति लक्ष्मीं
लीलेति केचित् किल तान्त्रिका याम् ।
आनन्दिनी शक्तिरिति श्रुतिः सा
श्रीराधिकाभा व्रजचन्द्रकान्ता ॥

'कोई-कोई तान्त्रिक महानुभाव इन व्रजचन्द्रचन्द्रिका श्रीराधाको परालक्ष्मी कहते हैं, तो कोई लीलाशक्ति बतलाते हैं तथा श्रुतियाँ उनको आनन्दिनी—ह्लादिनी शक्ति कहती हैं ।'

यस्या वशे तस्य तु सर्वशक्तिः
सर्वैव लीला सकला गुणाश्च ।
सौन्दर्यमाधुर्यविदग्धताद्याः
सा राधिका राजति कृष्णकान्ता ॥

'श्रीकृष्णकी समस्त शक्तियाँ, सारी लीलाएँ तथा सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्य आदि सम्पूर्ण गुण जिनके वशमें हैं, अर्थात् जिनके आधारपर ही इन सबका प्रकाश और निवास है, वे श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी प्रियतमा कान्ताके रूपमें विराजित हैं ।'

यस्या लसन्मादनभाववश्या
लीला रसास्वादविशेषरस्याः ।
कृष्णस्य नित्या विलसन्त्यनन्ताः
सा राधिका राजति कृष्णकान्ता ॥

'जिनके शोभनीय मादनभावकी लीलाएँ रसास्वादनमें अत्यन्त ही मधुर और श्रीकृष्णके सम्बन्धसे नित्य अनन्तरूपसे विलसित होती हैं, वे श्रीराधिका ही श्रीकृष्णकी प्रियतमा कान्ताके रूपमें विराजित हैं ।'

यथैव सर्वैर्गुणरूपकेली-
माधुर्यपूरैरतिपूर्ण एव ।

श्रीकृष्णचन्द्रः स तथैव रस्या
सारधिका राजति राधिका सा ॥

'श्रीकृष्ण जैसे समस्त गुण, रूप, केलि और माधुर्यकी विशेषतासे पूर्ण हैं, वैसे ही श्रीराधिका भी गुण, रूप आदिकी पराकाष्ठासे परिपूर्ण हैं। ऐसी माधुर्य-रसके सारकी भी साररूपा श्रीराधिका विराजित हैं।'

रसो यः परमानन्द एक एव द्विधा सदा।
श्रीराधाकृष्णरूपाभ्यां तस्यै तस्मै नमो नमः ॥

'जो एक ही परमानन्द-रसरूप है, वही सदा दो प्रकारका बनकर लीलारत है और वह श्रीराधा-कृष्णरूप है। मेरा उसे बराबर नमस्कार है।'

[२ रात्रिमें]

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥

श्रीराधा-श्रीकृष्ण नित्य ही परम तत्व हैं एक अनूप।
नित्य सच्चिदानन्द प्रेम-घन-विग्रह उज्ज्वलतम रसरूप ॥
बने हुए दो रूप सदा लीला-रस करते आस्वादन।
नित्य अनादि-अनन्त काल लीलारत रहते आनँदघन ॥
कायव्यूहरूपा राधाकी हैं अनन्त गोपिका ललाम।
इनके द्वारा लीला-रस-आस्वादन करते श्यामा-श्याम ॥
कृष्ण, राधिका, गोपी-जन—तीनोंका लीलामें संयोग।
एक तत्व ही तीन रूप बन करते लीला-रस-संभोग ॥
परम तत्व श्रीकृष्ण नित्य हैं अनुपम सच-चित-आनँदघन।
सत् संधिनि, चित् चिति, आह्लादिनि है आनन्दशक्ति रसघन ॥
ह्लादिनि स्वयं 'राधिका', संधिनि बनी नित्य 'श्रीवृन्दावन'।
बनी 'योगमाया' चिति करती रसलीलाका आयोजन ॥
राधा स्वयं बनी हैं व्रजमें गोपरमणियाँ अति अभिराम।
लीला-रसके क्षेत्र-पात्र बन यों लीलारत श्यामा श्याम ॥

व्रजसुन्दरी प्रेमकी प्रतिमा, कामगन्धसे मुक्त महान।
केवल प्रियतमके सुख-कारण करतीं सदा प्रेम-रस-दान॥
लोक-लाज, कुल-कान, निगम-आगम, धन,जाति-पाँति, यश-गेह।
भुक्ति-मुक्ति सब परित्याग कर करतीं प्रियसे सहज सनेह॥
इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना है अति निन्दित कलुषित काम।
मोक्ष-काम-कामी ऊँचे साधक भी नहीं पूर्ण निष्काम॥
काम सदा तमरूप अन्धतम, नरकोंका कारण सविशेष।
प्रेम सुनिर्मल हरि-रस-पूरित परम ज्योतिमय शुभ्र दिनेश॥
जिसको नहीं मुक्तिकी इच्छा, जिसे नहीं बन्धनका भान।
केवल कृष्ण-सुखेच्छा हित जिसके सब धर्म-कर्म, मति-ज्ञान॥
ऐसे गोपी-जन-मनमें लहराता प्रेम-सुधा-सागर।
इसीलिये रहते उसमें नित मग्न रसिकमणि नटनागर॥

श्रीराधा और श्रीकृष्ण नित्य-निरन्तर एक ही अनुपम परम तत्त्व हैं और ये नित्य सच्चिदानन्द प्रेमघनविग्रह उज्ज्वलतम रसरूप हैं। ये एक ही आनन्दघन सदा दो बने हुए लीलारसका आस्वादन करते रहते हैं और अनादि-अनन्तकाल लीलारत हैं। श्रीराधाजीकी ही कायव्यूहरूपा अनन्त सुन्दरी गोपिकाएँ हैं, जिनके द्वारा श्रीराधा-माधव सदा-सर्वदा लीला-रसास्वादन करते रहते हैं। ये श्रीकृष्ण, श्रीराधा और अनन्त गोपीजन—इन तीनोंका इस मधुरतम, दिव्यतम लीलामें संयोग है और एक ही परम तत्त्व त्रिरूप बना हुआ लीला-रस-सम्भोग करता रहता है। परम तत्त्व श्रीकृष्ण नित्य अनुपम सत्-चित्-आनन्दघन हैं; 'सत्' 'संधिनी', 'चित्' 'चिति' और 'आनन्द' रसघन 'ह्लादिनी' शक्ति हैं। 'ह्लादिनी' स्वयं 'राधिका' हैं, 'संधिनी' 'वृन्दावन' बनी है और 'चिति' 'योगमाया' बनी हुई नित्य-निरन्तर रसलीलाका आयोजन करती रहती है। श्रीराधा स्वयं ही लीलाधाम व्रजमें अत्यन्त अभिराम गोपरमणियोंके रूपमें प्रकट हैं। यों श्रीराधा-माधव स्वयं ही लीलारसके क्षेत्र और पात्र बनकर लीला-रस-पान-रत हैं। व्रज-सुन्दरियाँ महान् प्रेमकी जीती-जागती प्रतिमाएँ हैं। ये काम-गन्ध-लेशसे सर्वथा मुक्त हैं और केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखके लिये ही सदा प्रेमरसका वितरण करती रहती हैं। ये लोक-लज्जा, कुल-कान, निगम-आगम, धन-

जन, जाति-पाँति, यश-गृह, भोग-मोक्ष—सबका परित्याग करके प्रियतम श्रीकृष्णसे सहज स्नेह करती हैं। इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना तो अत्यन्त निन्दित कलुषित काम है ही, मोक्षकी कामना करनेवाले ऊँचे साधक पुरुष भी पूर्ण निष्काम नहीं हैं। (क्योंकि उनमें भी 'अहं'को बन्धनसे मुक्त करनेकी चिन्ता है, वे भी 'अहं'की चिन्ता तथा 'अहं'की मङ्गल-कामनासे आबद्ध हैं।) लौकिक काम सदा ही तमरूप है और अन्धतम नरकोंकी प्राप्तिका विशेष हेतु है। तथा हरि-रस-पूरित प्रेम सदा ही परम ज्योतिर्मय उज्ज्वल भास्कर है। जिसको न तो मुक्तिकी इच्छा है न जिसे बन्धनका भान है, केवल श्रीकृष्ण-सुखेच्छाके लिये ही जिसके सारे धर्म, कर्म, मति, ज्ञान आदि हैं, ऐसे गोपीजनके मनमें नित्य निर्मल प्रेम-सुख-सागर लहराता रहता है और इसीलिये उसमें रसिकशिरोमणि नटनागर नित्य-निरन्तर निमग्न रहते हैं।

इन गोपियोंकी और गोपी-भावकी मूल उद्गमस्वरूपा श्रीराधारानी अनादि हैं। लोकमें इनका मङ्गलमय प्रेमसुधामय प्राकट्य स्वयं चिदानन्दमय प्रेमघन-विग्रह भगवान् श्यामसुन्दरके प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य और अलौकिक हुआ करता है। आज इन्हीं सच्चिदानन्दविग्रहा, आनन्दांशघनीभूता, आनन्द-चिन्मय-रसप्रतिभाविता, साक्षात् ह्लादिनी श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुराजनन्दिनीका प्राकट्य-महोत्सव है। यह दिन जगत्के लौकिक इतिहासमें परम त्यागमय, परम दिव्य, अहंकी चिन्तासे सर्वथा शून्य, उज्ज्वलतम मधुर प्रेमरसके मूर्तिमान् स्वरूपका तथा भक्ति-सिद्धान्तके परम उच्चतम महान् व्यक्तित्वका प्रकाशक होनेके कारण परम धन्य है। प्रतिवर्ष ही श्रीराधारानीके सहज अनुग्रहसे श्रीराधा-माधव युगलसरकारके सम्बन्धमें कुछ स्मरण-चिन्तन करनेकी चेष्टा की जाती है। वैसी ही क्षुद्र चेष्टा इस बार भी की जा रही है और इस चेष्टाके साथ-साथ आज इस प्राकट्य-महोत्सवके महान् शुभ अवसरपर हम सब श्रीराधाके पावन पाद-पद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्त प्रणिपात करते हुए उनसे पवित्र दिव्य प्रेमकण प्राप्त करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण आनन्द और सम्पूर्ण शोभा-

सौन्दर्यादि गुणोंके मूल समाश्रय हैं; वे समस्त ऐश्वर्य, माधुर्य, वीर्य, शक्ति, योग, ज्ञानके मूल आश्रय-तत्त्व हैं। ऐसे वे पूर्णतम भगवान् जिनके 'आश्रय' और 'विषय' हैं, प्रेमी और प्रेमास्पद हैं, उन श्रीराधारानीका स्वरूप कितना महान् है—यह मानव-ज्ञानके, यहाँतक कि अनेकों मुक्त महापुरुषोंकी धारणाके भी अतीत है। जिन श्रीकृष्णचन्द्रके ऐश्वर्य और माधुर्यके लिये समस्त जगत् लालायित और मोहित है, जो श्रीकृष्णचन्द्र अपने ही माधुर्यपर स्वयं मोहित हैं, वे निजमनमोहन, भुवन-मोहन, मदनमोहन भी जिनके द्वारा नित्य मोहित हैं, वे श्रीराधा कितना और कैसा महान् तत्त्व हैं, इसे भाषाके द्वारा कोई किसीको समझा नहीं सकता।

श्रीमती राधा हैं- स्वमनमोहन-मनोमोहिनी, भुवनमोहन-मनोमोहिनी, मदनमोहन-मनोमोहिनी हरिहृद्भृङ्ग-मञ्जरी, मुकुन्दमधुमाधवी, पूर्णचन्द्र श्रीकृष्ण-चन्द्रके पूर्ण विकासकी आधारमूर्त्ति,पूर्णिमास्वरूपिणी, कृष्णकान्तागण-शिरोमणि स्वयं आह्लादिनी शक्ति। इन वृषभानुनन्दिनीका तत्त्व जीवकी या जीवसमष्टिकी भाषामें नहीं समझाया जा सकता। श्रीराधाके भाव और द्युतिसे जिनका श्रीविग्रह सुवलित है, वे राधाभावद्युति-सुवलिततनु श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीमती राधाकी महिमा कुछ कह सकते हैं अथवा उनके परम प्रेमी दास उन्हींकी कृपासे यत्किंचित् कहनेमें समर्थ हो सकते हैं। मुझ-सरीखे अधमका मन तो श्रीराधारानीकी महिमाकी कल्पित छायाको भी नहीं छू सकता।

इतनेपर भी, श्रीराधा-माधवके चिन्तनसे अपनी मनवाणीको पवित्र करनेके लिये संत महापुरुषोंके अनुभवपूर्ण वचनोंके आधारपर ही कुछ चेष्टा की जाती है।

व्रजरसनिधि श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अनादि, सर्वादि, सर्वकारणकारण, सच्चिदानन्दघनविग्रह अद्वयज्ञानतत्त्वस्वरूप हैं। उनके साथ उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाका नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दोनोंका नित्य एकत्व है। राधा पूर्णशक्ति हैं—श्रीकृष्ण पूर्णशक्तिमान् हैं; श्रीराधा मृगमदगन्ध हैं—श्रीकृष्ण मृगमद हैं; श्रीराधा दाहिकाशक्ति हैं श्रीकृष्ण साक्षात् अग्नि हैं। श्रीराधा प्रकाश हैं—श्रीकृष्ण तेज हैं; श्रीराधा व्याप्ति हैं—श्रीकृष्ण आकाश हैं; श्रीराधा ज्योत्स्ना हैं—श्रीकृष्ण पूर्णचन्द्र हैं; श्रीराधा आतप हैं—श्रीकृष्ण सूर्य हैं; श्रीराधा तरंग हैं—श्रीकृष्ण जलनिधि हैं। यों वे

दोनों नित्य एकस्वरूप हैं, पर लीलारसके आस्वादनके लिये नित्य ही उनके दो रूप हैं।

वस्तुतः एक ही परिपूर्ण नित्य सच्चिदानन्दमय परम प्रेमतत्त्व श्रीकृष्ण ही आस्वाद्य, आस्वादक और आस्वादन बनकर लीलारत हैं। इसलिये कभी श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णके दिव्य स्वरूपमें विलीन होकर उनके हृत्पद्मपर विराजित दिखायी देती हैं, कभी सर्वात्म-समर्पण करके प्रियतम श्रीकृष्णकी आराधिका बनी उनकी सेवामें संलग्न रहकर उनको सुख देनेमें ही अपना परम सौभाग्य मानती हैं। कभी उनकी आराध्या बन जाती हैं और श्रीकृष्ण स्वयं उनकी सर्वविध सेवा करनेमें ही परम सुखका अनुभव करते हैं एवं कभी श्रीराधाकृष्ण युगलरूपमें विराजित होकर अनन्त विश्वब्रह्माण्डके महान् सिद्ध एवं अतुलनीय ऐश्वर्य तथा विभूतिसम्पन्न सुरेश्वरों एवं मुनीश्वरोंके हाथों पूजा-अर्चना ग्रहण करते हैं।

कभी श्रीकृष्ण राधा बन जाते हैं, कभी राधा श्रीकृष्ण बन जाती हैं और कभी युगल-स्वरूपमें लीलाविहार करते हैं। वे एक होकर ही नित्य दो हैं, दो रहते हुए ही नित्य एक हैं।

श्रीराधा प्रेमकी पराकाष्ठास्वरूप 'महाभाव'-रूपा हैं। वे समस्त कल्याण-गुणगणकी आकर (खान) हैं और श्रीकृष्ण-कान्ता-शिरोमणि हैं। जड प्रकृतिसे संयुक्त जीवोंकी भाँति उनके जड इन्द्रियाँ, जड शरीर और सूक्ष्मदेहरूप जड चित्त नहीं हैं। उनके दिव्य चिन्मय स्वरूपमें नित्य शुद्ध चिन्मय इन्द्रियां, चिन्मय शरीर और चिन्मय चित्त हैं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, उनका शरीर और उनका चित्त नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही दिव्य श्रीकृष्णप्रेमसे परिभावित है। वे श्रीकृष्णकी निज शक्ति हैं, अतएव एकमात्र वे ही श्रीकृष्णकी क्रियामें सहायिका हैं। उनकी शक्तिसे ही श्रीकृष्णकी प्रत्येक लीला सुसम्पन्न होती है।

श्रीराधिका ही मधुर रसकी मूल आश्रयमूर्ति हैं। उनकी श्रीकृष्ण-सेवाकी सुसम्पन्नताके लिये ही उनकी कायव्यूहरूपा निर्मल प्रेममयी अनन्त

गोपियोंका नित्य प्राकट्य है । श्रीराधा और श्रीकृष्ण अन्योन्य-विलासमय हैं । इसलिये कभी श्रीकृष्ण 'विषय' और श्रीराधिका 'आश्रय' होती हैं और कभी श्रीराधिका 'विषय' और श्रीकृष्ण 'आश्रय' होते है । परंतु श्रीराधिका ही अधिकांशमें प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेके लिये उनकी इच्छासे 'विषयत्व' का स्वीकार करती हैं । प्रतिक्षण, प्रत्येक अवस्थामें निरन्तर श्रीकृष्ण-सुख-साधन और श्रीकृष्णेन्द्रिय-तोषण ही उनका एकमात्र कार्य है । वे अपने चित्तकी प्रत्येक वृत्तिसे, शरीरके प्रत्येक अवयव-अङ्ग-उपाङ्गकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टासे नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण-सुख-सम्पादनमें ही संलग्न रहती है । इसीसे वे 'मधुर रसकी मूल आश्रय-मूर्ति' के नामसे प्रसिद्ध हैं ।

बृहद् गौतमीय तन्त्रमें श्रीराधाके लिये कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥

देवी—श्रीकृष्णकी सेवारूपा क्रीडाकी नित्य-निवासस्थली होनेके कारण या श्रीकृष्णके नेत्रोंको अनन्त आनन्द देनेवाली द्युतिसे समन्वित परमा सुन्दरी होनेके कारण ये 'देवी' हैं ।

कृष्णमयी—श्रीकृष्ण ही राधिकाके रूपमें प्रकट हैं, अथवा उनकी प्रेमरसमयी ह्लादिनी शक्ति होनेके कारण ये श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, या भीतर-बाहर जहाँ भी इनकी दृष्टि पड़ती है या इनका मन जाता है, वहाँ इन्हें श्रीकृष्ण ही दीखते हैं— इनकी समस्त इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा श्रीकृष्णका ही संस्पर्श प्राप्त करती रहती हैं । इसलिये ये 'कृष्णमयी' हैं ।

राधिका—प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी सब प्रकारकी इच्छा पूर्ण करनेके रूपमें नित्य ही ये तन-मन-वचनसे श्रीकृष्णकी आराधनामें अपनेको नियुक्त रखती हैं—इसलिये ये 'राधिका' हैं ।

परदेवता—समस्त देव-ऋषि-मुनियोंके द्वारा पूजनीया, सबका पालन-पोषण करनेवाली और अनन्त ब्रह्माण्डोंकी जननी होनेके कारण ये 'परदेवता' हैं ।

सर्वलक्ष्मीमयी—समस्त लक्ष्मियोंकी अधिष्ठान, आश्रय या आधाररूपा, सबकी आत्मारूपिणी, भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—इन छहों ऐश्वर्योंकी प्राणस्वरूपा या समस्त ऐश्वर्योंकी मूलरूपा होनेके कारण अथवा वैकुण्ठकी नारायणवक्षोविलासिनी लक्ष्मियाँ इन्हींकी वैभवविलासांशरूपा होनेके कारण ये 'सर्वलक्ष्मीमयी' हैं।

सर्वकान्ति—सम्पूर्ण शोभा-सौन्दर्यकी अनन्त खान, समस्त लक्ष्मियों तथा शोभाधिष्ठात्री देवियोंकी मूल उद्भवरूपा, अथवा नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी समस्त इच्छाओंकी साक्षात् मूर्ति होनेके कारण ये 'सर्वकान्ति' हैं।

सम्मोहिनी—भुवनमनमोहन, अनन्तमदनमोहन, स्वमनमोहन श्रीश्यामसुन्दरकी भी मनोमोहिनी होनेके कारण ये 'सम्मोहिनी' हैं। और

परा—श्रीकृष्णकी भी परमाराध्या, परम प्रेयसी या पराशक्ति होनेके कारण इन्हें 'परा' कहते हैं। इन 'परा' शक्तिसे ही शक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दिव्य मधुर लीलाओंको सम्पन्न करते रहते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है कि श्रीराधिकाजीमें अनन्त दिव्य गुण हैं, वे भगवद्गुणमयी ही हैं; पर उनमें ऐसे पचीस प्रधान गुण हैं, जिनके कारण भगवान् श्रीकृष्ण नित्य उनके वशमें रहते हैं—

अनन्त गुण श्रीराधिकार, पंचिस प्रधान।
सेइ गुणेर वश हय कृष्ण भगवान॥

वे पचीस गुण निम्नलिखित हैं—

(१) मधुरिमा, (२) नित्यकिशोरावस्था, (३) नेत्रोंकी चञ्चलता, (४) निर्मल उज्ज्वल हास्य, (५) सुन्दर सौभाग्यरेखा, (६) माधव-मनसोन्मादकारी श्रीअङ्ग-सौरभ, (७) संगीतशास्त्रमें निपुणता, (८) श्रुति-मनोज्ञ वाणी, (९) नर्म-पाण्डित्य यानी परिहास-वाक्योंके प्रयोगमें निपुणता, (१०) सहज विनयशीलता, (११) पूर्ण करुणा, (१२) विदग्धता, (१३) कर्तव्यकुशलता, (१४) लज्जाशीलता, (१५) सुमर्यादा—श्रीकृष्णके प्रति गौरव-बुद्धि, (१६) परम धैर्य, (१७) आदर्श गम्भीरता,

(१८) लीलामयता, (१९) परमोत्कर्षमयी महाभावमयता, (२०) गोकुलकी प्रेमपात्री, (२१) ब्रह्माण्डोंमें उद्दीप्त यश, (२२) गुरुजनोंके श्रेष्ठ स्नेहकी पात्रता, (२३) सखियोंके प्रति प्रेम-परवशता, (२४) श्रीकृष्णप्रिया रमणियोंमें सर्वप्रधानता और (२५) प्रियतम श्रीकृष्णको सदा-सर्वदा अपने अधीन रखनेकी मधुर शक्ति।

श्रीकृष्णलीलानन्दमयी श्रीराधाके असंख्य दिव्य गुण हैं—उनकी गणना तो कोई कर ही नहीं सकता, वे कल्पनामें भी नहीं आ सकते।

'प्रेमाम्भोज-मकरन्द'में आया है कि 'श्रीकृष्णस्नेह' ही श्रीमती राधाके अङ्गका सुगन्धित उबटन है, इस उबटनको लेकर वे तीन काल स्नान करती हैं। उनके सर्वप्रथम—पूर्वाह्न-स्नानका जल है—'कारुण्यामृत' अर्थात् प्रथम कैशोरावस्था या करुणाविशिष्ट नवयौवन, मध्यम—मध्याह्न-स्नानका जल है—'तारुण्यामृत' या व्यक्त यौवन और अपराह्णस्नानका जल है—'लावण्यामृत' यानी पूर्ण यौवन। कायिक गुणोंमें जो वयस्, रूप और लावण्य है—वही श्रीमतीका त्रिविध स्नान-जल है। 'लज्जा'रूपी नील श्याम रेशमी साड़ी उनका अधोवस्त्र है। 'कृष्णानुराग' उनका अरुण उपवस्त्र—ओढ़नी है। 'श्रीकृष्ण-प्रणय-मान' उनके वक्षःस्थलकी कञ्चुकी (आँचोली) है। 'अङ्ग-सौन्दर्य' ही केसर है, 'अभिरूपतारूपी सखियोंका प्रणय' चन्दन है। 'माधुर्यमयी स्मितकान्ति' कर्पूर है। केसर, चन्दन और कर्पूर—इन तीन वस्तुओंका श्रीराधिकाके अङ्गपर विलेपन हो रहा है अर्थात् सौन्दर्य, अभिरूपता और माधुर्यसे वे नित्य विभूषित हैं। 'श्रीकृष्णका उज्ज्वल रस' ही उनके अङ्गोंपर लगी हुई कस्तूरी है। उनका 'प्रच्छन्न मान और वाम-भाव' ही मस्तकका जूड़ा है। 'धीराधीरात्मक गुण' ही उनके अङ्गका रेशमी वस्त्र है। 'श्रीकृष्ण-रति' ही उनके उज्ज्वल अधरोंपर ताम्बूलका राग है। 'प्रेमकौटिल्य' ही उनके दोनों नेत्रोंका जल है। 'सुदीप्त सात्त्विक भाव', 'हर्षादि संचारी भाव' और बीस प्रकारके 'किलकिञ्चितभाव' श्रीमतीके अङ्गकी अन्यान्य सजावट तथा माला हैं। 'उनका नित्य सुहाग' ही उनके विशाल ललित ललाटका तिलक है। 'प्रेमवैचित्त्य' ही उनके

अङ्गके रत्न हैं। 'कृष्णलीलामयी चित्तवृत्तियाँ' ही उनकी आस-पासकी सखियाँ हैं। 'निजाङ्ग-सौरभ' ही उनका आलय है। 'गर्व' पर्यङ्क है और 'श्रीकृष्णनामगुण-यशः-श्रवण-कीर्तन' ही उनके कर्णभूषण और वाणीका प्रवाह है।

श्रीराधारानी तनिक भी व्यवधानके बिना सभी समय श्रीकृष्णकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करती रहती हैं। उनका सच्चिदानन्दमय कमनीय कलेवर अनुपम दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण है और वे श्रीकृष्णके विशुद्ध प्रेम-रत्नोंकी अनन्त आकर (खान) हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण जैसे युगपत् (एक ही साथ) निर्विकार और स्वेच्छामय, सर्वव्यापी और मूर्तिमान्, निरपेक्ष और भक्तापेक्षाकारी, आत्माराम और प्रेमिभक्त-प्रेमाकाङ्क्षी आदि परस्परविरुद्ध-धर्मयुक्त हैं, उसी प्रकार श्रीराधा प्रेमाशेषसीमा-समन्वित होकर भी सर्वदा प्रेमवृद्धिशील, अत्यन्त महान् होकर भी अत्यन्त दीन, अत्यन्त गौरवमयी होकर भी गौरव-आचारहीन, परम निर्मल होकर भी पुनः-पुनः वक्रगतियुक्त—यों परस्पर-विरुद्धगुणयुक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णके माधुर्य और श्रीराधिकाके प्रेममें होड़ लगी हुई है और नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए वे अनन्त—असीमकी ओर जा रहे हैं। आनन्द-कन्द श्रीकृष्णसे त्रिभुवनको आनन्द प्राप्त होता है, परंतु श्रीकृष्णको आनन्दित करती हैं श्रीराधाजी। श्रीकृष्णका माधुर्य असमोर्द्ध्व है और उनका रूप कोटि-कोटि कामदेवोंके सौन्दर्यपर विजय प्राप्त कर चुका है; पर श्रीकृष्णके नेत्र श्रीराधाके अप्रतिम रूप-सौन्दर्यका दर्शन करके ही शीतल होते हैं। श्रीकृष्णकी कलित-ललित वंशी-ध्वनि चतुर्दश भुवनोंको आकर्षित करती है, पर श्रीकृष्णके कान श्रीराधाके वाक्य-सुधा-पानसे ही तृप्त होते हैं। श्रीकृष्णके दिव्य अङ्ग-गन्धसे जगत् सुगन्धित होता है अर्थात् जगत्‌के समस्त मनोमोहक सुगन्ध श्रीकृष्णके अङ्गगन्धसे ही सुगन्धित हैं; परंतु श्रीकृष्णके प्राण तथा घ्राण नित्य श्रीराधाके अङ्ग-सुगन्धके लोभी बने रहते हैं। साक्षात् रसरूप रसराजशिरोमणि श्रीकृष्णके रससे जगत् सुरसित है, पर श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके अधर-रसके वशीभूत हैं। श्रीकृष्णका स्पर्श कोटि-कोटि-शशाङ्क-सुशीतल है, किंतु श्रीकृष्णके अङ्ग सुशीतलता प्राप्त करते

है श्रीराधारानीके अङ्गस्पर्शसे । श्रीराधिकाके प्रति श्रीकृष्णकी प्रीति अत्यन्त प्रबल होनेपर भी श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाकी उज्ज्वल निर्मल प्रीति यहीं अधिक है । श्रीमती वृषभानुदुलारीके हृदयमें आत्मेन्द्रिय-सुखेच्छाकी कल्पना भी नहीं है; तथापि उनके द्वारा, उनकी सेवाके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण अपार आनन्द प्राप्त कर रहे है --इस अनुभूतिसे वे श्रीकृष्णकी अपेक्षा भी अनन्तगुण अधिक सुख प्राप्त करती है । धन्य है वे श्रीराधारानी और उनकी कायव्यूहरूपा त्याग-प्रेमकी जीती-जागती प्रतिमा श्रीगोपसुन्दरियाँ और धन्य है वह दिव्य व्रज, जहॉ ऐसी दिव्य लीलाएँ होती है ।

इसी व्रजके पवित्र प्रेमपरिप्लावित क्षेत्रमे श्रीराधा-माधवका रस-विलास एक नित्य प्रवहमाणा स्रोतस्विनीके सदृश है । इस प्रवाहके दो तट है मिलन और विरह अथवा सम्भोग और विप्रलम्भ । मिलन-तटपर विराजित व्रजयुगलवर 'सम्भोग'-रसका आस्वादन करते है और विरह-तटपर वे 'विप्रलम्भ' रसका आस्वादन करते हैं । विरह-तटके रसास्वादनके चार प्रकार हैं —पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास । इसी प्रकार मिलन-तटके आस्वादनका वैचित्र्य भी चार प्रकारका है- -संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण और समृद्धिमान् । पूर्वरागके विरहके अनन्तर होनेवाला मिलन 'संक्षिप्त' सम्भोग है, मानकी विरह-वेदनाके बाद होनेवाला 'संकीर्ण' सम्भोग है, कुछ दूरके प्रवासजनित विप्रलम्भके बाद होनेवाला 'सम्पूर्ण' सम्भोग हैं और सुदूर प्रवासजनित विप्रलम्भके अनन्तर होनेवाले मिलनको' समृद्धिमान' सम्भोग कह सकते है । इन चार प्रकारके सम्भोग और चार प्रकारके विप्रलम्भमेंसे प्रत्येक आठ प्रकारका होनेसे व्रजमें चौसठ रसोंका आस्वादन हुआ करता है; फिर इनके अनेकों अन्तर्भेद हो सकते है । इनमेंसे प्रत्येक रस-विलासकी स्थिति और विस्तृति सर्वतोभावसे निर्भर करती है——विरह-मिलनकी विरुद्धतापर । इन दोनोंकी सत्तापर ही व्रजके रस-प्रवाहकी सत्ता है। इसीलिये इन दोनोंको सम्भोग और विप्रलम्भको 'विलासावगाहि- विरोधिता' कहा जाता है ।

जैसे बाये और दाहिने दोनो पैरोसे मनुष्य चलता है, दो पाखोंसे पक्षी उड़ता है, उसी प्रकार विरह और मिलनसे इस रस-विलासकी सिद्धि होती है । और जैसे प्रातः एवं संध्याके बीचमे दिनकी विशिष्टताका

विकास होता है, पूर्णिमा एवं अमावस्याके द्वारा मासकी विचित्रता प्रकट होती है, वैसे ही विरह और मिलनकी विविधता और पृथक्‌ताओंमें व्रजके रसविलासका मधुरतम प्रवाह चलता रहता है। व्रजमें इन दोनोंका एकत्रीकरण इष्ट नहीं है। पर कहीं-कहीं जब विरह और मिलनका एकत्र मिलन हो जाता है, तब एक महान् मधुर माधुर्यका उदय होता है, व्रजरसिक प्रेमीजन उसका अनुभव करते हैं।

प्रेमवैचित्यका आस्वादन मिलनमें विरहकी स्फूर्तिसे होता है। प्रेमवैचित्यका लक्षण बतलाते हुए श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियाऽऽर्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कृष्टताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उसके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना 'प्रेमवैचित्य' कहलाता है।'

रासलीलाके समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोपियोंको छोड़कर श्रीराधाजीको साथ लेकर एकान्तमें चले गये। वहाँ जब श्रीराधाने कहा—'मुझे कंधेपर चढ़ा लो' और ज्यों ही भगवान् उन्हें कंधेपर चढ़ाने लगे कि बस, उसी क्षण प्रेमकी अत्यन्त उत्कृष्टतावश श्रीराधाको 'प्रेमवैचित्य' हो गया। वे गिर पड़ीं। प्रियतम श्रीकृष्णने उन्हें अपने अङ्कमें सुला लिया। उस समय श्रीराधाजीको ऐसा लग रहा था कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर अन्तर्धान हो गये हैं और वे रो-रोकर पुकारने लगीं—

हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय संनिधिम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३०। ४०)

'हा नाथ! हा रमण! हा प्रियतम! हा महाबाहो! तुम कहाँ हो? मैं तुम्हारी दासी हूँ। प्यारे! तुम्हारे चले जानेसे मैं अत्यन्त दुखी हो रही हूँ। मेरे पास आकर मुझे तुरंत दर्शन दो।'

प्रेमवैचित्यका कितना सुन्दर और प्रत्यक्ष दृश्य है!

श्रीविदग्धमाधवमें आया है—श्रीयमुनाजीके तटपर श्रीराधा-माधव विहार कर रहे हैं। वृन्दादेवी कर्णभूषणके योग्य दो कमल श्रीमाधवको लाकर देती हैं। श्रीकृष्ण सहर्ष उनको लेकर श्रीराधाके कानोंमें पहनाने लगते हैं।



प्रेमवैचित्त्य—श्रीकृष्णको चले गये मानकर व्याकुल होती हैं

इतनेमें ही देखते हैं कि कमलमें एक भ्रमर बैठा है। भ्रमर उड़ा, श्रीराधाके मुखको कमल समझकर उसकी ओर चला। श्रीराधाने श्रीहस्तके द्वारा उसको हटाना चाहा, भ्रमर श्रीकरतलको एक कमल समझकर उसकी ओर उड़ा। ढीठ भ्रमर जा नहीं रहा है, इससे डरकर श्रीराधा अपनी ओढ़नीका आंचल फटकारने लगीं। मधुमङ्गलने छड़ी मारकर भ्रमरको बहुत दूर हटा दिया और लौटकर कहा 'मधुसूदन (भ्रमर) चला गया।'

इतना सुनते ही 'मधुसूदन' शब्दसे भगवान् श्रीकृष्ण समझकर श्रीराधाजी 'हाय-हाय! मधुसूदन कहाँ चले गये'—पुकारकर रोने लगीं। 'यदिह सहसा मामत्याक्षीद्वने वनजेक्षणः।—अकस्मात् कमलनयन श्रीकृष्ण इस वनमें मुझको त्यागकर क्यों चले गये?' यों कहकर वे आर्तनाद करने लगीं। अपने समीप ही प्रियतमाके इस मधुरतम प्रेमवैचित्त्य-जनित विरहको देखकर श्रीकृष्णने संकेतसे सबको चुप हो जानेके लिये कहा और स्वयं मधुर हास्य करने लगे। ये प्रेमवैचित्त्यके उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मिलन और विरहके मिलनके भी सुन्दर उदाहरण हैं—श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें रासपूर्णिमाकी रात्रिके समय भगवान् श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनि सुनकर श्रीगोपाङ्गनाओंके अभिसारका वर्णन है। वहाँ यह बताया गया है कि कुछ गोपाङ्गनाएँ घरोंके भीतर थीं—'अन्तर्गृहगताः'। उनको घरवालोंने रोक दिया, वे प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये बाहर जा नहीं सकीं—'अलब्धविनिर्गमाः'। तब उनका हृदय प्रियतम श्यामसुन्दरके भावसे परिपूर्ण हो गया। उनकी आँखें मुद गयीं और हृदयमें श्रीकृष्णकी श्रीमूर्ति प्रकट हो गयी। उस अवस्थाका वर्णन करते समय श्रीशुकदेवजीने कहा है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २९। ९ १०)

'उस समय कुछ गोपरमणियाँ घरोंके भीतर थीं, उन्हें घरवालोंने रोक दिया, इससे बाहर नहीं निकल सकीं। तब उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं

और बड़ी भावनाके साथ तन्मय होकर श्रीकृष्णके परम मोहन सौन्दर्य-माधुर्यका ध्यान करने लगीं। वे अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकीं, अतः उन्हें विरहकी इतनी तीव्र वेदना हुई कि उनके सारे अशुभ संस्कार नष्ट हो गये और उसीके साथ-साथ ध्यानावस्थामें आये हुए प्रियतम श्रीकृष्णका आलिङ्गन करनेसे इतना महान् सुख हुआ कि उनके समस्त शुभ संस्कारोंका सर्वथा क्षय हो गया।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि एक ही समय विरहकी तीव्र वेदना और मिलनका महान् आनन्द प्राप्त हो रहा है। विरह-मिलनका ही मिलन हो रहा है। अनन्य प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके प्रेममें मिलन-विरहकी आनन्द-पीड़ा इतनी विलक्षण होती है कि उसकी उपमा कहीं नहीं है। देवी पौर्णमासीने नान्दीमुखीसे कहा था—

> **पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो**
> **निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहंकारसंकोचनः।**
> **प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे**
> **ज्ञायन्ते स्फुटमेव वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥**

'सुन्दरि! श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दरका प्रेम जिसके अन्तरमें प्रकट हो जाता है, उस प्रेमके वक्र-मधुर विक्रमको वही व्यक्ति जानता है। इस प्रेममें ऐसी महान् पीड़ा है कि वह नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको भी दूर कर देती है। उधर जब इस प्रेमकी आनन्दधारा बहने लगती है, तब वह अमृतके माधुर्यजनित अहंकारको संकुचित कर देती है।' इसी विरह-वेदना और मिलनानन्दने गोपीके अशुभ-शुभको समाप्त करके उसको कर्मबीजशून्य बना दिया।

'ललितमाधव'के दशम अङ्कमें श्रीकृष्ण-विरहकी असीम वेदनासे पीड़ित सत्यभामास्वरूपिणी श्रीराधा भयानक सर्प-विषसे विषमय हुए सरोवरमें प्राणत्यागके लिये कूद पड़ती हैं। इतनेमें ही श्रीकृष्ण दौड़े आते हैं और *पीछेसे दोनों भुजाओंके द्वारा श्रीराधाका कण्ठ धारण कर लेते हैं।*

श्रीराधा दोनों भुजाओंको कालसर्प समझती हैं और मन-ही-मन कहती



हैं कि 'कैसा सौभाग्य है कि मैं दो सर्पोंके द्वारा पकड़ ली गयी हूँ, ये अभी डँस लेंगे और डँसते ही इस विरह-दग्ध जीवनका अन्त हो जायगा। विधाता बड़ा ही अनुकूल है, जो मेरी मनचाही मृत्युको अभी तुरंत ही बुला देगा।'

सर्प डँस नहीं रहे हैं, यह देखकर तथा स्पर्श-सुखका अनुभव करके श्रीराधा मन-ही-मन कहती हैं—'उपयुक्त समयपर अपकार करनेवाली वस्तुएँ भी प्रिय हो जाती हैं। सर्प डँस तो नहीं रहे हैं, उल्टा स्पर्श-सुख दे रहे हैं।'

श्रीकृष्ण राधाके मणिबन्धमें स्यमन्तक मणि बाँध देते हैं। मणिकी ज्योतिको देखकर श्रीराधा कहती हैं—'बड़ा ही आश्चर्य है कि मणि-विभूषित-मस्तक कालसर्प भी मुझे डँसनेमें देर कर रहा है। हाय! कृष्ण-रहित इस जीवनका कब मराके लिये अन्त होगा!'

श्रीकृष्णके हृदयसे चिपटी हुई श्रीमती राधा इस प्रकार विरह-वेदनासे छटपटाती हुई मृत्युकी बाट देख रही है। मिलन-विरहका यह बड़ा मनोहर चित्र है।

ये विरह-मिलन-मिलनके कुछ उदाहरण हैं।

'विप्रलम्भ' का स्वभाव ही है—भीतर पाना और बाहर खो देना तथा 'सम्भोग' का स्वभाव है—बाहर पाना और भीतर खो देना। इसीसे सम्भोगकालमें इच्छा होती है—बाहरके प्रियतमको भीतर ले जानेकी, और विप्रलम्भमें व्याकुल आग्रह होता है—भीतरके प्रियतमको बाहर लाकर उनका मुखचन्द्र देखने और उन्हें आलिङ्गन करनेका।

यद्यपि श्रीराधाके अन्तर-बाहर दोनों ही क्षेत्रोंमें नित्य प्रियतम श्यामसुन्दरका निवास रहता है, वे नित्य हृदयभवनमें लीला-विहार करते हैं और साथ ही नित्य नेत्रोंके सामने रहकर बाह्य-लीला करते रहते हैं; तथापि प्रेमकी सुन्दर विचित्र स्थितियोंका रसास्वादन होता रहे, इसलिये श्रीमती राधामें कभी 'विप्रलम्भ-लीला'की स्फूर्ति होती है और कभी 'मिलन-लीला' की।

श्रीराधा-माधव और उन्हींकी प्रतिमूर्तियाँ श्रीगोपाङ्गनाओंकी यह पवित्रतम, मधुरतम, उज्ज्वलतम प्रेमानन्दसुधामयी लीला विविध विचित्र

स्वरूपोंमें नित्य-निरन्तर चलती रहती है। इसके अनन्त स्वरूप हैं, अनन्त स्तर हैं।

अपनी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंके साहाय्य-सहयोगसे श्रीकृष्ण-स्वरूपा ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी परम प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती हुई जब किसी भाग्यवान् जीवपर स्वयं अथवा अपनी किसी सखी-सहचरीके द्वारा कृपा-वर्षण करती हैं, तभी जीवका विशुद्ध कृष्णप्रेमकी ओर आकर्षण होता है। जीवगत ह्लादिनीका विकार मायाशक्तिके द्वारा जीवको सतत खींच रहा है, इसीसे वह विषय-भोगमें प्रमत्त होकर श्रीकृष्ण-प्रेमसे वञ्चित हो रहा है और इसीसे विषयोंसे सुखकी आशामें नित्य-नित्य दुःखोंके भँवरमें पड़ा गोते खा रहा है। इस माया-शक्तिके आकर्षणसे मुक्त होनेके लिये श्रीकृष्णगत-ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा या उनकी किसी सखी-सहचरीके अनुगत होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे वे कृपा करके श्रीराधा-माधवके विशुद्ध प्रेमकी ओर हमें खींचें।

जय परमेश्वरि जयति परम उज्ज्वल रसरूपा।
जय श्रीकृष्णसुखैकपरा जय कृष्ण-स्वरूपा॥
जय आह्लादिनिशक्ति जयति जय रस-उल्लासिनि।
जय रासेश्वरि नित्य निकुञ्जेश्वरि मधुहासिनि॥
जय श्रीकृष्णानन्द-स्वरूपिणि जय हरि-भामिनि।
जयति कृष्णसर्वेश्वरि कृष्णात्मासुखधामिनि॥
जय कृष्णाराधिका कृष्ण आराध्या जय जय।
जय कृष्णाधारा रम्या राधिका जयति जय॥

जयति नव नागरी, रूप गुन आगरी, सर्व सुख सागरी कुँअरि राधा।
जयति हरि भामिनी, स्याम घन दामिनी, केलि कलकामिनी, छबि अगाधा॥
जयति मनमोहनी, करौ दृग बोहनी, दरस दै सोहनी! हरौ बाधा।
जयति रस मूरि री, सुरभि सुर भूरि री, 'भगवतरसिक'की प्रान साधा॥



श्रीराधा-माधवका महत्त्व, स्वरूप, तत्त्व और सम्बन्ध

(सं० २०१५ वि० के श्रीराधाष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

[दिनमें]

दिशि दिशि रचयन्तीं संचरन्नेत्रलक्ष्मी-
विलसितखुरलीभिः खञ्जरीटस्य खेलाम् ।
हृदयमधुपमल्लीं बल्लवाधीशसूनो-
रखिलगुणगभीरां राधिकामर्चयामि ॥
पितुरिह वृषभानोरन्ववायप्रशस्तिं
जगति किल समस्ते सुष्ठु विस्तारयन्तीम् ।
व्रजनृपतिकुमारं खेलयन्तीं सखीभिः
सुरभिणि निजकुण्डे राधिकामर्चयामि ॥

श्रीराधा-माधव-महिमा

जीवमात्र आनन्दकी इच्छा करते हैं—पूर्ण, नित्य और अखण्ड आनन्द चाहते हैं और अनवरत आनन्दके ही अनुसंधानमें लगे हैं। वे

आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते; क्योंकि सब आनन्दसे ही निकले हैं, आनन्दमें ही निवास कर रहे हैं और आनन्दमें ही उन्हें लौट जाना है, परंतु आनन्द है क्या वस्तु और वह कहाँ है तथा कैसे प्राप्त हो सकता है, इस बातको जीव भूल गया है और इसीसे वह स्त्री-स्वामी, पिता-पुत्र, धन-सम्मान, पद-अधिकार आदि विनाशी प्राणी-पदार्थोंमें आनन्दकी खोज करता है। वस्तुतः आनन्दघन तो हैं भगवान् श्रीकृष्ण ही। अतएव नित्य, पूर्ण, अखण्ड आनन्दकी खोज करता हुआ वह प्रकारान्तरसे प्रतिक्षण श्रीकृष्णानुसंधानमें ही लगा है; पर वह भूल रहा है। इसी भूलको मिटाकर उसे सच्चे आनन्दके दर्शन करानेके लिये पूर्णानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना संतोंने बतायी है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि जितने भी प्रकारके प्रेमोंसे विशुद्ध आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णका आराधन होता है, उन सबके साधन तथा स्वरूप पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं। ये सारे प्रेम एक ही साथ, एक ही रूपमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हों, ऐसा कोई मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही नित्य 'राधा' बने हुए हैं। ये श्रीराधा श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण आनन्दशक्ति (ह्लादिनी शक्ति) हैं, अतएव ये ही श्रीकृष्णकी आत्मा और जीवनाधार हैं। नित्य-सत्य चिदानन्द-प्रेमरस-विग्रह अखिलविश्वेश्वर श्रीकृष्ण इसीसे परम प्रेमस्वरूपा श्रीराधाके नितान्त वशीभूत और सर्वथा अनुगत हैं। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है; प्रेमके बिना आनन्द नहीं रहता। आनन्दके बिना प्रेम नहीं रहता। श्रीकृष्ण आनन्दके घनीभूत श्रीविग्रह हैं। श्रीराधा प्रेमकी घनीभूत मूर्ति हैं। राधाके बिना श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके बिना श्रीराधा रह ही नहीं सकतीं।

श्रीकृष्ण ही राधाके जीवन हैं और श्रीराधा ही कृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण भोक्ता हैं, श्रीराधा भोग्या हैं; श्रीकृष्ण सेव्य हैं, श्रीराधा सेविका हैं; श्रीकृष्ण आराध्य हैं, श्रीराधा आराधिका हैं। कहीं-कहीं इसके ठीक विपरीत, श्रीकृष्ण भोग्य हैं, सेवक हैं, आराधक हैं और श्रीराधा भोक्त्री, सेव्या और आराध्या हैं।

इन आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाकी लाखों-करोड़ों अन्तरङ्ग वृत्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिपल श्रीराधा-कृष्णकी सेवा तथा उनकी सुख-संवर्धनामें लगी रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णको प्रसन्न—सुखी देखना तथा करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य, स्वभाव या स्वरूप है। ये श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा सखी-सहचरियां सदा-सर्वदा सेवामें संलग्न रहती हैं और श्रीराधा-कृष्णके सुखार्थ इनके सहयोगसे तथा इनके माध्यमसे जो दिव्य क्रीड़ा प्रकट होती रहती है, उसीका नाम 'रास' है। यह रास नित्य चलता रहता है। श्रीकृष्ण सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं भगवान् हैं। वे ही अखिल-रस-सुधा-विग्रह हैं। इन रसराज, रसरूप, रसिकशेखरके रसास्वादनके लिये होनेवाली चिदानन्द-रसमयी क्रीड़ाका नाम ही 'रास' है। इसीसे स्वयं नारायणके नाभि-कमलसे प्रादुर्भूत श्रीब्रह्माजी तथा रसिकेन्द्रशेखरके हृदयपर नित्य विहार करनेवाली साक्षात् लक्ष्मीजीको भी प्रेमी-भक्तगण इस 'रास'का अधिकारी नहीं मानते। दिव्य प्रेमस्वरूपा गोपीजन और दिव्यानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी यह रासलीला कामगन्धशून्य है। गोपियोंका यह प्रेम उद्दीप्त दिव्य सात्त्विक भाव है। इसीको वैष्णव संत 'रूढ महाभाव' कहते हैं। श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंकी सेवासे भगवान् श्रीकृष्णको जितनी प्रसन्नता होती है, भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे उनको उससे कहीं अधिक आनन्द प्राप्त होता है। यों परस्पर होड़-सी लगी रहती है और निरन्तर एक दूसरेके सुखका अनुसंधान बना रहता है। यह लीला वस्तुतः अपने-आपमें ही होती है। भगवान् नित्य सत्य तथा अविच्छिन्न हैं, उनकी यह अविच्छिन्नता इस लीलामें भी सदा अक्षुण्ण रहती है। श्रीराधा श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता शक्ति हैं। इसलिये उनका नित्य ऐक्य है। श्रीकृष्णका सारा आनन्द उनमें परिपूर्ण है और वे ही श्रीकृष्णको भी नित्य आनन्द देनेवाली हैं।

आनन्द-चिन्मय रसरूप प्रेमका परम सार है—'महाभाव' और श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं। इस महाभावके आनन्दका आस्वादन करनेके लिये आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण सदा लालायित रहते हैं। इसीसे पूर्णकाममें कामना तथा नित्य तृष्णाहीनमें तृष्णाका उदय देखा जाता है

और वे (श्रीराधा) श्रीकृष्णकी दिव्य रसमयी लालसा, कामना और तृष्णाको पूर्ण करनेमें ही नित्य संलग्न रहती हैं।

व्रजके श्रीकृष्णकी उपासना सौन्दर्यकी उपासना है। इसमें रसकी प्रधानता है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सौन्दर्यके आधार, अखिलरसामृतसिन्धु हैं; उनकी आराधनाके लिये आराधकको भी सुन्दर बनना आवश्यक है। इस सुन्दरतामें केवल बाह्य सुन्दरताको ही स्थान नहीं है। बाह्य सौन्दर्य भी अपेक्षित है, परंतु सच्चा सौन्दर्य तो हृदयका है—जिसमें अहंता, कामना, वासनाका कलङ्क-लेश नहीं, विषयासक्तिकी तनिक-सी मलिनताकी छाया नहीं तथा स्व-सुखकी किंचित् भी चाह नहीं है। जो केवल प्रियतमके प्रेम-रसरूप सुधासे ही नित्य परिपूर्ण है, जिसमें केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी ही चाह सहज है, ऐसे दिव्य अनन्त अखण्ड अनन्य सौन्दर्यकी जीती-जागती प्रतिमा हैं—श्रीराधाजी! इन्हीं श्रीराधाजीके भावोंको आदर्श मानकर इस पावन प्रेम-पथपर अनन्य प्रेमपिपासु विषयविरक्त त्यागी साधक अग्रसर हो सकता है। इस पथपर चलनेवालोंको श्रीराधाके आदर्शका ध्यान रखते हुए इनके भक्तोंकी पदधूलिको मस्तकपर धारण करके चलनेका प्रयास करना चाहिये। अब कुछ क्षण माधवसहित श्रीराधाजीकी पूर्ण महिमा-स्मृतिमें बिताइये—

शिवकृत राधा-स्वरूप-महिमा

पद्मपुराणमें भगवान् शंकर देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—श्रीकृष्णप्रिया राधा अपनी चैतन्य आदि अन्तरङ्ग विभूतियोंसे इस प्रपञ्चका गोपन अर्थात् संरक्षण करती हैं, इसलिये उन्हें 'गोपी' कहते हैं। वे श्रीकृष्णकी आराधनामें तन्मय होनेके कारण 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीकृष्णमयी होनेसे ही वे 'परा देवता' हैं, पूर्णतया 'लक्ष्मीस्वरूपा' हैं। श्रीकृष्णके आह्लादका मूर्तिमान् स्वरूप होनेके कारण मनीषीजन उन्हें 'ह्लादिनीशक्ति' कहते हैं। श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं। मुनिश्रेष्ठ! इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं तो श्रीकृष्ण रुद्र। वे सावित्री हैं तो ये साक्षात् ब्रह्मा हैं। अधिक क्या कहा जाय, उन दोनोंके बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं है। जड-चेतनमय सारा संसार श्रीराधा-



नारदजीको श्रीराधाके दर्शन ९५

कृष्णका ही स्वरूप है। इस प्रकार सबको इन्हीं दोनोंकी विभूति समझो। मैं नाम ले-लेकर गिनाने लगूँ तो सौ करोड़ वर्षोंमें भी उस विभूतिका वर्णन नहीं कर सकता। तीनों लोकोंमें पृथ्वी सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है। उसमें भी जम्बूद्वीप सब द्वीपोंमें श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष और भारतवर्षमें भी मथुरापुरी श्रेष्ठ है। मथुरामें भी वृन्दावन, वृन्दावनमें भी गोपियोंका समुदाय, उस समुदायमें भी श्रीराधाकी सखियोंका वर्ग तथा उसमें भी स्वयं श्रीराधिकाजी सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्रीनारदद्वारा राधा-दर्शन तथा स्तवन

इन अखिल-जगदीश्वरी, रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, नित्य-श्रीकृष्ण-वल्लभा, श्रीकृष्णात्मा, श्रीकृष्णप्राणस्वरूपा, श्रीकृष्णाराधनतत्परा, श्रीकृष्णाराध्या श्रीश्रीराधाजीका मङ्गलमय दर्शन प्राप्त करनेके लिये देवर्षि नारद श्रीवृषभानुपुर पहुँचे और वहाँ वृषभानुके साथ प्रसूतिघरमें प्रवेश करके पृथ्वीपर सोयी हुई अखिल-जगज्जननी अखिल-सौन्दर्य-प्रतिमा नवजात कन्याको देखकर वे मुग्ध हो गये और एकमात्र रसायनरूप परमानन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगे। तदनन्तर उन्होंने कन्याको अपनी गोदमें उठा लिया और गोपप्रवर भानुको कार्यान्तरसे कहीं अन्यत्र भेजकर वे उन दिव्यरूपधारिणी बालिकाकी स्तुति करने लगे।

नारदजी बोले—'देवि! तुम महायोगमयी हो, मायाकी अधीश्वरी हो। तुम्हारा तेजःपुञ्ज महान् है। तुम्हारे दिव्याङ्ग मनको अत्यन्त मोहित करनेवाले हैं। तुम महान् माधुर्यकी वर्षा करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय अत्यन्त अद्भुत रसानुभूतिजनित दिव्य आनन्दसे परिप्लुत तथा शिथिल रहता है। मेरा कोई महान् सौभाग्य था, जिससे तुम मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुई हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि सदा आन्तरिक दिव्य सुखमें निमग्न दिखायी देती है। तुम भीतर-ही-भीतर किसी अगाध आनन्दसे परितृप्त जान पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर एवं शान्त मुखमण्डल तुम्हारे अन्तःकरणमें किसी परम आश्चर्यमय आनन्दके उद्रेककी सूचना दे रहा है। सृष्टि, स्थिति और संहार तुम्हारे ही स्वरूप हैं; तुम्हीं इनका अधिष्ठान हो। तुम्हीं विशुद्ध-

सत्त्वमयी हो तथा तुम्हीं पराविद्यारूपिणी शक्ति हो। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। ब्रह्मा और रुद्र आदिके लिये भी तुम्हारे तत्त्वका बोध होना कठिन है। बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी तुम कभी नहीं आतीं। तुम्हीं सबकी अधीश्वरी हो। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति—ये सब तुम्हारे अंशमात्र हैं। ऐसी ही मेरी धारणा है—मेरी बुद्धिमें यही बात आती है। मायासे बालकरूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो मायामयी अचिन्त्य विभूतियाँ हैं वे सब तुम्हारी अंशभूता हैं। तुम आनन्दरूपिणी शक्ति और सबकी ईश्वरी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें तुम्हारे ही साथ नित्य लीला करते हैं। कुमारावस्थामें भी तुम अपने रूपसे विश्वको मोहित करनेकी शक्ति रखती हो। किंतु तुम्हारा जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको परमप्रिय है, आज मैं उसीका दर्शन करना चाहता हूँ। महेश्वरि! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ, चरणोंमें पड़ा हूँ। मुझपर दया करके इस समय अपना वह मनोहर रूप प्रकट करो, जिसे देखकर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी मोहित हो जायँगे।'

यों कहकर देवर्षि नारदजी श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए इस प्रकार उनके गुणोंका गान करने लगे—'भक्तोंके चित्त चुरानेवाले श्रीकृष्ण! तुम्हारी जय हो! वृन्दावनके प्रेमी गोविन्द! तुम्हारी जय हो। बाँकी भौंहोंके कारण अत्यन्त सुन्दर, वंशी बजानेमें व्यग्र, मोरपंखका मुकुट धारण करनेवाले गोपीमोहन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने श्रीअङ्गोंमें कुङ्कुम लगाकर रत्नमय आभूषण धारण करनेवाले नन्दनन्दन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने किशोरस्वरूपसे प्रेमीजनोंका मन मोहनेवाले जगदीश्वर! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तुम्हारी ही कृपासे तुम्हें अभिनव तरुणावस्थाके अनुरूप अङ्ग-अङ्गमें मनोहर शोभा धारण करनेवाली इस दिव्यरूपा बालिकाके साथ देखूँगा।'

नारदजी जब इस प्रकार कीर्तन कर रहे थे, उसी समय वह नन्ही-सी बालिका क्षणभरमें अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण करके पुनः उनके सामने प्रकट हो गयी। वह रूप चौदह वर्षकी अवस्थाके अनुरूप और

सौन्दर्यकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। तत्काल ही उसीके समान अवस्थावाली दूसरी अनेकों व्रज-बालाएँ भी दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे सुसज्जित हो वहाँ प्रकट हो गयीं तथा भानुकुमारीको सब ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं।

अखिल-विद्या-विशारद देवर्षि नारदजीकी स्तवन-शक्तिने जवाब दे दिया। वे आश्चर्यसे मोहित हो गये। तब उन व्रजबालाओंने कृपापूर्वक अपनी सखीका चरणोदक लेकर उसे मुनिके ऊपर छिड़का, तब उन्हें बाह्य चेतना हुई। तदनन्तर उन भाग्यवती बालिकाओंने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, महान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। तुम्हींने परा-भक्तिके साथ सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना की है। भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान्की उपासना वास्तवमें तुम्हारे ही द्वारा हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मा और रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये भी जिसे देखना और जानना कठिन है, वही अपनी अद्भुत अवस्था और रूपसे सबको मोहित करनेवाली यह श्रीकृष्णकी प्रियतमा हमारी सखी आज तुम्हारे समक्ष प्रत्यक्ष प्रकट हुई है। निश्चय ही यह तुम्हारे किसी अचिन्त्य सौभाग्यका प्रभाव है। ब्रह्मर्षे! धैर्य धारण करके शीघ्र ही उठो, खड़े हो जाओ और इस देवीकी प्रदक्षिणा करो, इसके चरणोंमें बारंबार मस्तक झुका लो। फिर समय नहीं मिलेगा, ये अभी इसी क्षण अन्तर्धान हो जायँगी। अब इनके साथ तुम्हारी बातचीत किसी तरह नहीं हो सकेगी।'

व्रजबालाओंका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था। उनकी बातें सुनकर नारदजी नाना प्रकारके वेष-विन्याससे शोभा पानेवाली उस दिव्य बालाके चरणोंमें दो मुहूर्ततक पड़े रहे। तदनन्तर उन्होंने भानुको बुलाकर उस सर्वशोभासम्पन्ना कन्याके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—'गोपश्रेष्ठ! तुम्हारी इस कन्याका स्वरूप और स्वभाव दिव्य है। देवता भी इसे अपने वशमें नहीं कर सकते। जो घर इसके चरणचिह्नोंसे विभूषित होगा, वहाँ भगवान् नारायण सम्पूर्ण देवताओंके साथ निवास करेंगे और भगवती लक्ष्मी भी सब प्रकारकी सिद्धियोंके साथ वहाँ वर्तमान रहेंगी। अब तुम सम्पूर्ण

आभूषणोंसे विभूषित इस सुन्दरी कन्याको परादेवीकी भाँति समझकर इसकी अपने घरमें प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो।'

इन श्रीकृष्णमयी आनन्द-प्रेम-रस-प्रतिभाविता महाभावस्वरूपा श्रीराधाका आज परम पुनीत प्राकट्य-दिवस है। आजके ही दिन इन्होंने श्रीवृषभानु-पुरमें परम सौभाग्यशाली श्रीवृषभानु तथा परम सौभाग्यमयी श्रीकीर्तिरानीके घर प्रकट होकर उनको धन्य किया था। हमलोगोंका परम सौभाग्य है कि आज हमलोग उन्हीं सखियोंसे युक्त श्रीराधारानीकी पूजा-अर्चना करने तथा जन्मोत्सव मनानेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

मन्मथ-मन्मथ मन मथत जाके सुषमित अंग।
मुख-पंकज-मकरंद नित पियत स्याम दृग भृंग ॥ १ ॥
जाके अंग-सुगंध कौं नित नासा ललचात।
तन चाहत नित परसिबौ जाकौ मधुमय गात ॥ २ ॥
मधु-रसमयि बचनावली सुनिबे कौं नित कान।
हरि के लालायित रहत, तजि गुरुता कौ मान ॥ ३ ॥
जाके मधुर प्रसाद कौ मधु रस चाखन हेतु।
हरि-रसना अकुलात अति तजि दुस्त्यज श्रुति-सेतु ॥ ४ ॥
जाकी नख-दुति लखि लजत कोटि-कोटि रवि-चंद।
बंदौं तिन राधा-चरन-पंकज सुचि सुखकंद ॥ ५ ॥

बोलो कीर्तिकुमारी वृषभानुदुलारी नन्दनन्दनप्यारी श्रीराधा-सुकुमारीकी जय! जय! जय!

[रात्रिमें]

गौरीं गोष्ठवनेश्वरीं गिरिधरप्राणाधिकां प्रेयसीं
स्वीयप्राणपरार्द्धपुष्पपटलीनिर्मञ्छ्यतत्पद्धतिम्।
प्रेम्णा प्राणवयस्यया ललितया संलालितां नर्मभिः
सिक्तां सुष्ठु विशाखया भज मनो राधामगाधां रसैः ॥

भक्तिके पाँच रस

वैष्णव महानुभावोंने शास्त्र-निर्णय तथा अपने अनुभवके आधारपर पाँच प्रकारके रस बतलाये हैं। भक्तके भाव-भेदसे ही ये रस-भेद हैं। यह आवश्यक नहीं कि इनका क्रमशः विकास हो; परंतु यह निश्चय

है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस साधन-प्रणालीमें भी रसोंका रहना माना गया है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंका पर्यवसान है, वैसे ही शान्त-दास्यादि रसोंका माधुर्यमें पर्यवसान है। जरा समझिये—

आकाश या व्योम—शब्द-तन्मात्रक है।

वायु या मरुत्—शब्द-स्पर्श-तन्मात्रक है।

अग्नि या तेज—शब्द-स्पर्श-रूप-तन्मात्रक है।

अप् या जल—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-तन्मात्रक है।

क्षिति या पृथ्वी—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्रक है।

इसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्यको समझना चाहिये।

शान्त रस—निष्ठामय।

दास्य—निष्ठा और सेवामय।

सख्य—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोचराहित्य) मय।

वात्सल्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और आत्मसमर्पणमय।

इनमें सर्वप्रथम शान्त-रस है—शान्त-रसके भक्तमें समस्त दैवी-सम्पदाके गुणोंका समावेश होता है। वह शम-दम-सम्पन्न होता है, दोषोंपर विजय प्राप्त कर चुकता है। तितिक्षा, भगवान्‌में श्रद्धा, निष्काम-भाव आदि उसके स्वभावगत होते हैं। यही उसकी निष्ठामयता है। शान्त-रसमें भोग-वासना, भोगासक्तिको स्थान नहीं होता। यही प्रेमाभक्तिकी मूल भित्ति है। इसके अभावमें प्रेमाभक्तिका प्राप्त होना और रहना बहुत ही कठिन है।

दास्यरसमें भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न तो अपेक्षित है न चिन्तनीय ही है। दास नित्य-निरन्तर भगवान्‌की सेवाके लिये आकुल और सेवामें ही संलग्न रहता है। इसमें स्वामि-सेवक-भाव होनेसे

बराबरी नहीं होती। सेव्यके प्रति सम्मान-सम्भ्रम रहता है। ऐसा सेवक अखिल जगत्‌में जगन्नाथके दर्शन करके नित्य सेवापरायण रहता है।

सख्यरसमें भगवान्‌के साथ तुल्यतामयी रति होती है। इसमें संकोच-सम्भ्रम तथा उतना मान-सम्मान नहीं रहता। इसमें अर्जुन-उद्धवादि 'ऐश्वर्यज्ञानयुक्त' सखा हैं और व्रजके ग्वाल-बालक 'विशुद्ध भक्तिमय' सखा हैं। सख्यरतिके आदर्श ग्वालबाल भगवान्‌को अपनी बराबरीका मानते हैं। कंधोंपर चढ़ा लेते हैं। चढ़ जाते हैं। साथ-साथ खाते-खेलते हैं। कभी मान करके रूठ जाते हैं, तब श्रीकृष्ण उनको मनाते हैं और श्रीकृष्णका कभी जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो वे सखा रो-रोकर व्याकुल हो उठते हैं और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं।

सख्यरसमें जगत्‌के सभी प्राणियोंके साथ सहज 'मैत्रीभावना' हो जाती है।

वात्सल्य-रसमें अपना सर्वस्व देकर प्राणोंके आधार बालक भगवान्‌की रक्षा-सेवा की जाती है। श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्य-पान करके तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, वह किस प्रकारका होता है, कहा नहीं जा सकता। परंतु यशोदाके भाग्यकी सराहना करते हुए श्रीशुकदेवजी अवश्य कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २०)

'गोपी यशोदाने मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्णसे जो अनिर्वचनीय प्रसाद प्राप्त किया, वह प्रसाद पुत्र होनेपर भी ब्रह्माको, आत्मरूप होनेपर भी शंकरको और वक्षःस्थलपर नित्य विराजिता अर्धाङ्गिनी होनेपर भी लक्ष्मीको नहीं प्राप्त हो सका।'

इसके बाद है—कान्त या मधुर-भाव या माधुर्य-रस। सभी रसोंका इसमें अन्तर्भाव है। श्रीराधिका आदि गोपीजन, श्रीरुक्मिणी आदि महिषीगण और श्रीलक्ष्मीजी आदि इस मधुर भावकी आदर्श मानी गयी हैं। 'विप्रलम्भ'

और 'सम्भोग'के रूपमें इस मधुर भक्ति-सुधा-सरिताके दो तट हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास आदिके रूपमें विप्रलम्भके कई भेद हैं तथा इसी प्रकार सम्भोग या मिलनके भी कई भेद हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार रतिके तीन भेद माने गये हैं—'साधारणी', 'समञ्जसा' और 'समर्था'।

श्रीभगवान्‌की द्वारका-लीलामें 'साधारणी' रति, मथुरामें 'समञ्जसा' रति और वृन्दावनमें 'समर्था' रति मानी गयी है। द्वारका-लीलामें यद्यपि सम्पूर्ण महाभागा महिषियोंका चित्त-मन सदा ही भगवान्‌को समर्पित है, तथापि वे वेदविधिके अनुगत हैं, शास्त्र-मर्यादानुसार सुख-सौभाग्यसे सम्पन्न हैं। स्वाभाविक ही गृहस्थ-धर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशासे युक्त हैं और उनमें आत्मसुखकी आकाङ्क्षा भी है। इस रतिमें 'आत्मसुख' और 'कृष्णसुख' मिश्रित हैं, अतः यह 'साधारणी रति' है।

जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी कोई आशा-आकाङ्क्षा नहीं है, 'श्रीकृष्णको सुख देना' और 'उनसे सुख प्राप्त करना'—यों परस्पर-विलास है, वहाँ 'समञ्जसा' रति है। इसमें आशा-आकाङ्क्षा न होनेपर भी परस्पररूपगुणजनित सुखभोगकी प्रधानता है। अतएव यह भी 'समर्था रति' नहीं है। इसीसे मथुरावासिनी देवियाँ कहती हैं—

> गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
> लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
> दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
> मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
>
> (१०।४४।१४-१५)

'सखी! पता नहीं, गोपियोंने कौन-सी तपस्या की थी, जो वे नेत्रोंको दोने बनाकर नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका पान करती

रहती हैं। अहा! श्रीकृष्णका रूप क्या है—लावण्यका सार है। संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनके समान नहीं है, फिर बढ़कर होनेकी तो बात ही क्या है; यह सौन्दर्य सजाया-सँवारा हुआ नहीं है, स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते कभी तृप्ति होती ही नहीं; क्योंकि यह प्रतिक्षण नया-नया होता जाता है। समग्र यश, समस्त श्री और सम्पूर्ण ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं। केवल श्रीगोपियाँ ही इस रस-सुधाका पान करती हैं, औरोंके लिये तो यह दुष्प्राप्य ही है। सखी! व्रजसुन्दरियाँ धन्य हैं—वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको पलनेमें झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरको झाड़ते-बुहारते, घरके सभी काम करते समय श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, आँसू छलकते नेत्रोंसे और गद्गद कण्ठसे सदा श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान ही करती रहती हैं।'

'समञ्जसा रति'में भी निज-सुख है। अतएव 'समर्था रति' तो श्रीगोपीजनमें ही है, जहाँ स्वसुखकी कोई भी कल्पना नहीं है। श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं—(**रसो वै सः**), आनन्दरूप हैं—(**आनन्दं ब्रह्म**)। ऐसे रसमय आनन्दमय भगवान् शुद्ध प्रेमरसास्वादनमें ही सुख-लाभ करते हैं। गोपियोंमें शुद्ध प्रेम है, वहाँ रसाभास नहीं है; इसीसे वे श्रीकृष्णका पूर्ण सुखविधान करती हैं। इन गोपियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—श्रीराधाजी। ये हैं—सुनिर्मल परमोज्ज्वल-रसरूप प्रेमरत्नकी अनन्त खान। श्रीकृष्णकी 'ह्लादिनी', 'संधिनी' और 'संवित्' शक्तियोंमें ये 'ह्लादिनी' शक्ति हैं।

कामसत्ताका नाश हुए बिना इस रसमें प्रवेश नहीं होता। इसीसे इस रस-पद्धतिमें कामनाशक 'शान्तरस'का बड़ा महत्त्व है। वही इसकी नींव है। जैसे नींवके बिना मकान ठहर नहीं सकता, वैसे ही शान्तरसकी परिपक्वताके बिना माधुर्यका मङ्गल-प्रासाद भी स्थिर रहना कठिन होता है। अस्तु,

ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार भाव, भावकी पराकाष्ठा महाभाव और श्रीराधारानी वही महाभावस्वरूपा हैं। लक्ष्मी, महिषीगण और व्रज-

सुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्णप्रेयसियाँ श्रीराधिकासे ही विस्तारको प्राप्त होती हैं। जैसे श्रीकृष्ण असंख्य अवतारोंके अवतारी हैं, वैसे ही श्रीराधा भी अनन्त श्रीकृष्णकान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंशविभूति', महिषीगण 'वैभवविलास' और व्रजसुन्दरियाँ 'कायव्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधा और श्रीकृष्णका स्वरूप

श्रीराधाजी श्रीकृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। लीलारसास्वादनके लिये द्विविध प्रकाश है। दोनों ही सच्चिदानन्दमय एक तत्त्व—वस्तु हैं। उसमें न स्त्री है न पुरुष। केवल लीला-विलास है। दोनों ही काम-गन्ध-शून्य सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह हैं। शुक्र-शोणित-जनित, कर्मजनित और पञ्चभूत-निर्मित देह इनके नहीं हैं। अतएव इनमें काम-क्रोधादिके लेशकी कल्पना भी नहीं है। सभी कुछ सच्चिद्घन है। इस जगत्‌के 'काम'में केवल तामसिक अन्धकार है, इसीसे उसका क्षय—विनाश है। श्रीवृन्दावनका यह चिन्मय रस है, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है। रूपमें, सौन्दर्यमें, लीलामें, प्रेममें और आनन्दमें—सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा। हेमकान्तमणि और नीलकान्तमणिमें मानो होड़ लगी है। इस युगल-प्रेम-सुधा-रसकी प्राप्ति योगियोंको अनन्त-कालतक समाधि लगानेपर भी नहीं होती। केवल ज्ञानचर्चा करनेवाले तो इसमें प्रवेश ही नहीं पा सकते। इसीको 'दिव्य परमोन्मत्त उज्ज्वल' रस कहते हैं।

श्रीराधाकृष्णके इस प्रणय-भावको समझनेके लिये उनके स्वरूप-तत्त्वपर कुछ और भी विचार करना आवश्यक है। श्रीकृष्णके तत्त्वस्वरूप और श्रीराधाके महत्त्वका कुछ परिचय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अपने ही शब्दोंमें प्राप्त कीजिये। तीन इतिहास हैं—एक भगवान् व्यासका, दो भगवान् शंकरके।

(१) व्यासजीने एक बार कई हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें वर माँगनेके लिये कहा। व्यासजीने भगवान्‌से कहा—'मधुसूदन! मैं आपके उस यथार्थ तत्त्वका आँखोंके द्वारा दर्शन

करना चाहता हूँ। नाथ! जो इस जगत्का पालक और प्रकाशक है, उपनिषदोंने जिसे सत्यस्वरूप परब्रह्म बतलाया है, आपका वही अद्भुत रूप मेरे सामने प्रत्यक्ष प्रकट हो—यही मेरी प्रार्थना है।'

त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन।
यत् तत् सत्यं परं ब्रह्म जगज्ज्योतिर्जगत्पतिः॥
वदन्ति वेदशिरसश्चाक्षुषं नाथ मेऽद्भुतम्॥
(पद्म० पाताल०)

श्रीभगवानने कहा—"महर्षे! मेरे विषयमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। कोई मुझे 'प्रकृति' कहते हैं, कोई 'पुरुष'। कोई ईश्वर मानते हैं, कोई धर्म। किन्हीं-किन्हींके मतमें मैं सर्वथा भयरहित मोक्षस्वरूप हूँ। कोई भाव (सत्तास्वरूप) मानते हैं और कोई-कोई कल्याणमय सदाशिव बतलाते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग मुझे वेदान्त-प्रतिपादित अद्वितीय सनातन ब्रह्म मानते हैं। किंतु वास्तवमें जो सत्तास्वरूप और निर्विकार है, सत्-चित् और आनन्द ही जिसका विग्रह है तथा वेदोंमें जिसका रहस्य छिपा हुआ है, अपना वह पारमार्थिक स्वरूप मैं आज तुम्हारे सामने प्रकट करता हूँ; देखो!'

भगवान्के इतना कहते ही श्रीव्यासजीको एक बालकके दर्शन हुए, जिसके शरीरकी कान्ति नीलमेघके समान श्याम थी। वह गोपकन्याओं और ग्वाल-बालोंसे घिरकर हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर थे, जो पीतवस्त्र धारण किये कदम्बकी जड़पर बैठे हुए थे। उनकी झाँकी अद्भुत थी। उनके साथ ही नूतन पल्लवोंसे अलंकृत 'वृन्दावन' नामका वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके बाद नीलकमलकी आभा धारण करनेवाली कलिन्दकन्या यमुनाके दर्शन हुए। फिर गोवर्धन पर्वतपर दृष्टि पड़ी, जिसे श्रीकृष्ण तथा बलरामने इन्द्रका घमंड चूर्ण करनेके लिये अपने हाथोंपर उठाया था। वह पर्वत गौओं तथा गोपोंको बहुत सुख देनेवाला है। गोपाल श्रीकृष्ण रमणियोंके साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वेणु बजा रहे थे, उनके शरीरपर सब प्रकारके आभूषण शोभा पा रहे थे। उनका दर्शन करके मुनिको बड़ा हर्ष हुआ। तब वृन्दावनमें विचरनेवाले भगवान्ने

स्वयं उनसे कहा—'मुने ! तुमने जो इस दिव्य सनातन रूपका दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और सच्चिदानन्दमय पूर्ण विग्रह है । इस कमल-लोचन स्वरूपसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्त्व नहीं है । वेद इसी स्वरूपका वर्णन करते हैं । यही कारणोंका भी कारण है । यही सत्य, परमानन्दस्वरूप, चिदानन्दघन, सनातन और शिवतत्त्व है । तुम मेरी इस मथुरापुरीको नित्य समझो । यह वृन्दावन, यह यमुना, ये गोपकन्याएँ तथा ग्वाल-बाल—सभी नित्य हैं । यहाँ जो मेरा अवतार हुआ है, यह भी नित्य है—इसमें संशय न करना । राधा मेरी सदाकी प्रियतमा हैं । मैं सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर तथा सर्वानन्दमय परमेश्वर हूँ । मुझमें ही यह सारा विश्व, जो मायाका विलासमात्र है, प्रतीत हो रहा है ।'

(२) भगवान शिवजीने एक बार नारदजीको बताया कि मैंने भगवान्से यह वरदान माँगा—

यद् रूपं ते कृपासिन्धो परमानन्ददायकम् ।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्तिमत् सर्वतोऽधिकम् ॥
निर्गुणं निष्कियं शान्तं यद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां परमेश्वर ॥

"कृपासिन्धो ! आपका जो परमानन्ददायक, सम्पूर्ण आनन्दोंका आश्रय, नित्यमनोहरमूर्तिधारी, सबसे श्रेष्ठ, निर्गुण, निष्क्रिय और शान्त रूप है, जिसे विद्वान् लोग 'ब्रह्म' कहते हैं, उसको मैं अपने नेत्रोंसे देखना चाहता हूँ ।"

इसपर भगवान्ने कहा कि 'तुम यमुनाके पश्चिम तटपर मेरे लीलाधाम वृन्दावनमें चले जाओ । वहाँ तुम्हें मेरे दर्शन होंगे ।' तब मैं यमुनाके सुन्दर तटपर चला आया । वहाँ मुझे सम्पूर्ण देवेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्णके दर्शन हुए, जो किशोरावस्थासे युक्त, कमनीय गोपवेश धारण किये अपनी प्रिया श्रीराधाके कंधेपर बायाँ हाथ रखकर खड़े थे । उनकी वह झाँकी बड़ी मनोहर जान पड़ती थी ; चारों ओर गोपियोंका समुदाय था और बीचमें भगवान् खड़े होकर श्रीराधिकाजीको हँसाते हुए स्वयं भी हँस रहे

थे। उनका श्रीविग्रह सजल मेघके समान श्यामवर्ण तथा कल्याणमय गुणोंका धाम था। श्रीकृष्ण मुझे देखकर हँसे। उनकी वाणीमें अमृत भरा था। वे मुझसे बोले—"रुद्र! तुम्हारा मनोरथ जानकर आज मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं। इस समय मेरे जिस अलौकिक रूपको तुम देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है। इसके रूपमें सत्, चित् और आनन्द ही मूर्तिमान् हुए हैं। उपनिषदोंके समूह मेरे इसी स्वरूपको निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय और परात्पर बतलाते हैं। मेरे दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है तथा उन गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये वेदान्त-शास्त्र मुझ ईश्वरको 'निर्गुण' बतलाता है। महेश्वर! मेरा यह रूप चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, अतः सम्पूर्ण वेद मुझे अरूप—'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्य-अंशसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे विद्वान्लोग मुझे 'ब्रह्म' के नामसे पुकारते हैं। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, इसलिये शास्त्र मुझे 'निष्क्रिय' बताते हैं। शिव! मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि-संहार आदि कार्य करते हैं, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता। महादेव! मैं तो इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल होकर न तो दूसरी कोई क्रिया जानता हूँ और न मुझे अपने आपका ही भान रहता है। ये मेरी प्रिया राधिका हैं, इन्हें 'परा देवता' समझो। मैं इनके प्रेमके वशीभूत होकर सदा इन्हींके साथ विचरण करता हूँ। इनके पीछे और अगल-बगलमें जो लाखों सखियाँ हैं, वे सब-की-सब नित्य हैं। जैसा मेरा विग्रह नित्य है, वैसे ही इनका भी है। मेरे सखा, पिता, गोप, गौएँ तथा वृन्दावन—ये सब नित्य हैं। इन सबका स्वरूप सच्चिदानन्दरसमय ही है। मेरे इस वृन्दावनका नाम आनन्दकंद समझो। इसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्यको पुनः संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता। मैं वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाता। अपनी इस प्रियाके साथ सदा यहीं निवास करता हूँ। रुद्र! तुम्हारे मनमें जिस-जिस बातको जाननेकी इच्छा थी, वह सब मैंने बता दी। बोलो, इस समय मुझसे और क्या सुनना चाहते हो?"

तब मैंने कहा—'प्रभो! आपके इस स्वरूपकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका उपाय मुझे बताइये।' भगवान्ने कहा—'रुद्र! तुमने बहुत

अच्छी बात पूछी है; किंतु यह विषय अत्यन्त रहस्यका है, इसलिये इसे यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये। देवेश्वर! जो दूसरे उपायोंका भरोसा छोड़कर एक बार हम दोनोंकी शरणमें आ जाता है और गोपीभावसे मेरी उपासना करता है, वही मुझे पा सकता है। जो एक बार हम दोनोंकी शरणमें आ जाता है अथवा अकेली मेरी इस प्रिया राधाकी ही अनन्यभावसे उपासना करता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त होता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके मेरी इस प्रिया (राधा) की शरण ग्रहण करनी चाहिये। रुद्र! मेरी प्रियाका आश्रय लेकर तुम भी मुझे अपने वशमें कर सकते हो। यह बड़े रहस्यकी बात है, जिसे मैंने तुम्हें बता दिया है। तुम्हें यत्नपूर्वक इसे छिपाये रखना चाहिये। अब तुम भी मेरी प्रियतमा श्रीराधाकी शरण लो और मेरे युगल-मन्त्रका जप करते हुए सदा मेरे इस धाममें निवास करो।'

(३) एक प्रसङ्गमें भगवती पार्वतीके पूछनेपर भगवान् शंकर श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंका और उनके नख-शिख-शोभा-शृङ्गारका वर्णन करते हुए तथा उनके महत्त्वका विवेचन करते हुए कहते हैं—

केचिद्वदन्ति तस्यांशं ब्रह्म चिद्रूपमद्वयम्।
तद्दशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
योगीन्द्रैः सनकाद्यैश्च तदेव हृदि चिन्त्यते।
तिर्यग्ग्रीवजितानन्तकोटिकंदर्पसुन्दरम्॥
सापाङ्गेक्षणसस्मेरकोटिमन्मथसुन्दरम्।
कुञ्चिताधरविन्यस्तवंशीमञ्जुकलस्वनैः।
जगत्त्रयं मोहयन्तं मग्नं प्रेमसुधार्णवे॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'कुछ विद्वानोंका कथन है कि चिद्रूप अद्वितीय ब्रह्म उनका (श्रीकृष्णका) अंश है। अनेक मनीषीगण महाविष्णुको उनका दशमांश बतलाते हैं। सनकादि योगीश्वर अपने हृदयमें इनका सदा चिन्तन करते हैं। जिस समय वे गर्दन टेढ़ी करके खड़े होते हैं, उस समय अनन्तकोटि कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर दीखते हैं। वे अपनी तिरछी चितवन तथा मधुर मन्द मुस्कानके द्वारा करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दरता धारणकर अपने सिकोड़े

हुए अधरोंपर वंशी रखकर बजा रहे हैं और उस मुरलीकी मधुर स्वर-लहरीसे त्रिभुवनको मोहित करते हुए सबको प्रेम-सुधा-सागरमें निमग्न कर रहे हैं।'

"देवी ! जिनके नख-चन्द्र-किरणोंकी महिमाका भी अन्त नहीं है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके सम्बन्धमें मैं कुछ और बता रहा हूँ; तुम मुदित मनसे सुनो। त्रिगुणमय अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें जितने ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर हैं, सब उनकी कलाके करोड़वें-करोड़वें अंशसे उत्पन्न हैं। सृष्टि, स्थिति और संहारकी शक्तिसे युक्त वे ब्रह्मा आदि देवता उन्हीं श्रीकृष्णके 'वैभव' हैं। उन श्रीकृष्णके रूपका जो करोड़वाँ अंश है, उसके भी करोड़ अंश करनेपर एक-एक अंश-कलासे ऐसे असंख्य कामदेवोंकी उत्पत्ति होती है, जो इस ब्रह्माण्डमें स्थित होकर जगत्‌के जीवोंको मोहमें डालते रहते हैं। श्रीकृष्णके श्रीविग्रहकी शोभामयी कान्तिके करोड़वेंके करोड़वें अंशसे चन्द्रमाका आविर्भाव हुआ है। श्रीकृष्णके प्रकाशके करोड़वें अंशसे जो किरणें निकलती हैं, वे ही अनेकों सूर्योंके रूपमें प्रकट होती हैं। उनके साक्षात् श्रीविग्रहसे जो प्रकाश-किरणें प्रकट होती हैं, वे परमानन्दमय रसामृतसे परिपूर्ण हैं। वे परम आनन्द और परम चैतन्यमयी हैं, उन्हींसे इस विश्वके ज्योतिर्मय जीव जीवन धारण किये हुए हैं, जो भगवान्‌के ही कोटि-कोटि अंश हैं। उनके चरण-कमल-युगलके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिसे निकलनेवाली प्रभाको ही 'पूर्णब्रह्म' बताया गया है, जो सबका कारण है और वेदोंके लिये भी दुर्गम है। विश्वको मोहित करनेवाला जो नाना प्रकारके पुष्पादिका सौरभ (सुगन्ध) है, वह सब उनके श्रीविग्रहकी दिव्य सुगन्धका करोड़वाँ अंशमात्र है। भगवान्‌के स्पर्शसे ही सब सुगन्धोंका प्रादुर्भाव होता है। इन श्रीकृष्णकी प्रिया इनकी प्राणवल्लभा श्रीराधिका हैं। ये ही आद्या (श्रीकृष्णमयी) प्रकृति हैं। इन्हीं श्रीराधिकाके करोड़वेंके करोड़वें अंशसे त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि देवियोंकी उत्पत्ति हुई है। इन राधिकाके पद-रजः-स्पर्शसे करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं। (पद्मपुराण, पातालखण्ड)

श्रीराधिकोपनिषद्

भगवत्स्वरूपा श्रीराधिकाजीकी महिमा तथा उनके स्वरूपको बतानेवाला ऋग्वेदका एक राधिकोपनिषद् है, उसका भाषान्तर नीचे दिया जाता है—

"ऊर्ध्वरेता बालब्रह्मचारी सनकादि ऋषियोंने भगवान् ब्रह्माजीकी उपासना करके उनसे पूछा—'हे देव! परम देवता कौन हैं? उनकी शक्तियाँ कौन-कौन हैं? उन शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ, सृष्टिकी हेतुभूता कौन शक्ति है?' सनकादिके प्रश्नको सुनकर श्रीब्रह्माजी बोले—'पुत्रो! सुनो; यह गुह्योंमें भी गुह्यतर—अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जिस किसीके सामने प्रकट करने योग्य नहीं है। जिनके हृदयमें रस हो, जो ब्रह्मवादी हों, गुरुभक्त हों—उन्हींको इसे बताना है; नहीं तो किसी अनधिकारीको देनेसे महापाप होगा। भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, वे (ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, ज्ञान और वैराग्य—इन) छहों ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण भगवान् हैं। गोप-गोपियाँ उनका सेवन करती हैं, वृन्दा (तुलसीजी) उनकी आराधना करती हैं, वे वृन्दावनके स्वामी हैं, वे ही एकमात्र परमेश्वर हैं। उन्हींके एक रूप हैं—अखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति नारायण, जो उन्हींके अंश हैं, वे प्रकृतिसे भी प्राचीन और नित्य हैं। उन श्रीकृष्णकी ह्लादिनी, संविनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि बहुत प्रकारकी शक्तियाँ हैं। इनमें आह्लादिनी सबसे श्रेष्ठ है। यही परम अन्तरङ्गभूता 'श्रीराधा' हैं, जो श्रीकृष्णके द्वारा आराधिता हैं। श्रीराधा भी श्रीकृष्णका सदा समाराधन करती हैं, अतः वे राधिका कहलाती हैं। इनको 'गान्धर्वा' भी कहते हैं। समस्त गोपियाँ, पटरानियाँ और लक्ष्मीजी इन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। ये श्रीराधा और रस-सागर श्रीकृष्ण एक ही शरीर हैं, लीलाके लिये ये दो बन गये हैं। ये श्रीराधा भगवान् श्रीहरिकी सम्पूर्ण ईश्वरी हैं, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं, श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। एकान्तमें चारों वेद इनकी स्तुति करते हैं। इनकी महिमाका मैं (ब्रह्मा) अपनी समस्त आयुमें भी वर्णन नहीं कर सकता। जिनपर इनकी कृपा होती है, परमधाम उनके करतलगत हो जाता है। इन राधिकाको न जानकर जो श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है, वह मूढ़तम है—महामूर्ख है। श्रुतियाँ इनके निम्नाङ्कित नामोंका गान करती हैं—

१. राधा, २. रासेश्वरी, ३. रम्या, ४. कृष्णमन्त्राधिदेवता, ५. सर्वाद्या, ६. सर्ववन्द्या, ७. वृन्दावनविहारिणी, ८. वृन्दाराध्या,

९. रमा, १०. अशेषगोपीमण्डलपूजिता, ११. सत्या, १२. सत्यपरा, १३. सत्यभामा, १४. श्रीकृष्णवल्लभा, १५. वृषभानुसुता, १६. गोपी, १७. मूलप्रकृति, १८. ईश्वरी, १९. गन्धर्वा, २०. राधिका, २१. आरम्या, २२. रुक्मिणी, २३. परमेश्वरी, २४. परात्परतरा, २५. पूर्णा, २६. पूर्णचन्द्रनिभानना, २७. भुक्तिमुक्तिप्रदा, २८ भवव्याधिविनाशिनी।

इन अट्ठाईस नामोंका जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं—, ऐसा भगवान् श्रीब्रह्माजीने कहा है।

यह तो आह्लादिनी शक्तिका वर्णन हुआ। इनकी संधिनी शक्ति (श्रीवृन्दावन) धाम, भूषण, शय्या तथा आसन आदि एवं मित्र-सेवक आदिके रूपमें परिणत होती है और इस मर्त्यलोकमें अवतार लेनेके समय वही माता-पिताके रूपमें प्रकट होती है। यही अनेक अवतारोंकी कारणभूता है। ज्ञानशक्ति ही क्षेत्रज्ञशक्ति है। इच्छा-शक्तिके अन्तर्भूत माया है। यह सत्त्व-रज-तमोमयी है और बहिरङ्गा है, यही जगत्‌की कारणभूता है। यही अविद्यारूपसे जीवके बन्धनमें हेतु है। क्रियाशक्ति ही लीलाशक्ति है।

जो इस उपनिषद्‌को पढ़ते हैं, वे अव्रती भी व्रती हो जाते हैं। वे वायुसे पवित्र एवं वायुको पवित्र करनेवाले तथा सब ओर पवित्र एवं सबको पवित्र करनेवाले हो जाते हैं। वे श्रीराधा-कृष्णके प्रिय होते हैं और जहाँतक उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँतक सबको पवित्र कर देते हैं। ॐ तत्सत्।"

उपर्युक्त उद्धरणोंसे भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाके तत्त्व-स्वरूपका, उनकी एकरूपताका तथा उनके विलक्षण माहात्म्यका किंचित् आभास मिलता है।

'आत्माराम' शब्दका अर्थ

स्कन्दपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके 'आत्माराम' शब्दका विलक्षण अर्थ बतलाया गया है।'

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
'आत्माराम' इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः॥

(स्कन्दपुराण)

"श्रीराधिका भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनमें सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं।"

इसी प्रसङ्गमें भगवान्की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।

'आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधिकाजी हैं।' इससे श्रीराधा-कृष्णके स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्धका पूरा पता लग जाता है। इन्हीं श्रीराधिकाजीको प्रेमी भक्तोंने प्रेमरसका आदर्श माना है।

श्रीकृष्णको सर्वविध आनन्द देनेवाली श्रीराधिका

श्रीकृष्ण अपनी ही ह्लादिनी शक्तिसे आप ही आह्लादित होते हैं और अपने आह्लादसे नित्य श्रीराधाजीको आह्लादित करते रहते हैं। यह आनन्दचिन्मय रसकी नित्य रसलीला है। यहाँ वस्तुतः प्रकृति-पुरुष या देह-देहीका भेद नहीं है। 'ना सो रमण ना हाम रमणी' श्रीराधिकाजीके कविदर्शित इन शब्दोंमें यही भाव है। तथापि श्रीराधाजी नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी आराधना, भावमयी पूजा करती रहती हैं और श्रीकृष्ण तो अपने जीवनकी मूलरक्षानिधि ही उनको बतलाते हैं। वे कहते हैं—

मैं हूँ पूर्णानन्द परम शुचि, मैं हूँ नित्य सच्चिदानन्द।
मैं रसमय, रसराज, सदा रसपूर्ण, रसिक-जन-मन-आनन्द॥
मुझ आनन्दसिन्धुका पाकर सीकर एक अखिल संसार।
पाता रहता नित्य निरन्तर विविध भाँति आनन्द अपार॥
मुझसे भी हो जिसमें निर्मल शत-शतगुना अधिक आनन्द।
एक वही, बस, दे सकता है मेरे मनको परमानन्द॥
ऐसी एक राधिका ही है, जो मुझको देती आह्लाद।
लेता रहता हूँ अतृप्त मैं मधुर निरन्तर उसका स्वाद॥
कोटि-कोटि कंदर्प-दर्पका करता मर्दन मेरा रूप।
सकल जगत्को मोहित, आप्यायित करता वह नित्य अनूप॥
वह मैं छविकी छवि राधाका सौन्दर्यामृत करके पान।
नहीं अघाता कभी, विकल दर्शनहित रहते मेरे प्रान॥
मेरी मुरलीकी स्वर-लहरी त्रिभुवनको कर्षित करती।
राधा-वचन-सुधाकी माधुरि अविरत मेरा मन हरती॥

मेरे तनकी मधुर गन्धसे अखिल विश्व होता सुरभित ।
राधा-अङ्ग-सुगन्ध हरण करती बरबस मेरा मन नित ॥
अग-जगको है आदि-सृष्टिसे सरस बनाता मेरा रस ।
राधा-अधर-सुधा-रसने कर रक्खा मुझे सदा निज वश ॥
यद्यपि मेरा स्पर्श कोटि शरदिन्दु सदृश अति है शीतल ।
राधा-अङ्ग-स्पर्श-सुख मेरा तुरत बुझाता हृदयानल ॥
मेरा मुखकण पाकर सुख अनुभव करता जगका जन-जन ।
राधाके गुण-रूप सुरक्षित रखते नित मेरा जीवन ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णको सब प्रकारसे आकर्षित करके उन्हें परम सुख देनेवाली श्रीराधा हैं—यही राधाका स्वरूप है ।

लोग पूछते हैं—श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी कौन थीं ? इसका उत्तर समझनेवालोंके लिये तो ऊपर आ ही गया है । श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों एकरूप ही हैं और दोनों ही एक ही भगवान्‌की नित्य अभिव्यक्ति हैं । दोनोंमें भेद माननेवालोंको घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है । भगवान् श्रीकृष्णने श्रीराधाजीसे कहा है—

आवयोर्भेदबुद्धिं तु यः करोति नराधमः ।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"जो नराधम तुममें और मुझमें भेदबुद्धि करेगा, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे तबतक 'कालसूत्र' नामक नरकमें निवास करेगा ।"—इसलिये उनमें किसी सम्बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता । तथापि 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण'में उनके दिव्य मङ्गल विवाहका वर्णन भी आता है, जो बड़ा सुन्दर और मधुर है ।

श्रीराधा-कृष्णका विवाह

नन्दबाबा एक दिन गोपोंका गो-चारण-निरीक्षण करने जा रहे थे । बालक श्रीकृष्णचन्द्र साथ चलनेके लिये मचल गये । वे किसी प्रकार नहीं माने, रोने लगे । इसीलिये वे उन्हें साथ ले गये । वहाँ वनमें पहुँचनेपर गोरक्षकोंको तो उन्होंने दूसरे वनकी गायें एकत्रकर वहीं ले आनेके

लिये भेज दिया, स्वयं उन गायोंकी सँभालके लिये खड़े रहे। इतनेमें चारों ओर काली घटाएँ छा गयीं, महान् झंझावात प्रारम्भ हो गया। कोई गोरक्षक भी नहीं कि उसे गायें सँभलाकर वे भवनकी ओर जायँ तथा यों ही गायोंको छोड़ भी दें तो जायँ कैसे ? बड़ी-बड़ी बूँदें पड़नी आरम्भ हो गयीं। प्रकृतिका महान् क्षोभ मूर्तिमान् हो गया। तब और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मनसे नारायणका स्मरण करने लगे।

इतनेमें ही मानो कोटि सूर्य एक साथ उदय हुए हों, इस प्रकार दिशाएँ उद्भासित हो गयीं तथा वह झंझावात तो न जाने कहाँ चला गया। नन्दराय आँखें खोलकर देखते हैं—सामने एक बालिका खड़ी है। 'हैं…हैं! वृषभानुकुमारी ! तू यहाँ इस समय कैसे आयी, बेटी ?' व्रजेश्वरने अकचकाकर कहा। किंतु दूसरे ही क्षण अन्तर्हृदयमें एक दिव्य ज्ञानका उन्मेष होने लगता है, मौन होकर ये वृषभानुनन्दिनीकी ओर देखने लगते हैं—कोटि चन्द्रोंकी द्युति मुख-मण्डलपर झलमल-झलमल कर रही है, नीलवसन-भूषित अङ्ग हैं; श्रीअङ्गोंपर काञ्ची, कङ्कण, हार, अङ्गद, अङ्गुरीयक, मञ्जीर यथास्थान सुशोभित हैं; चञ्चल कर्णकुण्डलों तथा दिव्यातिदिव्य रत्न-चूड़ामणिसे किरणें झर रही हैं; अङ्गोंके तेजका तो कहना ही क्या, भानुकुमारीकी अङ्गप्रभासे ही वन आलोकित हुआ है। नन्दरायको गर्गकी वे बातें भी स्मरण हो आयीं। पुत्रके नामकरण-संस्कारसे पूर्व गर्गने एकान्तमें वृषभानु-पुत्रीकी महिमा, श्रीराधातत्त्वकी बात बतलायी थी; पर उस समय तो नन्दराय सुन रहे थे और साथ-ही-साथ भूलते जा रहे थे। इस समय उन सबकी स्मृति हो आयी, सबका रहस्य सामने आ गया। अञ्जलि बाँधकर नन्दरायने श्रीराधाको प्रणाम किया और कहा—'देवि ! मैं जान गया, पुरुषोत्तम श्रीहरिकी तुम प्राणेश्वरी हो एवं मेरी गोदमें तुम्हारे प्राणनाथ स्वयं पुरुषोत्तम श्रीहरि ही विराजित हैं। लो, देवि ! ले जाओ, अपने प्राणेश्वरको साथ ले जाओ। किंतु……।' नन्द कुछ रुक-से गये, श्रीकृष्णचन्द्रके भीति-विजड़ित नयनोंकी ओर उनकी दृष्टि चली गयी थी। क्षणभर बाद बोले—'किंतु देवि ! यह बालक तो आखिर मेरा पुत्र ही है न ! इसे मुझे ही

लौटा देना ।'—नन्दरायने श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाके हस्तकमलोंपर रख दिया । श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं ।

वृन्दावनकी भूमिपर गोलोकका दिव्य रासमण्डल प्रकट होता है । श्रीराधा नन्दपुत्रको लिये उसी मण्डलमें चली जाती हैं । सहसा नन्दपुत्र श्रीराधाकी गोदसे अन्तर्हित हो जाते हैं । वृषभानुनन्दिनी विस्मित होकर सोचने लगती हैं—नन्दरायने जिस बालकको सौंपा था, वह कहाँ चला गया ? इतनेमें गोलोकविहारी नित्यकैशोरमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र दीख पड़ते हैं । अपने प्रियतमको देखकर वृषभानुनन्दिनीका हृदय भर आता है, प्रेमावेशसे वे विह्वल हो जाती हैं । श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगते हैं—"प्रिये ! गोलोककी वे बातें भूल गयी हैं या अभी भी स्मरण हैं ? मुझे भी भूल गयीं क्या ? मैं तो तुम्हें नहीं भूला । तुम्हें भूल जाऊँ, यह मेरे लिये असम्भव है । मेरे प्राणोंकी रानी ! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास कुछ हो, तब तो तुम्हें भूलूँ । तुम्हीं बताओ, प्राणोंसे अधिक प्यारी वस्तुको कोई कैसे भूल सकता है । प्राणाधिके ! मेरे जीवनकी समस्त साध एकमात्र तुम्हीं हो । किंतु यह भी कहना नहीं बनता; क्योंकि वास्तवमें हम-तुम दो हैं ही नहीं । जो तुम हो, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही तुम हो । यह ध्रुव सत्य है—हम दोनोंमें भेद है ही नहीं । जिस प्रकार दुग्धमें धवलता है, अग्निमें दाहिका-शक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार हम दोनोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध है । सृष्टिके उस पार ही नहीं, सृष्टिके समय भी मेरी विश्वरचनाका उपादान बनकर तुम मेरे साथ ही रहती हो; तुम यदि न रहो तो फिर मैं सृष्टि-रचना करनेमें कभी भी समर्थ न हो सकूँ । कुम्भकार मृत्तिकाके बिना घटकी रचना कैसे करे ? स्वर्णकार सुवर्णके न होनेपर स्वर्णकुण्डलका निर्माण कैसे करे ? तुम सृष्टिकी आधारभूता हो, तो मैं उसका अच्युत बीजरूप हूँ ।·······सौन्दर्यमयि ! जिस समय योगसे मैं सर्वबीजस्वरूप हूँ, उस समय तुम भी शक्तिरूपिणी समस्त स्त्रीरूपधारिणी हो ।·······अलग दीखनेपर भी शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, तेज—इनकी दृष्टिसे भी हम-तुम सर्वथा समान हैं ।····किंतु यह सब होकर भी, यह तत्त्वज्ञान मुझमें नित्य वर्तमान रहनेपर भी मेरे प्राण तो तुम्हारे लिये नित्य व्याकुल

रहते हैं। प्राणाधिके! तुम्हें देखकर, तुम्हें पाकर मैं रससिन्धुमें निमग्न हो जाऊँ—इसमें तो कहना ही क्या है; तुम्हारा नाम भी मुझे कितना प्रिय है, यह कैसे बताऊँ? सुनो, जिस समय किसीके मुखसे केवल 'रा' सुन लेता हूँ, उस समय आनन्दमें भरकर अपने कोषकी बहुमूल्य सम्पत्ति, मेरी भक्ति—मेरा प्रेम मैं उसे दे देता हूँ; फिर भी मनमें भयभीत होता हूँ कि मैं तो इसकी वञ्चना कर रहा हूँ, 'रा' उच्चारणका उचित पुरस्कार तो मैं इसे दे नहीं सका। तथा जिस समय वह 'धा' का उच्चारण करता है, उस समय यह देखकर कि वह मेरी प्रियाका नाम ले रहा है, मैं उसके पीछे-पीछे चल पड़ता हूँ—केवल नाम-श्रवणके लोभसे; यह 'राधा' नाम मेरे कानोंमें तुम्हारी स्मृतिकी सुधा-धारा बहा देता है, मेरे प्राण शीतल—रसमय हो जाते हैं।'"

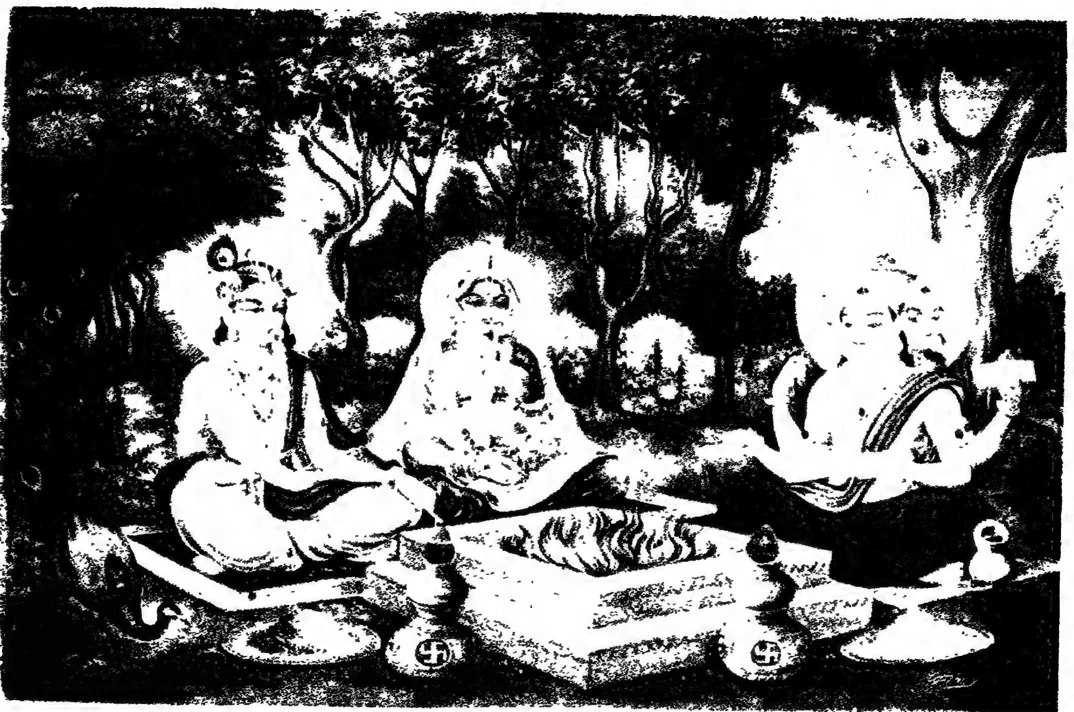
इस प्रकार रसिकेश्वर राधानाथ अपनी प्रियाको अतीतकी स्मृति दिलाकर, स्वरूपकी स्मृति कराकर, उन्हींके नामकी सुधासे उनको सिक्तकर प्रियतमा श्रीराधाका आनन्दवर्द्धन करने लगते हैं। राधाभावसिन्धुमें भी तरङ्गें उठने लगती हैं, भावके आवर्त बन जाते हैं; आवर्त राधानाथको रसके अतल-तलमें डुबाने ही जा रहे थे कि उसी समय माला-कमण्डलु धारण किये जगद्विधाता चतुर्मुख ब्रह्मा आकाशसे नीचे उतर आते हैं, राधा-राधानाथके चरणोंमें वन्दना करते हैं। पुष्करतीर्थमें साठ हजार वर्षोंतक विधाताने श्रीकृष्णचन्द्रकी आराधना की थी, राधाचरणारविन्द-दर्शनका वर प्राप्त किया था; उसी वरकी पूर्तिके लिये एवं राधानाथकी मनोहारिणी लीलामें एक छोटा-सा अभिनय करनेके लिये योगमायाप्रेरित वे उपयुक्त समयपर आये हैं।

भक्तिनतमस्तक, पुलकिताङ्ग, साश्रुनेत्र हुए विधाता बड़ी देरतक तो रासेश्वरकी स्तुति करते रहे। फिर रासेश्वरीके समीप गये। अपने जटा-जालसे श्रीराधाके युगल-चरणोंकी रेणुकणिका उतारी, रेणुकणसे अपने सिरका अभिषेक किया; पश्चात् कमण्डलु-जलसे चरण-प्रक्षालन करने लगे। तदनन्तर उन्होंने श्रीकृष्णप्रियाका स्तवन आरम्भ किया। न जाने कितने समयतक करते रहे। अन्तमें राधामुखारविन्दसे युगल पादपद्मोंमें अचला

भक्तिका वर पानेपर उन्हें धैर्य हुआ। अब उस लीलाका कार्य सम्पन्न करने चले।

श्रीराधा एवं राधानाथको प्रणामकर दोनोंके बीचमें विधाता अग्नि प्रज्वलित करते हैं, अग्निमें विधिवत् हवन करते हैं; फिर विधाताके द्वारा बताये हुए विधानसे स्वयं रासेश्वर हवन करते हैं। इसके पश्चात् रासेश्वरी-रासेश्वर दोनों ही सात बार अग्नि-प्रदक्षिणा करते हैं, अग्निदेवको प्रणाम करते हैं। विधाताकी आज्ञा मानकर श्रीराधा एक बार पुनः हुताशन-प्रदक्षिणा करके श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आसन ग्रहण करती हैं। ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाका पाणिग्रहण करनेके लिये कहते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र राधा-हस्तकमलको अपने हस्तकमलपर धारण करते हैं। हस्त-ग्रहण होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रने सात वैदिक मन्त्रोंका पाठ किया। इसके पश्चात् श्रीराधा अपना हस्तकमल श्रीकृष्ण-वक्षःस्थलपर एवं श्रीकृष्णचन्द्र अपना हस्तपद्म श्रीराधाके पृष्ठदेशपर रखते हैं। श्रीराधा मन्त्र-समूहका पाठ करती हैं। आजानुलम्बित दिव्यातिदिव्य पारिजातनिर्मित कुसुममाला श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको पहनाती हैं एवं श्रीकृष्णचन्द्र सुन्दर मनोहर वनमाला श्रीराधाके गलेमें डालते हैं। यह हो जानेपर कमलोद्भव श्रीराधाको श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वमें विराजितकर, दोनोंको अञ्जलि बाँधनेकी प्रार्थना-कर दोनोंके द्वारा पाँच वैदिक मन्त्रोंका पाठ कराते हैं। अनन्तर श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करती हैं। जैसे पिता विधिवत् कन्यादान करे, वैसे सारी विधि सम्पन्न करते हुए विधाता श्रीराधाको श्रीकृष्ण-कर-कमलोंमें समर्पित करते हैं। आकाश दुन्दुभि, पटह, मुरज आदि देव-वाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होने लगता है। आनन्द-निमग्न देववृन्द पारिजात-पुष्पोंकी वर्षा करते हैं, गन्धर्व मधुर गान आरम्भ करते हैं, अप्सराएँ मनोहर नृत्य करने लगती हैं। व्रजगोपोंके, व्रजसुन्दरियोंके सर्वथा अनजानमें ही इस प्रकार वृषभानुनन्दिनी एवं नन्दनन्दनकी विवाह-लीला सम्पन्न हो गयी।

× × × ×



श्रीराधा-माधवका विवाह

श्रीराधा-माधवका ऐक्य

श्रीराधा-माधवके इस विवाह-प्रसङ्गमें श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, उससे श्रीराधाका महत्त्व तथा श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका अभिन्न सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त श्रीदेवीभागवतमें आया है—

कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥

'श्रीराधाजी श्रीकृष्णको प्राणोंसे बढ़कर हैं; कारण, श्रीकृष्ण राधाके अधीन हैं। रासेश्वरी राधा नित्य उनके समीप रहती हैं, उनके बिना श्रीकृष्ण रह ही नहीं सकते।' पद्मपुराणमें देवर्षि नारदसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

दाहशक्तिर्यथा वह्नेस्तथैषा मम वल्लभा।
अनया सह विच्छेदं क्षणमात्रं न विद्यते॥

'अग्निमें जैसे दाहिका शक्ति है, वैसे ही मेरी प्रियतमा श्रीराधा हैं; उनके साथ क्षणमात्रके लिये मेरा बिछोह नहीं होता।'

ऐसे असंख्य प्रमाण हैं।

इससे स्पष्ट है कि श्रीराधा-कृष्ण एक ही तत्त्वके दो नित्य-स्वरूप हैं। इतनेपर भी जिनको शङ्का हो, उनके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है।

यहाँ फिर यह प्रश्न किया जाता है कि 'श्रीराधा-माधवका यह विवाह—मिलन गुप्तरूपसे क्यों किया गया?' इसका उत्तर यह है कि विषयविमुग्ध सर्वसाधारणके लिये यह लाभकी वस्तु नहीं है। वे इसमें अपनी दूषित वृत्तिके कारण भ्रान्त कल्पना करके अपने लिये नित्य नरकोंका पथ प्रशस्त कर लेंगे। इसलिये यह वस्तु सदा ही गुप्त है, गुप्त ही रहेगी। भगवान् श्रीराधा-माधवके अनन्य प्रेमीजन ही इसके पात्र हैं, उन्हींके सामने इसका प्रकाश होता है। वस्तुतः यहाँ साधनकी परिसमाप्ति है।

श्रीमद्भागवतमें गुप्तरूपसे राधा

कुछ सज्जन पूछते हैं कि श्रीमद्भागवतमें राधाका नाम क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि श्रीमद्भागवतमें तो यों श्रीयशोदाजीको छोड़कर

किसी भी गोपीका नाम नहीं है, इसलिये राधाजीका नाम न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु भागवतमें श्रीराधा हैं, यद्यपि वे दूधमें घृतकी भाँति अप्रकट हैं। भक्त अनुभवी टीकाकारोंने श्रीराधिकाजीका भागवतमें प्रत्यक्ष किया है और उन्होंने संकेत भी किये हैं—

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥
(श्रीमद्भा० २। ४। १४)

'सात्वत—भक्तोंके पालक, कुयोगियोंके लिये दुर्ज्ञेय प्रभुको हम नमस्कार करते हैं। वे भगवान् कैसे हैं? स्वधामनि—अपने धाम वृन्दावनमें; राधसा—श्रीराधाके साथ; रंस्यते—क्रीड़ा करनेवाले हैं। और वे राधा कैसी हैं? जिन्होंने समानता और आधिक्यको निरस्त कर दिया है अर्थात् जिनसे बढ़कर तो क्या, समानता करनेवाला भी कोई नहीं है।'

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३०। २८)

रास-प्रसङ्गमें एक गोपी कहती है—"अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी वे 'आराधिका' (आराधन करनेवाली राधिका) होंगी। इसीलिये उनपर प्रसन्न होकर हमारे प्यारे श्रीकृष्णने हमको छोड़ दिया है और उन्हें एकान्तमें ले गये हैं।"

हमारा कर्तव्य

इस प्रकार गहराईसे देखनेवालोंको श्रीमद्भागवतमें, लीलामें तथा शब्दोंमें भी श्रीराधाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। पर यदि किसी ग्रन्थमें नाम न भी आया हो तो क्या। हमारे लिये उन महात्माओंके अनुभव ही प्रबल प्रमाण हैं, जिन्होंने अपने नेत्रोंसे श्रीराधाके दर्शन किये हैं, उनकी कृपा प्राप्त की है तथा जो अब भी कर रहे हैं। ऐसे महात्माओंकी वाणीका

अमित मूल्य है। अतएव श्रीराधा श्रीकृष्णकी विवाहिता पत्नी थीं या नहीं, उनका नाम अमुक ग्रन्थमें आता है या नहीं—इन शङ्काओंमें न पड़कर काय-मन-वचनसे उनके शरणापन्न होकर उनका भजन करना चाहिये और श्रीराधा-माधवसे कातर प्रार्थना करनी चाहिये—

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत् किंचिदिह लोके परत्र च।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'नाथ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं। आप ही शरणागत जनोंका भय भंजन करते हैं। यह मैं, मेरा यह देह और इहलोक-परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके श्रीचरणोंमें समर्पण करता हूँ। मैं अपराधोंका घर हूँ। मेरे अन्य कोई साधन नहीं है, मेरी कोई गति नहीं है। नाथ! आप ही मेरी गति हैं। श्रीराधिकारमण! श्रीकृष्णकान्ते! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ, आप युगल-सरकार ही मेरी अनन्य गति हैं। मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप करुणाकी खान हैं। मुझ दुष्ट अपराधीपर कृपा करके मुझे अपना दास बना लीजिये।'

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी कृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय!



श्रीश्रीराधाके परम भाव-राज्यकी एक झाँकी

(सं० २०१६ वि० के राधाष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

नमस्ते श्रियै राधिकायै परायै
नमस्ते नमस्ते मुकुन्दप्रियायै ।
सदानन्दरूपे प्रसीद त्वमन्तः-
प्रकाशे स्फुरन्ती मुकुन्देन सार्धम् ॥
सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात्
सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम् ।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे
गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे ॥

(श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्र)

साधन-जगत्में प्रधानतया उत्तरोत्तर विलक्षण चार राज्य हैं—१. कर्मराज्य, २. भावराज्य, ३. ज्ञानराज्य और ४. महान् परम भावराज्य ।

इसीके अनुसार साधकोंके स्वरूप हैं, साध्य-स्वरूप हैं और दिव्य लोकादि हैं। कर्मप्रवण पुरुष कर्मराज्यमें श्रौत-स्मार्त वैध कर्मोंके द्वारा कर्म-साधन करते हैं। सकामभाव होनेपर वे स्वर्गादि पुनरावर्ती लोकोंमें जाते हैं और सर्वथा कामनारहित होनेपर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त होते हैं। इनके तत्त्वज्ञानकी स्थितिमें लोककी कल्पना नहीं है और कर्मतत्त्वकी दृष्टिसे सृजन-पालन-संहार करनेवाले सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता ईश्वरके सांनिध्यमें इनका कर्मजगत्में कार्य चलता रहता है। इनमें कोई-कोई साधक सिद्धि प्राप्त करके ब्रह्माके पदतक पहुँच जाते हैं और मूल परम तत्त्वके अंशावतार विभिन्न ब्रह्माण्डाधिपति सृजनकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु तथा संहारकर्ता रुद्रोंमें कहीं 'ब्रह्मा'का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

इससे उच्चतर या आगे 'भावराज्य' है, वहाँ कर्मके साथ केवल निष्काम भावकी प्रधानता न होकर ईश्वर-प्रीतिसाधक भक्तिकी प्रधानता होती है। भावुक पुरुष इस भावराज्यके क्षेत्रमें भावसाधनाके द्वारा अपने भावानुरूप इष्टदेव परमैश्वर्य-सम्पन्न, स्वशक्तियुक्त भगवत्स्वरूपोंके सांनिध्य और उनके दिव्य लोकोंको प्राप्त करते हैं। इनकी साधनाका फल दिव्य भगवल्लोकोंकी प्राप्ति है। ये भी सर्वथा मायामुक्त होते हैं।

इससे आगे ज्ञानराज्य है। इसमें विचार-प्रधान पुरुष साधन-चतुष्टयादिके द्वारा महावाक्योंका अनुसरण करके विशुद्ध आत्मस्वरूपमें परिनिष्ठित होते हैं। इनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। ये ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं या ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं।

इससे आगे एक महाभावरूप 'भगवद्भाव-राज्य' है। भुक्ति-मुक्ति, कर्म-ज्ञान आदिकी वासनासे शून्य पुरुष ही इस परम 'भावराज्य'के अधिकारी होते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषोंमें भी किन्हीं-किन्हींमें भगवत्प्रेमाङ्कुरका उदय हो जाता है, जिससे वे दिव्य शरीरके द्वारा उपर्युक्त कर्म-भाव-ज्ञान-राज्यसे अतीत भगवद्भाव-राज्यमें प्रवेश करके प्रियतम भगवान्के साथ लीलाविहार करते हैं या उनकी लीलामें सहायक-सेवक होकर उनके सुखमें ही अपने भिन्न स्वरूपको विसर्जितकर नित्य सेवा-रत रहते हैं; परंतु भोग-

मोक्षकी कामना-गन्ध-लेशसे शून्य, सर्वात्मनिवेदनकारी महानुभावोंका ही इसमें प्रवेश होता है, चाहे वे पवित्र त्यागमय प्रेमस्रोतमें बहते हुए सीधे ही यहाँ पहुँच जायँ अथवा उपर्युक्त ज्ञान-राज्यमें ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर किसी महान् कारणसे इस सर्वविलक्षण महाभावरूप परम दुर्लभ राज्यमें प्रवेश प्राप्त करें ।

इस भावराज्यमें नित्य निरन्तर भावमय सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरस-स्वरूप श्रीराधा-कृष्णका भावमय नित्य लीला-विहार होता रहता है । गोपी-प्रेमकी उच्च स्थितिपर पहुँचे हुए गोपीहृदय महापुरुष तथा श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा तथा विविध साधनोंद्वारा यहाँतक पहुँची हुई अन्यान्य गोपाङ्गनाओंका उसमें नित्य सेवा-सहयोग रहता है । इसीको 'गो-लोक' या 'नित्य प्रेमधाम' भी कहते हैं । यह 'भावराज्य' ज्ञानराज्यसे आगेका या उससे उच्च स्तरपर स्थित है । प्रेमी महानुभावोंने तो भगवत्कृपासे, 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णके द्वारा सखा-भक्त अर्जुनके प्रति उपदिष्ट गीतामें भी इसके संकेत प्राप्त किये हैं । कुछ उदाहरण देखिये—तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन किया है । उसमें सर्वत्र व्याप्त सगुण निराकार तथा ज्ञानगम्य ब्रह्मस्वरूपका उपदेश करनेके बाद वे कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

(१३ । १८)

"इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय संक्षेपमें कहे गये । इन क्षेत्र-ज्ञान-ज्ञेयको जानकर मेरा भक्त 'मेरे भाव'को प्राप्त होता है ।"

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

(४ । १०)

"बहुत-से राग-भय-क्रोधसे रहित, ज्ञानरूप तपसे पवित्र, मुझमें तन्मय, मेरे आश्रित पुरुष 'मेरे भाव' को प्राप्त हो चुके हैं ।"

अठारहवें अध्यायमें स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(१८ । ५४-५५)

'ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो शोक करता है न आकाङ्क्षा करता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होकर शोक-कामनासे रहित प्रसन्नात्मा—आनन्दस्वरूप हो जाता है तथा सब भूतोंमें सम हो जाता है; तब वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है । उस भक्तिसे यानी परा ज्ञाननिष्ठासे जैसा जो कुछ मैं हूँ, उस मुझको तत्त्वसे जानकर तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है ।' अभिप्राय यह कि ब्रह्मस्वरूप समदर्शी शोकाकाङ्क्षारहित उच्च स्थितिपर पहुँच जानेपर भी भगवान्‌के 'यः यावान्' स्वरूपका ज्ञान और उस भाव-राज्यमें प्रवेश शेष रह जाता है, जो पराभक्ति—प्रेमाभक्तिसे ही सिद्ध होता है ।

इस पराभक्तिसे भगवान्‌के जिस स्वरूपका ज्ञान होकर जिस भावराज्यकी लीलामें प्रवेश प्राप्त होता है, भगवान्‌का वह स्वरूप भी अद्वय अक्षर ज्ञानतत्त्व ब्रह्मसे (तत्त्वतः एक होनेपर भी) असाधारण विलक्षण है । इसका भी संकेत गीताकी भगवद्वाणीमें स्पष्ट है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७ । ३)

'सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये—तत्त्वज्ञानके लिये प्रयत्न करता है । उन यत्न करते हुए सिद्ध—सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमें कोई एक मुझको तत्त्वसे जानता है ।' यहाँके 'तत्त्वतः वेत्ति' से उपर्युक्त 'तत्त्वतः अभि-जानाति' का और यहाँके 'सिद्धि'से उपर्युक्त श्लोकके 'ब्रह्मभूत'का सर्वथा साम्य है । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानतत्त्व ब्रह्मकी अपेक्षा 'माम्' शब्दके वाच्य भगवान् विलक्षण हैं ।

पंद्रहवें अध्यायमें दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करते हुए भगवान् अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत और 'अक्षर' पुरुषसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' बताते हैं और इसे 'गुह्यतम' कहते हैं। 'अक्षर' क्या है, यह भगवान्के शब्दोंसे ही स्पष्ट है—'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (८ । ३)—परम ब्रह्म अक्षर है।

इससे भी अत्यन्त स्पष्ट भगवान्की उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४ । २७)

'अव्यय ब्रह्म, अमृत, नित्य धर्म और ऐकान्तिक सुख—(ये चारों ब्रह्मके वाचक हैं) की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ।'

इससे सिद्ध है कि ज्ञानराज्यसे यह महा'भावराज्य' विलक्षण है और ज्ञानगम्य ज्ञानतत्त्व 'ब्रह्म' से भगवान् 'श्रीकृष्ण' विलक्षण हैं।

ज्ञानतत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मीभूत महात्मा, जिनकी अज्ञान-ग्रन्थि टूट चुकी है—ऐसे आत्माराम मुनि भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं; क्योंकि भगवान्में ऐसे ही विलक्षण स्वरूपभूत गुण हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भागवत १ । ७ । १०)

इसीसे भगवान् श्रीकृष्णका एक सुन्दर नाम है—'आत्मारामगणाकर्षी', आत्माराम मुनिगणोंको आकर्षित करनेवाले।

कुन्तीदेवीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(श्रीमद्भागवत १ । ८ । २०)

'आप अमलात्मा—विशुद्धहृदय परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेके लिये प्रकट हुए हैं। फिर हम अल्पज्ञ स्त्रियाँ आपको कैसे जान सकती हैं।'

इसीसे ज्ञानी महात्मा पुरुष मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिनिष्ठ रहना चाहते हैं—'मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।' मुक्ति उनके पीछे-पीछे घूमती है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे संसारके मायाबन्धनसे तो सर्वथा मुक्त हैं ही, भगवान्‌के प्रेमबन्धनसे मुक्ति उन्हें कदापि इष्ट नहीं ! ऐसे प्रेमी भक्त जिन भगवान्‌को प्रेमरसास्वादन कराते हैं और स्वयं जिनके मधुरातिमधुर दिव्य प्रेमसुधारसको प्राप्त करते हैं, वे भगवान् निस्संदेह ही सर्वतत्त्वविलक्षण हैं ।

इन भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं श्रीराधारानी—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः ॥

(स्कन्दपुराण)

"श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनके साथ सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं ।" इसी प्रसङ्गमें भगवान्‌की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।

'आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधाजी हैं ।' इन श्रीराधा-माधवका वह भावराज्य अतिशय उज्ज्वल है । वहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है । 'अक्षर कूटस्थ ब्रह्म' जिनकी पद-नख-ज्योति हैं और जो ब्रह्मके आधार हैं, उन परात्पर श्यामसुन्दरका वहाँ लीलाविहार निरन्तर होता रहता है । वह लीलाका महान् मधुर सागर अत्यन्त शान्त होनेपर भी सदा उछलता रहता है । स्वयं नटनागर ही विचित्र मनोहारिणी भावलहरियाँ बनकर खेलते रहते हैं । उस भावराज्यमें ज्ञान-विज्ञान छिपे रहकर रसिकेन्द्र-शिरोमणि रसरूप भगवान् श्यामसुन्दरके द्विधारूप श्रीराधा-माधवका और श्रीराधाकी काय-व्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका मधुरतम लीला-रस-रङ्ग देखते रहते हैं । जो ज्ञानी-विज्ञानी महात्मा इस भावराज्यमें पहुँचते हैं, उनके वे ज्ञान-विज्ञान

यहाँ अपने ही दुर्लभ फलका सङ्ग पाकर परम प्रफुल्लित हो जाते हैं। ज्ञान-विज्ञानके अधिष्ठातृ-देवता सदा अतृप्त ही रहते हैं; क्योंकि उन्हें लीला-रसका पान करनेके लिये कभी अवसर ही नहीं मिलता। पर प्रेममय ज्ञानी पुरुषोंके साथ वे जब यहाँ पहुँचते हैं, तब रसदर्शनके लिये वे छिप जाते हैं और अपने ही परम फल-स्वरूप श्रीराधा-कृष्णकी रसमयी चिन्मय अविरल केवलानन्दरस-सुधा-प्रवाहिणी लीला देख-देखकर अपूर्व अतुलनीय आनन्द लाभ करते और कृतकृत्य होते हैं; ज्ञान-विज्ञानका जीवन यहाँ सार्थक हो जाता है। वे चुपचाप छिपे हुए रस-पान करते रहते हैं, कभी भी प्रकट होकर लीला-रसमें विघ्न नहीं डालते; क्योंकि इस प्रेम-रसमें ज्ञानकी खटाई पड़ते ही यह फट जाता है। वहाँ इसमें अलौकिक लीलाकी अनन्त मधुर तरङ्गें नित्य उठती रहती हैं। यह वही रस है, जो सभी रसोंका उद्गमस्थान नित्य महान् परम मधुर रस है। वस्तुतः निरतिशय रसमय श्रीभगवान् ही यहाँ महाभाव-परिनिष्ठित होकर रसरूपमें भी प्रकट रहते हैं। देवता, भाग्यवान् असुर, किंनर, ऋषि, मुनि, पवित्र तपस्वी, परम पवित्र सिद्ध पुरुष—सभी इसके लिये ललचाते रहते हैं; पर इसे पाना तो दूर रहा, इस मनभावन रसमय भावराज्यको वे देख भी नहीं पाते। कर्म-कुशल कर्मी, समाधिनिष्ठ योगी और छिन्नग्रन्थि ज्ञानी पुरुष इस रसमय भावराज्यकी कल्पना भी नहीं कर पाते, इसका अर्थ ही उनकी समझमें नहीं आता। इसीसे वे इसकी अवहेलना करते हैं। इस भावराज्यमें निवास करनेवाली रसलीला-निरत, रस-सेवाकी जीती-जागती मूर्ति जो परम श्रेष्ठ दिव्य सखी, सहचरी, मञ्जरियाँ हैं, अति श्रद्धाके साथ जो उनकी चरण-रजका सेवन करता है, जो तर्कशून्य साधक अपने रसयुक्त हृदयको भावराज्यके उज्ज्वल भावोंसे भरता रहता है, जो तुच्छ घृणित भोगोंसे और कैवल्य मोक्षसे सदा विरक्त रहता है और जिसका हृदय निरन्तर भावराज्यके आराध्य स्वरूप श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही आसक्त रहता है, वही भाव-राज्यके किसी महान् जनका—किसी मञ्जरीका कृपाकण प्राप्त कर सकता है और वही जन इस परम भावराज्यकी सीमामें प्रवेश कर सकता है।

इसी तत्त्वका स्मरण दिलानेवाला यह पद है—

'कर्म-राज्य'से उच्च स्तरपर सुन्दर 'भाव-राज्य' जगमग।
'तत्त्वज्ञान' उच्चतर उससे, कष्टसाध्य अति 'राज्य' सुभग॥
'परम भाव' का है उससे भी उच्च 'राज्य' अतिशय उज्ज्वल।
होती जहाँ प्रिया-प्रियतमकी लीला मधुर अचिन्त्य अमल॥
जिसकी पद-नख-आभा अक्षर ब्रह्म, ब्रह्मका जो आधार।
उसी परात्परकी लीलाका संतत होता जहाँ विहार॥
सदा उछलता रहता वह लीलाका शान्त मधुर सागर।
विविध भाव-लहरें मनहर बन स्वयं खेलते नट-नागर॥
छिपे ज्ञान-विज्ञान देखते जहाँ मधुर लीला-रस-रङ्ग।
होते परम प्रफुल्लित पाकर अपने दुर्लभ फलका सङ्ग॥
प्रकट नहीं होते, करते वे नहीं कभी लीला-रस-भङ्ग।
उठतीं वहाँ अलौकिक लीलाकी नित मधुर अनन्त तरङ्ग॥
रस वह सभी रसोंका उद्गम, नित्य परम रस मधुर महान्।
महाभाव-परिनिष्ठित नित्य निरतिशय रसमय श्रीभगवान्॥
देव, दनुज, किंनर, ऋषि, मुनि, शुचि तापस, सिद्ध, परमपावन।
ललचाते रहते, मनसे भी देख न पाते मनभावन॥
कर्म-कुशल कर्मी, समाधिरत योगी, छिन्न-ग्रन्थि ज्ञानी।
नहीं कल्पना भी कर पाते, समझ नहीं पाते मानी॥
जो इस भावराज्यके वासी, रस-लीला-रत परम उदार।
सखी, सहचरी, दिव्य मञ्जरी, रस-सेवा-विग्रह साकार॥
उनकी चरणधूलिकी अति श्रद्धासे जो सेवा करता।
तर्कशून्य जो सरस हृदयको उज्ज्वल भावोंसे भरता॥
रहता तुच्छ घृणित भोगोंसे तथा मुक्तिसे सदा विरक्त।
जिसका हृदय निरन्तर रहता राधा-माधव-चरणासक्त॥
भाव-राज्यके जन महानका वही कृपा-कण पा सकता।
वही परम इस भाव-राज्यकी सीमामें जन जा सकता॥

नित्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा और उनके प्रियतम श्रीकृष्णमें तनिक भी भेद नहीं है। पर लीला-रसास्वादनके लिये श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता परमाह्लादिनी श्रीराधा सदा श्रीकृष्णका समाराधन करती रहती हैं और श्रीकृष्ण भी उनका प्रेमाराधन करते रहते हैं। रस-सुधा-सागर ये

श्रीराधा-माधव एक ही तत्त्वमय शरीरके दो लीलास्वरूप बने हुए एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते रहते हैं—

आनँद की अहलादिनि स्यामा अहलादिनि के आनँद स्याम ।
सदा सरबदा जुगल एक मन एक जुगल तन बिलसत धाम ॥

इनमें परकीया-स्वकीया लीला भी वस्तुतः रस-निष्पत्तिके लिये है। इस भेदका आग्रह वस्तुतः श्रीकृष्णके स्वरूपकी विस्मृतिसे ही होता है। श्रीराधा-माधव एक ही सच्चिदानन्दमय वस्तु-तत्त्व हैं; उसमें न स्त्री है न पुरुष। ब्रह्मवैवर्तपुराण और देवीभागवतमें आया है कि इच्छामय, सर्वरूपमय, सर्वकारणकरण, परम शान्त, परम कमनीय, नव-सजल-जलद-श्याम परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके वामभागसे मूल प्रकृतिरूपमें श्रीराधाजी प्रकट हुईं। इन्हीं राधाजीके द्विविध प्रकाशमेंसे एकसे लक्ष्मीका प्राकट्य हुआ। अतएव श्रीकृष्णाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीराधाजी नित्य श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। श्रीदेवी-भागवतमें श्रीराधाजीके मन्त्र, उपासना, स्वरूपका और भगवान् नारायणके द्वारा उनकी स्तुतिका वर्णन है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

भगवती श्रीराधाका वाञ्छाचिन्तामणि सिद्ध मन्त्र है—'ॐ ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा'। असंख्य मुख और असंख्य जिह्वावाले भी इस मन्त्रका माहात्म्य वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मूल प्रकृति श्रीराधाके आदेशसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने भक्तिपूर्वक इस मन्त्रका जप किया था। फिर, उन्होंने विष्णुको, विष्णुने विराट् ब्रह्माको, ब्रह्माने धर्मको और धर्मने मुझ नारायणको इसका उपदेश किया। तबसे मैं निरन्तर इस मन्त्रका जप करता हूँ, इसीसे ऋषिगण मेरा सम्मान करते हैं। ब्रह्मा आदि समस्त देवता नित्य प्रसन्नचित्तसे श्रीराधाकी उपासना करते हैं।

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना ।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम् ॥
कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः ।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति ॥
राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद् राधेति कीर्तिता ॥

(श्रीदेवीभागवत ९ । ५० । १६ से १८)



श्रीगाथा पृष्ठ १३

"क्योंकि श्रीराधाकी पूजा किये बिना मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाके लिये अनधिकारी माना जाता है; इसलिये वैष्णवमात्रका कर्तव्य है कि वे श्रीराधाकी पूजा अवश्य करें। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्राणाधिका देवी हैं। कारण, भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये नित्य रासेश्वरी भगवान्के रासकी नित्य स्वामिनी हैं। इनके बिना भगवान् रह ही नहीं सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करती हैं, इसीसे ये 'राधा' नामसे कही जाती हैं।"

श्रीराधाका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

'श्रीराधाका वर्ण श्वेत चम्पाकुसुमके सदृश है। मुख शारदीय शशिका गर्व हरण करता है, श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमाओंकी कान्तिके सदृश झलमल करता है। नेत्र शरद्-ऋतुके खिले हुए कमलके समान हैं। अरुण अधर बिम्बफलके सदृश, स्थूल श्रोणि और क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे अलंकृत हैं। कुन्द-कुसुमके सदृश इनकी स्वच्छ दन्तपंक्ति सुशोभित है। दिव्य नील पट्टवस्त्र इन्होंने धारण कर रखा है। इनके प्रसन्न मुखारविन्दपर मृदु मुसुकानकी छटा छायी है। उन्नत उरोज हैं। दिव्य रत्नमय विविध आभूषणोंसे विभूषित ये देवी नित्य बालारूपमें अल्पवयींय प्रतीत होती हैं। इनके कुञ्चित केश मल्लिका और मालतीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुकुमार हैं। इनका श्रीविग्रह मानो शोभा—श्रीका लहराता हुआ अनन्त सागर है। ये शान्तस्वरूपा शाश्वत-यौवना राधाजी रासमण्डलमें समस्त गोपाङ्गनाओंकी अधीश्वरीके रूपमें रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। वेद इन श्रीकृष्णप्राणाधिका परमेश्वरीकी महिमाका गान करते हैं।'

तदनन्तर पूजाविधान बतलाकर श्रीनारायण कहते हैं कि 'जो बुद्धिमान् पुरुष भगवती श्रीराधाका जन्म-महोत्सव मनाता है, उसे रासेश्वरी श्रीराधा अपना सांनिध्य प्रदान करती हैं—

× × × राधाजन्मोत्सवं बुधः ।
कुरुते तस्य सांनिध्यं दद्याद् रासेश्वरी परा ॥

फिर श्रीनारायण 'राधास्तवन' करते हैं—

नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनि ।
रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये ॥
नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद करुणार्णवे ।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदाम्बुजे ॥
नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि ।
गङ्गापद्मावतीरूपे षष्ठि मङ्गलचण्डिके ॥
नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि ।
नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि ॥
मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम् ।
संसारसागरादस्मादुद्धराम्ब ! दयां कुरु ॥

(श्रीमद्देवीभागवत ९ । ५० । ४६ से ५०)

इस स्तोत्रका माहात्म्य वे यों बतलाते हैं—'जो पुरुष त्रिकाल संध्याके समय भगवती श्रीराधाका स्मरण करते हुए उनके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके लिये कभी कोई भी वस्तु किंचित् मात्र भी अलभ्य नहीं रह सकती। और आयु समाप्त होनेपर शरीरका त्याग करके वह बड़भागी पुरुष गोलोकधाम—रासमण्डलमें नित्य निवास करता है। यह परम रहस्य जिस किसीके सामने नहीं कहना चाहिये।'

यही श्रीकृष्णस्वरूपिणी श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधा वृषभानुपुरमें माता कीर्तिदादेवीके यहाँ महान् पुण्यमय मधुर रूपमें प्रकट होकर नित्य अभिन्न-स्वरूप श्रीकृष्णके साथ लीलाविहार करती हैं। इनके लीलासागरकी विविध ऋजु-कुटिल तरङ्गें हैं। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव—ये सभी इस लीला-भाव-तरङ्गोंके ही स्वरूप हैं। इनकी पूर्ण परिणतिका नाम ही 'महाभाव' है। और श्रीराधा ही 'महाभावस्वरूपा' हैं। उनमें पूर्वोक्त सभी भावोंका एकत्र अन्तर्भाव है। लीलामें समय-समयपर सभी भावोंका लीला-क्षेत्रानुसार प्रकाश होता है। कभी वे अत्यन्त मानिनी बनकर श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त विनयपूर्ण मानभङ्ग-लीला कराती हैं, तो कभी अपना नितान्त दैन्य प्रकट करती हुई (ललिताजीसे) कहती हैं—

सखी री हौं अवगुन की खान ।
तन गोरी, मन कारी भारी, पातक पूरन प्रान ॥

नहीं त्याग रंचक मो मन में, भर्यौ अमित अभिमान ।
नहीं प्रेम कौ लेस सेस, नित निज सुख कौ ही ध्यान ॥
जग के दुःख-अभाव सतावैं, हो तन पीड़ा-भान ।
तब तेइ दुख दृग स्त्रवै अश्रुजल, नहिं कछु प्रेम निदान ॥
तिन दुख-अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान ।
करौं कपट, हिय भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्ञान ॥
भोरे प्रियतम मम, बिमुग्ध बन करैं बिमल गुन गान ।
अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान ॥
तुमहू सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं भरौं गुमान ।
करौं अनेक छद्म तेहि छन हौं, रचौं प्रपंच बितान ॥
स्याम सरलचित ठगौं दिवस निसि हौं करि बिबिध बिधान ।
धृग जीवन मेरौ यह कलुषित, धृग यह मिथ्या मान ॥

'री सखी ! मैं अवगुणोंकी—दोषोंकी खान हूँ । शरीरसे गोरी हूँ, परंतु मनसे बड़ी काली हूँ; मेरे प्राण पातकोंसे पूर्ण हैं । मेरे मनमें रंच भर भी त्याग नहीं है, अपार अभिमान भरा है । प्रेमका तो लेश भी शेष नहीं है, नित्य-निरन्तर अपने सुखका ही ध्यान है । जब जगत्‌के दुःख-अभाव सताते हैं और शरीरमें पीड़ाकी अनुभूति होती है, तब उस दुःखके कारण आँखोंसे अश्रुजल बहने लगता है; उसमें तनिक भी प्रेमका कारण नहीं है । पर उन दुःखके आँसुओंको मैं महान् पवित्र प्रेमके आँसू बनाकर प्रेम प्रकट करती हूँ । हृदयके भावको छिपाकर कपट करती हूँ और जान-बूझकर स्वाँग रचती हूँ । मेरे भोले-भाले प्रियतम मुझे परम प्रेमिका मानकर विमुग्ध हो मेरा निर्मल गुणगान करते हैं और मेरे प्रेमकी अतिशय प्रशंसा करते हैं । तुम सब भी मिलकर मेरी प्रशंसा करती हो, तब मैं अभिमानसे भर जाती हूँ और उस अपने मिथ्या प्रेमस्वरूपकी रक्षाके लिये मैं अनेक छल-छद्म और प्रपञ्चोंका विस्तार करती हूँ । इस प्रकार मैं सरल-हृदय श्यामसुन्दरको विविध विधियोंसे दिन-रात ठगती रहती हूँ । धिक्कार है मेरे इस कलुषित जीवनको और धिक्कार है मेरे इस मिथ्या मानको !'

× × ×

श्रीराधा कभी सौन्दर्याभिमानकी लीला करती हैं तो कभी कहती हैं—

'श्यामसुन्दर मुझ सद्गुणहीना कुरूपापर क्यों अपने सुखका बलिदान कर रहे हैं ?' और उनके मथुरा पधार जानेपर उन्हें किसी उनके योग्य भाग्यशालिनीकी प्राप्तिसे सुखी होनेकी कल्पना करके प्रसन्न होती हैं ।

× × ×

राधाजी कभी वियोगका अत्यन्त दारुण अनुभव करके दहाड़ मारकर रोती हैं, कभी मिलन-सुखका महान् आनन्द प्राप्त करती हैं और कभी प्रत्यक्ष मिलनमें ही वियोगका अनुभव करके 'हा श्यामसुन्दर, हा प्राणप्रियतम !' पुकारने लगती हैं एवं कभी-कभी अपनेको ही श्यामरूप मानकर 'हा राधे', 'हा राधे' की करुण ध्वनि कर उठती हैं । एक बार निकुञ्जसे लौटनेपर उन्हें ऐसा भान हुआ कि श्यामसुन्दर कहीं चले गये हैं । इसलिये वे वहीं वनमें वनधातुको जलमें घोलकर दाड़िमकी छोटी-सी पतली डालीको कलम बनाकर प्रियतमको पत्र लिखने बैठीं—इतनेमें ही अपने-आपको भूल गयीं और 'हा राधे ! तुम कहाँ चली गयीं !' पुकार उठीं । फिर राधाको पत्र लिखा । पीछे अपनी ही वाणीसे उन्होंने प्रिय सखी ललिताको अपनी यह भूल बतलायी---

सखी ! यह कैसी भूल भई ।
लिखन लगी पाती पिय कौं, लै दाड़िम कलम नई ॥
भूली निज सरूप हौं तुरत हि बन घनस्याम गई ।
बिरह बिकल बोली पुकार—'हा राधे' कितै गई ?
पाती लिखी—'प्रिये ! हृदयेस्वरि ! सुमधुर सु-रसमई ।
प्रानाधिके ! बेगि आवौ तुम नेह-कलह-बिजई ॥
ठाढ़े भए आय मनमोहन, मो तन दृष्टि दई ।
हँसे ठठाय, चेतना जागी, हौं सरमाय गई ॥

× × ×

गोपी-प्रेमका स्वरूप—स्वभाव है—श्रीराधा-माधवका सुख । वे श्रीराधा-माधवके सुखमें ही सुखका अनुभव करती हैं, और नित्य-निरन्तर उनके सुख-

संयोग-विधानमें ही लगी रहती हैं। एवं श्रीकृष्णप्राणा श्रीराधाजीका जीवन है श्रीकृष्णसुखमय। खाने-पीनेतकमें स्वाद-सुखकी अनुभूति भी उन्हें तभी होती है, जब उससे श्रीकृष्णको सुख होता है। वे 'अहं'को सर्वथा भुलाकर केवल श्रीकृष्णसुखकी ही चिन्ता करती रहती हैं---और प्रेम-स्वभावानुसार अपनेमें दोषोंका तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें गुणोंके दर्शन करती हुई कहती हैं---

क्षण भर मुझे उदास देख जो कभी प्राणप्रिय ! पाते।
सारा मोद भूल तुम प्यारे ! अति व्याकुल हो जाते॥
कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते।
तब तुम अति विषण्ण हो प्यारे ! आँसू अमित बहाते॥
कभी म्लानताकी छाया यदि मेरे मुखपर आती।
लगती देख धड़कने प्रिय ! तत्काल तुम्हारी छाती॥
मेरे मुख मुसकान देख तुमको अतिशय सुख होता।
हो आनन्दमग्न अति मन तब सारी सुध-बुध खोता॥
मुझको सुखी देखने-करनेको ही प्रतिपल प्यारे।
होते पुण्य विचार मधुर, तव कार्य त्यागमय सारे॥
मेरा सुख-दुख तनिक तुम्हें अतिशय है सुख-दुख देता।
मेरा मन नित इन पावन भावोंसे अति सुख लेता॥
दिया अमित, दे रहे अपरिमित, देते नित्य रहोगे।
सहे सदा अपमान-अवज्ञा, आगे सदा सहोगे॥
किया न प्यार कभी सच्चा, मैंने निज सुख ही देखा।
निज सुख हेतु रुलाया, कभी हँसाया, किया न लेखा॥
दे न सकी मैं तुम्हें कभी कुछ सुख-सामग्री कोई।
निज मन-इन्द्रिय-तृप्ति हेतु मैंने सब आयुष् खोई॥
बुरा मानना, दोष देखना, पर तुमने नहिं जाना।
मेरे स्वार्थसने कामोंको सदा प्रेममय माना॥
सत्सुखकारक विमल प्रेमको मैंने नित ठुकराया।
तब भी प्रेम तुम्हारा मैंने नित बढ़ता ही पाया॥
तुम-से तुम ही हो, अग-जगमें तुलना नहीं तुम्हारी।
मेरा अति सौभाग्य यही, जो मान रहे तुम प्यारी॥

'प्राणप्रियतम ! मुझे क्षणभरके लिये यदि कभी तुम उदास देख पाते हो तो प्रियतम ! सारा आनन्द भूलकर तुम अत्यन्त व्याकुल हो उठते हो। कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते हैं, तब तुम अत्यन्त उदास होकर आँखोंसे अपार आँसू बहाने लगते हो। कभी यदि मेरे मुखपर तनिक-सी म्लानताकी छाया भी आ जाती है तो उसे देखकर उसी क्षण तुम्हारी छाती धड़कने लगती है। कभी मेरे मुखपर तनिक मुसकान देख लेते हो तो तुमको अतिशय सुख होता है और तुम्हारा मन अत्यन्त आनन्दमग्न होकर सारी सुध-बुध खो देता है। मुझको सुखी बनाने और सुखी देखनेके लिये ही प्रियतम ! प्रतिपल तुम्हारे मधुर पवित्र विचार और त्यागमय समस्त कार्य होते हैं। मेरे तनिक-से सुख-दुःख तुम्हें अतिशय सुख-दुःख देते हैं। तुम्हारे इन पवित्र भावोंको ग्रहण करके मेरा मन निरन्तर अत्यन्त सुखका अनुभव करता है।

'तुमने मुझको अपरिमित दिया, अपरिमित दे रहे हो और आगे भी सदा अपरिमित देते ही रहोगे। तुम मेरे द्वारा सदा ही अपमान-अवज्ञा सहते आये हो और भविष्यमें भी सदा सहते ही रहोगे। मैंने कभी सच्चा प्रेम नहीं किया, केवल अपना ही सुख देखा। अपने ही सुखके लिये तुम्हें कभी रुलाया, कभी हँसाया। कुछ भी हिसाब नहीं रखा। मैं तुम्हें कभी कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं दे सकी। मैंने अपनी सारी आयु अपने मन-इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये ही खो दी। पर तुमने तो कभी बुरा मानना, मेरे दोष देखना जाना ही नहीं। और मेरे स्वार्थपूर्ण कार्योंको सदा प्रेममय ही माना। मुझे सुखी करनेवाले तुम्हारे निर्मल प्रेमको मैंने सदा ठुकराया, तब भी अपने प्रति तुम्हारे प्रेमको मैंने निरन्तर बढ़ता ही पाया। प्रियतम ! इस अग-जगमें तुम-सरीखे एक तुम्हीं हो ! तुम्हारी कहीं तुलना नहीं है। मेरा यही अत्यन्त सौभाग्य है, जो तुम मुझे अपनी प्रिया मान रहे हो !'

× × ×

इसी प्रकार श्रीकृष्ण सदा अपने दोष देखते और श्रीराधाकी असाधारण

गुणावलिपर विमुग्ध होकर उनके गुण-गानमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। जगत्के प्रेमी सिद्ध महापुरुषोंके प्रेमका निर्मल उच्च आदर्श दिखलाते हुए तथा साधन एवं तत्त्व बतलाते हुए वे श्रीराधाजीसे कहते हैं—

प्रिये ! तुम्हारा-मेरा यह अति निर्मल परम प्रेम-सम्बन्ध।
सदा शुद्ध आनन्दरूप है, इसमें नहीं काम-दुर्गन्ध॥
कबसे है, कुछ पता नहीं, पर जाता नित अनन्तकी ओर।
पूर्ण समर्पण किसका किसमें, कहीं नहीं मिलता कुछ छोर॥
सदा एक, पर सदा बने दो करते लीला-रस-आस्वाद।
कभी न बासी होता रस यह, कभी नहीं होता विस्वाद॥
नित्य नवीन मधुर लीला-रस भी न भिन्न, पर रहता भिन्न।
नव-नव रस सुख सर्जन करता, कभी न होने देता खिन्न॥
परम सुहृद, धन परम, परम आत्मीय, परम प्रेमास्पद रूप।
हम दोनों दोनोंके हैं नित, बने रहेंगे नित्य अनूप॥
कहते नहीं, जनाते कुछ भी, कभी परस्पर भी यह बात।
रहते बसे हृदयमें दोनों, दोनोंके पुनीत अवदात॥
नहीं किसीसे लेन-देन कुछ, जगमें नहीं किसीसे काम।
नहीं कभी कुछ इन्द्रिय-सुखकी कलुष कामना अपगति-धाम॥
नहीं कर्मका कहीं प्रयोजन, नहीं ज्ञानका तत्त्वादेश।
नहीं भक्ति-साधन विधिसंगत, नहीं योग अष्टाङ्ग विशेष॥
नहीं मुक्तिको स्थान कहीं भी, नहीं बन्धभयका लवलेश।
आत्मरूप सब हुआ प्रेमसागरमें, कुछ भी बचा न शेष॥
प्रेम-उदधि यह तल गभीरमें रहता शान्त, अडोल, अतोल।
पर उसमें उन्मुक्त उठा करते हैं नित्य अमित हिल्लोल॥
उठती वहीं असंख्यरूपमें ऊपर उसमें विपुल तरङ्ग।
पर उन तरल तरङ्गोंमें भी उसकी शान्ति न होती भङ्ग॥
अडिग, शान्त, अक्षुब्ध सदा गम्भीर सुधामय प्रेम-समुद्र।
रहता नित्य उच्छ्वलित, नित्य तरंगित, नृत्य-निरत अक्षुद्र॥
शान्त नित्य नव-नर्तनमय वह परम मधुर रसनिधि सविशेष।
लहराता रहता अनन्त वह नित्य हमारे शुचि हृद्देश॥
उसकी विविध तरंगें ही करतीं नित नव लीला-उन्मेष।
वही हमारा जीवन है, है वही हमारा शेषी-शेष॥

कौन निर्वचन कर सकता, जब परमहंस मुनि-मन असमर्थ।
भोक्ता-भोग्यरहित, विचित्र अति गति, कहना-सुनना सब व्यर्थ ॥

'प्रियतम! तुम्हारा और मेरा यह अत्यन्त निर्मल प्रेमसम्बन्ध सदा विशुद्ध आनन्दरूप है, इसमें काम-दुर्गन्ध है ही नहीं। यह कबसे है, कुछ पता नहीं; परंतु यह नित्य-निरन्तर जा रहा है अनन्तकी ओर। किसका किसमें पूर्ण समर्पण है, इसका कहीं कुछ भी पता नहीं लगता। हम सदा एक हैं, परंतु सदा दो बने हुए लीला-रसका आस्वादन करते हैं। यह रस न कभी बासी होता है न इसका स्वाद ही बिगड़ता है। यह नित्य नवीन मधुर रहता है। यह लीलारस भी हमारे स्वरूपसे भिन्न नहीं है, पर भिन्न रहता हुआ ही सदा नये-नये रस-सुखकी सृष्टि करता रहता है। कभी खिन्नता नहीं आने देता। हम दोनों ही दोनोंके नित्य अनुपम परम सुहृद्, परम धन, परम आत्मीय और परम प्रेमास्पद हैं। पर न तो कभी परस्परमें भी इस बातको कहते हैं और न कुछ जनाते ही हैं। हम दोनों ही दोनोंके हृदयमें पवित्र उज्ज्वल रूपमें सदा बसे रहते हैं। न किसी अन्यसे हमारा कुछ भी लेन-देन है न जगत्‌में किसीसे कुछ काम ही है। और न दुर्गतिके धामरूप इन्द्रिय-सुखकी ही कभी कुछ कलुषित कामना होती है।

'वस्तुतः न तो हमारा कहीं 'कर्म'से कुछ प्रयोजन है, न हमपर तत्त्वज्ञानका ही कोई आदेश है, न हममें विधिसंगत भक्ति-साधन है और न अष्टाङ्ग योग-विशेष है। यहाँतक कि मुक्तिके लिये भी कहीं हमारे जीवनमें स्थान नहीं है तथा बन्धनके भयका भी लवलेश नहीं है। सब कुछ प्रेम-सागरने आत्मसात् कर लिया है। कुछ शेष बचा ही नहीं।

'वह प्रेम-समुद्र तलमें सदा ही अतुलनीय, गम्भीर, शान्त और अचल रहता है; पर उसमें उन्मुक्त रूपसे नित्य अपरिमित हिलोर उठते रहते हैं। वहाँ ऊपर असंख्य विपुल तरङ्गें नाचती रहती हैं, परंतु उन तरुण तरङ्गावलियोंसे उसके तलकी शान्ति कभी भङ्ग नहीं होती। यह सुधामय प्रेम-समुद्र सदा ही अचल, अक्षुब्ध और शान्त बना रहता है; पर साथ ही यह महान् नित्य

उच्छलता, नित्य लहराना और नित्य नाचना भी रहता है। यह शान्त और नित्य नवरूपसे नृत्यरत, विशेषरूपसे परम मधुर अनन्त रस-समुद्र नित्य-निरन्तर हमारे पवित्र हृदय-देशमें लहराता रहता है। इसकी विविध तरङ्गें ही नित्य नवीन लीला-रसका उन्मेष करती हैं। हम परस्पर प्रेमी-प्रेमास्पद प्रिया-प्रियतमका यही जीवन है—यही हमारा शेष है और यही शेषी है। जब परमहंस मुनियोंका मन भी असमर्थ है, तब इस भोक्ता-भोग्य-रहित, अत्यन्त विचित्र गतियुक्त हमारे स्वरूपका तथा इस प्रेम-रसका निर्वचन कौन कर सकता है ? यहाँ कुछ कहना-सुनना सभी व्यर्थ है।'

श्रीराधा-माधवकी मधुर लीला अनन्त है। जिन भाग्यवानोंके मानस नेत्रोंमें इनका उदय होता है, वे ही इनके आनन्दका अनुभव करते हैं। अनिर्वचनीयका निर्वचन तो असम्भव ही है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'

परंतु उपर्युक्त विवेचनसे श्रीराधा-माधवके तत्त्व-स्वरूपकी, साधनाकी कुछ बातें समझमें आयी होंगी। इसी व्याजसे श्रीराधा-माधवका कुछ चिन्तन बन गया। यही इस तुच्छ प्राणीका परम सौभाग्य है। आज रस-प्रेम-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दरकी अभिन्नरूपा श्रीराधाका यह प्राकट्यमहामहोत्सव है। हमारा परम सौभाग्य है कि इस सुअवसरपर श्रीराधाके चरण-स्मरणका यह शुभ संयोग उपस्थित हुआ है। आइये, अन्तमें हम सब मिलकर प्रार्थना करें—

राधाजू हम पै आजु ढरौ।
निज, निज प्रीतम की पद-रज-रति हमैं प्रदान करौ॥
बिषम बिषय रस की सब आसा-ममता तुरत हरौ।
भुक्ति-मुक्ति की सकल कामना सत्वर नास करौ॥
निज चाकर-चाकर-चाकर की सेवा दान करौ।
राखौ सदा निकुंज निभृत में, झाडूदार बरौ॥

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय ! जय ! जय !!!



श्रीराधा-तत्त्व एवं राधास्वरूपकी नितान्त दुर्गमता

(सं० २०१७ वि० के राधाष्टमी-महोत्सवपर दिया हुआ प्रवचन)

अमलकमलकान्ति नीलवस्त्रां सुकेशीं
शशधरसमवक्त्रां खञ्जनाक्षीं मनोज्ञाम्।
स्तनयुगगतमुक्तादामदीप्तां किशोरीं
व्रजपतिसुतकान्तां राधिकामाश्रयेऽहम्॥

स्मेरां गोरोचनाभां स्फुरदरुणपटप्रान्तक्लृप्तावगुण्ठां
रम्यां वेशेन वेणीकृतचिकुरघटालम्बिपद्मां किशोरीम्।
तर्जन्यङ्गुष्ठयुक्तां हरिमुखकमले मुञ्चतीं नागवल्लीं
पूगां कर्णायताक्षीं त्रिजगति मधुरां राधिकां भावयामि॥

हेमाभां द्विभुजां वराभयकरां नीलाम्बरेणावृतां
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलाम्।
लोलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं बिम्बाधरां राधिकां
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्याङ्गभूषां भजे॥

नवीनां हेमगौराङ्गीं प्रवरेन्दीवराम्बराम्।
वृषभानुसुतां वन्दे कृष्णकान्ताशिरोमणिम्॥

महाभावस्वरूपा त्वं कृष्णप्रियावरीयसी।
प्रेमभक्तिप्रदे देवि! राधिके! त्वां नमाम्यहम्॥

आज श्रीराधाष्टमी-महोत्सव है, अतएव श्रीराधाका किंचित् स्मरण करके जीवनको धन्य करनेके लिये उन्हींकी पवित्र प्रेरणाके अनुसार कुछ

शब्दोंका संकलन किया जा रहा है। श्रीराधातत्त्व तथा राधास्वरूप नितान्त दुर्गम है। अथाह समुद्र है। इसमें डुबकी लगाकर थाह पानेकी चेष्टा करनेवाले बड़े-बड़े गम्भीर तत्त्वज्ञ योगी महापुरुष भी अपनेको सर्वथा असमर्थ पाकर निराश बाहर निकल आते हैं, फिर विषयविलास-विभ्रम-रत मोहावृत इन्द्रियासक्त मनुष्यके लिये इसका सर्वथा अगम्य तथा दुर्लभ होना तो स्वाभाविक है।

विशुद्ध कर्मराज्य, भक्ति-(साधनरूप भाव)-राज्य और ज्ञानराज्यके परेका जो अचिन्त्य भावराज्य या प्रेमराज्य है, जिसमें अन्य किसी भावका संश्लेष भी नहीं है तथा न जिसमें भोग-मोक्षकी कामना-गन्ध-लेशयुक्त किसी भी उच्च-से-उच्च स्तरपर पहुँचे हुए देवाधिदेव या ऋषि-मुनिका ही प्रवेश है, वह श्रीराधा-माधवका प्रेमधाम या प्रेमस्वरूप है। यहींपर अव्यय ब्रह्म, दिव्य अमृत, नित्य प्रेम-धर्म और ऐकान्तिक सुखके प्रतिष्ठारूप पूर्णपुरुषोत्तम आत्माराम श्रीकृष्ण, जिनकी आत्मा श्रीराधा हैं और जो निरन्तर उनमें रमण करनेके कारण ही 'आत्माराम' कहलाते हैं सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरसविग्रह अपनी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिकाके साथ नित्य-लीलाविहार करते हैं। श्रीराधा-माधवके इस सर्वथा अलौकिक अतिशय उज्ज्वल भाव-राज्यमें नित्य 'एक', पर नित्य 'दो' बने हुए प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीलासागरकी विविध भावलहरियाँ नित्य नव-नव रूपमें लहराती रहती हैं। इस परम रसधाममें ही निरतिशय रसमय, रसस्वरूप, दिव्य रसिकेन्द्रशिरोमणि भगवान् श्यामसुन्दरके द्विधारूप श्रीराधा-माधव तथा श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंकी, जो भुक्ति-मुक्तिके कल्पना-क्षेत्रसे अतीत, 'अहं'के मङ्गलकी भावनासे रहित हैं, नित्य निर्मल लीला-रस-सुधा-तरङ्गिणीका सतत प्रवाह बहता रहता है।

इसी कर्म-भाव-ज्ञान-राज्यसे अतीत विशुद्धतम भगवद्भाव या विशुद्ध प्रेमराज्यका इस भूमिपर अवतरण गत वैवस्वतीय मन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं

चतुर्युगीके द्वापरमें हुआ था—जिसमें, अक्षर कूटस्थ ब्रह्म जिनकी पदनख-ज्योति है और जो ब्रह्मके आधार हैं, उन परात्पर श्यामसुन्दर स्वयं भगवान्‌ने अपनी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिका तथा उनकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ अवतरित होकर पृथ्वी तथा पृथ्वीवासी जीवोंको धन्य किया था। आज उन्हीं 'आत्माराम' भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा श्रीराधिकाजीका दिव्य प्राकट्य-महोत्सव है। अनन्त सच्चिदानन्द-घन विग्रहको आनन्द प्रदान करनेवाली, परब्रह्मैकनिष्ठ परमहंस अमलात्मा मुनियोंके मनोंको आकर्षित करनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका भी अपनी सौन्दर्य-सद्‌गुण-माधुरीसे नित्य आकर्षण करनेवाली, कोटि-कोटि मन्मथ-मन्मथ सुरासुर-मुनिजन-मन-मोहन विश्वविमोहन मोहनके अप्राकृत मनको भी मथित करनेवाली, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरेश्वर भगवान्‌को उनकी सारी भगवत्ताकी विस्मृति करवाकर नित्य-निरन्तर अपने पवित्रतम मधुरतम आनन्दचिन्मय प्रेम-रस-सुधापानमें प्रमत्त रखनेवाली भगवान् श्रीकृष्णकी ही अपनी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानीकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है। श्रीश्यामसुन्दर और श्रीराधारानी नित्य एक ही तत्त्वके दो नित्य रूप हैं। वहाँ कोई भी भेद नहीं है। 'ना सो रमण ना हम रमणी'—न वहाँ स्त्री-पुरुष-भेद है। तथापि श्रीराधाजी नित्य-निरन्तर अपने प्राणप्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी भावमयी सर्वात्म-समर्पणमयी तथा दिव्यतम परम त्यागमयी आराधनामें लगी रहती हैं, और श्यामसुन्दर तो श्रीराधिकाजीको अपनी आत्मा अथवा अपने जीवनकी मूल रक्षानिधि ही मानते हैं। यद्यपि श्रीराधाजी श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न हैं और उनमें वस्तुतः परात्पर भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके ही दिव्य गुणोंका प्राकट्य है, फिर भी विशुद्ध प्रेमराज्यमें कैसे क्या लक्षण होते हैं, प्रेमीकी कितनी, कैसी त्यागमयी जीवनधारा होती है एवं प्रेमीके साथ प्रेमास्पदके कैसे भाव-व्यवहार होते हैं—इसका एक आदर्श दिखाते हुए श्रीश्यामसुन्दर राधारानीसे कहते हैं—

'प्रियतमे! मेरे मनसे तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका कभी विराम होता ही नहीं। स्मृति ही क्यों, वस्तुतः तुम्हारी परम ललाम माधुरी मूर्ति निरन्तर मुझमें मिली ही रहती है। तुम्हारे त्यागका क्या वर्णन किया जाय। मुझे अपना बनानेके लिये तुमने बड़ा ही विलक्षण आत्यन्तिक त्याग

किया है । (यह त्याग ही परम प्रेमास्पद्के रूपमें मुझे सदा अपने वशमें कर रखनेका परम साधन है ।) तुमने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयमें भी केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम किया । देनेपर भी तुमने तनिक भी जागतिक सुख, वैभव तथा सौभाग्य कभी स्वीकार नहीं किया । दिव्यलोक तथा कैवल्य मुक्तिके लिये भी तुमने सदा अनुपम वैराग्य ही रक्खा। परम विलक्षणता तो यह है कि उस विलक्षण पवित्र भोग-मोक्ष-वैराग्यमें भी तुमने जरा भी राग नहीं रक्खा, उस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर राग रक्खा । तुम्हारे मनमें न भोगासक्ति रही, न वैराग्यासक्ति । तुमने भोग और त्याग दोनोंका त्याग करके मुझमें अनन्य अनुराग किया । (यह भोग और त्याग दोनोंका त्याग ही 'राधाभाव'का स्वरूप है ।)

प्रिये ! तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका होता नहीं विराम ।
सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी रहती मुझमें भिर्ली ललाम ॥
मुझे बनानेको अपना अति तुमने किया अनोखा त्याग ।
जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्यमें रक्खा मुझमें ही अनुराग ॥
नहीं लिया देनेपर भी कुछ जगका सुख-वैभव-सौभाग्य ।
दिव्यलोक, कैवल्य मुक्तिमें भी रक्खा अनुपम वैराग्य ॥
फिर उस शुचि वैराग्य विलक्षणमें भी नहीं रखा कुछ राग ।
उसकी भी परवाह न की, करके मुझमें विशुद्ध मधु राग ॥
नहीं तुम्हारे मनमें भोगासक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति ।
भोग-त्याग कर सभी त्याग, की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति ॥

इसीसे राधिके ! मैं तुम्हारा पवित्र सेवक सदा ही सत्य-सत्य ' तुम्हारा ऋणी बन गया हूँ । प्रियतमे ! तुम निरन्तर मेरे बाहर-भीतर बसी रहती हो । मैं रसमय—रसस्वरूप हूँ, पर तुम्हारे विशुद्ध प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये सदा ही समस्त श्रुति-मर्यादाओंको भूलकर (कर्मजगत्की सारी शृङ्खलाओंको तोड़कर, भगवत्ताको भूलकर) लालायित रहता हूँ । प्रिये ! स्वरूपतः मैं निष्काम भी तुम्हारे रसके लिये सहज ही सकाम बना रहता हूँ, सहज ही तुम्हारे रसका लोभी रहता हूँ और निरन्तर रस-रत रहता हूँ ।

जिसमें (अपने सुखके लिये) भोग-मोक्षकी शुद्र कामनाका भी

लेशमात्र नहीं रहता, वही परम मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित किया करता है। तुम तो अत्यन्त धन्य हो ही, पर तुम्हारी व्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य विशुद्ध मधुर रसका अनन्त समुद्र सदा लहराता रहता है—

बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं, बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहती बसी प्रियतमे ! तुम मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥
रसमय मैं अति सरस तुम्हारा निर्मल रस चखनेके हेतु।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़ मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु॥
प्रिये ! तुम्हारे लिये सहज बन रहता मैं कामी, निष्काम।
सहज तुम्हारे रसका लोभी मैं रस-रत रहता अविराम॥
भोग-मोक्षकी शुद्ध कामनाका भी जिसमें रहा न लेश।
वही मधुर रस निर्मल मुझको आकर्षित करता सविशेष॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूहसरूपा गोपीगण भी धन्य।
जिनमें भरा समुद्र इसी रसका लहराता नित्य अनन्य॥

नित्य श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधिकाजीने महान् सौभाग्यशाली वृषभानुपुरमें परम पावन पुण्यमय सौन्दर्य-माधुर्यनिधिरूपमें प्रकट होकर अपने अभिन्न-स्वरूप मधुरतम श्रीश्यामसुन्दरके साथ अपनी कायव्यूहरूपा श्रीगोपदेवियोंको साथ रखकर जो दिव्य लीलाएँ कीं, उनको ठीक यथार्थरूपसे यथासाध्य समझकर स्मरण करनेपर जगत्के समस्त दुर्गुण-दुर्विचारोंका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। भोगासक्ति, भोगकामना, भोगवासना, इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा, जागतिक धन-वैभव-पद-अधिकार, यश-कीर्ति आदिके मनोरथ; सब प्रकारके लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंकी, परिस्थितियोंकी प्राप्ति-लालसा, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, अभिमान, वैर, हिंसा; भोग-सुख, स्वर्गसुख, उत्तमलोक तथा सद्गतिकी तृष्णा; साधनाभिमान, भक्त्यभिमान, ज्ञानाभिमान आदि समस्त प्रेमविघ्न सदाके लिये मर जाते हैं और पवित्रतम भावसे केवल मधुरतम भगवत्सङ्गकी ही लालसा जग उठती है। और भगवान्का ही नित्य संस्पर्श प्राप्त होता है। पर संस्पर्श प्राप्त करनेवाले मन-प्राण, अङ्ग-अवयव भी भगवद्रूप ही हो जाते हैं। विशुद्ध प्रेमरसभावमयी श्रीगोपाङ्गनाओंके लिये कहा जाता है—

'दिव्य देवाङ्गनाओंकी भी गोपरमणियोंसे तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि जो श्रीहरि समस्त जड-चेतनको सदा अपनी मायाकी डोरीसे नाथे नचाते हैं, वे स्वयं उन गोपियोंके साथ करताल बजाते हुए नृत्य करते हैं। जिन श्रीगोपदेवियोंकी समस्त इन्द्रियाँ भगवद्रूपमें परिणत होकर अपने इच्छानुसार भगवान्‌का संस्पर्श प्राप्त करके सफल हो गयीं, जिनकी भगवन्मयी मन-बुद्धि निरन्तर अपनेमें मुरारि भगवान्‌को बसे देखकर धन्य हो गयीं, जिनके नेत्रकमलोंमें मदनका मद हरण करनेवाले स्वयं भगवान् मधुर मधुकर बनकर नित्य बसे रहते हैं, जिनके कानोंमें भगवान् स्वयं मुरलीकी मधुरतम ध्वनि और सर्वजनसुखकारिणी अपनी मधुर स्वर-लहरीके रूपमें बस रहे हैं, जिनकी नासिका-इन्द्रियमें वे सबको मतवाला बना देनेवाली मधुर-सुन्दर सुगन्ध बनकर बस गये हैं। जिनकी रसनापर वे परम रुचिकर मुनि-मनहारी मधुर मनोहर पवित्र रसमय अन्न बनकर विराज रहे हैं, जिनके सारे अङ्गोंमें वे मधुर सुख देनेवाले अपने-आपको ही मत्त कर देनेवाला अङ्ग-स्पर्श बनकर बसे हैं, इस प्रकार वे स्वयं भोग्य बनकर जिनके सम्पूर्ण तन-मनको सफल बना रहे हैं, गिरिवरधारी स्वयं भगवान् जिन श्रीगोपीजनोंके मनमें लहराते हुए प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये प्रेमविवश होकर मन-ही-मन ललचाते और स्वयं परम सुखके एकमात्र आधार होकर भी, इसमें परम सुखको प्राप्त करते हैं, उन श्रीगोपियोंकी उपमा किनसे दी जाय।

गोपिन पटतर नहिं सुर नारी।
सबहिं नचावनहार स्वयं हरि नाचे जिन सँग दै करतारी॥
सफल भईं जिनकी सब इंद्री पाइ परस निज मन अनुहारी।
मन-मति भए धन्य अपने महँ निरखि निरंतर बसे मुरारी॥
नयन-सरोज बसे नित बनि मधु मधुकर रूप मदन-मद-हारी।
स्रवननि बसे नित्य मुरलीधुनि स्वरलहरी बनि जन-सुखकारी॥
बसे नासिका गंध मधुर सुंदर सजि करत सबहिं मतवारी।
रसना बसे अन्न बनि रुचिकर मधुर मनोहर सुचि मनहारी॥
सकल अंग सुख दैन सबन्हि के अंग परसि निज-मादनकारी।
करि संस्पर्श, भोग्य बनि सब के, तन-मन सफल किए नित झारी॥

गोपी-जन-मन-प्रेम-रसास्वादन हित प्रेम बिबस गिरिधारी।
रहत नित्य ललचात मनहिं मन लहत परम सुख सुख-आधारी॥

इस पावन प्रेमराज्यमें न तो जागतिक भोगोंको स्थान है न भोग-वासनाको; न जागतिक ममताको स्थान है न अहंकार-अभिमानको। चिन्मय भगवान् ही सब कुछ बने रहते हैं। भोक्ता भी भगवान्, उनके भोग्य भी भगवान् तथा भोगक्रिया भी भगवान्। यहाँ आस्वादन, आस्वाद्य तथा आस्वादकका तत्त्वतः भेद नहीं है। तथापि इस रस-सागरमें नित्य-निरन्तर स्वसुख-त्याग तथा प्रियतम-सुख-दानकी भावमयी सुधा-तरङ्गें नाचती रहती हैं। प्रेमीका जीवन केवलमात्र प्रेमास्पदका सुखसाधन बना रहता है और स्व-सुख-वाञ्छाका सर्वथा अभाव होनेके कारण दोनों ही परस्पर प्रेमी-प्रेमास्पद हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं इन प्रेमिकाशिरोमणि परम सती राधारानी तथा श्रीगोपी-जनोंके प्रेमका बदला कभी नहीं चुका सकता, सदा ऋणी ही रहूँगा।' और श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाएँ अपनेमें नित्य हीनता-दीनताके दर्शन तथा बखान करती हुई यह कहते कभी नहीं थकतीं कि 'हम तो सदा लेती-ही-लेती हैं, हमारे अंदर तो दोष-ही-दोष भरे हैं; यह तो प्राणनाथ प्रभुका स्वभाव है जो वे सदा हमारे अंदर प्रेम देखते हैं।'

श्रीराधामुख्या गोपसुन्दरियोंको लक्ष्य करके श्रीश्यामसुन्दर कहते हैं—'श्रीराधाजी, श्रीगोपिकाओ, प्रियाओ! मैं सदा ही तुम्हारा ऋणी हूँ और वह तुम्हारा ऋण क्षण-क्षण नया-नया बढ़ता ही जा रहा है। घटनेका तो कभी अवसर आता ही नहीं। ऋण तो तब कम हो, जब मैं, तुमलोग मुझे जो सुख दे रही हो, उससे अधिक विशेष सुख तुम्हें दे सकूँ। पर तुम्हारे सुखविशेषका एकमात्र साधन यही है कि मैं तुमलोगोंके द्वारा अपना सुख अधिक बढ़ाऊँ और यों जैसे-जैसे तुम्हारे द्वारा मेरा नया सुख बढ़ेगा, वैसे-ही-वैसे प्रतिक्षण तुम्हारा नित्य नवीन ऋण मुझपर बढ़ता जायगा। इस प्रकार तुम्हारे ऋण-शोधनका यदि मैं कुछ भी उपाय करूँगा तो तुम्हारा ऋण उलटे मुझपर बढ़ेगा ही। अतएव

मेरे पास ऐसा कोई साधन है ही नहीं, जिससे मैं तुम्हारा ऋण भर

'तुम अपना तन-मन-धन-जीवन सभी अर्पण करके केवल मेरा ही सुख साध रही हो। धर्म, लोक, परलोक, स्वजन, कुल--सबका त्याग करके मेरी ही आराधना करती हो। इस ऋणसे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता और होना चाहता भी नहीं। मैं समझता हूँ इस प्रकार तुम्हारे द्वारा सुख प्राप्त करके अपने ऊपर तुम्हारा जो ऋण बढ़ाना है—बस, यही तुम्हारी सेवा है और मैं चाहता हूँ कि इस सेवाका नित्य नया सुअवसर प्राप्त करके मैं अपने मनको नित्य नवीन उमंगसे भरता रहूँ। तुम्हारे इस अत्यन्त मधुर मनोहर ऋणको कभी चुका ही न सकूँ और अपने सम्पूर्ण योगैश्वर्यको भूलकर सदा तुम्हारे प्रेमरज्जुसे बँधा हुआ तुमलोगोंके साथ खेलता रहूँ। इस प्रकार मैं नित्य नये रासकी रचना करके तुम्हारे रससे परम सुखी बना हुआ सदा तुम्हारे सुखको सरस बनाता रहूँ!'

गोपिका ! (प्रिया सब) हौं नित रिनी तिहारौ।
नव नव बढ़त जात रिन छिन-छिन, नहिं घटिबे को बारौ॥
घटै तबहिं जब तुम लोगनि हौं सुख बिसेख दै पाऊँ।
तुम्हरे सुख बिसेख को साधन हौं निज सुखहि बढ़ाऊँ॥
ज्यौं-ज्यौं बढ़ै तिहारे द्वारा मेरौ नव सुख प्रति छिन।
त्यौं त्यौं बढ़तो रहै तिहारौ रिन मोपै नित नूतन॥
या बिधि तुम्हरे रिन-सोधन कौं जो उपाय कछु करियै।
तौ उलटौ रिन बढ़ै, न साधन कोउ, जासौं रिन भरियै॥
तन-मन-धन-जीवन अरपन कर मेरौ ही सुख साधौ।
धरम-लोक-परलोक-स्वजन-कुल त्याग मोहिं आराधौ॥
या रिन तैं नहिं उरिन कबहुँ ह्वै सकौं, न होनो चाहौं।
नित नव सेवा कौ अवसर पा, नित नव मनहि उमाहौं॥
कबहुँ चुका पाऊँ न तिहारौ रिन अति मधुर मनोहर।
बँध्यौ रहौं तुव प्रेम-दाम सौं, भूलि सकल जोगैस्वर॥
खेलूँ सदा तिहारे सँग हौं, नित नव रास रचाऊँ।
तुम्हरे रस तैं परम सुखी बनि तुम्हरौ सुख सरसाऊँ॥

प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर अत्यन्त संकुचित चित्तसे बड़े विनयके साथ श्रीराधाजी बोलीं—

"प्यारे श्यामसुन्दर ! मैंने तो तुमसे सदा लिया-ही-लिया । मैं लेती-लेती कभी थकी ही नहीं । तुम्हारे द्वारा मुझे जो प्रेम-सौभाग्य मिला, वह असीम है—उसकी कहीं कोई परिमिति ही नहीं है । परंतु मैं तो कभी कुछ भी तुम्हें दे सकी ही नहीं । तुमने मेरी त्रुटियोंकी ओर, मेरे दोषोंकी ओर कभी ताका ही नहीं, सदा देते ही रहे, देते-देते कभी थके ही नहीं, अपना सारा प्रेमामृत उँडेल दिया मुझपर । इतनेपर भी तुम यही कहते रहे कि 'प्रिये ! मैं तुमको कुछ भी नहीं दे सका । तुम-सरीखी शीलगुणवती तुम्हीं हो, मैं तुमपर बलिहारी हूँ ।' मैं प्राणप्रियतमसे क्या कहूँ ! अपनी ओर देखकर लज्जासे गड़ी जा रही हूँ । पर तुम तो हे प्यारे नन्दकिशोर ! मेरी प्रत्येक करनीमें सदा प्रेम ही देखते हो ।"

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती लेती थकी नहीं ।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं ॥
मेरी त्रुटि, मेरे दोषोंको तुमने देखा नहीं कभी ।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी ॥
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी !
तुम-सी शील-गुणवती तुम ही, मैं तुमपर हूँ बलिहारी ॥
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतमसे, देख लजाती अपनी ओर ।
मेरी हर करनीमें ही तुम प्रेम देखते नंदकिशोर ! ॥

राधाने सुना आजकल प्रियतम सदा सर्वत्र मेरे प्रेमकी बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं, इससे वे एक दिन उदासमन एकान्तमें बैठी अपने दोषोंके मानसिक चित्र अङ्कित कर रही थीं और हाथकी अँगुलीसे लाजके मारे धरती कुरेद रही थीं । इतनेमें ही एक सखीने आकर उमंगभरे शब्दोंमें कहा—"प्यारी लाडिली ! अरी, मेरी बात सुनो । आज प्रातःकाल यमुना-तटपर साँवरे चले गये थे, वहाँ हम बहुत-सी सखियाँ थीं । श्यामसुन्दरने प्रेमानन्द-अश्रुओंसे छलकती आँखोंसे, अत्यन्त सुखभरे हृदयसे सभीको सुख देनेवाले बड़े मधुर वचन कहे । प्रियतमके मुखसे निकले उन सरस वचनोंको

सब सखियोंने सुना। वे वचन ये थे—'सखियो! राधाके समान रूप, शील और गुणोंकी खान मेरी परम प्रेमिका जगत्में कहीं कोई है ही नहीं।' प्रियतमके मुखकमलसे अपनी प्यारी सखीके गुणगानसे भरे इन शब्दोंको सुनते ही सब सखियोंके मुखकमल तुरंत खिल उठे—असीम मधुर मुसकानसे भर गये और वे प्यारे प्रियतमके वचनोंको धन्य-धन्य कहती हुई बोलीं—'हमारी प्यारी राधिका परम धन्य हैं, जिनकी प्रशंसा स्वयं प्रियतम करते हैं।'

सुनु प्यारी मम बैन, सुने जु पिय मुख तैं सरस।
आजु भोर सुख दैन, जमुनातट सब सखिन ने॥
बोले अति सुख मानि, 'राधा-सी नहिं कतहुँ कोउ।
रूप-सील-गुन-खानि, परम प्रेमिका बिस्व महँ॥'
खिले तुरंत अमान, सुनि, सखियन के मुखकमल।
निज सखि के गुन-गान, प्रियतम के मुखकमल तैं॥
धन्य-धन्य, अति धन्य प्यारे प्रियतम के बचन।
सखी राधिका धन्य, जिनहि प्रसंसत आपु पिय॥

श्रीराधाजी विषादग्रस्त तो थीं ही; सखीने जब यह बात सुनायी और उन्होंने जब प्रियतमके द्वारा और सखियोंके द्वारा अपनी प्रशंसाके वाक्य सुने तो उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे—वे रोकर अपने दोषोंका बखान करती हुई कहने लगीं—

'सखी! मैं तो गुणोंकी नहीं, अवगुणोंकी खान हूँ। शरीर ही गोरा है, मनकी बड़ी काली हूँ। मेरे प्राण पापोंसे पूर्ण हैं। मेरे मनमें तनिक भी त्याग नहीं है, वरं असीम अभिमान भरा है। प्रेमका लेश भी नहीं है, निरन्तर अपने सुखका ही ध्यान रहता है। जब जगत्के दुःख-अभाव सताते हैं, मनमें पीड़ाका अनुभव होता है, तब उस दुःखसे आँखें आँसू बहाने लगती हैं। उसमें कहीं तनिक भी प्रेम नहीं है, पर मैं उन दुःखके आँसुओंको महान् पवित्र प्रेमके रूपमें दिखलाती हूँ। कपट करती हूँ। हृदयके भावोंको छिपाकर, जान-बूझकर स्वाँग बनाती हूँ। मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर बड़े भोले और निर्मलहृदय हैं। वे मुग्ध होकर मेरा गुणगान करने लगते हैं और मुझको परम प्रेमिका मानकर मेरे प्रेमकी अतिशय सराहना करने

लगते हैं, तुमलोग भी सब मिलकर मेरी प्रशंसा करने लगती हो। तब मैं सचमुच अपनेको प्रेमिका मानकर अभिमानसे भर जाती हूँ और अपना प्रेम दिखानेके लिये उस क्षण मैं अनेकों छल-छद्म तथा प्रपञ्चोंका विस्तार करती हूँ। मेरे वे श्याम सरलहृदय हैं, उनको मैं भाँति-भाँतिके विधान रचकर रात-दिन ठगती रहती हूँ। मेरे इस कलुषित जीवनको धिक्कार है और मेरे इस प्रेमके मिथ्या अभिमानको भी धिक्कार है!'

सखी री! हौं अवगुन की खान।
तन गोरी, मन कारी भारी, पातक पूरन प्रान॥
नहीं त्याग रंचक मो मन मैं, भर्‌यौ अमित अभिमान।
नहीं प्रेम कौ लेस, रहत नित निज सुख कौ ही ध्यान॥
जग के दुःख-अभाव सतावैं, हो मन पीड़ा-भान।
तब तेहि दुख दृग स्रवै अश्रुजल, नहिं कछु प्रेम निदान॥
तिन दुख अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान।
करौं कपट, हिय भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्ञान॥
भोरे मम प्रियतम, बिमुग्ध ह्वै करैं बिमल गुनगान।
अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान॥
तुमहू सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं भरौं गुमान।
करौं अनेक छद्म तेहि छिन हौं, रचौं प्रपंच-बितान॥
स्याम सरलचित ठगौं दिवस निसि, हौं करि बिबिध बिधान।
धृग जीवन मेरौ यह कलुषित, धृग यह मिथ्या मान॥

कहाँ तो हम, जो जरा-से त्याग या प्रेमके एक बिन्दुपर ही महान् अभिमान करके अपनेको परम प्रेमी मान बैठते हैं और तुरंत उस प्रेमका बहुत बड़ा बदला चाहते हैं—जो प्रेमराज्यका कलङ्क है; और कहाँ सर्वत्यागमयी विशुद्ध प्रेमप्रतिमा श्रीराधिकाजी—जो प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके स्तरोंसे भी अत्युच्च स्तररूप 'महाभाव'की भी प्राणस्वरूपा तथा आधारस्तम्भ हैं—अपनेको इस प्रकार प्रेमशून्य तथा छल-छद्मकारिणी घोषित करती हैं। पर प्रेमराज्यमें अभिमानको स्थान ही नहीं। वहाँकी 'मानलीला' भी अभिमानशून्य परम त्यागयुक्त रसमयी होती है। यही तो इस रसका एक विलक्षण रहस्य है।

राधारानी निश्चय ही परम प्रेमस्वरूपा हैं। प्रेमका स्वभाव ही है अपनेमें प्रेमका अभाव दिखाना, अपनेको दोषोंसे भरे दिखाना और प्रियतमको सर्वगुण-सम्पन्न, परम प्रेमी, सौन्दर्य-माधुर्य तथा गुण-गौरवमें प्रतिक्षण वर्धमान दिखाना। तभी तो प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्।' श्रीराधाकी यह उक्ति मिथ्या दैन्य या दिखावटी विनम्रता नहीं है। वस्तुतः वे ऐसा ही अनुभव करती हैं। यह दैन्यानुभव भी पवित्र भगवत्प्रेम-स्वरूप ही है।

परंतु जब इस प्रेम-रस-लीलामें विशुद्ध रसधाराका ही प्रवाह बहता है, तब इसमें नित्य रसपान तथा रसदान स्वाभाविक ही है। इस प्रेमरस-दान तथा प्रेमरसपानका जरा-सा भी अंश जब कभी भी जगत्के प्राणियोंको मिलेगा, तभी उनका राग-द्वेष, कामना-वासना, अहंकार-अभिमान, क्रोध-हिंसा, वाद-विवाद और मेरे-तेरेकी भीषण अग्निमें जलता हुआ जीवन शुद्धत्यागजनित प्रेम तथा शुद्ध प्रेमजनित आनन्दको प्राप्त कर सकेगा। नहीं तो, जगत्की यह आग विषय-वासना तथा विषय-वासना-पूर्तिकी किसी भी योजना या किसी भी पूर्तिसे कभी बुझेगी ही नहीं, बुझ सकती ही नहीं।

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।'

जगत्के जीव जब शुद्ध त्यागमय प्रेमरससे प्रेममय परमात्माको तृप्त करेंगे, तभी उनसे नवीन विशुद्ध प्रेमानन्दरस प्राप्त करके परितृप्त तथा सुखसम्पन्न हो सकेंगे।

परम दिव्य रसकी महिमामूर्ति श्रीराधिकाजी रसरूप रसिकवर श्रीश्यामसुन्दरसे कहती हैं—

'प्रिय रसिकश्रेष्ठ! तुम निरन्तर रस-पान करते रहो और फिर, मेरे अन्तस्तलको नित्य नवीन रससे भरते रहो। सबको अपने मधुर नृत्यसे मुग्ध करनेवाले नटवर! मैं नित्य तुमको मधुरतम रस पिलाती रहूँ और हे रसमय! तुम मुझको अपना मधुर रस जीवनभर पिलाते रहो। बस, हम दोनों परस्पर अनन्तकालतक सदा रसदान और रसपानमें लगे रहें।

रसधाम ! इसमें कभी पलभरके लिये भी विराम न हो । नित्य नयी-नयी मधुर मनोहर लीलाका निर्माण होता रहे, इस दिव्य रसानन्दसे कभी तनिक भी तृप्ति न हो, वरं इसकी प्यास सदा अधिक-से-अधिक बढ़ती ही रहे । हम प्रिया-प्रियतम——रसकी खान पवित्र रास करते रहें और परम श्रेष्ठ, परम मधुर रस-सुधा-समुद्र सदा उछलता ही रहे ।'

तुम करते रहो रसिकवर ! यह रसपान निरन्तर ।
फिर भरते रहो नित्य नव रससे मेरा अन्तर ॥
मैं तुम्हें कराऊँ पान मधुरतम रस नित नटवर !
तुम मुझे पिलाते रहो स्व-रस रसमय ! जीवन भर ॥
रसदान-पान में रहें सदा संलग्न परस्पर ।
बस, काल अनन्त, न हो विराम रसधाम ! पलक भर ॥
नित नयी-नयी लीलाका हो निर्माण मनोहर ।
हो कभी न किंचित् तृप्ति, बढ़े नित प्यास अधिकतर ॥
हम करते रहें प्रिया-प्रियतम शुचि रास रसाकर ।
हो नित्य उच्छलित परम मधुर-रस-सुधा-उदधि बर ॥

श्रीराधारानीके अनन्त गुणोंका जितना गान किया जाय, उनके चरित्रगत महान् मधुरतम अत्युच्च भावोंका जितना ही स्मरण किया जाय, उतना ही अपना परम सौभाग्य है । श्रीराधा-माधवके अगाध स्वरूप-समुद्रके क्षुद्रतम एक सीकरकी छवि देखिये । श्रीराधाजी कहती हैं——

'हम दोनों अनादि अनन्त नित्य एक सनातनरूप हैं और सदा ही दो बने हुए सहज ही अनन्त अचिन्त्य अतुलनीय लीला करते रहते हैं । हम नित्य पुरातन और नित्य नूतन सदा एक, एकरस तथा अभिन्न हैं । पर हमारी भिन्नतामयी रसलीलाधाराका प्रवाह नित्य अविच्छिन्नरूपसे बहता रहता है । उस रसलीलाधारामें सदा ही सहज ही सुखमय मिलन है और सदा ही सहज ही दारुण विरह-वियोगजनित हृदय-दाह है । उसमें नित्य मधुर मृदु मनोहर हास्य है और नित्य आह-कराहभरा करुण रुदन है । मेरा यह क्रन्दन अनादि और अनन्त है तथा दुःखभार-रूप सुखमय है । हमारा यह मधुर सुखसार-स्वरूप अमिलनमें मिलन——

वियोगमें संयोग और मिलनमें अमिलन—संयोगमें वियोग नित्य है, तथा परम अतर्क्य है।

अन्तविहीन अनादि नित्य हम दोनों एक सनातनरूप।
बने सदा दो लीला करते, सहज अनन्त अचिन्त्य अनूप॥
नित्य पुरातन, नित नूतन हम सदा एकरस, एक अभिन्न।
पर भिन्नतामयी रसलीला-धारा बहती नित अच्छिन्न॥
सुखमय मिलन सहज नित, दारुण विरह-वियोग नित्य, उर-दाह।
नित्य मधुर मृदु हास्य मनोहर, करुण रुदन नित आह-कराह॥
है अनादि क्रन्दन यह मेरा, है अनन्त सुखमय दुखभार।
अमिलन-मिलन, मिलन-अमिलन नित परम अतर्क्य मधुर सुखसार॥

इस अत्यन्त संक्षिप्त नितान्त आंशिक वर्णनको भी भक्ति-श्रद्धापूत हृदयसे समझनेपर, श्रीराधा-माधवकी कृपासे श्रीराधा-माधवके स्वरूपके सम्बन्धमें उठनेवाली शङ्काओंका समाधान हो जाना चाहिये। पर यदि न हो और कुतर्कशून्य हृदयमें जाननेकी यथार्थ आकांक्षा हो तो इसके लिये उन्हीं श्रीराधा-माधवसे विश्वासपूर्ण कातर प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे ही वस्तुतः उनके स्वरूपका किसी अंशमें परिचय प्राप्त हो सकता है।

मनुष्यकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आँखें हैं, पृथक् विचारधारा है; उसीके अनुसार प्रत्येक मनुष्य किसी भी महान् या क्षुद्र वस्तुको देख पाता है। जहाँ श्रीराधा-माधवको प्रेमी महानुभावोंने परात्पर सनातन सच्चिदानन्दमय प्रेमस्वरूप देखा, वहाँ भोगवादियोंने उनमें अपनी भावनाके अनुसार केवल भोगके ही दर्शन किये। जहाँ भगवान् श्रीचैतन्य-महाप्रभु-सदृश परम त्यागमय आदर्शजीवन महापुरुषोंने, नित्य वन्दनीय आचार्योंने, अन्यान्य संत-महात्माओंने तथा कवियों, प्रेमियों एवं भक्तोंने साक्षात् भगवत्तत्त्वका दर्शन करके उनकी पवित्र रसमयी लीलाका तथा तत्त्वका ऊँचे आध्यात्मिक स्तरपर रसास्वादन तथा प्रसार किया, वहाँ विलास-मोहरत कामकलुषितचित्त कवियों तथा लेखकोंने श्रीराधा-माधवके नामपर अत्यन्त निम्नस्तरके अधोगतिमें ले जानेवाले असत् साहित्यका सृजन किया और अब भी पापमति लोग उनके नामपर पापाचार करते हैं!

देहदृष्टिसे श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी क्या होती थीं ? उनका श्रीकृष्णके साथ विवाह हुआ या नहीं, यह स्वकीया प्रेमकी बात है या परकीया प्रेमकी ? इन सब बातोंका संक्षेपमें उत्तर राधाष्टमीके पिछले प्रवचनोंमें दिया जा चुका है। तथापि यही निवेदन करना उचित प्रतीत होता है कि इन सब शङ्काओंका समाधान करनेकी न तो मुझमें योग्यता है, न अधिकार है तथा न इसमें अपने लिये किसी कल्याणकी ही सम्भावना है। श्रीराधा-माधवको अस्थिचर्ममय जड-भौतिक माननेसे ही ये सब प्रश्न उठते हैं और केवल भौतिक शरीर माननेवालोंके लिये इस भाव-राज्यमें प्रवेशाधिकार ही नहीं है। यहाँ न भौतिक जगत् है न भौतिक शरीर, न भौतिक क्रियाकलाप ही और न राधा-माधवकी स्वरूप-पृथक्ता ही है, वरं दोनोंमें भेदबुद्धि करनेवालोंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही श्रीराधाजीसे कहा है—

आवयोर्भेदबुद्धिं तु यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

"जो नराधम तुम्हारे और मेरेमें भेदबुद्धि करेगा, वह चन्द्रमा तथा सूर्यके रहनेतक 'कालसूत्र' नामक नरकमें निवास करेगा।"

श्रीराधा-माधवको जड और भौतिकशरीर माननेवालोंके साथ ही कुछ लोग श्रीराधा-माधवके लीलाचरित्रको केवल कविकल्पना मानते हैं, इसीसे वे इस कल्पनामें क्रमविकास मानते हुए अपने ढंगसे इसका विवेचन करते हैं। किसी-किसीके मतसे राधाकी कल्पना अत्यन्त आधुनिक है। इसी प्रकार अन्यान्य अनेक मतवाद हैं। इन सब मतावलम्बी महानुभावोंके मत इनके लिये गौरवकी वस्तु हैं और रहें। मेरा इनसे न तो कोई विवाद है न मैं इनसे किसी बातको माननेका ही तनिक आग्रह करता हूँ।

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

मेरा तो यह निवेदन है कि विश्वासी हृदयके लोग, जो भोग-कामनासे, इन्द्रियासक्तिसे, काम-क्रोधादिके निम्नस्तरसे, जागतिक कामना-वासना, अभिमान-अहंकारकी भूमिकासे—आसुरी सम्पदाके सम्पूर्ण

दुर्विषयोंसे ऊपर उठकर, द्वेष-कलह, वैर-हिंसा आदि कुप्रवृत्तियोंसे बचकर तथा शरीर, शरीरके सम्बन्धी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिका मोह छोड़कर भगवान्‌के निर्मल दिव्य पवित्र विषयवासनारहित, दिव्य ज्ञानरश्मिसे आलोकित त्यागमय प्रेमके निर्मल राज्यमें प्रवेश करके मानव-जीवनको सफल करना चाहते हैं—इस रसमार्गसे जो भगवान्‌को परम प्रेष्ठके रूपमें प्राप्त करना चाहते हैं, वे सारे शङ्का-संदेहको छोड़कर श्रीराधा-माधवमें श्रद्धा करें और कामकी कलुषित तथा कुत्सित कल्पनाओंसे सदा बचकर श्रीराधा-माधवके पवित्रतम चरित्र-सुधा-सागरमें डुबकी लगायें तो निश्चय ही श्रीराधा-माधवकी कृपासे वे अपने साध्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो सकेंगे। अन्तमें श्रीराधा-माधवके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है कि वे हम सबको अन्धतम कुत्सित विषय-काम-मार्गसे हटाकर उज्ज्वलतम परम पवित्र दिव्य प्रेममार्गपर चढ़ाकर अपने चरण-रज-कणकी ओर अग्रसर करें।

(श्री) राधा-माधव जुगल के प्रनवौं पद-जलजात।
बसे रहैं मो मन सदा, रहै हरप उमगात॥
हरौ कुमति सबही तुरत, करौ सुमति कौ दान।
जातें नित लागौ रहै तुव पद-कमलनि ध्यान॥
राधा-माधव ! करौ मोहि निज किंकर स्वीकार।
सब तजि नित सेवा करौं जानि सार कौ सार॥
राधा-माधव ! जानि मोहि निज जन अति मतिहीन।
सहज कृपा तैं करौ नित निज सेवा मैं लीन॥
राधा-माधव ! भरौ तुम मेरे जीवन माँझ।
या सुख तैं फूल्यौ रहौं भूलि भोर अरु साँझ॥
तन-मन-मति सब मैं सदा लखौं तिहारौ रूप।
मगन भयौ सेवौं सदा पद-रज परम अनूप॥
राधा-माधव-चरन-रति-रस के पारावार।
बूड़्यौ नहिं निकसौं कबहुँ पुनि बाहिर संसार॥

रास-रसेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुकुमारी श्रीराधारानीकी जय जय जय !!!



राधा-महिमाकी श्रीकृष्णके लिये भी अज्ञेयता

सुन्दर मधुर सदा मैं मुनि-मनको भी करता आकर्षण।
ऋषि-मुनि, मनुज-दनुज-सुर सब पर करता सदा सुधावर्षण॥
वह मैं खिंचा नित्य रहता, तव मुख-शशि-सुधा-पानके हेतु—
ललचाता, मैं सदा तरसता, करता भङ्ग स्वयं श्रुति-सेतु॥
जिसके गुण-गण गाते नहीं अघाते अज अरु शारद-शेष।
वही समुद करता गुण-गान तुम्हारा मैं साग्रह सविशेष॥
जिसकी महिमाका न पा सके अबतक कोई कहीं न अन्त।
नहीं पा सका कहीं तुम्हारी महिमाका वह थाह अनन्त॥
जो सब लोक महेश्वर, अतुलैश्वर्य, विश्व-भर्ता-धर्ता।
वह मैं तव पद-सेवन-रत सुख-गौरवका अनुभव करता॥
नित्य सच्चिदानन्द रूपकी भी वे वाञ्छित भाव-तरङ्ग—
लहरातीं जब मुझे दीखतीं अति शुचि, पुलकित होते अङ्ग॥
बह जाता मैं उनमें प्यारी! रहता नहीं भिन्न कुछ तत्त्व।
कौन बता सकता कैसा, क्या अतुल तुम्हारा मर्म-महत्त्व॥



श्रीकृष्ण

प्रार्थना

राधा-दृष्टि-कटाक्ष-रूप चञ्चल अञ्चलसे नित्य व्यजित।
रहते, तो भी बहती जिनके तनसे स्वेद्‌धार अविरत॥
राधा अङ्ग-कान्ति अति सुन्दर नित्य निकेतन करते वास।
तो भी रहते क्षुब्ध नित्य-मन करता नव विलास, अभिलाष॥
राधा मृदु मुसुकान-रूप नित मधुर सुधा-रस करते पान।
तो भी रहते नित अतृप्त जो रसमय नित्य स्वयं भगवान॥
राधा-रूप-सुधोदधिमें जो करते नित नव ललित विहार।
तो भी कभी नहीं मन भरता, पल-पल बढ़ती ललक अपार॥
ऐसे जो राधा-गत-जीवन, राधामय, राधा-आसक्त।
उनके चरण-कमलमें रत नित रहे हुआ मम मन अनुरक्त॥



श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म भगवान् हैं

गीताके अनुसार यह सिद्ध है कि ईश्वर अपनी इच्छासे प्रकृतिको अपने अधीनकर जब चाहें तभी लीलासे अवतार धारण कर सकते हैं। संसारमें भगवान्‌के अनेक अवतार हो चुके हैं, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर मेरे उन लीलामय नाथने अनेक लीलाएँ की हैं,—'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'। कला और अंशावतारोंमें कई क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुके होते हैं, कुछ भगवान् शिवके होते हैं, कुछ सच्चिदानन्दमयी योगशक्तिदेवीके होते हैं; किसीमें कम अंश रहते हैं, किसीमें अधिक, अर्थात् किसी लीलामें भगवान्‌की शक्ति-सत्ता न्यून प्रकट होती है, किसीमें अधिक। इसीलिये सूतजी महाराजने मुनियोंसे कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(श्रीमद्भा० १।३।२८)

मीन-कूर्मादि अवतार सब भगवान्‌के अंश हैं, कोई कला है, कोई आवेश है; परंतु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं!

वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण हैं। उनमें सभी पूर्व और आगामी अवतारोंका पूर्ण समावेश है। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त बल, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्यकी जीवंत मूर्ति हैं। प्रारम्भसे लेकर लीलावसानपर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य ही अलौकिक—चमत्कारपूर्ण हैं। उनमें सभी शक्तियाँ प्रकट हैं। बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जीने भगवान् श्रीकृष्णको अवतार माना है और लाला लाजपतराय आदि विद्वानोंने महान् योगेश्वर। परंतु इन महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णको जगत्‌के सामने भगवान्‌की जगह पूर्ण मानवके रूपमें रखना चाहा है। मानव कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह है मानव ही; पर भगवान् भगवान् ही हैं, वे अचिन्त्य और अतर्क्य-शक्ति हैं। महामना बंकिम बाबूने अपने भगवान् श्रीकृष्णको सर्वगुणान्वित, सर्वपापसंस्पर्शशून्य, आदर्शचरित्र, पूर्ण मानवके रूपमें विश्वके सामने उपस्थित करनेके अभिप्रायसे उनके अलौकिक ऐश्वर, मानवातीत, मानव-कल्पनातीत, शास्त्रातीत और

नित्य-मधुर चरित्रोंको उपन्यास बतलाकर उड़ा देनेका प्रयास किया है; उन्होंने भगवान्‌के ऐश्वर्यभावके कुछ अंशको—जो उनके मनमें निर्दोष जँचा है—मानकर, शेष रस और ऐश्वर्यभावको प्रायः छोड़ दिया है। इसका कारण यही है कि वे भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण मानव आदर्शके नाते भगवान्‌का अवतार मानते थे, न कि भगवान्‌की स्वरूप-सत्तासे अलौकिक शक्तिके नाते। यह बात खेदके साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि विद्या-बुद्धिके अत्यधिक अभिमानने भगवान्‌को तर्ककी कसौटीपर कसनेमें प्रवृत्त कराकर आज मनुष्य-हृदयको श्रद्धाशून्य, शुष्क, रसहीन बनाना आरम्भ कर दिया है। इसीलिये आज हम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका माननेवाला कहते हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् माननेमें और उनके शब्दोंका सीधा अर्थ करनेमें हमारी बुद्धि सकुचाती है और ऐसा करनेमें हमें आज अपनी तर्कशीलता और बुद्धिमत्तापर आघात लगता हुआ-सा प्रतीत होता है। भगवान्‌का सारा जीवन ही दिव्य लीलामय है, परंतु उनकी लीलाओंको समझना आजके हम-सरीखे अश्रद्धालु मनुष्योंके लिये बहुत कठिन है—इसीसे उनकी चमत्कारपूर्ण लीलाओंपर मनुष्यको शङ्का होती है और इसीलिये आजकलके लोग उनके दिव्यरूपावतारसे पूतनावध, शकटासुर-अघासुरवध, अग्निपान, गोवर्धनधारण, दधि-नवनीत-भक्षण, कालिय-दमन, चीरहरण, रासलीला, यशोदाको मुखमें विराट्‌रूप दिखलाने, साल-भरतक बछड़े और बालकरूप बने रहने, पाञ्चालीका चीर बढ़ाने, अर्जुनको विराट् स्वरूप दिखलाने और कौरवोंकी राजसभामें विलक्षण चमत्कार दिखलाने आदि लीलाओंपर संदेह करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिन परमात्माकी मायाने जगत्‌को मनुष्यकी बुद्धिसे अतीत नाना प्रकारके अद्भुत वैचित्र्यसे भर रक्खा है, उन मायापति भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, बल्कि इन ईश्वरीय लीलाओंमें ही उनका ईश्वरत्व है, परंतु यह लीला मनुष्यबुद्धिसे अतर्क्य है। इन लीलाओंका रहस्य समझ लेना साधारण बात नहीं है। जो भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मके रहस्यको तत्त्वतः समझ लेता है, वह तो उनके चरणोंमें सदाके लिये स्थान ही पा जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर छोड़कर पुनः जन्म नहीं लेता; वह तो मुझको ही प्राप्त होता है।' जिसने भगवान्‌के दिव्य अवतार और दिव्य लीला-कर्मोंका रहस्य जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। वह तो फिर भगवान्‌की लीलामें उनके हाथका एक यन्त्र बन जाता है। लोकमान्य लिखते हैं कि 'भगवत्प्राप्ति होनेके लिये (इसके सिवा) दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है, भगवत्‌की यही सच्ची उपासना है।' परंतु तत्त्व जानना श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनेसे ही सम्भव होता है। जिन महात्माओंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ-रूपसे जान लिया था, उन्हींमेंसे श्रीसूतजी महाराज थे, जो हजारों ऋषियोंके सामने यह घोषणा करते हैं कि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' और भगवान् वेदव्यासजी तथा ज्ञानिप्रवर शुकदेवजी महाराज इसी चरणको अपनी रचनामें ग्रथितकर और गानकर इस सिद्धान्तका सानन्द समर्थन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णको नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है, नर-नारायण ऋषियोंने धर्मके हृदय और दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे उत्पन्न होकर महान् तप किया था। कामदेव अपनी सारी सेनासमेत बड़ी चेष्टा करके भी इनके व्रतका भङ्ग नहीं कर सका (भागवत २। ७। ८)। ये दोनों भगवान् श्रीविष्णुके अवतार थे। देवीभागवतमें इन दोनोंको हरिका अंश (हरेरंशौ) कहा है (दे० भा० ४। ५। १५) और भागवतमें कहा है कि भगवान्‌ने चौथी बार धर्मकी कलासे नर-नारायण ऋषिके रूपमें आविर्भूत होकर घोर तप किया था। भागवत और देवीभागवतमें इनकी कथाका विस्तार है। महाभारत और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको कई जगह नर-नारायणका अवतार बतलाया गया है। (वनपर्व ४०। १२; भीष्मपर्व ६६। ११; उद्योगपर्व ९६। ४६ आदि, श्रीमद्भागवत ११। ७। १८; १०। ८९। ३२-३३ आदि)

दूसरे प्रमाण इस बातके भी मिलते हैं कि वे क्षीरसागरनिवासी भगवान् विष्णुके

अवतार हैं। कारागारमें जब भगवान् प्रकट होते हैं, तब शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीविष्णुरूपसे ही पहले प्रकट होते हैं तथा भागवतमें गोपियोंके प्रसङ्गमें तथा अन्य स्थलोंमें उन्हें 'लक्ष्मी-सेवितचरण' कहा गया है, जिससे श्रीविष्णुका बोध होता है। भीष्मपर्वमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं—

हे देवतागणो! सारे जगत्का प्रभु मैं इनका ज्येष्ठ पुत्र हूँ, अतएव—

वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः ।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः ॥
(महा० भीष्म० ६६ । १३ १४)

'सम्पूर्णलोकोंके महेश्वर इन वासुदेवकी पूजा करनी चाहिये। हे श्रेष्ठ देवताओ! साधारण मनुष्य समझकर इनकी कभी अवज्ञा न करना। कारण, ये शङ्ख-चक्र-गदाधारी महावीर्य (विष्णु) भगवान् हैं।' जय-विजयकी कथासे भी उनका विष्णु-अवतार होना सिद्ध है। इस विषयके और भी अनेक प्रमाण हैं।

तीसरे इस बातके भी अनेक प्रमाण मिलते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन थे। भगवान्ने गीता और अनुगीतामें स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार ऐसा कहा है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥ (गीता १० । ८)
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता ७ । ७)
... ... सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ (गीता ५ । २९)
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (गीता १० । ४२)
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (गीता १५ । १९)
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता १४ । २७)

गीतामें ऐसे श्लोक बहुत हैं, उदाहरणार्थ थोड़े-से लिखे हैं। इनके सिवा महाभारतमें पितामह भीष्म, संजय, भगवान् व्यास, नारद, श्रीमद्भागवतमें नारद, ब्रह्मा, इन्द्र, श्रीगोपीजन, ऋषिगण आदिके ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण पूर्ण परात्पर सनातन ब्रह्म हैं। अग्रपूजाके समय भीष्मजी कहते हैं—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥
(महा० सभा० ३८। २३-२४)

'श्रीकृष्ण ही लोकोंके अविनाशी उत्पत्तिस्थान हैं, इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। यही अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता हैं, ये ही अच्युत सर्वभूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं।' जो ईश्वरोंके ईश्वर होते हैं, वे ही महेश्वर या परब्रह्म कहलाते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर उ० ६। ७)

मनुष्यरूप असुरोंके अत्याचारों और पापोंके भारसे घबराकर पृथ्वी देवी गौका रूप धारणकर ब्रह्माजीके साथ जगन्नाथ भगवान् विष्णुके समीप क्षीरसागरमें जाती हैं। (भगवान् विष्णु व्यष्टि पृथ्वीके अधीश्वर हैं, पालनकर्ता हैं। इसीसे पृथ्वी उन्हींके पास गयी।) तब भगवान् कहते हैं, 'मुझे पृथ्वीके दुःखोंका पता है, ईश्वरोंके ईश्वर कालशक्तिको साथ लेकर पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये पृथ्वीपर विचरण करेंगे। देवगण उनके आविर्भावसे पहले ही वहाँ जाकर यदुवंशमें जन्म ग्रहण करें।'

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

'साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होंगे, अतः देवाङ्गनागण उनकी सेवाके लिये वहाँ जाकर जन्म ग्रहण करें।' फिर कहा कि 'वासुदेवके कलास्वरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीहरिके प्रियसाधनके लिये पहले जाकर अवतीर्ण होंगे और भगवती विश्वमोहिनी माया भी प्रभुकी

आज्ञासे उनके कार्यके लिये अवतार धारण करेंगी।' इससे भी यह सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। अब यह शङ्का होती है कि यदि वे पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे तो नर-नारायण और श्रीविष्णुके अवतार कैसे हुए और भगवान् विष्णुके अवतार तथा नर-नारायण ऋषिके अवतार थे तो पूर्ण ब्रह्मके अवतार कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें पूर्ण ब्रह्म ही हैं। वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं; उनमें सारे भूत, भविष्य, वर्तमानके अवतारोंका समावेश है। वे कभी विष्णुरूपसे लीला करते हैं, कभी नर-नारायणरूपसे और कभी पूर्ण ब्रह्म—सनातन ब्रह्मरूपसे। सारांश यह कि वे सब कुछ हैं—वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे सनातन ब्रह्म हैं, वे गोलोकविहारी महेश्वर हैं, वे क्षीरसागरशायी परमात्मा हैं, वे वैकुण्ठ-निवासी विष्णु हैं, वे सर्वव्यापी आत्मा हैं, वे बदरिकाश्रमसेवी नर-नारायण ऋषि हैं, वे प्रकृतिमें गर्भ स्थापन करनेवाले विश्वात्मा हैं और वे विश्वातीत भगवान् हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमानमें जो कुछ है, वे वह सब कुछ हैं और जो उनमें नहीं है, वह कभी कुछ भी कहीं नहीं था, न है और न होगा। बस, जो कुछ हैं सब वे ही हैं; इसके सिवा वे क्या हैं, यह एकमात्र वे ही जानते हैं। हमारा कर्तव्य तो उनकी चरणधूलिकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनामात्र है; इसके सिवा और किसी बातमें न तो हमारा अधिकार है और न इस परम साधनका परित्याग करके अन्य प्रपञ्चमें पड़नेसे लाभ ही है।

साधकोंका कर्तव्य

जो लोग विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, तर्कशील हैं, वे अपने इच्छा-नुसार भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी समालोचना करें—उन्हें महापुरुष मानें, योगेश्वर मानें, परम पुरुष मानें, पूर्ण मानव मानें, अपूर्ण मानें, राजनीतिक नेता मानें, कुटिल नीतिज्ञ मानें, संगीतविद्या-विशारद मानें या कविकल्पित पात्र मानें; जो कुछ मनमें आये सो मानें। साधकोंकी दृष्टिमें तो—साँवरे मनमोहनके चरण-कमल-चञ्चरीक ही दीनजनोंके लिये अंधेकी लकड़ी हैं, कंगालके धन हैं, प्यासेके पानी हैं, भूखेकी रोटी हैं, निराश्रयके आश्रय हैं, निर्बलके बल हैं, प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, देवोंके

देव हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं और ब्रह्मोंके ब्रह्म हैं, सर्वस्व वे ही हैं—बस,

मोहन बसि गयो मेरे मनमें ।
लोकलाज कुलकानि छूटि गयी, वाकी नेह लगनमें ॥
जित देखूँ तित ही वह दीखै, घर-बाहर आँगनमें ।
अंग-अंग प्रति रोम-रोम में, छाय रह्यो तन-मन में ॥
कुंडल झलक कपोलन सोहै, बाजूबंद भुजन में ।
कंकन कलित ललित बनमाला, नूपुर-धुनि चरनन में ॥
चपल नैन भ्रकुटी वर बाँकी, ठाढ़ौ सघन लतन में ।
नारायन बिन मोल बिकी हूँ, याकी नैक हसन में ॥

अतएव साधकोंको बड़ी सावधानीसे अपने साधन-पथकी रक्षा करनी चाहिये । मार्गमें अनेक बाधाएँ हैं । विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ आदिके अभिमानकी बड़ी-बड़ी घाटियाँ हैं; भोगोंकी अनेक मनहरण वाटिकाएँ हैं, पद-पदपर प्रलोभनकी सामग्रियाँ बिखरी हैं, कुतर्कका जाल तो सब ओर बिछा हुआ है, दम्भ-पाखण्डरूपी मार्गके ठग चारों ओर फैल रहे हैं, मान-बड़ाईके दुर्गम पर्वतोंको लाँघनेमें बड़ी वीरतासे काम लेना पड़ता है; परंतु श्रद्धाका पाथेय, भक्तिका कवच और प्रेमका अङ्गरक्षक सरदार साथ होनेपर कोई भय नहीं है । उनको जानने, पहचानने, देखने और मिलनेके लिये इन्हींकी आवश्यकता है; कोरे सदाचारके साधनोंसे और बुद्धिवादसे काम नहीं चलता । भगवान्‌के ये वचन स्मरण रखने चाहिये—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'हे अर्जुन ! शत्रुसूदन ! जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, उस प्रकार वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञसे मैं नहीं देखा जा सकता । केवल अनन्य भक्तिसे ही मेरा देखा जाना, तत्त्वसे समझा जाना और मुझमें प्रवेश होना सम्भव है ।'

श्रीराधाके प्रति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्वोपदेश

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत कृष्ण-जन्मखण्डके १२६ वें अध्यायमें कहा गया है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारकासे वृन्दावन पधारे। उस समय उनकी वियोग-व्यथासे संतप्त गोपियोंकी विचित्र दशा हो गयी। प्रिय-संयोगजन्य स्नेहसागरकी उत्ताल तरङ्गोंमें उनके मन और प्राण डूब गये। गोपीश्वरी श्रीराधिकाजीकी तो बड़ी ही अपूर्व स्थिति थी। उनकी चेतना-शून्य दशासे गोपियोंने समझा कि हाय! क्या नाथके संयोगने ही हमें अनाथ कर दिया। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगीं—

किं कृतं किं कृतं कृष्ण! त्वया राधा मृता च नः।
राधां जीवय भद्रं ते यास्यामः काननं वयम्॥
अन्यथा स्त्रीवधं तुभ्यं दास्यामः सर्वयोषितः॥

(७८-७९)

'श्रीकृष्ण ! तुमने यह क्या किया ? यह क्या किया ? हाय ! हमारी राधिका तो प्राणोंसे वियुक्त हो गयी ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम शीघ्र ही हमारी राधाको जीवित कर दो; हम उनके साथ वनको जाना चाहती हैं। यदि तुमने ऐसा न किया तो हम सभी स्त्री-वधका पाप तुम्हारे सिर मढ़ेंगी।' क्या खूब ! श्रीराधा क्या श्रीकृष्णकी नहीं थीं जो उनके लिये इतने कड़े शब्दोंका प्रयोग किया गया ? परंतु प्रणयकोपने गोपियोंको यह बात भुला दी थी। उनकी ऐसी आतुरता देखकर भगवान्ने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे राधामें जीवनका संचार कर दिया। मानिनी राधा रोती-रोती उठ बैठी। गोपियोंने उसे गोदमें लेकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया, परंतु उसका कलेजा न थमा। अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—

'राधे ! मैं तुमसे परमश्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवणमात्रसे हल जोतनेवाला मूर्ख मनुष्य भी पण्डित हो जाता है। तुम मुझे अपनी ही स्वरूपभूता रुक्मिणी आदि महिषियोंका पति मानकर क्यों दुःख करती हो ? मैं तो स्वभावसे ही सभीका स्वामी हूँ। राधे ! कार्य और कारणके रूपमें मैं ही अलग-अलग प्रकाशित हो रहा हूँ। मैं सभीका एकमात्र आत्मा हूँ और अपने स्वरूपमें प्रकाशित हूँ। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जीवोंमें मैं ही व्यक्त हो रहा हूँ। मैं स्वभावसे ही परिपूर्णतम श्रीकृष्णस्वरूप हूँ। दिव्यधाम, गोलोक, सुरम्य क्षेत्र गोकुल और वृन्दावनमें मेरा निवास है। मैं स्वयं ही द्विभुज गोप-वेषसे तुम्हारा परम प्रियतम बालकके रूपमें गोप-गोपी और गौओंके सहित वृन्दावनमें रहता हूँ। वैकुण्ठमें मेरा परम शान्त सनातन 'चतुर्भुज रूप है, वहाँ मैं लक्ष्मी और सरस्वतीका पति होकर दो रूपोंमें रहता हूँ। पृथ्वीमें समुद्रकी जो मानसी कन्या मर्त्यलक्ष्मी है, उसके साथ मैं श्वेतद्वीपमें क्षीरसमुद्रके भीतर चतुर्भुज-रूपसे रहता हूँ। मैं ही धर्मस्वरूप, धर्मवक्ता, धर्मनिष्ठ, धर्ममार्गप्रवर्तक, ऋषिवर नर और नारायण हूँ। पुण्यक्षेत्र भारतमें धर्म-परायणा पतिव्रता शान्ति और लक्ष्मी मेरी स्त्रियाँ हैं, मैं उनका पति हूँ तथा मैं ही सिद्धिदायक सिद्धेश्वर सतीपति मुनिवर कपिल हूँ। सुन्दरि ! इस प्रकार मैं नाना रूपोंसे विविध व्यक्तियोंके रूपमें विराजमान हूँ। द्वारकामें मैं चतुर्भुजरूपसे सर्वदा

श्रीरुक्मिणीजीका पति हूँ और सत्यभामाके शुभ गृहमें क्षीरोदशायी भगवान्के रूपसे रहता हूँ। इसी प्रकार अन्यान्य महिषियोंके महलोंमें भी मैं पृथक्-पृथक् शरीर धारणकर रहता हूँ। मैं ही अर्जुनके सारथि-रूपसे ऋषिवर नारायण हूँ। मेरा अंश धर्म-पुत्र नर-ऋषि ही महाबलवान् अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। इसने मुझे सार रूपमें पानेके लिये पुष्कर क्षेत्रमें मेरी आराधना की थी। और राधे! तुम भी जिस प्रकार गोलोक और गोकुलमें राधारूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वती होकर विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो और तुम ही धर्म-पुत्र नरकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपा शान्ति हो तथा तुम ही भारतमें कपिलदेवकी प्रिया सती भारती हो। तुम ही मिथिलामें सीताके रूपसे प्रकट हुई थी और तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो, तुम ही अपने कलारूपसे पाँचों पाण्डवोंकी प्रिया द्रौपदी हुई हो तथा तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपसे रावण हर ले गया था। अधिक क्या कहूँ—

> नानारूपा यथा त्वं च छायया कलया सति।
> नानारूपस्तथाहं च स्वांशेन कलया तथा॥
> परिपूर्णतमोऽहं च परमात्मा परात्परः।
> इति ते कथितं सर्वमाध्यात्मिकमिदं सति।
> राधे सर्वापराधं मे क्षमस्व परमेश्वरि॥
> (१००-१०२)

'जिस प्रकार अपनी छाया और कलाओंके द्वारा तुम नाना रूपोंसे प्रकट हुई हो, उसी प्रकार अपने अंश और कलाओंसे मैं भी विविध रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। वास्तवमें तो मैं प्रकृतिसे परे सर्वत्र परिपूर्ण साक्षात् परमात्मा हूँ। सति! मैंने तुमको यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य सुना दिया। मेरी परम ईश्वरी राधे! तुम मेरे सब अपराध क्षमा करो।'

भगवान्के ये गूढ़ रहस्यमय वचन सुननेपर श्रीराधिका और गोपियोंका क्षोभ दूर हो गया, उन्हें अपने वास्तविक स्वरूपका भान हो गया और उन्होंने चित्तमें प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया।

श्रीकृष्णका स्वरूप-तत्त्व

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ।

—इसपर यह शङ्का उठायी जाती है कि यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते तो सर्वव्यापी कैसे हुए ? यह शङ्का भगवान्‌के स्वरूप और स्वभावको न जाननेके कारण ही उठायी जाती है । भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमकी निधि हैं, प्रेममें ही प्रकट होते हैं, प्रेमियोंके साथ रहते हैं, प्रेमियोंको सुख देने तथा उनके साथ प्रेममयी लीलाएँ करनेमें ही उनको आनन्द मिलता है । श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शंकरका कथन है—'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥' भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, कण-कणमें उनकी स्थिति है; किंतु प्रेमसे ही वे प्रकट होते हैं । ब्रह्मरूपसे, निर्गुण-निराकार स्वरूपसे वे सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं और सबमें हैं—इसको कौन अस्वीकार कर सकता है ? किंतु सगुण-साकार विग्रह, जो कोटि-कोटि कन्दर्पका दर्प दलन करनेवाला है, सर्वत्र नहीं—प्रेम-धाममें ही प्रकट होता है । प्रेमके भूखे बाँकेबिहारी प्रेमधाम वृन्दावन छोड़कर और कहाँ रह सकते हैं । जहाँ श्रीकृष्णको तन, मन, प्राण समर्पित करनेवाली प्रेममयी गोपियाँ नहीं हैं, श्रीकृष्णको ही जीवन-सर्वस्व मानकर तदेकप्राण होकर रहनेवाली श्रीराधारानी नहीं हैं तथा श्यामसुन्दरको सुख पहुँचानेके लिये ही जीवन धारण करनेवाले प्रेमी ग्वाल-बाल नहीं हैं, वहाँ प्रेमपरवश श्रीकृष्ण कैसे रह सकते हैं । अतः जो प्रेमस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्णको पाना चाहता है, वह वृन्दावनका आश्रय ले; गोपी, ग्वालबाल तथा श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करे । तभी वह गोपी-वल्लभकी रूपमाधुरीका पान कर सकता है । जिसके हृदयरूपी व्रजमें वृन्दावन, गोप-बालक, श्रीगोपीजन, श्रीराधा तथा श्रीकृष्णकी प्यारी गौएँ हैं, जो इन सबके साथ श्रीकृष्णको अपने हृदयमन्दिरमें बिठाकर उनका चिन्तन करता है, वह प्रेमानन्दमय श्रीकृष्णको शीघ्रतापूर्वक पा सकता है ।

भगवान् सूर्यका प्रकाश तीनों लोकोंमें सर्वत्र व्यापक है; वह प्रकाश सूर्यमण्डलसे आता है; उसका केन्द्र सूर्यमण्डल है । जहाँतक प्रकाश जाता है, वहाँतक सूर्यमण्डल नहीं जाता; वह उससे छोटा है, तो भी इस पृथ्वीसे बहुत बड़ा है । उस मण्डलमें रहनेवाले अधिदेवतारूप जो भगवान्

आदित्य हैं, जिन्हें नारायण अथवा सूर्यनारायण कहते हैं, जिनके परम सुन्दर कमनीय विग्रहमें यथास्थान केयूर, मकराकृति-कुण्डल, किरीट, हार आदि भी शोभा पाते हैं। वे अपने मण्डलसे भी छोटे हैं तथा सदा अपने धाममें ही रहते हैं; परंतु वह प्रकाश और वह मण्डल सब उन्हींसे हैं। यदि वे न हों तो प्रकाश अथवा मण्डलकी सत्ता ही न रहे। सूर्यके उस अधिदेवरूपकी प्राप्तिके लिये आदित्यलोकमें ही जाना पड़ेगा, वरुणलोकमें नहीं; किंतु वे कारणरूपसे या तेज—प्रकाशरूपसे सभी लोकोंमें व्यापक हैं। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है। इनके सर्वत्र व्यापकरूपको 'ब्रह्म' कहा गया है, जिसकी उपमा प्रकाशसे दी गयी है। यह निर्गुण-निराकार रूप है। श्रीकृष्णका जो दूसरा रूप सगुण-निराकार हैं, वह मण्डलके स्थानपर है; इसी रूपको हम 'परमात्मा' कहते हैं। इसका भी अन्तरात्मभूत जो स्वरूप है, वही 'भगवान्' कहलाता है। ये भगवान् ही 'श्रीकृष्ण' हैं। ये अपने मण्डलमें, अपने नित्य-धाम वृन्दावनमें ही रहते हैं। जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ वृन्दावनको साथ लेकर ही प्रकट होते हैं। अथवा यों कहिये कि जहाँ ये प्रकट होते हैं, वहीं वृन्दावन है। इस प्रकार श्रीकृष्णके ही तीन रूप भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म नाम धारण करते हैं। तीनोंकी सत्ता श्रीकृष्णसे ही है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भगवत्स्वरूपके ज्ञाता इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वव्यापक हैं। जो सर्वव्यापी तत्त्व है, वह कभी कोई भी स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता। वह कहाँ नहीं है, जहाँ जाय? सर्वत्र वही-वह तो है। जिनके पास आँख है, वे सर्वत्र उसीका दर्शन करते हैं, दूसरे लोग नहीं—'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।' इस दृष्टिसे भी, यह कहना कि भगवान् वृन्दावन छोड़कर कभी कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य है। इससे उनकी व्यापकता ही सिद्ध होती है। जो सर्वत्र व्यापक नहीं है, वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर गये बिना रह नहीं सकता। श्रीकृष्ण वृन्दावनसे तथा श्रीराम अयोध्यासे अन्यत्र नहीं जाते, इस कथनका यह अर्थ भी है कि वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ही दर्शन होता है और साकेतधाममें श्रीरामका ही।

गीता और भागवतके श्रीकृष्ण

कुछ लोग गीताके श्रीकृष्णको निपुण तत्त्ववेत्ता, महायोगेश्वर, निर्भय योद्धा और अतुलनीय राजनीति-विशारद मानते हैं, परंतु भागवतके श्रीकृष्णको इसके विपरीत नचैया, भोग-विलासपरायण, गाने-बजानेवाला और खिलाड़ी समझते हैं; इसीसे वे भागवतके श्रीकृष्णको नीची दृष्टिसे देखते हैं या उनका अस्वीकार करते हैं और गीताके या महाभारतके श्रीकृष्णको ऊँचा या आदर्श मानते हैं। वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण जो भागवतके हैं, वे ही महाभारत या गीताके हैं। एक ही भगवान्‌की भिन्न-भिन्न स्थलों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न लीलाएँ हैं। भागवतके श्रीकृष्णको भोग-विलासपरायण और साधारण नचैया-

गवैया समझना भारी भ्रम है। अवश्य ही भागवतकी लीलामें पवित्र और महान् दिव्य प्रेमका विकास अधिक था; परंतु वहाँ भी ऐश्वर्य-लीलाकी कमी नहीं थी। असुर-वध, गोवर्द्धन-धारण, अग्नि-पान, वत्स-बालरूप-धारण आदि भगवान्‌की ईश्वरीय लीलाएँ ही तो हैं। नवनीत-भक्षण, सखा-सह-विहार, गोपी-प्रेम आदि तो गोलोककी दिव्य लीलाएँ हैं। इसीसे कुछ भक्त भी वृन्दावनविहारी मुरलीधर रसराज प्रेममय भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना करते हैं, उनकी मधुर भावनामें—

कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥

—यदुनन्दन श्रीकृष्ण दूसरे हैं और वृन्दावनविहारी पूर्ण श्रीकृष्ण दूसरे हैं। पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कभी अन्यत्र गमन नहीं करते। बात ठीक है—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

इसी प्रकार कुछ भक्त गीताके 'तोत्त्रवेत्रैकपाणि' योगेश्वर श्रीकृष्णके ही उपासक हैं। रुचिके अनुसार उपास्यदेवके स्वरूपभेदमें कोई आपत्ति नहीं; परंतु जो लोग भागवत या महाभारतके श्रीकृष्णको वास्तवमें भिन्न-भिन्न मानते हैं या किसी एकका अस्वीकार करते हैं, उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। महाभारतमें भागवतके और भागवतमें महाभारतके श्रीकृष्णके एक होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक ही ग्रन्थकी एक बात मानना और दूसरीको मनके प्रतिकूल होनेके कारण न मानना वास्तवमें यथेच्छाचारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

साधकोंको इन सारे बखेड़ोंसे अलग रहकर भगवान्‌को पहचानने और अपनेको 'सर्वभावेन' उनके चरणोंमें समर्पणकर—शरणागत होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।



भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यपर स्वागतोत्सव

(सं० २०१७ वि० के जन्माष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
मञ्जीरनूपुररणन्नवरत्नकाञ्ची-
श्रीहारकेसरिनखप्रतियन्त्रसङ्घम् ।
दृष्ट्यार्तिहारिमसिबिन्दुविराजमानं
वन्दे कलिन्दतनुजातटबालकेलिम् ॥

आज महामहिमामयी श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीका महामहोत्सव है । वैवस्वत-मन्वन्तरीय अष्टाविंश-चतुर्युगके द्वापरके अन्तमें भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीके दिन पृथ्वीको श्रीकृष्णके प्राकट्यका महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ था । अखिल विश्वब्रह्माण्डके लिये आजका दिन महान् महिमामय, महान् मङ्गलमय, महान् मधुमय और महान् ममतामय तथा परम धन्य है । आजके ही दिन असुरोंके अत्याचारोंसे उत्पीड़ित; कामना, वासना, दुःख, दैन्य और दारिद्र्य आदिके तीव्र ताड़नसे संत्रस्त तथा क्षतविक्षत; बहिर्मुखता एवं जडवादसे जर्जरित और प्रेमरस-सुधाधारासे रहित सर्वथा शुष्क जगत्‌में अखिलरसामृतसिन्धु, षडैश्वर्य-सम्पूर्ण सर्वलोकमहेश्वर स्वयं भगवान्‌का आविर्भाव हुआ था । भगवान्‌के अवतारमें क्या हेतु होता है, इसे तो भगवान् ही जानते हैं; पर जान पड़ता है कि इसमें प्रधान हेतु है भगवान्‌की अपने घनीभूत परमानन्दरस-रूप लीला-विग्रहको प्रकट करनेकी मङ्गलमयी इच्छा । वैसे, साधुजनोंका परित्राण, दुष्टोंके

विनाशके द्वारा भूमिका भार-हरण और धर्मसंरक्षण या धर्मसंस्थापनके मङ्गलमय कार्य भी श्रीभगवान्‌के अवतीर्ण होनेमें कारण बतलाये गये हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ही गीता, चतुर्थ अध्यायके ८ वें श्लोकमें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

'साधु पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनके लिये मैं युग-युगमें उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)।' पर केवल यही कारण नहीं है—भगवान्‌ने ही इससे पहले छठे और सातवें श्लोकमें अन्य कारणोंका भी स्पष्ट संकेत किया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और समस्त भूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके अपनी मायासे (योगमायाको साथ लेकर) उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि तथा अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपनेको प्रकट करता हूँ। इनमें छठे श्लोकमें अजन्मा, अविनाशी तथा सर्वभूतमहेश्वर होकर भी जन्म लेने, अन्तर्धान होने तथा छोटेसे पराधीन बालक बननेका संकेत करके 'विरुद्ध-धर्माश्रयी' स्वयं भगवान्‌के पूर्ण आविर्भावकी बात कही गयी है; और सातवें श्लोकमें सदुपदेशके द्वारा धर्मग्लानिरूप अधर्मके अभ्युत्थानका नाश करनेवाले अथवा कामकलुषित विषयसेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंसकर परम त्यागमय मधुरतम विशुद्ध (गोपी-) प्रेमधर्मके संस्थापनकी ओर संकेत किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अतएव उनके द्वारा सभी लीलाओंका सुसम्पन्न होना इष्ट है—इसके अनुसार उनके प्राकट्यमें भी विभिन्न कारण हो सकते हैं और वे सभी सत्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यका काल था भाद्रपदकी अँधियारी

अष्टमीकी अर्धरात्रि और स्थान था अत्याचारी कंसका कारागार। पर स्वयं-भगवान्‌के प्राकट्यसे काल, देश आदि सभी परम धन्य हो गये। उस मङ्गलमयी घटनाको हुए पाँच हजारसे अधिक वर्ष बीत चुके हैं; परंतु प्रतिवर्ष वही पवित्र भाद्रमास, वही पावन कृष्णपक्षकी अष्टमी आती है और पृथ्वीके परम सौभाग्यकी नवीन स्मृति जाग्रत् करके चली जाती है। आज भी, इस दिन हम बहिर्मुखी जीवोंको न दीखनेपर भी, पृथ्वीके वक्षःस्थलपर एक विलक्षण आनन्दका महानृत्य होता है और आज भी सौभाग्यवान् भक्तजन इस नित्यस्मरणीय महान् मङ्गलमयी तिथिकी पूजा, जन्ममहोत्सवका आयोजन तथा जन्माष्टमी-व्रतका सेवन करके धन्य होते हैं; और आज भी प्रेमी भक्त अपने प्राण-प्रियतमके आविर्भावका शुभ-दर्शन प्राप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके इस आविर्भावके समयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन दिव्य-रस-सागर-हृदय श्रीशुकदेवजीने किया है। आज इस आविर्भावके कालमें हम उसीका कुछ रसास्वादन करें तथा मन-ही-मन वैसा ही चिन्तन-ध्यान करें। बड़ा ही दिव्य आयोजन है। वे कहते हैं—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।

'काल समस्त शुभ गुणोंसे युक्त और परम शोभन हो गया। काल नित्य ही जगत्‌के सृजन-संहारमें लगा रहता है—बनाता है, फिर बिगाड़ देता है; इससे जगत्‌में कोई भी उससे प्यार नहीं करता। परंतु कालके आधार भगवान् उसकी कभी उपेक्षा नहीं करते। वे कालके नियन्ता होकर भी कालमें ही प्रकट होते हैं और कालमें ही अन्तर्धान भी होते हैं। कालको भगवान् यदि यह सौभाग्य न प्रदान करते तो शायद उस बेचारेके दुःखका कहीं पार नहीं रहता। आज जब कालको यह पता लगा कि परिपूर्णतम स्वयं भगवान् मेरे अंदर प्रकट हो रहे हैं, तब उसके आनन्दकी सीमा नहीं रही और अपने समस्त गुणोंको प्रकट करके वह परम शोभन बन गया। उसने प्रत्येक ऋतु तथा प्रत्येक समय-विशेषसे चुन-चुनकर सभी सद्गुणोंको अपनेमें धारण कर लिया और वह विलक्षणरूपसे सुसज्जित हो गया। वसन्त ऋतुका मलय-समीर, कोकिलका कूजन, भ्रमरका गुंजार, आम्रमें नवीन मौरका उदय, अशोक और चम्पाका मुक्त-हास्य, वर्षाका

कदम्बानिल, शरद्की स्वच्छता और प्रसन्नता, हेमन्तकी मालती, शिशिरके कुन्द-कुसुम, दिवसकी कमलिनी, रात्रिकी कुमुदिनी, प्रातःकालकी देवपूजा और कर्म-प्रवृत्ति, मध्याह्नकी भोजनप्रवृत्ति तथा पवित्र प्रभुसेवारूप आजीविकाका कार्य, सायाह्नका देवपूजन तथा सात्त्विक आनन्दोत्सव, निशाका शान्तभाव, रात्रिशेषका उत्साहपूर्ण जागरण, सत्ययुगकी तपस्या, त्रेताका यज्ञ, द्वापरकी परिचर्या और कलियुगका श्रीहरिनाम-संकीर्तन—इत्यादि कालके भंडारमें जहाँ, जो सद्गुण थे, सभीको अपनेमें धारण करके वह सर्वाङ्ग-सुन्दर हो गया !

यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ।

'उस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रमें स्थित थे और आकाशमें सभी नक्षत्र, ग्रह, तारे शान्त और सौम्य हो रहे थे।'

सूर्यादि नवग्रह, अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र, जन्मसम्पत् आदि तारागण उग्र, शान्त, वक्र, उच्च, नीच आदि विभिन्न भावोंसे कालके सृजन-संहार-कार्यमें सहायता किया करते हैं। कर्मफलानुसार काल जब, जिसको, जैसा कुछ दुःख-सुख भुगताना चाहता है, ये भी तब उसके लिये वैसे ही उग्र, शान्त, वक्र आदि होकर कालका साथ दिया करते हैं। आज परिपूर्णतम भगवान् श्यामसुन्दरके शुभागमनके समय वे सभी अपनी उग्रता, वक्रताका परित्याग करके शान्त हो रहे हैं और कोई वक्र-गतिसे, कोई अतिचार-गतिसे, तो कोई महातिचार-गतिसे अपने-अपने उच्च स्थानोंमें स्थित होकर श्रीभगवान्का अभिनन्दन करनेमें सानन्द संलग्न हैं। उस समय रोहिणी नक्षत्र था। भगवान्ने उसको अपने जन्म-नक्षत्रके रूपमें स्वीकार करके महान् धन्य कर दिया। पर श्रीशुकदेवजीने रोहिणी नक्षत्रका स्पष्ट नाम न लेकर 'अजनजन्मर्क्ष'—इस गुप्तार्थ-पदके द्वारा रोहिणीका नाम संकेत किया। जिनका साधारण जीवोंकी भाँति कर्मफलजनित जन्म नहीं होता, उनको 'अजन' कहते हैं—उन भगवान्के नाभिकमलसे जिनका जन्म होता है, वे ब्रह्मा 'अजनजन्मा' कहलाते हैं। वे ब्रह्मा जिस नक्षत्रके अधिष्ठाता हैं, उसका नाम होता है 'अजनजन्मर्क्ष' अर्थात् रोहिणी नक्षत्र; क्योंकि रोहिणीके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। शास्त्रोंमें कहा गया है कि अपने

या अपने स्वजनोंका जन्म-नक्षत्र प्रकट नहीं करना चाहिये। अतएव श्रीशुकदेवजी भी अपने परम प्रिय श्यामसुन्दरके जन्म-नक्षत्रको गुप्त रखनेके लिये स्पष्ट 'रोहिणी' न कहकर 'अजनजन्मर्क्ष' कहते हैं।

जहाँ भगवान् श्रीकृष्णका नाम-गुण-कीर्तन होता है, वहाँसे सभी पाप-ताप, विघ्न-बाधाएँ तत्काल दूर भाग जाते हैं; वे वहाँके समीप भी नहीं रह सकते, वरं विविध प्रकारसे शुभलक्षण ही वहाँ आकर एकत्र हो जाते हैं। तब स्वयं भगवान् जहाँ पृथ्वीकी पीड़ा मिटानेके लिये अवतीर्ण होते हों, वहाँ वार, तिथि, नक्षत्र, योग आदिके अनन्त शुभ-सूचक होनेमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है?

जगत्का प्रत्येक कार्य काल, दिशा और देशके अधीन है; इसीसे जगत्में काल, दिशा और देशका विचार करके ही कार्य किया जाता है। यद्यपि श्रीभगवान्की दिव्यलीलामें काल, दिशा और देशकी कोई बाध्य-बाधकता नहीं है—वे स्वयं ही काल, दिशा और देशके नियन्ता हैं, तथापि वे जब धराधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब काल, दिशा और देशपर कृपा करके उनके साथ अपना पवित्र सम्बन्ध जोड़कर उन्हें धन्य और कृतार्थ कर देते हैं। इसीलिये आज 'काल'की ही भाँति 'दिशा' और 'देश' भी समस्त सद्गुणोंसे सुशोभित हो रहे हैं।

दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।

दसों दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, आकाशमें तारे जगमगाने लगे। किसी भी दिशामें कहीं तनिक भी मलिनता नहीं रह गयी। सर्वत्र परमानन्दपूर्ण स्वच्छता छा गयी। सभी दिक्पति परम प्रफुल्लित आनन्दपूर्ण हृदयसे अपने स्वामीके शुभागमनका अभिनन्दन करनेके लिये समस्त दिशाओंको सुसज्जित करके दिग्वधुओंके साथ हाथोंमें अर्घ्यपात्र लेकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। गगनमें तारे जगमगा उठे—मानो अपने-अपने अनन्त अङ्गपात्रोंमें स्तर-स्तरपर हीरोंके पुष्प सजाकर विष्णुपदमें अञ्जलि अर्पण करनेकी इच्छासे वे खड़े हों। काल और दिशाकी भाँति देश भी मङ्गल-शृङ्गारसे सुसज्जित हो गया। भूः भुवः स्वः—सभी देशोंमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। मङ्गल-मयके मङ्गल आगमनसे सभी देश आनन्द-मङ्गलपरिपूर्ण हो गये।

मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ।

पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े नगर, छोटे-छोटे गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ और रत्नोंकी खानें आनन्द-मङ्गलकी क्रीड़ाभूमि बन गयीं । विविध हेतुओंकी अवतारणा करके नगरोंके मार्ग परिष्कृत तथा सुगन्धित हो गये । धनियोंके प्रासादोंमें विलक्षण दीपमालिकाएँ आलोकित हो गयीं, सर्वत्र शङ्खध्वनि होने लगी, विविध वाद्य बजने लगे, जगह-जगह पूजा तथा स्तुतियाँ होने लगीं । मन्त्रोच्चारणकी ध्वनि उठने लगी । खानें रत्नोंको स्वयमेव बाहर फेंकने लगीं । नाना प्रकारसे नाना कारणोंसे सर्वत्र आनन्दमयके शुभागमनकी आनन्दधारा बह चली । पृथ्वीके समस्त स्थानोंको आनन्दप्लावित करके आनन्दमयका शुभागमनानन्द मूर्तिमान् होकर नद, नदी, सरोवर, अरण्य, पर्वत आदिमें सभी जगह व्याप्त हो गया ।

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः ।

नदियोंका जल निर्मल हो गया । रात्रिके समय भी सरोवरोंमें कमल खिल उठे । गङ्गा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, गोमती, कावेरी, शोण, सिन्धु आदि सभी नद-नदियोंका मटमैलापन सहसा दूर हो गया । उनको मानो अपने जन्मस्थान—पर्वतके गुप्तगह्वरसे ऐसा कोई समाचार मिल गया है, जिसे वे अपने कलकलनादसे तटभूमियोंके कानोंमें सुनाने लगीं और उत्ताल तरङ्गोंके रूपमें मानो भुजाओंको उठाकर नाचती हुई बड़े वेगसे समुद्रको यह संवाद सुनानेके लिये दौड़ पड़ीं ।

सरोवरोंमें असंख्य कमलोंकी पंक्तियाँ विकसित हो उठीं । मायाबद्ध जीव जैसे स्त्री, पुत्र, परिवार, घर, शरीरको छोड़कर अन्य किसीसे सम्बन्ध नहीं रखता, उसी प्रकार बेचारे सीमाबद्ध सरोवर भी अपनी सीमामें ही बँधे रहते हैं । मायाबद्ध जीवपर जब श्रीकृष्णकी कृपा होती है, तब वह मायाबद्ध रहता हुआ ही जैसे श्रीकृष्ण-भक्तोंकी बातें सुनता है और उन भक्तोंके द्वारा होनेवाली भगवत्सेवाके आनन्दोच्छ्वासको देखता है । वैसे ही सीमाबद्ध सरोवरोंको भी आज श्रीकृष्ण-कृपा प्राप्त हुई है, इसीसे वे कमलोंके खिलनेके बहाने असंख्य कानोंसे नद-नदियोंकी आनन्दपूर्ण कलकलध्वनि सुन रहे हैं और खुली आँखोंसे उनके आनन्दोच्छ्वासको देख रहे हैं !

नदियोंको जो सौभाग्य किसी अवतारमें नहीं मिला, वह श्रीकृष्णावतारमें मिला। इसी अवतारमें श्रीकालिन्दीजी भगवान् श्रीकृष्णकी चतुर्थ पटरानी बनेंगी और अवतार लेते ही श्यामसुन्दर ग्वालबालों तथा गोपाङ्गनाओंको साथ लेकर कालिन्दीजीमें क्रीड़ा करेंगे—इन बातोंको सोचकर नदियाँ सुप्रसन्न हो गयीं। और इस अवतारमें भगवान् कालियदमन करके कालीदह नामक सरोवरको विषहीन बना देंगे, इस बातको सोचकर सरोवरोंने कमलोंके बहाने अपने हृदयोंको ही श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पण कर दिया। मानो वे कह रहे हैं कि हमारे जीवनका सारा विष दूर करके आप हमें कृतार्थ करेंगे।

द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजयः।

वनोंमें वृक्षोंकी पंक्तियाँ विविध वर्णके सुगन्धित पुष्पोंसे लद गयीं और शुक-पिकादि पक्षी मधुर ध्वनि करते हुए चहक उठे तथा मधुपान-मत्त भ्रमरोंकी गुंजारसे सारी वनभूमि मुखरित हो उठी!

निर्जन अरण्यकी शोभा उस समय भला कौन देखता; परंतु उसे आज अपनी शोभा दूसरोंको थोड़े ही दिखानी है, उसे तो पूर्णरूपसे सज-धजकर 'स्वान्तःसुखाय' अपना आनन्द प्रकट करना है। इसीसे उन वृक्षों आदिने भी अपनी सजावटमें कोई कमी नहीं रक्खी। साल, तमाल, ताल, आम, अशोक, चम्पा, मौलसिरी, वट, अश्वत्थ आदि सभीने अपने पुराने पत्ते तुरंत फेंक दिये और नये-नये कोमल अरुण पल्लवोंको धारण कर लिया। सबमें नये मौर फूट निकले। मौरोंके बीच-बीचमें पुष्प विकसित हो गये और उन पुष्पोंके गुच्छे-के-गुच्छे मृदु-मन्द पवनके मधुर हिलोरोंके साथ नूतन नृत्य करने लगे। मालती आदिकी लताएँ वृक्षोंकी शाखा-प्रशाखाओंमें लिपटकर वहाँ मधुर कुसुम-हास्यका विस्तार करने लगीं। जुही, चमेली आदि सब पत्र-शून्य होकर केवल विकसित कुसुमोंसे ढक गयीं। रात्रिके समय सोये हुए भ्रमर मानो स्वप्नमें किसी गुप्त परमानन्द-संवादको पाकर सहसा जाग उठे और मधुर गुंजार करते हुए पुष्पोंके पास जा-जाकर आनन्द-समारोहका कारण पूछने लगे। शाखाओंपर घोंसलोंमें सोये हुए पक्षिगण भ्रमरोंकी झंकारसे जाग्रत् होकर अपनी कमनीय काकलीसे वनप्रान्तको निनादित

करते हुए अकस्मात् उदय हुए आनन्दका कारण जाननेके लिये इधर-उधर वृक्षोंपर उड़ने लगे। आम्रवृक्षमें असमय मौर देखकर कोयलोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही। वे बड़े वेगसे उड़कर शाखाओंपर पहुँच गयीं और पञ्चम स्वरमें तान छेड़कर आनन्दमग्न हो गयीं। इस प्रकार सर्वत्र महान् आनन्दके पूर्ण विकाससे समस्त अरण्य सर्वथा 'आनन्दभवन' बन गया।

भगवान् श्रीकृष्णका शुभागमनानन्द आकाश, पृथ्वी और जलको आनन्दमत्त बनाकर अब वायुके निकट पहुँचा।

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।

परम पवित्र शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे सबको सुख दान करती हुई बहने लगी।

वर्षाऋतुके घोर जलवर्षणसे वायुमें आर्द्रता तथा बीच-बीचमें होनेवाली कड़ी धूपसे उसमें कुछ उष्णता आ गयी थी। पर अब श्रीभगवान्‌के शुभागमनोत्सवके कारण वसन्तके अन्तमें जो मलय-पवन निर्वासित कर दिया गया था, वह अपने निर्वासन-दण्डसे मुक्त होकर लौट आया एवं वर्षाकालीन उस नातिशीतोष्ण वायुके साथ मिल गया। अब दोनोंने मिलकर खोज-खोजकर जहाँ-जहाँ उन्हें उत्तम सद्गन्ध प्राप्त हुई, लेकर अपने सारे अङ्गोंपर लगा ली और आनन्दमत्त होकर वे वृक्षोंके मस्तकों, रमणियोंके अञ्चलों तथा प्रासादशिखरोंकी पताकाओंके साथ क्रीड़ा करने लगे। श्रीभगवान् आ रहे हैं, इसलिये उस समय वायुने 'रज' (धूल) को लेकर खेलना छोड़ दिया और सात्त्विक आनन्दके साथ वह खेलने लगी। इसी कारण वह अपने स्पर्शसे सबको सुख देनेवाली बन गयी।

यों जब श्रीगोविन्दके शुभागमनानन्दसे पृथ्वी मङ्गलमयी, जल कमलाच्छादित, वायु सुगन्धसम्पन्न तथा सुखसेव्य हो गयी और निर्मल आकाश तारामालाओंसे जगमगा उठा, तब अग्नि भी निश्चेष्ट नहीं रह सकी। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चभूत मिलकर ही तो जगत्‌का सारा काम करते हैं। आज जब श्रीकृष्णके शुभागमन-महोत्सवके समय इनमेंसे चार आनन्दोन्मत्त हो रहे हैं, तब अकेली अग्नि कैसे इस परम सौभाग्यसे वञ्चित रह सकती है? अतएव—

अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ।

द्विजोंके होमकुण्डोंकी कभी न बुझनेवाली अग्नियाँ, जो कंसके अत्याचारसे बुझ गयी थीं, जल उठीं । उन्हें जलाना नहीं पड़ा । लकड़ीके अंदरसे अपने-आप ही प्रज्वलित होकर वे दक्षिणावर्त हुई अपनी शिखाओंको हिला-हिलाकर नाचने लगीं । श्रीगोविन्दके शुभागमनके महानन्दमें उनके लिये घृतकी आहुति, मन्त्रपाठ अथवा इंधनकी आवश्यकता नहीं हुई । वे अपने-आप ही प्रकट होकर होममण्डपोंको आलोकित करने लगीं ।

श्रीकृष्णका शुभागमन-महानन्द बाह्यजगत्‌को प्रमुदित और पुलकित करके अन्तर्जगत्‌में जा पहुँचा ।

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।

असुरद्रोही साधुओंका चित्त सहसा प्रसन्नतासे भर गया । भगवद्भक्तोंके हृदय सहसा अतर्कित, असम्भावित और अप्रत्याशित आनन्दसे परिपूर्ण हो गये । कहाँसे, किसलिये, कैसे इस परमानन्दने आकर उनके हृदयोंमें प्रवेश किया, इसका तो उन्हें पता ही नहीं लगा । वे आनन्दसे भरकर पुलकित हो गये । उनके नेत्रोंसे प्रेमानन्दके सुधाबिन्दु झरने लगे और वे सब इस आनन्दके नित्य स्थित रहनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे । असुरनिकन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके शुभागमनकी सूचना पाकर असुरोंके अत्याचारसे उत्पीड़ित देवताओंके हृदयोंमें शक्ति और आशाका संचार हो गया । असुर-समुदाय अपनी भयानक मूर्ति और सहज हिंसाप्रवृत्तिके कारण सभीके 'अप्रिय' होते हैं । इसलिये असुरके अतिरिक्त जीवमात्र ही 'असुर-द्रोही' हैं । इस सिद्धान्तसे साधु-प्रकृतिके सभी 'असुरद्रोही' जीव प्रसन्न हो गये । पर भगवान्‌के भक्तोंका सुख तो सदा अवर्णनीय है । बादलसे गिरी हुई जलकी बूँद मेघप्रिय चातकको जैसी सुखदायिनी होती है, वैसी अन्य किसीको भी नहीं होती । यह बात सत्य है कि उससे दूसरोंकी भी प्यास बुझती है पर वे केवल मेघके जलकी ही बाट नहीं देखते । उनको नद, नदी, सरोवर, झरने—बहुत जगह जल दिखायी देता है; कहींसे भी लेकर वे अपनी पिपासा शान्त कर सकते हैं । पर श्रीभगवच्चरणाश्रित एकनिष्ठ अनन्य भक्तोंके आनन्दका स्रोत तो केवल श्रीभगवान्‌का चरण-प्रान्त ही है ।

जो लोग भोगाश्रित हैं, भगवच्चरणाश्रित नहीं हैं—उनके सुखके लिये स्त्री-पति, पुत्र-परिवार, धन-जमीन, विषय-वैभव, मान-सम्मान, प्रशंसा-यश, पद-अधिकार आदि अनेक वस्तुएँ हैं। इसीलिये वे श्रीभगवच्चरणारविन्द-प्रीतिरसके दिव्य आनन्दका पूर्णास्वादन नहीं कर पाते। फिर, जैसे बादलोंका निर्मल जल भी यदि गंदे कूड़े-भरे स्थानोंमें गिरता है तो वह निर्मल नहीं रहता। इसी प्रकार श्रीभगवान्‌का परमानन्द नित्य परम निर्मल होनेपर भी, जिन लोगोंका जीवन कामना, वासना, भोगासक्ति-भोगसुखास्थारूपी गंदे कूड़ेसे भरा है, उनके लिये वह विषयानन्दके रूपमें ही प्रकट होता है। जैसे अत्यन्त उत्तप्त स्थानपर गिरी हुई जलकी बूँदें पड़ते ही सूख जाती हैं तथा ताप और भी बढ़ जाता है, वैसे ही अविश्वास, भोगासक्ति तथा बहिर्मुखतासे उत्तप्त जीवोंके समीप पहुँचा हुआ भगवत्-सम्बन्धजनित आनन्दबिन्दु भी उनकी भगवद्विमुखताके कारण तुरंत (उनके लिये) लुप्त हो जाता है और उन बहिर्मुख तथा अविश्वासी जीवोंका ताप बढ़ जाता है। आज श्रीभगवान्‌के शुभागमनका पूर्ण प्रकाश होनेसे श्रीभगवच्चरणाश्रित अनन्य भक्तोंके हृदयमें आनन्दका जो महान् प्रवाह बहने लगा, वह आनन्द भोगकामना-वासना-भरे हृदयके लोगोंको नहीं मिला। वे उस समय प्राकृतिक शोभा-सम्पत्तिकी विपुलताको देखकर विषयानन्दका ही अनुभव करने लगे। और कंसादि असुरोंके बहिर्मुखता, भोगासक्ति और अविश्वाससे भरे उत्तप्त हृदयोंमें यह विषयानन्द भी ठहर नहीं सका, वरं उनका ताप और भी बढ़ गया। अस्तु,

श्रीगोविन्दका यह शुभागमन-महानन्द पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, नद, नदी, पर्वत आदि सभीको आनन्द-प्लावित करके, भक्तोंके हृदयोंमें श्रीभगवच्चरणोंके प्रत्यक्ष प्राप्त होनेकी महान् सुखाशाका मधुर संगीत गाकर, विषयी जीवोंके हृदयोंको विषयानन्दसे भरकर और बहिर्मुख जीवोंके मनोंको भीषण भयसे प्रकम्पितकर अब स्वर्गमें जा पहुँचा।

'जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।

अजन्मा भगवान्‌के जन्म—आविर्भावके समय स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। भगवान्‌का शुभागमन-महानन्द जब भुवर्लोकसे ऊपर

उठकर स्वर्लोकमें पहुँचा, तब एक ही साथ असंख्य देवदुन्दुभियोंने बजकर अपने मधुर नादसे समस्त स्वर्गलोकको छा लिया। स्वर्गमें प्रतिदिन नियत समयपर देववादकोंके द्वारा ब्रह्मताल, रुद्रताल आदि तालोंसे देवदुन्दुभियाँ बजायी जाती हैं; परंतु आज इस महानन्दमें सर्वथा स्वतन्त्र होकर वे सब अपने-आप ही बजने लगीं—

अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्रणुदंस्तदा।

गम्भीर मध्यनिशाकी स्तब्धताको भङ्ग करके समस्त स्वर्गको निनादित और आनन्दमुखरित करती हुई वे दुन्दुभियाँ बिना ही बजाये बज उठीं। देवसभाके संगीतरस-विशारद हाहा, हूहू, तुम्बुरु आदि गन्धर्व और किम्पुरुषगण दुन्दुभियोंके इस मधुर नादसे सहसा जाग्रत् हो गये और परमानन्दपूर्ण हृदयसे श्रीभगवान्‌का पवित्र गुणगान करने लगे। उन्हींके साथ-साथ आनन्दमत्त सिद्ध-चारणगण भी स्तवन करने लगे।—

जगुः किंनरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।

गन्धर्व तथा किंनरगण देवराज इन्द्र तथा देवताओंका आनन्द बढ़ानेके लिये ही देवसभामें मधुर तान छेड़ा करते हैं। सिद्ध और चारणोंका जीवन भी देवताओंके स्तुतिगानमें ही बीतता है। पर आज देवेन्द्रवाञ्छित-चरणारविन्द भूमिपर प्रकट होने जा रहे हैं, अतः वे भी उसके अनिर्वचनीय महानन्दसे मत्त होकर अपने स्वभावसिद्ध शान्त स्निग्ध मधुर-कण्ठसे भी कहीं विलक्षण मधुरता तथा सुरीलेपनको प्राप्त करके श्रीभगवान्‌का मङ्गलमय गुणगान करने लगे। इस प्रकार गन्धर्व-किंनर और सिद्ध-चारणोंके मधुर सात्त्विक गीतोंको सुनकर देवसभाके नृत्य-श्रमसे परिश्रान्त तथा अमृतपानसे प्रमत्त विद्याधरियाँ तथा अप्सराएँ भी नवीन उत्साहसे आनन्द-जाग्रत होकर सर्वथा नवीन रूपसे नृत्य करने लगीं—

विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा॥

उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि स्वर्गकी अप्सराओं तथा विद्याधरियोंकी दिनभरकी सारी नाच-गानकी थकावट दूर हो गयी और वे अप्राकृत परमानन्दसे परिपूर्ण हो स्वर्गके विलास-नृत्यकी सारी बातोंको भूलकर श्रीगोविन्द-गुणगानमें मत्त गन्धर्व-किंनरोंके गोविन्द-गुणगानकी शुद्ध सत्त्वमयी

तालोंमें ताल मिलाकर मधुर नृत्य करने लगीं। इस प्रकार सारा स्वर्ग गान तथा नृत्यकी मधुरतम ध्वनिसे भर गया। देवताओंके समस्त शयन-प्रासाद मुखरित हो उठे। सभी देवता सहसा जगकर आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखने लगे और आनन्दमग्न होकर मन्त्रमुग्धकी भाँति परमानन्दकी प्रेरणासे अपने-अपने स्थानको छोड़कर तुरंत नन्दनवनमें जा पहुँचे तथा स्वर्गके पारिजात-सुमनोंको चुन-चुनकर पृथ्वीपर बरसाने लगे—

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।

बड़े-बड़े देवता तथा मुनिगण आनन्दमें भरकर पृथ्वीके सौभाग्यकी सराहना करने लगे। श्रीभगवान्‌के शुभागमनसे आज पृथ्वी महान् आनन्द-शृङ्गारसे सुसज्जित है; उसी आनन्दकी एक लहर स्वर्गमें आयी है, अतएव 'पृथ्वी स्वर्गादपि गरीयसी।' पृथ्वी स्वर्गसे भी बढ़कर सौभाग्यमयी है, तभी तो श्रीभगवान् उसपर अवतीर्ण हो रहे हैं। इसी परम सफलजीवन पृथ्वीके सौभाग्यका अभिनन्दन करनेके लिये देवताओंने पृथ्वीपर नन्दन-काननके देवसुमनोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। सफलतामें सभी पूजा करने लगते हैं—यह स्वभावसिद्ध बात है।

अवश्य ही इस अप्राकृत महानन्दका यथार्थ स्वरूप कोई नहीं जानता, पर चुपकेसे आकर इस महानन्दने सबको आनन्दमत्त कर दिया है। आज चौदहों भुवन आनन्दसे नाच उठे हैं। इस आनन्दके उच्छ्वाससे सप्तसिन्धुओंमें भी आनन्द-क्षोभ हो गया। वे भी मृदु-मन्द गर्जना करते हुए उत्ताल तरङ्गोंकी भङ्गिमा दिखा-दिखाकर नृत्य करने लगे।

मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्।

समुद्रकी कन्या लक्ष्मीजी नारायणकी पत्नी हैं, मानो इसी सम्बन्ध-सूत्रसे गौरवमण्डित होकर सिन्धु गर्जनाके रूपमें यह घोषणा कर रहा है कि 'आज जिनके शुभागमनमें समस्त विश्वब्रह्माण्ड परम आनन्दमें बह रहा है, वे हमारे अपने ही हैं—हमारे जामाता ही हैं।' इस प्रकार समुद्रका गर्जन सुनकर दिक्प्रान्तवर्ती मेघसमुदाय भी मुखर हो उठे। उन्होंने भी मृदु-मृदु गर्जना करके कहा—'अरे! हमारा और उनका तो वर्ण ही एक है। हम भी नीलश्याम और वे भी नीलश्याम! अतएव ये हमारे सखा

ही हैं ।' क्रमशः श्रीभगवान्‌के सम्बन्ध-गौरव तथा वर्णसाम्य-गौरवसे प्रमत्त जलनिधि तथा जलद निकर अपने-अपने सौभाग्यकी गाथा गाने लगे। इसी समय—

निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥

'भाद्रपदकी अँधियारी रात्रिमें सबके हृदयोंमें रहनेवाले भगवान् जनार्दन वैसे ही 'देवरूपिणी' देवकीके गर्भसे प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रका उदय हुआ हो ।'

इसमें देवकीजीको 'देवरूपिणी' कहा गया। इसका भाव यह है कि उनका दिव्य शरीर था । भगवान् नित्य स्वप्रकाश हैं । उन स्वप्रकाश विचित्र विविध लीलामय श्रीभगवान्‌का नाम 'देव' है । उनका रूप—श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है—

'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।'

उन 'देव'—भगवान्‌के ऐसा ही जो रूप है, उसे 'देवरूप' कहते हैं—अतः ऐसा जिनका रूप है, वे श्रीदेवकीजी 'देवरूपिणी' हैं । उनकी देह हमारी तरह प्राकृत नहीं है, शुद्ध सच्चिदानन्दमय है । तभी उनके सामने उनके पुत्ररूपमें स्वप्रकाश भगवान्‌का आविर्भाव हुआ है । चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदि ज्योतियाँ, जो जगत्‌को प्रकाशित करती हैं, कोई भी स्वप्रकाश नहीं हैं ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५ । १२)

'चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदिकी जिस ज्योतिसे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, वह मेरी ही (अङ्ग-) ज्योति है । यहाँतक कि भगवान्‌का सच्चिदानन्दमय परम धाम भी स्वप्रकाश है । इन सूर्य-चन्द्रादिकी ज्योतियाँ वहाँ नहीं हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । ६)

वह स्वप्रकाश परमधाम, जिसको प्राप्त होकर पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता, यहाँके इन सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी ज्योतिसे प्रकाशित नहीं है। श्रुति कहती है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

'स्वप्रकाश श्रीभगवान्‌की (अङ्ग-) ज्योतिसे ही सूर्य-चन्द्रादि सब ज्योतिर्मय हैं और उनकी ज्योति (अङ्ग-छटा) से ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है।' इस प्रकार श्रीभगवान् ही सबके प्रकाशक हैं, भगवान्‌का कोई प्रकाशक नहीं है।

पिता-माता अपने पुत्रका जगत्‌में प्रकाश करते हैं, इसीसे वे पुत्रके प्रकाशक कहे जाते हैं। श्रीभगवान्‌के पिता-माता श्रीभगवान्‌को जगत्‌में प्रकट करते हैं, अतः वे भी भगवान्‌के प्रकाशक हैं। श्रीभगवान् स्वप्रकाश हैं। अतएव वे अपनी 'स्वप्रकाशिका शक्ति' के अतिरिक्त अन्य किसीसे प्रकाशित हो नहीं सकते। अतएव वसुदेव-देवकीरूप भगवान्‌के पिता-माता भी भगवान्‌की सच्चिदानन्दमयी स्वप्रकाशिका शक्ति ही हैं। वे उन्हींके 'शुद्ध सत्त्व'की घनीभूत मूर्ति हैं।

परंतु वस्तुतः प्राकृत जीवोंकी भाँति न तो भगवान् माताके गर्भमें आते हैं, न कर्मपरवश उनका जन्म होता है और न उनका विग्रह ही उनसे भिन्न—पाञ्चभौतिक होता है। वे भगवान् स्वेच्छामय दिव्य वपुमें प्रकट होते हैं। वे ही जगत्-पिता हैं, सबके जन्मदाता हैं, उन्हींसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका उदय होता है। पर जो भगवान्‌को पुत्ररूपसे स्नेह करते हैं, उन वात्सल्य-प्रेमयुक्त भक्तोंको श्रीभगवान् माता-पिताके रूपमें स्वीकार करके उन्हें धन्य करते हैं। भगवती देवकी अनन्य वात्सल्य-प्रेमसे श्रीभगवान्‌को पुत्ररूपमें प्राप्त करना चाहती थीं, इसीलिये उनमें वात्सल्य-प्रेमको और अपने प्रति पुत्र-भावको सुदृढ़ करनेके लिये अपने आविर्भावसे पहले भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति—स्वजन-मनमोहिनी मायासे देवकीमें गर्भलक्षण उत्पन्न कर दिये थे। वे असलमें गर्भमें नहीं आये थे। उनका चतुर्भुज दिव्य रूपसे प्रकट होना यही प्रत्यक्ष सिद्ध करता है। तथापि देवकीजीने

समझा कि मेरे गर्भसे ही पुत्र उत्पन्न हुआ है। इसीसे वे पूर्ण वात्सल्यसे पुत्ररूपी भगवान्का लालन-पालन करती हैं। इस अगाध वात्सल्य-प्रेमसागरमें भगवान्की सारी भगवत्ता डूब जाती है। पर जहाँ ऐश्वर्यज्ञानमिश्रित वात्सल्य-प्रेम होता है, वहाँ बीच-बीचमें भगवत्ताकी स्फुरणा भी होती है। अवश्य ही वह स्थायी नहीं होती। श्रीदेवकीजी और श्रीवसुदेवजीका वात्सल्यप्रेम ऐश्वर्य-ज्ञानमिश्रित था, इससे समय-समयपर उन्हें अपने पुत्र श्रीकृष्णमें भगवान्का बोध भी हुआ करता था। इसीसे वे लालन-पालनके साथ ही इनकी स्तुति-प्रार्थना भी करते थे। ऐश्वर्य-ज्ञानविहीन सर्वथा विशुद्ध प्रेम तो वृन्दावनमें था और उसकी बड़ी ही मधुर अभिव्यक्ति वृन्दावन-लीलामें देखी जाती है।

भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त विष्णु हैं और वे ही भक्तके प्रेमानुरूप क्षुद्र बालकरूपधारी हैं। वे सदा ही बृहत् और सदा ही क्षुद्र हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्।

वे ही सबके हृदयोंमें व्याप्त अन्तर्यामी हैं, वे ही सर्वातीत हैं और वे ही सर्वगुणमय, लीलामय, अखिलरसामृतमूर्ति श्रीभगवान् हैं। पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, मन्वन्तरावतार, अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, प्राभवावतार, वैभवावतार और परावस्थावतार—सभी उन्हींसे होते हैं। वे ही सब अवतारोंके अवतारी साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। समस्त अवतार उन्हींके अन्तर्गत हैं। उन्हींमें सब सम्मिलित हैं; क्योंकि सब कुछ वे ही हैं। वैवस्वत मन्वन्तरके अष्टाविंश चतुर्युगके द्वापरमें प्रकट होनेवाले ये भगवान् ही सबकी प्रतिष्ठा, सबके अवतारी, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वरूप, नित्य सगुण, नित्य निर्गुण, अचिन्त्यानन्तगुणसमुद्र, अखिलप्रेमरसामृतसिन्धु, षोडश-कलापूर्ण, षडैश्वर्यसम्पन्न, हानोपादानरहित, दिव्यसच्चिदानन्दमय-विग्रह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। साथ ही, वे पूर्ण आदर्श मानव, सकल-कला-पूर्ण, परम योगीश्वर, लोकनेता, परम-राजनीतिक, राज्यनिर्माता, राज्यत्यागी, धर्मोपदेष्टा आचार्य, सौन्दर्यमाधुर्य-निधि, सर्व-चित्ताकर्षक, मुनिमनमोहन, आत्मारामगणाकर्षी, मधुर प्रेमी, प्रेम-परवश और जन-वत्सल स्वजन हैं।

जिस किसी भी दृष्टिसे इनको देखा जाय, उसीमें इनके परिपूर्णतम दर्शन होते हैं।

विषयासक्ति और भोगवासनामें फँसे हुए, मायामोहके पदाघातसे जर्जरित और स्पन्दनहीन जगत्‌के प्राणी कभी भी तनिक चेतना प्राप्त करके, विश्वासके नेत्रोंको खोलकर एक बार देखें तो उन्हें पता लगेगा कि भाद्रमासकी इस कृष्णाष्टमीको पाकर पृथ्वी स्वर्गकी अपेक्षा भी परम श्रेष्ठ हो गयी। हम पृथ्वीके जीव समझें या न समझें, इस सर्वपूज्य तिथि तथा इस मध्य निशाको पाकर पृथ्वी धन्य है, पृथ्वीके जीव धन्य हैं, पृथ्वीके आकाश-वायु-अग्नि धन्य हैं। पृथ्वीके नद-नदी-सरोवर धन्य हैं, पृथ्वीके पर्वत-समुद्र धन्य हैं, पृथ्वीके सूर्य-चन्द्र धन्य हैं, पृथ्वीके सभी पदार्थ धन्य हैं और जिस ब्रह्माण्डमें यह पृथ्वी है, वह ब्रह्माण्ड धन्य है। एवं इस तिथिको माननेवाले भी सब धन्य हैं तथा सभीके प्रति साष्टाङ्ग प्रणाम करके मैं भी धन्य होता हूँ। भगवान्‌का आविर्भाव होनेवाला ही है। उपर्युक्त वर्णनके अनुसार हम सभी आनन्द-श्रृङ्गारसे अपने-अपने मनोंको सजाकर उनके स्वागतकी तैयारी करें।

अन्तमें मैं इस पुरानी प्रार्थनाको बार-बार दुहराकर भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। आप भी, चाहें तो, मेरे साथ ही मन-ही-मन यह प्रार्थना कर सकते हैं—

जाहि देखि, चाहत नहीं कछु देखन मन मोर।
बसै सदा मोरे दृगनि सोई नंदकिसोर॥
तन-मन सब लिपटे रहें नित प्रियतमके अंग।
भुक्ति मुक्ति की कल्पना करै न यह सुख भंग॥
भूलि जाय सुधि जगत की, भूलै घर की बात।
हिय सौं हिय लागौ रहै बिनु बाधा दिन रात॥
इंद्रिय-मन-बुधि-आतमा बनैं स्याम के धाम।
सब मैं सदा बसौ रहै प्रियतम मधुर ललाम॥

बोलो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय।

श्रीकृष्णका प्राकट्य

(सं० २०१४ वि० के श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर प्रवचन)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी स्मृति सदा बनी रहती है तो उसके प्रभावसे समस्त पापों तथा अशुभोंका नाश, कल्याणकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्ययुक्त ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है।' आज उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवका मङ्गलमय दिवस है; इस महान् मङ्गलमय अवसरपर आप, हम सब भगवान् श्रीकृष्णका पवित्र स्मरण करके जीवनको पवित्र और मङ्गलमय बनायें।

अवतार तथा अवतारके कारण और स्वरूप

अवतारका अर्थ है—अवतरण, परब्रह्मका उतरना। भगवान् सर्वातीत हैं, सर्वमय हैं, सर्वव्यापक हैं, सदा-सर्वत्र विराजित हैं; पर उन्होंने अपनी 'सर्वभवन-सामर्थ्य'से—मायासे—योगमायासे अपनेको ढँक रक्खा है। अपनी इच्छासे ही लीलाके लिये कभी-कभी वे इस आवरणको किसी अंशमें हटाकर लोकके सामने प्रकट हो जाते हैं, यही उनका अवतरण है। इसीका नाम अवतार है। यह अवतार स्वयं अक्षर ब्रह्म, भगवान् विष्णुका भी होता है और किसी शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर भी होता है। भगवान्के इस

अवतारको श्रीशङ्कराचार्य-सरीखे अद्वैतवादी महापुरुषोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । जो लोग यह कहते हैं कि 'कोई मनुष्य अपनी उन्नति करते-करते जब महान् गुणोंसे सम्पन्न होकर उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उसीको भगवान्का अवतार कहते हैं,' उनका यह कहना ठीक नहीं है । यह तो 'आरोहण' है—चढ़ना है, अवतरण—उतरना नहीं । भगवान् तो अवतरित होते हैं ।

ये अवतार अनेक प्रकारके होते हैं—लीलावतार, पुरुषावतार, अंशावतार, कलावतार, गुणावतार, युगावतार, आवेशावतार, विभवावतार और अर्चावतार आदि । सभी अवतारोंमें लीलाके लिये अवतरण होता है, अतः सभीको अवतार कहा जाता है और इन अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है । जब सबका भगवान्से प्रादुर्भाव है, तब सभी पूर्ण हैं । शास्त्र कहते हैं—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वैर्गुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥

'ये सभी नित्य हैं, शाश्वत हैं; इनके हानोपादानरहित अप्राकृत देह हैं, प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हैं। ये जन्म-मृत्यु आदि सर्वदोषोंसे रहित, सर्वगुण-सम्पन्न, पूर्ण और ज्ञानस्वरूप, परमानन्दसंदोह हैं ।' इनमें देश, काल या शक्तिके कारण किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है । शक्तिके प्रकाशकी न्यूनाधिकतासे ही इनमें तारतम्य माना जाता है । एक बलवान् पुरुषमें पाँच मन बोझ उठानेकी शक्ति है; पर जहाँ एक छटाँक वजन ही उठाना है, वहाँ एक छटाँक वजन उठानेपर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाँच मन उठानेकी शक्ति नहीं है । शक्ति तो पूरी है, पर वहाँ शक्तिके प्रकाशका प्रयोजन नहीं है । इसी प्रकार पूर्ण शक्तिमान् भगवान्के अवतारमें प्रयोजनानुसार किसीमें कम शक्तिका प्रदर्शन है, किसीमें अधिकका । इस शक्तिके प्राकट्य और अप्राकट्यके तारतम्यको लेकर ही पूर्णत्व और अंशत्वका कथन है । इसीसे कहा गया है—

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः॥

"भगवान् जब अपने अशेष गुणोंको प्रकट करते हैं, तब वे 'पूर्णतम' कहे जाते हैं; जब सब गुणोंको प्रकट न करके बहुत-से गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्णतर' और जब उनसे भी कम गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्ण' कहलाते हैं!" श्रीलघुभागवतामृतमें कहा है—

अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता।
पूर्णत्वं च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता॥

"अनन्तशक्तिशाली भगवान् जब अल्पशक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब वह अवतार 'अंश' कहलाता है और जिसमें अपनी इच्छासे बहुत-सी शक्तियोंको प्रकट करते हैं, वह 'पूर्ण' कहा जाता है।"

शक्ति क्या है? इस विषयमें कहा है—

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा और तेज आदि गुण ही शक्ति कहलाते हैं। इन शक्तियोंका प्राकट्य और अप्राकट्य ही तारतम्यका कारण है।' नहीं तो भगवान्‌के सभी अवतार पूर्ण हैं।

जहाँ जैसा लीलाक्षेत्र होता है, वहाँ उसीके अनुसार शक्तिका प्रकाश होता है—शक्ति समान होनेपर भी वहाँ प्राकट्यके भेदसे फलमें भी भेद दिखायी देता है। जैसे—

शक्तिः समापि पुर्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः।
शीताद्यार्तिं च येनाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत्॥

'नगरको जलानेके लिये एक दीपकमें जो शक्ति है, अग्निपुञ्जमें भी वही शक्ति है; (इस दृष्टिसे) दोनों समान हैं। पर अग्निपुञ्जकी एक विशेषता है—शीतादि कष्टको दूर करना हो तो वह दीपककी ज्योतिसे नहीं होता; शीतनाशका सुख तो अग्निपुञ्जसे ही मिल सकता है।'

इसी प्रकार अवतारोंकी अंश-कलादिरूपमें अभिव्यक्ति होती है।

परब्रह्म भगवान्‌के ही रूपान्तर भूमापुरुष अन्तर्यामी भगवान् शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर असुरसंहार, साधुसंरक्षण तथा धर्मस्थापनादिरूप लीलाके लिये अपने इच्छानुसार देश आदिके आवरणको हटाकर ज्ञान या क्रियारूप अंशसे लोकमें प्रकट होते हैं; तब उन्हें 'अंशावतार' कहा जाता है। पर कभी-कभी अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण 'स्वयं भगवान्' परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम किसी सत्त्वादिको आधार न बनाकर अपने नित्य अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूपसे—जो दिव्य शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिरूपसे अप्रकट है—असुरोद्धार, साधुपरित्राण, धर्मस्थापनादि प्रयोजनको लेकर प्रधानतया साधननिरपेक्ष अपने सम्बन्ध या दर्शनमात्रसे ही सबका उद्धार करनेके लिये अपने माधुर्य और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपसे अंशांशसहित अपनेको इच्छित लोकमें प्रकट करते हैं, तब उसे 'पूर्णावतार' कहते हैं। यह अवतार कहलानेपर भी वस्तुतः 'स्वयं भगवान्‌का पूर्ण आविर्भाव' होता है। ऐसा पूर्ण आविर्भाव बहुत कम हुआ करता है। यही परात्पर ब्रह्मका पूर्णाविर्भाव पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्णावतार अनेक कल्पोंमें होता है, परंतु स्वयं भगवान्‌का पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें ही होता है। इस परिपूर्णाविर्भावमें समस्त अंश-कलाओंका भी समावेश रहता है—जैसे स्वाभाविक ही करोड़ रुपयोंमें सौ, दो सौ, हजार, दो हजारका रहता है। इसीसे श्रीकृष्णको नारायण ऋषिके अवतार, अंशावतार, भगवान् श्रीनारायणके कृष्णकेशावतार, क्षीरोदशायी, सहस्रशीर्षा, वैकुण्ठाधिपति महानारायण, श्वेतद्वीपपति विष्णु भी कहते हैं और इसीसे इस साधननिरपेक्ष उद्धार करनेवाले आविर्भावमें भी असुरोद्धार, साधुपरित्राण और धर्मसंस्थापन आदि अंशकलावतारोंके कार्य भी सुसम्पन्न होते देखे जाते हैं। परंतु वास्तवमें श्रीकृष्ण साक्षात् परात्पर पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्वमय, सर्वातीत, अप्रमेय, दिव्यानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुणरहित, स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणवारिधि, आनन्दाकार, सर्वशक्तिविशिष्ट, अंशकलापूर्ण 'स्वयं भगवान्' हैं। अन्य अवतार 'अंश-कला' हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

'भगवान्' शब्दका अर्थ

अष्टाङ्गयोगी लोग इन्हीं भगवान्को 'परमात्मा', उपनिषद्-निष्ठ वेदान्ती 'ब्रह्म' और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' कहते हैं——

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

(स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें कहा है——

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

श्रीकृष्ण ही ये 'स्वयं भगवान्' हैं, श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। 'भगवत्' शब्दकी निरुक्ति है——

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

'अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्य——ये छः भग जिसमें स्वरूपभूत रूपसे नित्य वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज——इनका नाम भग है। ये सब अनन्तरूपसे जिसमें वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य निरन्तर स्वरूपतः वर्तमान हैं।

'न्यायविवरण'में भगवान् वासुदेवकी पूर्णताके सम्बन्धमें कहा गया है——

पूर्णानन्दः पूर्णभुक् पूर्णकर्ता पूर्णज्ञानः पूर्णभाः पूर्णशक्तिः।
पूर्णैश्वर्याद् भगवान् वासुदेवो विरुद्धशक्तिर्न च दोषस्पृगीशः॥

'षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में पूर्ण आनन्द, पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, विरुद्धशक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व विद्यमान हैं।'

भगवान्‌में विरुद्ध धर्मोंका आश्रय

भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं; जो विरुद्धधर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने ब्रह्ममें विरुद्धधर्मोंका समाश्रय बतलाया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है।'

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। (कठ० १।२।२१)

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सब ओर चला जाता है।'

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके। (ईश० ५)

'वह चलता है, और नहीं भी चलता; वह दूर है, और पास भी है।'

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।

(नृसिंहोत्तरतापनीयोप० षष्ठ खण्ड)

'जो तुरीय भी, अतुरीय भी, आत्मा भी है और अनात्मा भी, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी, वीर भी है, अवीर भी है, महान् भी है, अमहान् (अल्प) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।'

पुराणोंमें कहा है—

अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः॥

(ब्रह्मपुराण)

यों नित्य युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय परब्रह्मका लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए ही जन्म ग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्धधर्माश्रय होनेका वर्णन

किया है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है। ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो।' गीतोक्त यह कथन भी 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'का ही वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्ण महान् भोगी होकर भी परम योगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्ता होकर भी सदा अकर्ता, दृश्य होकर भी अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्म लेनेवाले होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, (प्रेमीके सामने) महामुग्ध होकर भी परम चतुर, (प्रेमके राज्यमें) सकाम होकर भी नित्य पूर्णकाम, (प्रेमराज्यमें) दीन होकर भी नित्य अदीन, भक्त-प्रेमवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धन-युक्त होकर भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, भक्तगम्य होकर भी परम अगम्य, ममतायुक्त होकर भी नित्य निर्मम, अनेक होकर भी सदा एक, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्यतृप्त और सर्वसम्बन्धयुक्त होनेपर भी सर्व-सम्बन्धविरहित हैं। ये बातें उनके लीलाचरितमें सुस्पष्ट हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह स्वयं भगवान्

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनका वह स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है। वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छासे अपने नित्य सच्चिदानन्दवपुको प्रकट करते हैं—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

पद्मपुराण, पातालखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे लीला-स्वरूप भगवान् श्रीरुद्रको दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक निष्क्रिय ब्रह्मरूपकी व्याख्या करते हुए कहा है—"रुद्र! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूपको देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है, सच्चिदानन्दमय है। मेरा यह रूप पाञ्चभौतिक आकारवाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओंसे ही यथार्थ देखा जाता है; इसलिये वेद इसे 'निराकार' कहते हैं। प्राकृतिक सत्त्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत—स्वरूप-

भूत हैं तथा उन दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है; इससे मुझे 'निर्गुण' कहा गया है। मैं अपने चैतन्य अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझको 'व्यापक' ब्रह्म कहा जाता है। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं; इसलिये शास्त्र मुझको 'निष्क्रिय' कहते हैं।"

अतएव श्रीकृष्णका श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णस्वरूप ही है। महाभारतमें श्रीकृष्णका परब्रह्म होना स्थान-स्थानपर सिद्ध है—उनकी लीलासे भी और उनके सम्बन्धमें कहे हुए महापुरुषोंके वचनोंसे भी।

सच्ची बात तो यह है कि महाभारतके महानायक ही हैं—सच्चिदानन्दघन अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वात्मा परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण। समस्त महाभारत आद्यन्तमध्यमें भगवान् श्रीकृष्णके गुण-माहात्म्यसे ही परिपूर्ण है। भगवान् व्यासदेव, मार्कण्डेयमुनि, नारद, अङ्गिरा, भृगु, सनत्कुमार, असित, देवल, परशुराम, भगवान् ब्रह्मा, पितामह भीष्म आदिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका महाभारतमें स्थान-स्थानपर विशद वर्णन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपना महत्त्व बतलाया है। यहाँ भीष्मपितामहके दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥
वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम्।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ॥
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥

(भीष्मपर्व अ० ६६।६७)

'राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वलोकमय, सनातन, अविनाशी, नित्य शासक, धरणीधर और अचल हैं। इन चराचर-गुरु भगवान् श्रीहरिने तीनों लोकोंको धारण कर रक्खा है। ये ही विजयी हैं, ये ही विजय हैं, ये ही योद्धा हैं और सबके परमकारण परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप तथा तम और रजसे विवर्जित हैं। ये श्रीकृष्ण जहाँ हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं, ये समस्त देवताओंके परम आराध्य हैं। कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर या इनके अतिरिक्त दूसरा कोई दिखायी ही नहीं देता। ये भगवान् ही सर्वभूतमय हैं, ये ही सबके आत्मा हैं, ये ही महात्मा हैं और पुरुषोत्तम हैं। नरनाथ ! ये भगवान् केशव सम्पूर्ण लोकोंके पितामह हैं। ये परम तेज हैं। मुनिजन इनको हृषीकेश कहते हैं। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। भगवान् जनार्दन महान् भयमें निमग्न उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं।'

महाभारतका गहराईसे अध्ययन-मनन करनेवाले पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि महाभारतके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। महाभारतके आदिपर्वमें ही कहा गया है—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनः।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते।
यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्॥

'इस महाभारतमें सनातन भगवान् वासुदेवकी महिमा ही गायी गयी है। वे ही सत्य हैं, वे ही ऋत हैं, वे ही पावन और पवित्र हैं। वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं, नित्य अविचल ज्योतिःस्वरूप सनातन पुरुष हैं। मनीषी विद्वान् उन्हींकी दिव्य लीलाओंका वर्णन करते हैं। यह सत् और असत्‌रूप सारा विश्व उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। ध्यानयोगके बलसे समन्वित जीवन्मुक्त

संन्यासीगण दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति अपने अन्तःकरणमें इन्हीं परमात्माका साक्षात्कार करते हैं।'

भगवत्पादाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थ महोदयने 'श्रीमहाभारततात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थमें इस बातको उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया है।

महाभारतान्तर्गत विश्वविख्यात सर्वलोकसमादृत श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

'धनंजय! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रकी मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५।१८)

"मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ। इससे लोक-वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।"

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(१०।३९)

'अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, वह मैं ही हूँ। चराचरमें कोई ऐसा भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो।'

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९।१८)

'मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान तथा अविनाशी कारण हूँ।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्यधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ—सबका आधार हूँ।'

मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(१०। ८)

'सब मुझसे ही प्रवर्तित है।'

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

(७। ६)

'मैं सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय हूँ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

(५। २९)

'मैं समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर हूँ।'

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

(१०। ४२)

'इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैंने एक अंशमें धारण कर रक्खा है।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(६। ३०)

'जो मुझे सर्वत्र देखता है, जो सबको मुझमें देखता है।'

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

(९। २४)

'मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ।'

अर्जुनने गीतामें कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

(१०। १२)

'भगवन्! आप परमब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र, सनातनपुरुष, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु हैं।'

श्रीमद्भागवतमें तो श्रीकृष्णके परब्रह्मत्व, उनकी स्वयं भगवत्स्वरूपता तथा उनके अनन्त महत्त्वका ही वर्णन श्रीव्यासदेवजीने किया है। उसकी तो रचना ही उन्हींकी स्वरूपव्याख्या तथा लीलाकथाके वर्णनके लिये हुई है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि "जब भगवान् श्रीकृष्ण 'पूर्ण परात्पर ब्रह्म', 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा', सर्वथा सच्चिदानन्दमयस्वरूप हैं, तब उनका स्वरूप और आकार प्राकृत तथा उनके कार्य—स्नान, भोजन-शयनादि तथा अन्यान्य व्यवहार-बर्ताव प्राकृत मनुष्यके-से क्यों दिखायी पड़ते हैं ?" इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान् स्वयं 'सर्व-भवन-समर्थ' हैं—वे चाहे जैसे बन सकते हैं और यहाँ तो वे मनुष्य-लीला ही करते हैं। दूसरे, उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका उत्तर गीतामें दे दिया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७।२५)

'मैं समस्त लोगोंकी दृष्टिमें प्रकाशित नहीं होता। इसलिये मूढ़ लोग मेरे इस अजन्मा और अविनाशी स्वरूपको नहीं जान पाते—मुझको जन्म-मृत्युशील प्राकृत देहधारी मानते हैं।'

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(९।११)

'मैं सम्पूर्ण भूतोंका महान् ईश्वर हूँ, मेरे इस परमभाव (उत्कृष्ट माहात्म्य) को वे मूढ़लोग नहीं जानते और मुझे मनुष्यके सदृश शरीर धारण किये देखकर प्राकृतशरीरधारी मनुष्य मान लेते हैं और मेरा अपमान करते हैं।'

श्रीयामुन मुनिने कहा है—

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्........................ ।

उस ब्रह्म और श्रीकृष्णमें वैसा ही एकत्व है, जैसा किरणोंमें और सूर्यमें होता है।

अतएव दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रसविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्धधर्माश्रयी साक्षात् पूर्णब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु हैं।

गीतामें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत और भगवान् श्रीकृष्णका महत्त्व

उन्होंने गीतामें अवतारके प्रसङ्गमें अपने इस पूर्णाविर्भाव तथा अपने अंशावतारोंका वर्णन सांकेतिक भाषामें सूत्ररूपसे बहुत सुन्दर किया है। वे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४। ६-८)

इन श्लोकोंका साधारण शब्दार्थ है—

'मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको (अपने स्वभावको) स्वीकार करके अपनी मायासे (योममायाको साथ लेकर) उत्पन्न—उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)।

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ।

'साधु पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनके लिये मैं युग-युगमें उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)।'

साधुओंका परित्राण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण-संस्थापन—भगवदवतारके ये तीन कार्य सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनोंका वर्णन तथा इनके लिये प्रकट होनेकी बात आठवें श्लोकमें आ जाती है। फिर छठे श्लोकमें 'सम्भवामि' और सातवेंमें 'आत्मानं सृजामि' कहनेकी क्या आवश्यकता थी? तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे अपने प्रकट होनेकी बात ही कही गयी है—छठे तथा आठवें दोमें 'सम्भवामि', सातवेंमें 'आत्मानं सृजामि' कहा है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है—तीन श्लोकोंमें तीन प्रकारके अवतारोंका

संकेत है। मैं अज, अव्ययात्मा और सर्वभूतमहेश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके आत्ममायासे प्रकट होता हूँ, इसमें अपने 'विरुद्धधर्माश्रयी' परब्रह्म स्वरूपके पूर्णाविर्भावका संकेत है। दूसरेमें सदुपदेशके द्वारा धर्मग्लानि तथा अधर्मके अभ्युत्थानका नाश करनेवाले 'आचार्यावतार'का संकेत है तथा तीसरेमें साधुसंरक्षण, दुष्टदलन और धर्मसंरक्षण-संस्थापन करनेवाले 'अंशावतार' का संकेत है।

श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं—यह गीताके उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' और 'आत्ममायया सम्भवामि' पदोंके गाम्भीर्यपर ध्यान देकर समझनेसे और भी सुस्पष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वरूप तथा इसकी लीलाओंके जानने-समझनेका फल बतलाते हुए कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(४।९)

'अर्जुन! मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो मनुष्य तत्त्वसे—यथार्थरूपसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, (वह जन्म-मरणसे छूटकर) मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिस जन्म और जिन कर्मोंको जाननेसे जाननेवालेका जन्म होना बंद हो जाय, वे जन्म-कर्म कैसे विलक्षण हैं और वे केवल भगवान्के ही हो सकते हैं—यह सहज ही समझमें आ सकता है।

आज इन्हीं ज्ञानविज्ञानस्वरूप, पूर्ण परात्पर ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वातीत, सर्वमय, षडैश्वर्यपरिपूर्ण, अचिन्त्यानन्तैश्वर्यशक्तिस्वरूप, महान् योगेश्वरेश्वर, प्रकृति-स्वामी, अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगणाकर, पञ्चाशत्-ईश्वरीयगुणसम्पन्न, सकलगुणमय, नित्य निर्गुण, स्वरूपभूतदिव्यगुणसम्पन्न, सदास्वरूपसम्प्राप्त, सर्वज्ञ, नित्यनूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, सर्वसिद्धिनिषेवित, आदर्श कर्मयोगी, धर्मसंस्थापक, दुष्ट-दलन, असुरोद्धारक, हतारिगतिदायक, गीतोपदेशक, अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यस्वरूप, प्रेमानन्दरसमय, शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुररसनिषेवित, श्रीराधानायक, श्रीराधात्मस्वरूप, श्रीराधापादाब्ज-

मधुकर, श्रीराधाप्राणेश्वर, श्रीराधाराधित, श्रीगोपीजनमनमोहन, श्रीगोपीकान्त, श्रीगोपीजनजीवनधन, मुरलीमनोहर, शिखिपिच्छधारी, श्रीमथुरानायक, श्रीरुक्मिणीरमण, श्रीद्वारकाधीश, दिव्यनायक, दिव्यसखा, दिव्यबालक, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पुत्र, आदर्श प्रेमी, सकलकलानिपुण, नृत्यगीतवाद्यविशारद, ललितकलाकुशल, अश्वचालनकलाचतुर, भक्तप्रिय, भक्तभक्तिमान्, भक्तभयहारी, भक्तसर्वस्व, भक्तचरणरजोऽभिलाषी, भक्त-प्रतिज्ञारक्षक, भक्ताधीनस्वभाव, भक्तऋणयुक्त, शरणागतवत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन, देवकी-वसुदेव-कुमार, नन्द-यशोदा-नन्दन, व्रज-बालक, व्रज-बालसखा, सुदामार्जुनसखा, पाण्डवदूत, कृष्णासखा, परमवदान्य, परमशूर, परमराजनीतिज्ञ, शौर्य-वीर्य-निधि, युद्ध-कला-विशारद, शार्ङ्गधन्वा, रण-नीति-निपुण, महापुरुषप्रधान, अखिलजगद्गुरु, महान् आदर्श पुरुष, महामानव, लोकनायक, लोकसंग्रहकारी, इन्द्रियमनोवशकारी, अद्भुतजन्मकर्मा, षोडश-कलापूर्ण, सच्चिदानन्दघनविग्रह भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य-महोत्सव है। ये भगवान् नित्य हैं, इनकी लीला नित्य है। तथापि इनका प्राकट्य होता है भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको।

श्रीकृष्णका आविर्भाव

भाद्रपदकी अँधियारी अष्टमीकी अर्धरात्रिको कंसके कारागारमें परम अद्भुत चतुर्भुज नारायणरूपसे इनका प्राकट्य हुआ। देवकी इनके चतुर्भुज रूपकी तीव्र प्रभाको नहीं सह सकीं और बोलीं—'विश्वात्मन्! अपने इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अलौकिक रूपको छिपा लो।' भक्तवत्सल भगवान्ने श्रीवसुदेव-देवकीको उनके पूर्व-पूर्व जन्मोंकी याद दिलाकर बताया कि 'मैं सर्वेश्वर प्रभु ही तुम्हारा पुत्र बना हूँ' और फिर प्राकृत शिशुका-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार शिशुरूप भगवान्को नन्दालयमें श्रीयशोदाके पास सुलाकर बदलेमें यशोदात्मजा जगदम्बा महामायाको ले आये। भगवान् शिशुको ले जाने, वहाँ सुलाने और कन्याको लेकर कारागारमें लौट आनेकी क्रियाको भगवान्की मायासे किसीने नहीं जाना। नन्दालयमें तो कुछ भी, किसीको भी पता नहीं लगा।

श्रीविष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवतमें इस लीलाका तथा इसके आगेकी समस्त लीलाओंका बहुत सुन्दर वर्णन है। उसे पढ़-सुनकर जीवनको सफल बनाना चाहिये।

हमारे पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बहुत सुन्दर लिखा है—

भादौं की थी असित अष्टमी निशा अँधेरी।
रस की बूँदें बरस रहीं फिर घटा घनेरी॥
मधु निद्रा में मत्त प्रचुर प्रहरी थे सोये।
दो बंदी थे जगे हुए चिन्ता में खोये॥
सहसा चन्द्रोदय हुआ ध्वंस हेतु तम वंश के।
प्राची के नभ में तथा कारागृह में कंस के॥

प्रसव हुआ, पर नहीं पेट से बालक निकला।
व्यक्त व्योम में विमल विश्व का पालक निकला॥
वय किशोर, घनश्याम मनोहर आभा तन की।
मोहक छवि थी अमित इन्दु, शतकोटि मदन की॥
चार भुजाओंमें गदा, शङ्ख, चक्र थे, पद्म था।
मन्दिर की ले मान्यता वन्दित बंदी-सद्म था॥
पिता हुए आश्चर्य चकित, थी विस्मित माता।
अद्भुत शिशु वह मन्द-मन्द हँसता, मुसकाता॥
सुनकर अपना स्तवन मुदित हो मुख से बोला।
गूढ़ रहस्य अतीत जन्म का मानो खोला॥
'माँगा मुझ-सा पुत्र था तुमने कर आराधना।
सिद्ध हुई वह पूर्व की आज तुम्हारी साधना॥

डर न कंस का करो, मुझे गोकुल पहुँचाओ।
और यहाँ नवजात नन्दतनया को लाओ॥'
यों कह लौकिक बाल सदृश होकर वह रोया।
क्लेश असह वसुदेव-देवकी का सब खोया॥
सुरसुन्दरियों के सुभग हाथ सुमन से सज उठे।
घन-गर्जन के साथ ही देव नगारे बज उठे॥

एक एक कर बाधाओं की कड़ियाँ टूटीं।
पैरों की बेड़ी टूटी, हथकड़ियाँ छूटीं॥
लोह अर्गला हटी, खुल गये सब दरवाजे।
सोये प्रहरी सभी, खड़े थे जो सब साजे॥

दोनों जननी जनक के दूर हुए बन्धन वहाँ।
क्यों न मुक्त हों, मुक्ति के आये जीवन धन वहाँ ॥

कुसुम वृष्टि हो रही, सृष्टि थी रस में डूबी।
पुत्र वत्सला एक व्यथा से बैठी ऊबी ॥
सुत को उर से लगा देवकी दुख से रोई।
मेरे लल्ला को मत मुझ से छीने कोई ॥
धीरज दे, वसुदेव प्रिय शिशु को अपनी गोद ले।
प्रस्थित गोकुल को हुए, शेष छत्र बनकर चले ॥

कालिन्दी बढ़ रही, न मिलती थाह कुछ कहीं।
चञ्चल तुङ्ग तरङ्ग भयानक भँवर उठ रहीं ॥
कण्ठ मग्न थे पिता, पुत्र ने पाँव बढ़ाया।
ले पद पद्म पराग नदी ने शीश चढ़ाया ॥
कैसा जादू-सा हुआ, बाढ़ कहाँ को बह गयी।
वह अगाध जलराशि थी घुटनों तक ही रह गयी !!

सुप्त यशोदा गोद मोद प्रद बालक देकर।
लौट गये वसुदेव नन्द तनया को लेकर ॥
मिला अमित आनन्द नन्द को चौथेपन में।
अतिशय भरा उछाह गोप गोपीजन मन में ॥
बजी बधाई नंद घर, बंदी यश गाने लगे।
वसन-विभूषण-रत्न-धन द्विज-याचक पाने लगे ॥

महानुभावोंकी विलक्षण मान्यता

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके महानुभाव तो मानते हैं कि जिस समय कारागारमें श्रीवसुदेव-देवकीके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे, उसी समय नन्दबाबाके घरपर भी यशोदानन्दन प्रकट हुए थे। श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्धके पञ्चम अध्यायके प्रथम श्लोकमें आया है—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।

'श्रीनन्दजीके आत्मज (पुत्र) उत्पन्न होनेपर उन महामनाको परमाह्लाद हुआ।' श्रीनन्दजीके यहाँ भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट न हुए होते तो शुकदेवजी 'आत्मज उत्पन्ने' पुत्र पैदा हुआ न कहकर **'स्वात्मजं मत्वा'** 'अपना पुत्र मानकर' कहते। इन महानुभावोंका कहना है कि

श्रीवसुदेव-देवकीकी भक्ति ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्यमयी थी और श्रीनन्द-यशोदाकी ऐश्वर्यगन्धशून्य विशुद्ध वात्सल्यमयी। इसीसे वसुदेव-देवकीके सामने भगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज अद्भुत बालकके रूपमें आविर्भूत हुए। भगवान्‌के इस ऐश्वर्यमय रूपको देखकर उन्होंने समझा कि श्रीभगवान् नारायण हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं; अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर इनकी स्तुति की और भगवान्‌ने भी पूर्व-जन्मोंकी स्मृति दिलाकर अपने साक्षात् भगवान् होनेका परिचय दिया। इसमें ऐश्वर्य प्रत्यक्ष है। तदनन्तर वात्सल्यभावका उदय होनेपर कंसके भयसे उन्होंने भगवान्‌से बार-बार चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज साधारण शिशु बननेके लिये अनुरोध किया।

इससे यह सिद्ध है कि श्रीवसुदेव-देवकीका वात्सल्य-प्रेम ऐश्वर्यमिश्रित था और भगवान्‌का ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूप ही उनका आराध्य था तथा वे उसीको पुत्ररूपमें प्राप्त करना तथा देखना चाहते थे। परंतु श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य-प्रेम विशुद्ध था, उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका तनिक भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही आविर्भूत हुए और उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। पुत्र समझकर गोदमें उठा लिया और नवजात बालकके कल्याणार्थ जातकर्मादि करवाये।

यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् उसी रूपमें भक्तके सामने प्रकट होते हैं, जो रूप भक्तके मनमें होता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने कहा है—

यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

'भगवन्! आपके भक्त जिस स्वरूपकी निरन्तर भावना करते हैं, आप उसी रूपमें प्रकट होकर भक्तोंकी कामना पूर्ण करते हैं!'

श्रीमद्भागवतमें जो यह स्पष्ट वर्णन नहीं आया है—इसका कारण यह बताया जाता है कि श्रीशुकदेवजी भक्तराज परीक्षित्‌को कथा सुना रहे थे। परीक्षित्‌का सम्बन्ध वसुदेवजीसे था। अतः उन्हें विशेष

आनन्द देनेके लिये शुकदेवजीने नन्दालयमें भी भगवान्‌के प्रकट होनेका स्पष्ट वर्णन नहीं किया; परंतु उनका प्रेमपूर्ण हृदय माना नहीं और इस श्लोकमें उनके श्रीमुखसे 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' के रूपमें रहस्य प्रकट हो ही गया। श्रीमद्भागवतमें और भी संकेत है—कंसने जब गोकुलसे लायी हुई यशोदाकी कन्याको देवकीकी कन्या समझकर उसे मारनेके लिये शिलापर पटकना चाहा, तब वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी और देवीरूपसे प्रकट हुई। उस समय भागवतमें उसके लिये 'अदृश्यतानुजा विष्णोः' अर्थात् 'कंसने भगवान्‌की अनुजा (छोटी बहिन) को देखा'—यों लिखा है। पर यदि भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रीदेवकीके पुत्र होते तो यशोदाकी कन्याको भगवान्‌की 'अनुजा' कहना युक्तियुक्त तथा सत्य न होता। किंतु परमानन्दघनविग्रह भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् जिस समय कंस-कारागारमें वसुदेव-आत्मजरूपमें प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय गोकुलमें नन्दात्मजके रूपमें भी प्रकट हुए थे तथा उसीके थोड़ी देर बाद योगमाया कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं। श्रीहरिवंशमें आया है—

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥

अर्थात् गर्भकाल पूरा होनेके पहले ही आठवें महीनेमें 'देवकी और यशोदा दोनोंने एक ही साथ प्रसव किया था।' इसपर यह कहा जा सकता है कि 'जिस समय देवकीजीके भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए, उसी समय यशोदाजीके योगमाया प्रकट हुई।' पर ऐसा कहना बनता नहीं; क्योंकि श्रीमद्भागवत (१०।३।४७)में यह स्पष्ट उल्लेख है कि "श्रीभगवान्‌से प्रेरित वसुदेवजीने पुत्रको गोदमें लेकर कारागारसे बाहर निकलनेकी इच्छा की, उस समय 'योगमाया' प्रकट हुई।" अतएव कारागारमें भगवान्‌का और गोकुलमें योगमायाका प्राकट्य आगे-पीछे हुआ, एक ही समय नहीं हुआ था। इसपर यह कहा जा सकता है कि गोकुलमें 'भगवान् प्रकट हुए' इसमें स्पष्ट प्रमाण क्या है? तो इसके समाधानमें 'श्रीकृष्ण-यामल' का कहना है कि नन्दपत्नी यशोदाके यमज संतान हुई थी; पहले एक पुत्र हुआ, तदनन्तर

एक कन्या हुई। पुत्र साक्षात् श्रीगोविन्द थे और कन्या थी स्वयं अम्बिका (योगमाया)। यशोदाकी इस कन्याको ही वसुदेवजी मथुरा ले गये थे—

नन्दपत्न्यां यशोदायां मिथुनं समपद्यत।
गोविन्दाख्यः पुमान् कन्या साम्बिका मथुरां गता॥

इस स्पष्टोक्तिसे योगमायाको 'श्रीकृष्णकी अनुजा' कहा जाना भी सार्थक हो गया।

इसपर फिर कहा जा सकता है—'श्रीवसुदेवजी जब शिशु श्रीकृष्णको लेकर गोकुल गये, तब वहाँ उन्हें केवल शिशु बालिका ही क्यों दिखायी दी, बालक क्यों नहीं दिखायी दिया ? और बालक भी था तो फिर वह बालक कहाँ गया ? वहाँ दो बालक होने चाहिये।' इस शङ्काका समाधान यह है कि इनके वहाँ पहुँचते ही उसी क्षण इनका बालक उस बालकमें विलीन हो गया। इन्हें पता ही नहीं लगा कि वहाँ कोई बालक और भी था। वरं महानुभावोंने यहाँतक माना है कि जिस समय कंसके कारागारमें देवकीने यह प्रबल इच्छा की कि श्रीभगवान्के चतुर्भुज रूपका गोपन हो जाय, उसी समय यशोदाहृदयस्थ भगवान्का द्विभुज बालकरूप उस चतुर्भुज रूपको छिपाकर देवकीके सामने आविर्भूत हो गया (**यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्रीदेवकीच्छाजायत, तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपाच्छादनपूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते—'वैष्णवतोषिणी'**)। यशोदाके यहाँ प्रकट भगवान् वहाँसे तुरंत यहाँ आकर प्रकट हो गये और उनमें भगवान्का शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप तुरंत वैसे ही विलीन हो गया, जैसे बादलमें बिजली विलीन हो जाती है—

वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवोऽखिलात्मनि।
लीनो नन्दसुते राजन्! घने सौदामनी यथा॥

(श्रीकृष्णयामल)

श्रीभागवतमें भी देवकी और यशोदा दोनोंके सामने ही प्रकट होनेका एक संकेत है—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥

(१० । ३ । ८)

यहाँ 'देवकी' शब्द 'देहली-दीपक' न्यायसे श्रीदेवकीजी और श्रीयशोदाजी दोनोंका ही वाचक है; क्योंकि यशोदाजीका भी दूसरा नाम 'देवकी' था । श्रीहरिवंशपुराणमें आया है—

द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च ।
अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया ॥

'नन्दभार्या यशोदाके यशोदा और देवकी—दो नाम थे, इसीलिये उनका नामसाम्यके कारण वसुदेव-पत्नी देवकीसे सख्यभाव था ।'

इस वाक्यसे भी यह कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषामें श्रीशुकदेवजीने दोनों जगह भगवान्‌के प्राकट्यकी बात कह दी ।

एक अस्पष्ट संकेत और भी है—

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३ । ५३)

नन्दपत्नी यशोदाको यह तो ज्ञात हुआ कि संतान हुई है; परंतु श्रम और निद्रा (भगवत्प्रेरित स्वजनमोहिनी माया) के कारण अचेत होनेसे वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या कन्या ।

इससे भी नन्दालयमें भगवान्‌के प्राकट्यका संकेत है ।

महानुभावोंका कहना है कि भगवान्‌के दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म' । 'ऐश्वर' मायायुक्त है और 'ब्राह्म' स्वरूप मायातीत है । अचिन्त्यानन्त-अतुलनीय-कल्याण-गुणगणसम्पन्न स्वमायाविशिष्ट 'ऐश्वर' रूपके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डका सृजन-पालन आदि होता है ।

भगवान्‌का शुद्ध ब्राह्मस्वरूप उत्पादन-पालनादि लीलाओंसे रहित, केवल आनन्द-प्रेममय है। अतः वसुदेवजीके यहाँ जिस रूपका प्राकट्य हुआ था, वह 'ऐश्वर' रूप था और 'नन्दात्मज' रूपसे ब्राह्म-स्वरूप भगवान् अवतरित हुए थे। श्रीवसुदेवजीके यहाँ आविर्भूत 'ऐश्वर'रूप नन्दात्मज ब्राह्मस्वरूपमें विलीन हो गया था। रास आदि मधुरतम लीलाओंमें 'ब्राह्म' स्वरूप प्रकट था और असुरादि-वध, अग्नि-पान आदि लीलाओंमें 'ऐश्वर' स्वरूप रहता था। जब भगवान्‌को श्रीअक्रूरजी मथुरा ले गये, तब 'ऐश्वर' स्वरूपसे भगवान् उनके साथ चले गये और भगवान्‌का विशुद्ध आनन्द-प्रेममय ब्राह्म-स्वरूप गोपनरूपसे गोपाङ्गनाओंके साथ व्रजमण्डलमें रह गया। यही 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'का रहस्य है।

यद्यपि श्रीमद्भागवतमें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा यह क्लिष्ट कल्पना-सी भी है, तथापि महानुभावोंके उपर्युक्त विवेचनके अनुसार श्रीभगवान् 'नन्दात्मज' रूपमें भी अवतीर्ण हुए हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है—भगवान् श्रीकृष्ण रासमण्डलमें कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंमें प्रत्येक दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपमें प्रकट हुए थे। मिथिलामें श्रुतदेव ब्राह्मण और मिथिलानरेश बहुलाश्व दोनों ही भक्तोंके घर एक ही साथ पार्षदोंसहित अलग-अलग गये थे। द्वारकामें नारदजीने सोलह हजार रानियोंमेंसे प्रत्येक रानीके महलमें भगवान् श्रीकृष्णको विभिन्न लीला करते देखा था। ऐसे सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ स्वयं भगवान् श्रीवसुदेव-देवकीके यहाँ कंसके कारागारमें और श्रीनन्द-यशोदाके घर गोकुलमें पृथक्-पृथक् प्रकट हो जायँ, इसमें कौन बड़ी बात है।

जो कुछ भी हो, आज इन लीलामय पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्‌का प्राकट्य-महोत्सव है। आजका दिन समस्त विश्वके लिये मङ्गलमय है। इन्होंने व्रजमें वात्सल्य-सख्य-मधुरभावकी अनुपम लीलाएँ कीं, असुरोंका उद्धार किया, कंसादिका उच्छेद-साधन करके समाज-कल्याण किया, कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें महान् आश्चर्यप्रद सर्वलोककल्याणकारी समस्त देशकालपात्रोपयोगी

विविध अर्थमयी दिव्य भगवद्वाणीस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य गान किया, राज्यों तथा राजाओंका निर्माण किया, स्वयं सदा निरपेक्षस्वरूप स्थित रहकर विभिन्न विचित्र लीलाएँ कीं और अन्तमें अपने दिव्य देहसे ही सबके देखते-देखते परमधामको पधार गये ।

इनके स्वरूप, तत्त्व, रहस्य तथा सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यादि अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणोंका वर्णन कोटि-कोटि जन्मोंमें ब्रह्मा, शेष, शारदा भी नहीं कर सकते—मेरा तो यह अपने मन तथा 'निज गिरा पावन करन हित' उनके गुणोंका किंचित् स्मरणमात्र है । इसमें भी उनकी कृपा ही कारण है । मेरी निस्सीम नीचता और अधमताका पार नहीं और उन सहज कृपालुकी कृपाका पार नहीं । अस्तु,

प्रणाम और प्रार्थना

हमारा यह विश्व, परमपावन भारतभूमि, द्वारकापुरी, कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण, मथुरामण्डल, व्रजभूमि, गोकुल, नन्दालय अति धन्य हैं, जहाँ स्वयं भगवान्‌ने प्रकट होकर विविध प्रकारकी दिव्य और आदर्श लीलाएँ कीं । लोकपितामह ब्रह्माजीके शब्दोंमें हम भी उनके प्रति प्रणाम और प्रार्थना करें—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

अहो ईड्य नव घन तन स्याम । तडिदिव पीत बसन अभिराम ॥
मोर पिच्छ छबि छाजत भाल । नैन बिसाल सु उर बनमाल ॥
रस पुंजा गुंजा अवतंस । कवल बिषान बेत्र बर बंस ॥
मृदु पद बृंदाबिपिन बिहार । नमो नमो ब्रजराज कुमार ॥

बोलो व्रजबाल नन्द-यशोदालालकी जय ।

श्रीकृष्णजन्म-महोत्सव

[भाद्रपद कृष्ण ८, सं० २०१५ वि०को श्रीकृष्णजन्म-भूमि मथुरामें श्रीकृष्ण-मन्दिरके उद्घाटन-महोत्सवपर भाषण]

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

नवीनजलदावलीललितकान्तिकान्ताकृति-
स्फुरन्मकरकुण्डलप्रतिमचारुगण्डस्थलम् ।
प्रफुल्लनलिनायतेक्षणमनुक्षणैकक्षणं
चकास्तु मम मानसं सदयकृष्णतत्त्वश्रिया ॥

भूमण्डलमें सबसे श्रेष्ठ और पवित्र देश है—भारतवर्ष । देवता भी इसमें जन्मग्रहण करनेके लिये लालायित रहते हैं । भारतवर्षमें सप्तपुरियाँ सर्वश्रेष्ठ और परम पवित्र हैं—

अयोध्या[1] मथुरा[2] माया[3] काशी[4] काञ्ची[5] अवन्तिका[6] ।
पुरी द्वारावती[7] चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

इनमें भी स्वयं भगवान्की प्राकट्य-लीलास्थली होनेके कारण अयोध्या तथा मथुराकी विशेषता है । उपर्युक्त श्लोकमें सबसे पहले 'अजन्माकी जन्म-भूमि' इन्हीं दोनों पावन पुरियोंके नाम देकर इनका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है । पद्मपुराणमें मथुराका माहात्म्य बतलाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः
पुरीं मदीयां परमां सनातनीम्।
सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्रसंस्तुतां
मनोरमां तां मथुरां सनातनीम्॥
काश्यादयो यद्यपि सन्ति पुर्य-
स्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या।
यज्जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहै-
र्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम्॥
× × ×
बालकोऽपि ध्रुवो यत्र ममाराधनतत्परः।
प्राप स्थानं परं शुद्धं यन्न युक्तं पितामहैः॥
तां पुरीं प्राप्य मथुरां मदीयां सुरदुर्लभाम्।
खञ्जो भूत्वान्धको वापि प्राणानेव परित्यजेत्॥

'अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है कि दूषित चित्तवाले मनुष्य मेरी इस उत्कृष्ट सनातन एवं मनोरम पुरीको, जिसकी देवराज इन्द्र, नागराज अनन्त और बड़े-बड़े मुनीश्वर भी स्तुति करते हैं, नहीं जानते । यद्यपि काशी आदि अनेक मोक्षदायिनी पुरियाँ हैं, तथापि उन सबमें मथुरापुरी ही धन्य है; क्योंकि यह अपने क्षेत्रमें जन्म, उपनयन, मृत्यु और दाह-संस्कार—इन चारों ही कारणोंसे मनुष्यको मुक्ति देती है । ध्रुवने बालक होनेपर भी जहाँ मेरी (भगवान्‌की) आराधना करके उस परम विशुद्ध धामको प्राप्त किया जो पितामह ब्रह्मा आदिको भी नहीं मिला । वह मेरी मथुरापुरी देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, वहाँ जाकर लँगड़ा-अंधा मनुष्य भी प्राणोंका परित्याग करता है, तो उसकी भी मुक्ति हो जाती है ।'

इस परम पावनी मथुरा नगरीमें कंसके कारागारका वह स्थान परम धन्य है, जहाँ सर्वलोकमहेश्वर, सर्वात्मा, सर्वमय और सर्वातीत योगेश्वरेश्वर स्वयं भगवान्‌का दिव्य प्राकट्य हुआ था और हमलोग भी परम धन्य हैं, जो आज उनके दिव्य जन्म-महोत्सवके इस परम पावन धन्य दिवसपर—उसी परम पावन स्थानपर एकत्र होनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं, जहाँ

उनका दिव्य जन्म हुआ था । हम कृतज्ञ हैं प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजीके तथा आदर्श-चरित्र धर्महृदय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाके—जिनके उत्साह, लगन, सदाग्रह, अध्यवसाय, प्रयत्न तथा उदारतासे यह श्रीकृष्ण-जन्मभूमि पुनः श्रीकृष्णजन्मभूमिकी गौरवको प्राप्त कर सकी । आरम्भसे लेकर अबतकके इसके कार्यसंचालक, इसकी समितिके उत्साही तथा कर्मठ सभी सदस्य समस्त देशवासियोंकी कृतज्ञताके पात्र हैं, जिन्होंने इस पवित्र कार्यमें समय, सम्मति, सत्परामर्श, सहायता और साहस प्रदानकर देशका मुख उज्ज्वल किया है । मेरे सम्मान्य मित्र श्रीभगवानदासजी भार्गव तथा पं० देवधरजी शर्माका तो मैं विशेषरूपसे कृतज्ञ हूँ, जो वर्षोंसे अत्यन्त निर्भीकता, बुद्धिमत्ता तथा उदारताके साथ सारे बाधा-विघ्नोंका सामना करते तथा उन्हें हटाते हुए इस श्रीकृष्णजन्मभूमिके महान् कार्यको आगे बढ़ा रहे हैं । और जिनकी कृपा तथा प्रेमभरे आग्रहसे मुझे सर्वथा असमर्थ एवं अयोग्य होनेपर भी आज यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है । पवित्र व्रजभूमि-के पावन रजका स्पर्श करने, यहाँ इस महान् पवित्र कार्यमें सम्मिलित होने तथा आप सबके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करनेमें मेरे सम्मान्य स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजीका प्रेमभरा व्यक्तिगत आवाहन भी कारण है, अतएव मैं उनका भी हृदयसे कृतज्ञ हूँ ।

श्रीकृष्णजन्मभूमि-उद्धारके इस महान् कार्यसे 'देशका मुख उज्ज्वल' हुआ है । किसी एक पद्धतिसे होनेवाली पूजास्थलीको तथा किसी अवतार अथवा महापुरुषके जन्म या लीला-स्थलको बलात्कारसे हस्तगत करके उसपर अपना अधिकार जमाना पाप है और ऐसा अधिकार जबतक रहता है, तबतक वह कलङ्क, वह पाप, उस पापकी स्मृति तथा तज्जन्य रागद्वेष बना रहता है । यहाँका यह पाप-कलङ्क मिटनेसे देशका मुख यथार्थमें ही उज्ज्वल हुआ । कुछ दिनों पहलेतक हमारे देशमें 'पर-राज्य' था—अब 'स्व-राज्य' है । इस समय तो ऐसा एक भी कलङ्क नहीं रहना चाहिये । सोमनाथ-मन्दिरका पुनरुद्धार स्वर्गीय सरदार पटेल महोदयके पावन प्रयत्नसे हुआ । ऐसे ही श्रीकाशीके पवित्र मन्दिर, अयोध्यापुरीके पावन-स्थान, सिद्धपुरका मन्दिर तथा अन्यान्य सभी पवित्र स्थानोंका उद्धार होना चाहिये ।

हमारे मुसलमान भाइयोंको चाहिये कि वे स्वतन्त्र देशके नागरिकोंकी दृष्टिसे देशपर लगे इन पाप-कलङ्कोंके जितने स्मारक हैं, उन सबको पुण्य-दर्शन बना दें। हिंदू अपने धर्म-स्थानोंपर उपासना करें, मुसलमान अपने स्थानों-पर, इसी प्रकार सभी अपने-अपने पवित्र स्थानोंपर निर्विघ्नतासे पूजा करें—तभी देशकी शोभा है, तभी राज्यकी शोभा है। आजकल—गरीबोंकी गरीबीका लाभ उठाकर ईसाई प्रचारक देशमें जहाँ-तहाँ बड़े जोरसे ईसाई-मतका प्रचार कर रहे हैं। कहीं-कहीं कई मतोंके लोग मन्दिर-मूर्ति आदि-का ध्वंस कर रहे हैं—यह देशपर पाप-कलङ्क है। भगवान् दो नहीं हैं, वे सभीके हैं—हिंदूके भी, मुसलमानके भी, ईसाई-पारसीके भी तथा अन्यान्य सभीके भी। मान्यता तथा पद्धति भिन्न-भिन्न हैं तथा अपनी-अपनी पद्धतिसे सबको निर्दोष पूजा करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इसीलिये ऐसे स्थानोंके उद्धारकी परम आवश्यकता है, जिनपर दूसरी पद्धतिवालोंने बलात्कारसे अधिकार कर रक्खा है और जो उस पापके स्मारक रूपमें विद्यमान हैं।

हमारे श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि उनकी ओर जिसकी दृष्टि गयी, वही अपनी सुध-बुध भूलकर लट्टू हो गया—अपने सम्प्रदायमें रहते हुए ही श्रीकृष्णका प्रेमी बन गया—ऐसे अनेकों मुसलमान महानुभाव हुए हैं और आज भी हैं। उनमेंसे कुछके उद्गार मैं यहाँ आपको सुना रहा हूँ। यूरोपियन बहुत-से भक्त-हृदय नर-नारी ऐसे हैं, जो श्रीकृष्णके चरणोंमें अपना सब कुछ न्योछावर कर प्रेमभिखारी बने हुए हैं। ऐसे वर्तमानके कई मुसलमान, यूरोपियन भाग्यशाली नर नारियोंसे मेरा परिचय है। अब कुछ उद्गार सुनिये—

रहीमजी श्यामसुन्दरकी छविको चित्तसे टाल ही नहीं सकते। वे गाते हैं—

कमल-दल नैननि की उनमानि।
बिसरत नाहिं मदनमोहन की मंद-मंद मुसुकानि॥
दसनन की दुति चपलाहू ते चारु चपल चमकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतरानि॥

चढ़ी रहै चित हिय बिसाल की मुक्तमाल लहरानि।
नृत्य समय पीतांबरकी वह फहरि-फहरि फहरानि॥
अनुदिन श्रीवृंदाबन ब्रज में आवन-जावन जानि।
छबि रहीम चित ते न टरति है, सकलस्याम की बानि॥

वाहिद नन्दनन्दनपर निरन्तर लगन रहनेकी शुभकामना करते हैं—

सुंदर सुजान पर, मंद मुसुकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसाल पर, कंचन की माल पर,
खंजन-सी चालपर खौरन खगी रहै॥
भौंहैं धनु मैन पर, लोने युग-नैन पर,
सुद्धरस बैन पर वाहिद पगी रहै।
चंचल से तन पर, साँवरे बदन पर,
नंद के नंदन पर लगन लगी रहै॥

रसिक रसखानजी तो पशु-पक्षी-पत्थर बनकर भी कन्हैयाके दास रहना चाहते हैं—

मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो सिर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं वहि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

नजीर जय बोलते-बोलते नहीं थकते—

तारीफ करूँ मैं अब क्या-क्या उस मुरली-धुनके बजैया की,
नित सेवा-कुंज फिरैया की और बन-बन गऊ चरैया की।
गोपाल बिहारी बनवारी दुख-हरना मेहर-करैया की,
गिरधारी सुंदर स्याम बरन और पंडू जोगी भैया की।
यह लीला है उस नंद-ललन मनमोहन जसुमति-छैया की,
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जै बोलो कृष्ण कन्हैया की।

देवी ताज तो सब कुछ सहकर उनकी बनी रहना चाहती हैं—

सुनो दिलजानी, मेरे दिलकी कहानी, तुम
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी, औ निवाज हू भुलानी, तजे
कलमा-कुरान सारे, गुनन गहूँगी मैं॥

सॉँवला, सलोना, सिरताज सर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाव में निदाघ ही दहूँगी मैं ।
नंद के कुमार, कुरबान तॉंड़ी सूरतपर
तॉंड़े नाल प्यारे हिंदुवानी हो रहूँगी मैं ॥

ये भक्त तो हर शैमें उन्हींका नूर देखते हुए उनके कदमोंमें ही बसे रहना चाहते हैं—

जहाँ देखो वहाँ मौजूद, मेरा कृष्ण प्यारा है,
उसीका सब है जल्वा, जो जहाँमें आशकारा है ॥
तेरा दम भरते हैं हिंदू अगर नाकूस बजता है,
तुम्हींको शेखने प्यारी अजाँ देकर पुकारा है ॥
न होते जल्वागर तुम तो, यह गिरजा कबका गिर जाता,
निसारी को भी तो आखिर तुम्हारा ही सहारा है ॥
तुम्हारा नूर है हर शै में, कोसे कोह तक प्यारे,
इसीसे कहके हरि-हर तुमको हिंदूने पुकारा है ।
गुनह बख्शो, रसाई दो, बसा लो अपने कदमोंमें,
बुरा है या भला है, जैसा है प्यारा तुम्हारा है ॥

हजरत नफ़ीस खलीलीने तो कन्हैयाकी छविपर अपना दिल ही उड़ा दिया है—

कन्हैयाकी आँखें हिरन-सी नसीली ।
कन्हैयाकी शोखी कली-सी रसीली ॥
कन्हैयाकी छबि दिल उड़ा लेनेवाली ।
कन्हैयाकी सूरत लुभा लेनेवाली ॥
कन्हैयाकी हर बातमें एक रस है ।
कन्हैयाकी दीदार सीमी क़फ़स है ॥

इसीलिये तो हिंदी-साहित्य-गगनके शरदिन्दु श्रीभारतेन्दुने कहा था—

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदू वारिये ।

पर ये हरिके जन मुसल्मान क्या करते, बेचारे लाचार थे । उस साँवरे-सलोनेकी छविमाधुरीमें जादू ही ऐसा है—जिसने इस ओर भूले-भटके भी निहार लिया, वही लुट गया । इसीलिये तो यह घोषणा की गयी है—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस राह मत जाना, वह रास्ता बड़ा ही भयावना है । वहाँ अपने नितम्ब-बिम्बपर हाथ रक्खे जो तमाल-सरीखा नीलश्याम धूत बालक खड़ा है, वह अपने समीप होकर जानेवाले किसी भी पथिकका चित्तरूपी धन लूटे बिना नहीं छोड़ता ।'

इन्हीं सर्वजन-मन-मोहन श्रीकृष्णका उन्हींकी पुण्य-जन्मस्थलीमें आज पुनः प्राकट्य हो रहा है, यह हमारे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है ।

श्रीकृष्णका स्वरूप

अब 'श्रीकृष्ण क्या हैं ?' यह प्रश्न रहता है और यह सदा बना ही रहेगा; क्योंकि असीम-अनन्तकी सीमा कौन बता सकता है और कौन उनके स्वरूपका अन्त पा सकता है । वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे हैं, सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं । अनन्त, असीम, अलौकिक, लौकिक, विरुद्ध धर्म-गुणोंका उनमें एक ही समय पूर्ण प्रकाश है । उनको जो जिस दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें वे वैसे ही दिखायी देते हैं—उनकी कल्पनासे नहीं, वे सब समय सभी कुछ हैं ही । भावुक भक्तोंकी बात छोड़िये, महात्माजीके साथी और अनुयायी प्रसिद्ध बुद्धिवादी श्रीकाका कालेलकरजीने लिखा है—

'××× श्रीकृष्णने आर्यजनताको अधिक अन्तर्मुख बनाया है, अधिक आत्मपरायण बनाया है । भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और संन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और ज्ञान, इहलोक और परलोक इत्यादि सब द्वन्द्वोंका विरोध आभास-रूप है, सबमें एक ही तत्त्व रहा है, अपने जीवन और उपदेशसे श्रीकृष्णने यह बात सिद्ध करके बता दी है । आर्यजीवनपर अधिक-से-अधिक प्रभाव तो श्रीकृष्णका ही है, फिर भी इस प्रभावका स्वरूप ठहराना कठिन है । जिस प्रकार अत्यन्त सरल भाषामें लिखी गयी भगवद्गीताके अनेक अर्थ किये गये हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके जीवनमें विद्यमान रहस्यका भी विविध प्रकारसे वर्णन होता रहा है । ×××महाभारतके श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण, गीतगोविन्दके श्रीकृष्ण,

चैतन्यमहाप्रभुके श्रीकृष्ण और तुकाराम बुवाके श्रीकृष्ण एक होते हुए भी भिन्न हैं। आजकलके जमानेमें भी नवीनचन्द्र सेनके श्रीकृष्ण, बंकिमचन्द्रके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं। गांधीजीके श्रीकृष्ण तिलकके श्रीकृष्णसे जुदा हैं और श्रीअरविन्दके श्रीकृष्ण तो सबसे ही न्यारे हैं। ऐसे सुलभ और दुर्लभ, एक और अनेक, रसिक और वैरागी, त्यागी और संग्राहक, प्रेमिल और निष्ठुर, मायावी और सरल श्रीकृष्णकी जयन्ती किस प्रकार मनायी जाय, यह ठहराना बड़ा कठिन है—× × ×'

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके मूल अवतारी, चतुर्व्यूहमें सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव, समस्त भगवत्स्वरूपोंके अंशी, ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, सर्वेश्वरेश्वर, सर्वाकर्षक हेतु, निर्गुण—अप्राकृतगुणमय, निराकार—भौतिक आकाररहित परमेश्वर, अचिन्त्यानन्त सद्गुण-समुद्र, सर्वगुणमय, सर्वमय सर्वातीत, सर्वात्मा, सर्वजीवप्राण, अखिलप्रेमामृतसिन्धु, षोडशकलापूर्ण, षडैश्वर्यसम्पन्न, हानोपादानरहित नित्य सत्य दिव्य चिन्मय भगवद्देहरूप, दिव्य सच्चिदानन्द प्रेमघनमूर्ति पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं—ऐसा विभिन्न शास्त्रोंमें, वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र तथा ऋषि-मुनिरचित एवं अनुभवी महात्माओंके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें बार-बार कहा गया है। इसके अतिरिक्त उनमें ऐसे सभी भावों तथा गुणोंका विकास है, जो कहीं भी एक स्थानपर नहीं मिलते। समस्त विभूतियाँ सपत्र जगत् उनके एक ही अंशमें स्थित है—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' उनमें 'पूर्ण मानवता' एवं पूर्ण भगवत्ताका युगपत् प्रकाश है तथा वे 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' के साकार विग्रह हैं। जड तथा चेतन उन्हींकी प्रकृति हैं, क्षर-अक्षर उन्हीं पुरुषोत्तमके आश्रित हैं। महाभारत आदिपर्व (अध्याय ६३, श्लोक ९९ से १०४) में श्रीकृष्णके प्राकट्यका वर्णन करते हुए कहा गया है—

'विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् जगत्के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके द्वारा श्रीदेवकीजीसे प्रकट हुए। वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, द्युतिमान्, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता और प्रभु हैं। वे ही अव्यक्त,

अक्षरब्रह्म और त्रिगुणात्मक प्रधान हैं। वे आत्मा, अव्यय, प्रकृति (उपादान), प्रभव (उत्पत्तिकारण), प्रभु (अधिष्ठाता), पुरुष, विश्वकर्मा, सत्त्वगुणसे प्राप्त होने योग्य, प्रणवाक्षर, अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, पर, अविनाशी, कैवल्य, निर्गुण, विश्वरूप, अनादि, जन्मरहित और अविकार हैं। वे सर्वव्यापी, परमपुरुष परमात्मा, सबके कर्ता और सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं। उन्होंने ही धर्मके संवर्धनके लिये अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें बलराम और श्रीकृष्णरूपमें अवतार लिया था। वे दोनों भाई सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, महापराक्रमी और समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण थे।' इससे भी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण सर्वगुण-सम्पन्न पूर्ण पुरुष

भगवान् श्रीकृष्ण परमयोगी, योगसिद्ध, योगेश्वर महापुरुष हैं। इसके अनेक प्रमाण हैं। वे वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण करनेवाले थे तथा नित्य नियमितरूपसे विहित-कर्मानुष्ठान करते थे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर आत्मध्यान, स्नान, संध्योपासन, सूर्योपस्थान, देवर्षि-पितृ-तर्पण तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे। वे महादानी थे। प्रतिदिन वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित ८४०१३ दुग्धवती गौओंका दान करते थे। माता-पिताकी सेवा करते थे। गुरुसेवक थे। ब्रह्मण्य थे—भक्ति-श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। महान् ऋषियों, मुनियोंके द्वारा सुपूजित थे। सर्वज्वरहारी थे—इन्द्रका शक्ति-गर्वज्वर, ब्रह्माका ज्ञान-गर्वज्वर, राजाओंका बलगर्वज्वर उन्होंने अनायास हरण कर लिया था। वे लोकनायक थे। स्वयं आप्तकाम, पूर्णकाम होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये आदर्श शुभकार्य किया करते थे। वे सदा निष्काम थे। उन्होंने अत्याचारी राजाओंका ध्वंस किया, पर स्वयं कहीं भी राज्य ग्रहण नहीं किया। वे ममता-शून्य थे, गान्धारीके द्वारा अपने विशाल परिवारके विनाशका शाप सुनकर प्रसन्न हुए थे। वे लोकसेवक तथा दीन-दुर्बलोंके बन्धु थे। दुष्टोंका नाश करके उन्हें अपने परमधाममें पहुँचाना उनका सहज कर्म था। उनका दीर्घ आयुका प्रत्येक दिन नहीं तो, प्रत्येक सप्ताह धर्म-संस्थापनार्थ युद्ध करने तथा दुष्टोंका दमन करनेमें ही बीता। जिस समय

वे अवतीर्ण हुए, उसी समयसे उनका यह दुष्टोद्धारकार्य आरम्भ हो गया था। जिस समय वे नंग-धड़ंग बालक थे, उसी समय पूतना, शकटासुर, तृणावर्त आदि असुरोंको उन्होंने अमरधाम पहुँचा दिया था। गोकुल-वृन्दावनमें ग्यारह वर्षतक गौएँ चरायीं, ग्वाल-सखाओंके साथ धमाचौकड़ी मचायी, गोपबालकोंके साथ विविध विचित्र लीलाएँ कीं, निभृत-निकुञ्जोंमें रसकी नदियाँ बहायीं; पर उस समय भी वे असुर-राक्षसोंकी चटनी बनानेसे नहीं चूके। पता नहीं, कहाँसे बलका भंडार उनमें आ गया। शिक्षा प्राप्त करने उज्जैन तो कंस-वधके बहुत दिनों बाद गये थे; परंतु मुष्टिक-चाणूरका चूरन तो इससे पहले ही बना दिया। कूट-शल-तोशलको तिनकेकी ज्यों तोड़ दिया तथा कुवलयापीड एवं सहस्र-सहस्र हाथियोंके बल रखनेवाले मामा कंसका कचूमर निकाल दिया। सारा बल तो इन्हींसे आता है। फिर इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है।

श्रीकृष्ण बड़े अलौकिक अद्भुतकर्मा हैं। उन्होंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये। सबसे पहले कंसके कारागारमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, अमित तेजस्वी, सर्वालंकारविभूषित अद्भुत चतुर्भुज रूपमें प्रकट हुए; फिर पूतनावध, कुबेरपुत्रोंका उद्धार, ब्रह्माजीका मोहभङ्ग, दावानल-पान, गोवर्धनके रूपमें पूजा-ग्रहण तथा गोवर्धन-धारण, इन्द्रगर्वहरण, वरुणलोकमें पूजा स्वीकार करना, गोपोंको ब्रह्म तथा परमधामका दर्शन कराना, रासलीला—दो-दो गोपियोंके बीचमें एक-एक स्वरूप प्रकट कर देना, सुदर्शनका उद्धार, शङ्खचूडका उद्धार, मथुराके मार्गमें अक्रूरको भगवद्दर्शन कराना, कुब्जाको सीधी करना, कंसके दरबारमें अनेक रूप दिखाना, मृत गुरुपुत्रको लाना, नृगका उद्धार, ऋषियोंका स्तवन स्वीकार करना, मृत देवकी-पुत्रोंको लाना, मिथिलामें एक ही साथ द्विविधरूप धारण करना, द्रौपदीका चीर बढ़ाना, एक पत्ता खाकर सशिष्य दुर्वासाका पेट भर देना, व्रजमें माताको, कौरवसभामें दुर्योधनादिको, रणक्षेत्रमें अर्जुनको तथा द्वारका लौटते समय उत्तङ्कको विविध विचित्र विराट्‌रूप दिखलाना, अर्जुनको दिखाये गये विराट्‌रूपमें भविष्यके चित्र—भीष्म-द्रोणादिके उत्तमाङ्गोंके अपने कालरूपकी विकराल दाढ़ोंमें चूर-चूर दिखला देना, जयद्रथवधके

समय सूर्यको अकालमें ही छिपा देना, उत्तराके गर्भमें मरे हुए परीक्षित्‌को जिला देना, नारदको प्रत्येक महलमें दर्शन देना तथा त्रिभुवनमोहन दिव्यविग्रहका इस शरीरसे ही परमधाम पधारना—आदि सभी अद्भुत, अलौकिक कर्म हैं ।

श्रीकृष्णकी नृत्यकला-निपुणता भी अद्भुत ही है । शिवनृत्य 'ताण्डव' और पार्वतीनृत्य 'लास्य' कहलाते हैं । परंतु श्रीकृष्णका रासमण्डलका नृत्य सर्वथा निराले ढंगका है और क्रोधोन्मत्त भीषण विषधर भुजंगमके भयानक फणोंपर नृत्य करना तो नृत्यकलाकी पराकाष्ठा है । कैसी शरीर-साधना, चरण-लाघवता और विचित्र मनोयोग है । संगीतमें चार मत—१. नारदमत संगीत, २. भरतमत संगीत, ३. हनुमन्मत संगीत और ४. श्रीकृष्णमत संगीत प्रसिद्ध हैं । इनमें सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण तथा कठिन है—श्रीकृष्णमत संगीत ।

संगीतशास्त्रके तो श्रीकृष्ण महान् आचार्य हैं । इनकी मुरलीकी मधुर-ध्वनि चतुर्दश भुवनोंको मोहित करती है । इस मुरली-ध्वनिने ही कोटि-कोटि व्रजसुन्दरियोंको सब कुछ विस्मृत करा दिया था और वे रात्रिके समय आकर्षित होकर श्यामसुन्दरके पास चली आयी थीं । देवर्षि नारदजीने दो वर्षतक इनकी पटरानी श्रीजाम्बवती और सत्यभामाके निकट संगीत-शास्त्रका अभ्यास किया था, तदनन्तर दो वर्षतक श्रीरुक्मिणीजीसे संगीतकी शिक्षा प्राप्त करके पूर्ण निपुणता लाभ की थी । जिनकी रानियाँ नारदजी-जैसे प्रसिद्ध संगीतविशारदको संगीतकी अनुपम शिक्षा दे सकती हैं, उनका अपना संगीतशास्त्रका ज्ञान कितना अगाध होगा !

श्रीकृष्ण सच्चे आदर्श मित्र थे । राग-द्वेषसे सर्वथा रहित होकर भी वे कहते थे—'अर्जुनके शत्रु मेरे शत्रु हैं और उसके मित्र मेरे मित्र हैं ।' उन्होंने सात्यकिसे कहा—मैं अपने माता-पिताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी तथा अपने प्राणोंकी रक्षा करना भी उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना समझता हूँ—

न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा ।
न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे ॥

वृन्दावनमें तो हजारों ग्वालबालोंके सखा बनकर रहे ही। उनसे निस्संकोच बर्ताव किया-कराया, खेलमें हारकर उनके घोड़े बनकर उन्हें पीठपर चढ़ाया। द्वारकामें द्वारकाधीश होनेके बाद भी सुदामा-सरीखे निर्धन ब्राह्मणको गले लगाया, अपने प्रेमाश्रुओंसे उसके चरण धोये। उसके पैर दबाये, उसके चरणामृतसे महलोंको पवित्र किया और उसके लाये हुए फर्शपर बिखरे चिउरोंके दानोंको बटोरकर खड़े-खड़े ही खा गये तथा उनका स्वाद बताते हुए नहीं थके।

श्रीकृष्ण सच्चे गोसेवक थे। बरसों गायोंके पीछे-पीछे वन-वन भटके, उनकी सेवा की, उन्हें प्यार दिया, उनका प्यार लिया। उनका दूध पिया और उनको अपना स्वरूप दे दिया।

श्रीकृष्ण घोड़ा हाँकनेकी कलामें परम निपुण थे। इन्हींके अश्व-संचालन-कौशलने भीष्म, द्रोण, कर्णादिके भीषण बाणोंसे अर्जुनको सदा बचाया था। इनके सारथिपनकी कुशलताको देखकर दोनों ओरकी सेनाके सभी प्रमुख योद्धा चकित हो गये थे। श्रीकृष्ण परम नीतिज्ञ, राजनीति-विशारद, कूटनीतिके परम ज्ञाता थे। इन्होंने युद्धमें समय-समयपर पाण्डवोंको नीति-शिक्षा देकर महान् विपत्तियोंसे बचाया था। इस कार्यमें इनकी निपुणता प्रसिद्ध ही है। श्रीकृष्ण बहुत बड़े वाग्मी थे। इनके भाषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते थे। जब ये दूत बनकर कौरव-दरबारमें गये थे, तब बहुत-से बड़े-बूढ़े ज्ञानी ऋषि-मुनि इनका भाषण सुननेके लिये बड़ी दूर दूरसे वहाँ पधारे थे।

श्रीकृष्णकी शरणागत-वत्सलता प्रसिद्ध है। इन्होंने अनन्यरूपसे अपनी शरणमें आये हुए पुरुषके समस्त पापोंके नाश करनेका जिम्मा लेनेकी खुली घोषणा की है।

श्रीकृष्ण बड़े ही विनोदी थे—बालकपनमें ग्वाल-बालोंके साथ, गोप-सुन्दरियोंके साथ इनका विनोद चलता था। रुक्मिणीजीसे एक दिन ऐसा विनोद किया कि उनको मूर्च्छा हो गयी। भीमसेनके साथ इनका हँसी-मजाक खूब चलता था। इनके स्वभावमें ही विनोदप्रियता थी। ये सदा ही हँसमुख ही रहते थे।

इनकी रसिकता परम प्रसिद्ध है। ये स्वयं रसरूप हैं, रसराज हैं, रसपूर्ण हैं। इनका व्रज रसपूर्ण है, माता-पिता रसपूर्ण हैं, सखा-मित्र रसपूर्ण हैं, गोप-रमणियाँ तो रसकी अनन्त सुधासागर ही हैं। करोड़ों-करोड़ों भाग्यवान् नर-नारी इन रसराजकी रसोपासनासे अपनेको धन्य कर चुके हैं।

श्रीकृष्ण जगद्गुरु

अब थोड़ा-सा इनके 'जगद्गुरु' रूपपर विचार करें। वैसे तो ये स्वरूपसे ही नित्य जगद्वन्द्य जगद्गुरु हैं। पर इनकी 'गीता' ऐसी विचित्र वस्तु है कि उसने समस्त विश्वको सदाके लिये इनका शिष्य बना दिया है। इनकी वह भगवद्गीता अनन्त अर्थमयी है। जो जिस भावसे उसे देखता है, उसको वही भाव गीतामें मिल जाता है तथा गीतासे ही उसका कार्य सफल होता है। बंगालके क्रान्तिकारी त्यागमूर्ति नवयुवकोंके एक हाथमें बम तथा दूसरेमें गीता रहती थी। बड़े-बड़े धनी गृहस्थोंका पथ-प्रदर्शन गीता करती है और अरण्यवासी सर्वत्यागी विरक्त वैखानसको भी गीता ही मार्ग-दर्शन कराती है। शासनभारके उत्तरदायित्वको लिये हुए राजपुरुष भी गीताकी शरण लेते हैं और त्यागी संन्यासी भी गीतासे ही प्रकाश प्राप्त करते हैं। गीताके हजारों भाष्य एवं अनुवाद विविध भाषाओंमें हैं और अभी हुए ही चले जा रहे हैं। गीतामें ही सबको अपने सिद्धान्तका मूल दिखलायी देता है। सांख्य, योग, वेदान्त, उपासना, राजनीति, समाज-नीति—सभीके मूल तत्त्व, सरल संक्षिप्त व्याख्यासहित इसमें हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, कर्मसंन्यास, नैष्कर्म्य, सर्व-धर्म-संन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सभी मतोंके माननेवाले आचार्यों तथा उनके अनुयायियोंने गीतासे ही अपने मतकी पुष्टि की है। 'प्रस्थानत्रयी' में गीताके बिना काम नहीं चलता। आज भी विद्वानों एवं राजनीतिक महारथियोंका तथा अन्य क्षेत्रके लोगोंका भी काम गीताके बिना नहीं चलता। लोकमान्य तिलक महाराजने कारागारमें गीतापर 'गीतारहस्य' नामक विशाल भाष्य लिखा। महात्मा गांधीजीने 'अनासक्ति-योग' लिखा, संत विनोबाने 'गीताप्रवचन' लिखा, श्रीजयदयालजीने 'गीता-तत्त्वविवेचनी' टीका लिखी। न जाने कितने ग्रन्थ और लिखे गये तथा लिखे

जा रहे हैं। कितने पद्यानुवाद हुए तथा हो रहे हैं। अभी-अभी हमारे डॉ० श्रीहरिवंशरायजी बच्चन—हिंदीके प्रसिद्ध कविने अवधी भाषामें 'जनगीता' लिखी हैं, जो दिल्लीसे प्रकाशित हुई है। अबतक अनेकों ऋषि, महर्षि, आचार्य, कवि, मनीषी हो गये; परंतु रणक्षेत्रमें सारथिके रूपमें हाथमें चाबुक लिये और घोड़ोंकी लगाम थामे रथपर बैठे श्रीकृष्णके द्वारा कही गयी इस छोटी-सी गीताकी-जैसी कोई भी पुस्तक आजतक नहीं निकली। प्रातः-स्मरणीय आचार्य श्रीशंकराचार्य-सदृश संसारके सर्वमान्य अद्वितीय दार्शनिक-महापुरुषने भी गीताकी शरण ली और अपने मतको गीताके अनुकूल सिद्ध करनेमें ही अपने सिद्धान्तकी सफलता समझी। श्रीशंकराचार्यने गीताकर्ता श्रीकृष्णको ईश्वर न माननेवालोंको अपने गीताभाष्यमें 'मूर्ख' कहा है। और उन्हींके अनुयायी श्रीमधुसूदन सरस्वतीने तो 'वंशीविभूषितकर' श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य तत्त्वके जाननेसे भी इन्कार कर दिया और यह स्पष्ट कह दिया कि 'जो लोग श्रीकृष्णके प्रमाणित माहात्म्यको नहीं सहन कर सकते, वे नरकगामी होंगे।'

वर्तमान युगके असंख्य देशी-विदेशी प्रसिद्ध विद्वानोंने—जिनमें लोकमान्य तिलक, श्रीअरविन्द, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा थारो, सर एडविन आरनाल्ड, श्रीआगस्ट विल्हेल्म वान श्लीगल, श्रीविल्हेल्म वान हुम्बोल्ट, श्री जे० एम्० फर्क्यूहर, श्रीएफ० टी० ब्रुक्स आदि अनेकों नाम गिनाये जा सकते हैं—गीताकी महान् प्रशंसा की है और उसको अपना पथ-प्रदर्शक माना है। उनके गीता-सम्बन्धी उद्गारोंका कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

महात्मा गाँधी

जब मुझे शङ्काएँ घेरती हैं, निराशाएँ मेरा सामना करती हैं और मुझे आकाशमण्डलपर कोई ज्योतिकी किरण दृष्टिगोचर नहीं होती, उस समय मैं गीताकी ओर ध्यान देता हूँ। उसमें कोई-न-कोई श्लोक मुझे शान्तिदायक अवश्य मिल जाता है और घोर शोकाकुल-अवस्थामें मैं तुरंत मुस्कराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाह्य दुःखपूर्ण घटनाओंसे पूर्ण है और

यदि उनके प्रत्यक्ष एवं अमिट कोई चिह्न भूतलपर नहीं रह गये हैं तो इसका श्रेय भगवद्गीताके उपदेशोंको ही है ।

श्रीअरविन्द

गीताका अध्ययन हमें न तो एक विद्यार्थीकी भाँति इसके विचारोंकी जाँच करने तथा आत्मविद्या-सम्बन्धी दर्शन-ग्रन्थोंके इतिहासमें इसे स्थान देनेकी दृष्टिसे करना है और न हमें भाषा-विश्लेषककी भाँति इसकी भाषा-की ही आलोचना करनी है । हम तो अपनी सहायता और प्रकाशके लिये इसकी शरण लेते हैं । हमारा कर्तव्य इसके वास्तविक और सजीव संदेशको पहचानना है, जिससे मनुष्यमात्र अपनी पूर्णता तथा सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक उन्नतिको प्राप्त कर सकता है ।

लोकमान्य तिलक

सारे संसारके साहित्यमें गीताके समान कोई ग्रन्थ नहीं है । गीता हमारे ग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है । दुखी आत्माको शान्ति पहुँचानेवाला, आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहचान करा देनेवाला और संक्षेपमें चराचर जगत्के गूढ़ तत्त्वोंको समझा देनेवाला गीताके समान कोई भी ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्वकी किसी भी भाषामें नहीं है ।

वर्ण, आश्रम, जाति, देश आदिका कोई भी भेद न रखकर सबके लिये एक-सी सद्गतिका बोध करानेवाला, दूसरे धर्मग्रन्थोंके प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करनेवाला यह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त गीता-ग्रन्थ सनातन वैदिक धर्मरूपी विशाल वृक्षका एक अत्यन्त मधुर और अमृत-पदकी प्राप्ति करा देनेवाला अमर फल है ।

हिंदू-धर्म और नीतिशास्त्रके मूलतत्त्व जिन्हें जानने हों, उन्हें इस अपूर्व ग्रन्थका अवश्य और सबसे पहले अध्ययन करना चाहिये । कारण योग, सांख्य, न्याय, मीमांसा, उपनिषद् और वेदान्त आदिके रूपमें अगा-

क्षर सृष्टि तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानपर विचार करनेवाले प्राचीन शास्त्रोंके यथा-साध्य पूर्णावस्थाको पहुँच चुकनेके बाद जो वैदिक धर्मका ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान और कर्मयोगपरायण स्वरूप बना और जो स्वरूप वर्तमान प्रचलित वैदिक धर्मका मूलरूप है, उसी स्वरूपका इस भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि हिंदू-धर्मके सारे तत्त्वोंको संक्षेपमें और असंदिग्धरूपसे समझानेवाला गीता-सदृश दूसरा कोई भी ग्रन्थ संस्कृतवाङ्मयमें नहीं है।

महात्मा थारो

प्राचीन युगकी सभी स्मरणीय वस्तुओंमें भगवद्गीतासे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है। भगवद्गीतामें इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखनेवाले देवताको हुए अनेकों वर्ष हो जानेपर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रन्थ अभीतक नहीं लिखा गया। गीताके साथ तुलना करनेपर जगत्का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है। विचार करनेसे इस ग्रन्थका महत्त्व मुझे इतना अधिक जान पड़ता है कि किसी समय तो ऐसा विचार हो जाता है कि यह तत्त्व-ज्ञान किसी और ही युगमें लिखा गया होना चाहिये। मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धिको गीतारूपी पवित्र अक्षय जलमें स्नान (अवगाहन) कराता हूँ।

प्रो॰ एम्॰ फक्यूंहर एम्॰ ए॰

जगत्के सम्पूर्ण साहित्यमें, चाहे सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे देखा जाय और चाहे व्यावहारिक प्रभावकी दृष्टिसे देखा जाय, भगवद्गीताके जोड़का अन्य कोई भी काव्य नहीं है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी यह सर्वदा पद्यकी भाँति नवीन और रसपूर्ण है; इसमें मुख्यतः तार्किक शैली होनेपर भी यह एक भक्ति-ग्रन्थ है; यह भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके अत्यन्त घातक युद्धका एक अभिनयपूर्ण दृश्य-चित्र होनेपर भी शान्ति तथा सूक्ष्मतासे परिपूर्ण है; और सांख्य-सिद्धान्तोंपर प्रतिष्ठित होनेपर भी यह उस सर्व-स्वामीको

अनन्य भक्तिका प्रचार करता है। अध्ययनके लिये इससे अधिक आकर्षक सामग्री अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकती है।

श्रीएफ० टी० ब्रुक्स

श्रीमद्भगवद्गीता भारतके विभिन्न मतोंको मिलानेवाली रज्जु तथा राष्ट्रिय जीवनकी अमूल्य सम्पत्ति है। भारतवर्षका राष्ट्रिय धर्म-ग्रन्थ बननेके लिये जिन-जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता है, वे सब श्रीमद्भगवद्गीतामें मिलते हैं। इसमें केवल उपर्युक्त बातें ही नहीं हैं अपितु यह सबसे बढ़कर भावी विश्वधर्मका धर्म-ग्रन्थ है। भारतवर्षके प्रकाशपूर्ण अतीतका यह महादान मनुष्यजातिके और भी उज्ज्वल भविष्यका निर्माता है।

सर एडविन आरनल्ड

इतने उच्च कोटिके विद्वानोंके पश्चात् जो मैं इस आश्चर्यजनक काव्यको अनूदित करनेका साहस कर रहा हूँ, वह केवल इन विद्वानोंके परिश्रमसे उठाये हुए लाभकी स्मृतिरूपमें है और इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारतवर्षके इस सर्वप्रिय काव्यमय दार्शनिक ग्रन्थके बिना अंगरेजी-साहित्य निश्चय ही अपूर्ण रहेगा।

श्रीहेल्मूट फ़ॉन ग्लाज़ेनप्प

हम देखते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण, जो भगवान् विष्णुके पूर्णावतार थे, साक्षात् सामने आकर अपने विशिष्ट मोक्षके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। वे भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हैं तथा विश्वके शाश्वत नियन्ता भी हैं। जो लोग उनमें श्रद्धा रखकर उनकी उपासना करते हैं, उन्हें वे कृपापूर्वक मुक्तिरूपी फल प्रदान कर देते हैं। वे अर्जुनके सम्मुख मस्तकपर मुकुट धारण किये, हाथोंमें गदा और चक्र लिये, दिव्यमालाम्बर-विभूषित, मनोमोहक सुगंधिसे सुवासित, अनेक नेत्रों और अनेक मुखवाले तेजोमय दिव्य शरीरको धारण किये हुए प्रकट होते हैं।

श्रीऑटो स्ट्रॉस

भगवद्गीताके अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रन्थ नहीं है, जिसकी भारतवर्षमें एवं अन्यान्य देशोंमें दूर-दूरतक इतनी प्रसिद्धि हुई हो और जिसको ईश्वरीय संगीत मानकर हिंदुस्तानमें सभी लोग इतना प्रेम करते हों।

श्रीऑगस्ट विल्हेल्म फ्रॉन श्लीगल

संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें भगवद्गीता-जैसे सूक्ष्म और उन्नत विचार कहीं नहीं मिलते। जिस समय मैंने इसको पढ़ा, उस समय मैं विधाताका सदाके लिये ऋणी बन गया कि उन्होंने मुझको इस ग्रन्थका परिचय प्राप्त करनेके लिये जीवित रक्खा।

श्रीविल्हेल्म फान हुंबोल्ट

आध्यात्मिक काव्यका जो सच्चा आदर्श है, उसके जितने समीप भगवद्गीता पहुँची है, उतना इस विषयका छोटा-सा भी प्राचीन ग्रन्थ—जो हमें आज उपलब्ध है, नहीं पहुँच सका है। जिन्हें लोग आध्यात्मिक या उपदेशात्मक काव्य कहते हैं, उनसे तो यह ग्रन्थ बिल्कुल ही निराला है।

जननेता और सुधारक

यह सब कुछ होनेके साथ ही श्रीकृष्णको 'पूँजीपति कंस' तथा उसके अनुयायियोंके विरोधी 'जननेता' भी कह सकते हैं, जिन्होंने महान् क्रान्ति करके अत्याचारीका सपक्ष विनाश किया और उग्रसेनको राजा बनाकर मानो जन-राज्यकी स्थापना की तथा देशको आसुरी अधिकारसे मुक्त किया। श्रीकृष्ण 'समाजसुधारक' भी हैं। उन्होंने गोवर्धन-पूजाकी नयी प्रथा चलायी, और भी बहुत सुधार किये और दृढ़ताके साथ उनका पालन किया-कराया। गँवारोंके साथ मिलकर रहनेमें उनको सदा ही आनन्द आता था। इससे भी वे गँवारोंके बन्धु माने जाते हैं।

स्त्री-जातिके रक्षक

वे स्त्रीजातिके भी बड़े रक्षक थे तथा उनका सम्मान करते थे। व्रजकी गोपरमणियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। एक बड़ी विचित्र घटना है। प्राग्ज्योतिषपुरमें १६००० राजकन्याएँ कैद थीं। श्रीकृष्णने भौमासुरका वध करके उन कन्याओंको छुड़ाया। पर उनसे अब विवाह कौन करता? अतः श्रीकृष्णने उन सब कन्याओंपर दया करके उन्हें अपनाया तथा स्वयं उनको अपनी रानी बनाना स्वीकार किया।

तामस भावोंकी भी सुन्दर अभिव्यक्ति

श्रीकृष्णके अनन्त सद्गुण हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है। पर जब वे पूर्ण मानव हैं, पूर्ण भगवान् हैं, तब उनमें 'तामसी' कहे जानेवाले भावोंका भी समावेश होना चाहिये; वे स्वयं ही कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि……………………॥

'जितने भी सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं—सब मुझसे ही होते हैं, ऐसा जानो!'—तब बेचारे ये राजस, तामस भाव कहाँ जायँ? सो राजस भाव तो प्रवृत्तिमें हैं ही। तामस भावोंमें काम, क्रोध, लोभ, भय, चोरी, परपीड़न, मिथ्याभाषण आदि माने जाते हैं। अतः श्रीकृष्णमें भी काम है—प्रेममयी गोपाङ्गनाओंके मधुर रसके तथा वात्सल्यमयी श्रीयशोदा-मैयाके वात्सल्य रसके आस्वादनकी लालसा इन्हें नित्य रहती है, यह उनका 'काम' है। इसके अतिरिक्त, वे अपने भक्तोंकी—प्रेमियोंकी सदिच्छा पूर्ण करनेकी सदा कामना करते हैं। यह भी उनका 'काम' है। बाललीलामें गोदसे उतार देनेपर मातापर क्रोध करते हैं तथा दहीका मटका फोड़ डालते हैं—यह 'क्रोध' है। राक्षसों-असुरोंपर क्रोध करके वधके द्वारा उनका उद्धार करते हैं, यह भी 'क्रोध' है। यशोदा मैयाका स्तन्य-पान करनेसे कभी अघाते ही नहीं और प्रेमीजनोंको सुख देनेसे कभी तृप्त होते ही नहीं, यह

उनका 'लोभ' है। माताकी छड़ी तथा लाल आँखें देखकर भयभीत हो आँखोंमें आँसू भर लेते हैं और भाग छूटते हैं, यह उनका 'भय' है। अपनी जादूभरी तिरछी नजरसे देखकर और मुरली-ध्वनि सुनाकर सबके चित्तवित्तकी नित्य चोरी करते रहते हैं, यह उनकी 'चोरी' है। अथवा गोपीजनोंके मनमें जब श्रीकृष्णको माखन खिलानेकी नयी पद्धति आती है और वे यह चाहती हैं कि श्रीकृष्ण हमारे घरोंमें चोरीसे आकर घुस जायँ और हम उन्हें देखती रहें—इस प्रकार उनके मनोंमें इच्छा उत्पन्न करके उन्हींकी इच्छापूर्तिके लिये उनके घरोंसे माखन चुराकर खाना भी 'चोरी' है। प्रेमियोंके मनोंको चुराना तो उनका स्वभाव ही है। प्रेमियोंको चिर-कालतक विरहयातनाका सुख देते रहते हैं, यह उनका 'परपीडन' है। और प्रेमरसकी वृद्धिके लिये वाक्छल करना 'मिथ्याभाषण' है। अथवा स्वयं स्वरूपतः कुछ भी नहीं खानेवाले होनेके कारण मैयासे कहते हैं 'मैंने मिट्टी नहीं खायी'—यह भी मिथ्याभाषण है।

उपसंहार

श्रीकृष्णके अनन्त गुणोंका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। हमारा बड़ा सौभाग्य है कि जिस भारतभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए, उसीमें आज हम भी जीवन धारण कर रहे हैं और तुच्छ मच्छरके अनन्त आकाशमें उड़नेके सदृश उनके गुण-गानका प्रयास कर रहे हैं। आपलोगोंने मुझको कृपापूर्वक यह सौभाग्य प्रदान किया। इसके लिये मैं आपके प्रति हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और आज्ञानुसार श्रीकृष्ण-मन्दिरका उद्घाटन करता हूँ।

'बोलो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!'



स्वयं भगवान्‌का दिव्य जन्म

(सं० २०१५ वि० के श्रीकृष्ण जन्म-महोत्सवपर मथुरामें प्रवचन*)

मुदिरमदमुदारं मर्दयन्नङ्गकान्त्या
वसनरुचिनिरस्ताम्भोजकिञ्जल्कशोभः ।
तरुणिमतरणीक्षाविक्लवद्बाल्यचन्द्रो
व्रजनवयुवराजः काङ्क्षितं मे कृषीष्ट ॥
नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥

अजन्माका जन्म

आज श्रीकृष्णजन्माष्टमी है। निखिल विश्वब्रह्माण्डके लिये महान् महिमामय, महान् मङ्गलमय, महान् मधुमय और महान् ममतामय यह धन्य

*इस प्रवचनमें आया हुआ एक प्रसंग पहले एक अन्य प्रवचनमें आ चुका है, अतः उस प्रसंगको निकालकर यह प्रवचन संक्षिप्त कर दिया गया है।

दिवस है। आजके ही दिन इसी भारतमें, मथुराके कंस-कारागारमें सर्वलोकमहेश्वर, सकल-ईश्वरेश्वर, सर्वशक्तिमान्, नित्य निर्गुण-सगुण, सकल अवतारमूल, सर्वमय-सर्वातीत अखिलरसामृतसिन्धु स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य जन्म हुआ था। यह नित्य अजन्माका जन्म बड़ा ही विलक्षण है। इस दिव्य जन्मको जाननेवाले पुरुष जन्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। जिस मङ्गलमय क्षणमें इन परमानन्दघनका प्राकट्य हुआ, उस समय मध्यरात्रि थी, चारों ओर अन्धकारका साम्राज्य था; परंतु अकस्मात् सारी प्रकृति उल्लाससे भरकर उत्सवमयी बन गयी। महाभाग्यवान् श्रीवसुदेवजीको अनन्त सूर्य-चन्द्रके सदृश प्रचण्ड शीतल प्रकाश दिखलायी पड़ा और उसी प्रकाशमें दिखलायी दिया एक अद्भुत बालक—श्यामसुन्दर, चतुर्भुज, शङ्ख, गदा, चक्र और पद्मसे सुशोभित। कमलके समान सुकोमल और विशाल नेत्र, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स तथा भृगुलताके चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि, मस्तकपर महान् वैदूर्य-रत्न-खचित चमकता हुआ किरीट, कानोंमें झलमलाते हुए कुण्डल, जिनकी प्रभा अरुणाभ कपोलोंपर पड़ रही है। सुन्दर काले घुँघराले केश, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंमें कङ्कण, कटिदेशमें देदीप्यमान करधनी, सब प्रकारसे सुशोभित अङ्ग-अङ्गसे सौन्दर्यकी रसधारा बह रही है। कैसा अद्भुत बालक! मानव-बालक माताके उदरसे निकलते हैं, तब उनकी आँखें मुँदी होती हैं—दाई पोंछ-पोंछकर उन्हें खोलती है; पर इनके तो आकर्ण विशाल, निर्मल, पद्मसदृश सुन्दर नेत्र हैं। सम्भव है, कहीं अधिक भुजावाला बालक भी जन्म जाय; परंतु इनके तो चारों हाथ दिव्य आयुधोंसे सुशोभित हैं। साधारणतया अलंकारोंसे बालकोंकी शोभा बढ़ा करती है; किंतु यहाँ तो ऐसा शोभामय बालक है कि जिसके दिव्य देहसे संलग्न होकर अलंकारोंको ही शोभा प्राप्त हो रही है। ऐसा अपूर्व बालक कभी किसीने कहीं नहीं देखा-सुना। यही दिव्य जन्म है। वास्तवमें भगवान् सदा ही जन्म और मरणसे रहित हैं। जन्म और मृत्यु प्राकृत देहमें ही होते हैं। भगवान्‌का मङ्गलविग्रह अप्राकृत ही नहीं, परम दिव्य भगवत्स्वरूप है। न वह कर्मजनित है न पाञ्चभौतिक है। वह नित्य सच्चिदानन्दमय 'भगवद्देह' है। शाश्वत और हानोपादानरहित,



अद्भुत बालक

पृष्ठ २३०

स्वरूपमय है । उसके आविर्भावका नाम 'जन्म' है और उसके इस लोकसे अदृश्य हो जानेका नाम 'देहत्याग' है ।

प्राकृतदेह और भगवद्देह

देह प्रधानतया दो प्रकारके होते हैं—प्राकृत और अप्राकृत । प्रकृतिराज्यके समस्त देह प्राकृत हैं और प्रकृतिसे परे दिव्य चिन्मयराज्यके अप्राकृत । प्राकृत देहका निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन भेदोंसे होता है । जबतक 'कारण' देह रहता है, तबतक प्राकृत देहसे मुक्ति नहीं मिलती । इस त्रिविध-देहसमन्वित प्राकृत देहसे छूटकर—प्रकृतिसे विमुक्त होकर केवल आत्मस्वरूपमें ही स्थित होने या भगवान्के चिन्मय पार्षदादि दिव्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेका नाम ही 'मुक्ति' है । मैथुनी-अमैथुनी, योनिज-अयोनिज—सभी प्राकृत शरीर वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं । इनमें कई स्तर हैं । अधोगामी बिन्दुसे उत्पन्न शरीर अधम है और ऊर्ध्वगामीसे निर्मित उत्तम । कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है, किसी प्रसङ्गविशेषपर ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पसे बिन्दुके अधोगामी होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाला शरीर उससे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है; ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पमात्रसे केवल नारी-शरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण, हृदय या नाभि आदिके स्पर्शमात्रसे उत्पन्न शरीर द्वितीयकी अपेक्षा भी उत्तम तृतीय श्रेणीका है । इसमें भी नीचेके अङ्गोंकी अपेक्षा ऊपरके अङ्गोंके स्पर्शसे उत्पन्न शरीर अपेक्षाकृत उत्तम है । बिना स्पर्शके केवल दृष्टिद्वारा उत्पन्न उससे भी उत्तम चतुर्थ श्रेणीका है और बिना ही देखे संकल्पमात्रसे उत्पन्न शरीर उससे भी श्रेष्ठ पञ्चम श्रेणीका है । इनमें प्रथम और द्वितीय श्रेणीके शरीर 'मैथुनज' हैं । शेष तीनों 'अमैथुनज' हैं । अतएव पहले दोनोंकी अपेक्षा ये तीनों श्रेष्ठ तथा शुद्ध हैं । इनमें सर्वोत्तम पञ्चम शरीर है । स्त्री-पिण्ड या पुरुष-पिण्डके बिना भी शरीर उत्पन्न होते हैं; परंतु उनमें भी सूक्ष्म योनि और बिन्दुका सम्बन्ध तो रहता ही है । प्रेतादि लोकोंमें वायुप्रधान और देवलोकादिमें तेजःप्रधान तत्तत्लोकानुरूप देह भी प्राकृतिक—भौतिक ही हैं । योगियोंके सिद्धिजनित

'निर्माण-शरीर' बहुत शुद्ध हैं; परंतु वे भी प्रकृतिसे अतीत नहीं हैं। अप्राकृत पार्षदादिके अथवा भगवान्‌के मङ्गलमय लीलासङ्गियोंके भावदेह अप्राकृत हैं और वे प्राकृत शरीरसे अत्यन्त विलक्षण हैं। पर वे भी भगवद्देहसे निम्नश्रेणीके ही हैं। भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप तथा सर्वथा अनिर्वचनीय हैं।

भगवान् नित्य सच्चिदानन्दमय हैं, इसलिये भगवान्‌के सभी अवतार नित्य सच्चिदानन्दघन ही होते हैं। पर लीला-विकासके तारतम्यसे अवतारोंमें भेद होता है। प्रधानतया अवतारोंके चार प्रकार माने गये हैं—पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार और मन्वन्तरावतार।

पुरुषावतार

भगवान्‌ने आदिमें लोकसृष्टिकी इच्छासे महत्तत्त्वादि-सम्भूत षोडश-कलात्मक पुरुषावतार धारण किया था। भगवान्‌के चतुर्व्यूह हैं—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। 'भगवान्' शब्द श्रीवासुदेवके लिये प्रयुक्त होता है। इन्हींको 'आदिदेव नारायण' भी कहा जाता है। पुरुषावतारके तीन भेद हैं। इनमें आद्यपुरुषावतार उपर्युक्त षोडशकलात्मक पुरुष हैं, ये ही 'श्रीसंकर्षण' हैं। इन्हींको 'कारणार्णवशायी' या 'महाविष्णु' कहते हैं। पुरुषसूक्तमें वर्णित 'सहस्रशीर्षा पुरुष' ये ही हैं। ये अशरीरी प्रथम पुरुष कारण-सृष्टि अर्थात् तत्त्वसमूहके आत्मा हैं।

आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होते हैं, वे द्वितीय पुरुषावतार 'श्रीप्रद्युम्न' हैं। ये ही 'गर्भोदकशायी' हैं। इन्हीं पद्मनाभ भगवान्‌के नाभिकमलसे हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव होता है—

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १।३।२)

तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे समस्त जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, प्रत्येक जीवमें अधिष्ठित हैं। ये क्षीराब्धिशायी सबके पालनकर्ता हैं।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥
(श्रीमद्भा० २।२।८)

गुणावतार

श्रीविष्णु, श्रीब्रह्मा और श्रीरुद्र गुणावतार (सत्त्व, रज और तमकी लीलाके लिये ही प्रकट) हैं। इनका आविर्भाव गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुषावतार 'श्रीप्रद्युम्न'से होता है।

द्वितीय पुरुषावतार लीलाके लिये स्वयं ही इस विश्वकी स्थिति, पालन तथा संहारके निमित्त तीनों गुणोंको धारण करते हैं; परंतु उनके अधिष्ठाता होकर वे 'विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र' नाम ग्रहण करते हैं। वस्तुतः ये कभी गुणोंके वश नहीं होते। नित्य स्वरूपस्थित होते हुए ही त्रिविधगुणमयी लीला करते हैं।

लीलावतार

भगवान् जो अपनी मङ्गलमयी इच्छासे विविध दिव्य मङ्गल-विग्रहोंद्वारा बिना किसी प्रयासके अनेक विविध विचित्रताओंसे पूर्ण नित्य-नवीन रसमयी क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ाका नाम ही 'लीला' है। ऐसी लीलाके लिये भगवान् जो मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। चतुस्सन (सनकादि चारों मुनि), नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, ध्रुवप्रिय विष्णु, ऋषभदेव, पृथु, श्रीनृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, श्रीराम, व्यासदेव, श्रीबलराम, बुद्ध और कल्कि लीलावतार हैं। इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं।

मन्वन्तरावतार

स्वायम्भुव आदि चौदह मन्वन्तरोंमें होनेवाले मन्वन्तरावतार माने गये हैं। प्रत्येक मन्वन्तरके कालतक प्रत्येक अवतारका लीलाकार्य होनेसे उन्हें 'मन्वन्तरावतार' कहा गया है।

शक्ति-अभिव्यक्तिके भेदसे नामभेद

भगवान्के सभी अवतार परिपूर्णतम हैं, किसीमें स्वरूपतः तथा

तत्त्वतः न्यूनाधिकता नहीं है; तथापि शक्तिकी अभिव्यक्तिकी न्यूनाधिकताको लेकर उनके चार प्रकार माने गये हैं—'आवेश', 'प्राभव', 'वैभव' और 'परावस्थ'। उपर्युक्त अवतारोंमें चतुस्सन, नारद, पृथु और परशुराम आवेशावतार हैं। कल्किको भी आवेशावतार कहा गया है।

'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं, जिनमें एक प्रकारके अवतार तो थोड़े ही समयतक प्रकट रहते हैं—जैसे 'मोहिनी अवतार' और 'हंसावतार' आदि, जो अपना-अपना लीलाकार्य सम्पन्न करके तुरंत अन्तर्धान हो गये। दूसरे प्रकारके प्राभव अवतारोंमें शास्त्रनिर्माता मुनियोंके सदृश चेष्टा होती है। जैसे महाभारत-पुराणादिके प्रणेता भगवान् वेदव्यास, सांख्यशास्त्रप्रणेता भगवान् कपिल एवं दत्तात्रेय, धन्वन्तरि और ऋषभदेव—ये सब प्राभव-अवतार हैं; इनमें आवेशावतारोंसे शक्ति-अभिव्यक्तिकी अधिकता तथा प्राभवावतारोंकी अपेक्षा न्यूनता होती है।

वैभवावतार ये हैं—कूर्म, मत्स्य, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, पृश्निगर्भ, बलभद्र और चतुर्दश मन्वन्तरावतार। इनमें कुछकी गणना अन्य अवतार-प्रकारोंमें भी की जाती है।

परावस्थावतार प्रधानतया तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। ये षडैश्वर्यपरिपूर्ण हैं।

नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम।
परावस्थास्तु ते..............................

इनमें श्रीनृसिंहावतारका कार्य एकमात्र प्रह्लादरक्षण एवं हिरण्यकशिपु-वध ही है तथा इनका प्राकट्य भी अल्पकालस्थायी है। अतएव मुख्यतया श्रीराम और श्रीकृष्ण ही परावस्थावतार हैं।

इनमें भगवान् श्रीकृष्णको **'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** कहा गया है। अर्थात् उपर्युक्त सनकादि-लीलावतार भगवान्के अंश-कला—विभूतिरूप हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णको विष्णुपुराणमें 'सित-कृष्ण-केश' कहकर पुरुषावतारके केशरूप अंशावतार बताया गया है। महाभारतमें कई जगह इन्हें नरके साथी नारायण ऋषि-

का अवतार कहा गया है, कहीं वामनावतार और कहीं भगवान् विष्णु-का अवतार बताया गया है। वस्तुतः ये सभी वर्णन ठीक हैं। विभिन्न कल्पोंमें भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे अवतार भी होते हैं; परंतु इस सारस्वत कल्पमें स्वयं भगवान् अपने समस्त अंश-कला-वैभवोंके साथ परिपूर्णरूपसे प्रकट हुए हैं। अतएव इनमें सभीका समावेश है। ब्रह्माजीने स्वयं इस पूर्णताको अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा था। सृष्टिमें प्राकृत-अप्राकृत जो कुछ भी तत्त्व हैं, श्रीकृष्ण सभीके मूलतथा आत्मा हैं। वे समस्त जीवोंके, समस्त देवताओंके, समस्त ईश्वरोंके, समस्त अवतारोंके एकमात्र कारण, आश्रय और स्वरूप हैं। सित-कृष्णकेशावतार, नारायणावतार, पुरुषावतार,—सभी इनके अन्तर्गत हैं। वे क्या नहीं हैं? वे सबके सब कुछ हैं, वे ही सब कुछ हैं। समस्त पुरुष, अंश-कला, विभूति, लीला-शक्ति आदि अवतार उन्हींमें अधिष्ठित हैं। इसीसे वे स्वयं भगवान् हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

लोचन मीन, लसै पग कूरम, कोल धराधर कौ छबि छाजैं।
ये बलि मोहन सॉवरे राम हैं दुर्जन राजन कौ हनि काजैं॥
हैं बल मैं बल, ध्यान मैं बुद्ध, लखैं कलकी बिपदा सब भाजैं।
मच्छ नृसिंह हैं, कान्ह जू मैं सिगरे अवतारन के गुन राजैं॥

किन्हीं महानुभावोंने तीन तत्त्व माने हैं—'विष्णु', 'महाविष्णु' और 'महेश्वर'। भगवान् श्रीकृष्णमें इन तीनोंका समावेश है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णखण्ड)में आया है कि पृथ्वी भाराक्रान्त होकर ब्रह्माजीके शरण जाती है। ब्रह्माजी देवताओंको साथ लेकर महेश्वर श्रीकृष्णके गोलोक-धाममें पहुँचते हैं। नारायण ऋषि भी उनके साथ रहते हैं। ब्रह्मा तथा देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करना स्वीकार करते हैं। तब अवतारका आयोजन होने लगता है। अकस्मात् एक मणि-रत्न-खचित अपूर्व सुन्दर रथ दिखायी पड़ता है। उस रथपर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए महाविष्णु विराजित हैं। वे नारायण रथसे उतरकर महेश्वर श्रीकृष्णके शरीरमें विलीन हो जाते हैं—'गत्वा नारायणो देवो विलीनः कृष्णविग्रहे।'

परन्तु महाविष्णुके विलीन होनेपर भी श्रीकृष्णावतारका स्वरूप पूर्णतया

नहीं बना, तब एक दूसरे स्वर्गरथपर आरूढ़ पृथ्वीपति श्रीविष्णु वहाँ दिखायी दिये और वे भी श्रीराधिकेश्वर श्रीकृष्णके शरीरमें विलीन हो गये—*स चापि लीनस्तत्रैव राधिकेश्वरविग्रहे ।*

अब अवतारके लिये पार्थिव मानुषी तत्त्वकी आवश्यकता हुई। नारायण ऋषि वहाँ थे ही, वे भी उन्हींमें विलीन हो गये। और यों महाविष्णु-विष्णु-नारायणरूप स्वयं महेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लिया तथा नारायणके साथी नर ऋषि अर्जुनरूपसे अवतारलीलामें सहायतार्थ अवतरित हुए।

श्रीमद्भागवतके अनुसार असुररूप दुष्ट राजाओंके भारसे आक्रान्त दुःखिनी पृथ्वी गोरूप धारण करके करुण क्रन्दन करती हुई ब्रह्माजीके पास जाती है और ब्रह्माजी भगवान् शंकर तथा अन्यान्य देवताओंको साथ लेकर क्षीरसागरपर पहुँचते हैं और क्षीराब्धिशायी पुरुषरूप भगवान्‌का स्तवन करते हैं। ये क्षीरोदशायी पुरुष ही व्यष्टि पृथ्वीके राजा हैं, अतएव पृथ्वी अपना दुःख इन्हींको सुनाया करती है। ब्रह्मादि देवताओंके स्तवन करनेपर ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो जाते हैं और उन समाधिस्थ ब्रह्माजीको क्षीराब्धिशायी भगवान्‌की आकाशवाणी सुनायी देती है। तदनन्तर वे देवताओंसे कहते हैं—

गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । २१-२३)

'देवताओ! मैंने भगवान्‌की आकाशवाणी सुनी है, उसे तुमलोग मेरे द्वारा सुनो और फिर बिना विलम्ब इसीके अनुसार करो। तुमलोगोंकी

प्रार्थनाके पूर्व ही भगवान् पृथ्वीके सन्तापको जान चुके हैं । वे ईश्वरोंके भी ईश्वर अपनी कालशक्तिके द्वारा धराका भार हरण करनेके लिये जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुमलोग भी यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें योग दो । वे परम पुरुष भगवान् स्वयं वसुदेवजीके घरमें प्रकट होंगे । उनकी तथा उनकी प्रियतमा (श्रीराधाजी) की सेवाके लिये देवाङ्गनाएँ भी वहाँ जन्म धारण करें ।

क्षीरोदशायी भगवान्‌के इस कथनका भी यही अभिप्राय है कि 'साक्षात् परम पुरुष स्वयं भगवान् प्रकट होंगे, वे क्षीराब्धिशायी नहीं ।' अतएव स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् ही, जिनके अंशावतार नारायण हैं, वसुदेवजीके घर प्रकट हुए थे । देवकीजीकी स्तुतिसे भी यही सिद्ध है—

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥

(१० । ८५ । ३१)

'हे आद्य ! जिस आपके अंश (पुरुषावतार) का अंश (प्रकृति) है, उसके भी अंश (सत्त्वादि गुण) के भाग (लेशमात्र)से इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करते हैं, विश्वात्मन् ! आज मैं उन्हीं आपके शरण हो रही हूँ ।'

अब रही 'सित-कृष्ण-केश' की बात, सो यों कहा गया है कि इसका प्रयोग भगवान्‌के श्वेत या श्यामवर्णकी शोभाके लिये किया गया है । श्रीबलरामजीका वर्ण उज्ज्वल है और श्रीकृष्णका नीलश्याम । श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध भक्तप्रेमी वैष्णव टीकाकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इसका बड़ा विलक्षण अर्थ किया है—*सितो रुद्रः कृष्णो विष्णुः, को ब्रह्मा तेषामपीश्वरः ।* अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके अधीश्वर । श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

कलया चातुर्येण सिता निबद्धाः कृष्णा अतिश्यामाः केशा यत्र इति रसिकशिखावर्तंसस्य श्यभ्रनात् कृष्णत्वं प्राप्यते ।

अर्थात् कलाचातुरीसे बाँधे हुए श्यामकेशवाले श्रीकृष्ण। एक दूसरा अर्थ यह है—

यः सितकृष्णकेशः क्षीराब्धिशयः सोऽपि यत्कलयैव भवति स कृष्णो जातः सन् कर्माणि करिष्यति।

अर्थात् 'जो सितकृष्णकेश क्षीराब्धिशायी हैं—वे भी जिस कृष्णकी कला हैं।' ऐसे ही और भी अर्थ किये गये हैं। पर यही मानना चाहिये कि स्वयं भगवान् परिपूर्णतम श्रीकृष्णमें श्रीकृष्णावतारके भी सभी अवतार कारणोंका एकत्र समावेश है। एकमें ही और एकसे ही सबका कार्य सुसम्पन्न हो जाता है।

सबसे बड़ा प्रमाण तो है—गीतामें कहे हुए भगवान् श्रीकृष्णके अपने वाक्य, जो उनके परिपूर्णतम, सबके आदि, स्वयं भगवान् होनेकी घोषणा करते हैं। उनमेंसे कुछ थोड़े-से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(१५। १६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५। १७)

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५। १८)

"समस्त भूत 'क्षर' हैं और कूटस्थ 'अक्षर' है; इन दोनोंसे पृथक् एक 'उत्तम पुरुष' हैं, जिन्हें अविनाशी परमात्मा कहते हैं, जो ईश्वर हैं और त्रिलोकीमें व्याप्त रहकर सबका धारण-पोषण करते हैं। मैं 'क्षर'से अतीत हूँ और 'अक्षर' (कूटस्थ) से भी उत्तम हूँ; इसीलिये लोक और वेदमें मेरा 'पुरुषोत्तम' नाम प्रसिद्ध है।"

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ तथा अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखकी भी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म, ऐकान्तिक सुख—सबका आधार मैं ही हूँ।'

गीतामें और भी बहुत-से वचन हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णतम स्वयं भगवान् सिद्ध करते हैं। यों श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् तो हैं ही, साथ ही वे अनन्त विभूति और शक्तिसे सम्पन्न सर्वाङ्गपूर्ण योगेश्वरेश्वर सर्वकलाकुशल ऐतिहासिक महापुरुष भी हैं। उनकी सभी लीलाएँ महामानवके आदर्शको उपस्थित करती हैं। श्रीमद्भागवत तथा महाभारत तो उनके महत्त्वपूर्ण लीलाचरित्र तथा तत्त्वव्याख्यानसे भरे ही हैं, विभिन्न पुराणोंमें भी उनकी लीलाका बड़ा सुन्दर वर्णन है। वे परम सुन्दर, परम मधुर, परम कोमल होनेके साथ ही महाकालरूप, अत्यन्त विकट और महान् कठोर हैं। उनकी लीलामें सर्वत्र 'षडैश्वर्यपूर्णता' के साथ-साथ 'विरुद्ध-धर्माश्रयता' के नित्य दर्शन होते हैं।

श्रीकृष्णका रूप-सौन्दर्य

उनका वह द्विभुज रूप कितना सुन्दर तथा मधुर है, इसे कोई बता नहीं सकता। एक महात्माने कहा है कि 'श्रीकृष्णके इस मायातीत या गुणातीत नित्यरूपका वर्णन करनेकी शक्ति चौदह भुवनोंमें किसीमें भी है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। शास्त्रोंमें जो वर्णन है, वह तो ध्यानकी सुकरताके लिये उनके रूपका आभासमात्र है। कर्दम ऋषिने जो रूप देखा था, वह चतुर्भुज था। ध्रुव, अर्जुन तथा अन्यान्य भक्तोंने भी उस रूपके दर्शन किये थे। यद्यपि ये सभी रूप एक-से नहीं थे, तथापि थे एक ही। परंतु ये उनकी ऐश्वर्यभूमिके रूप हैं। माधुर्यक्षेत्रमें उनका द्विभुज रूप ही प्रकट होता है; वह 'स्वजन-मोहन' ही नहीं, 'स्वमन-मोहन' भी है। वह नित्य नव-किशोर नटवर विग्रह है। गोपवेश है। हाथमें मधुर मुरली लिये कदम्बके नीचे विराजित है। श्याममेघके सदृश नीलाभ श्यामवर्ण है। पीतवसन पहने है। गलेमें गुञ्जाहार और वनमाला सुशोभित हैं। वदनपर नित्य मधुर मोहन स्मित हास्य है। चारों ओर गोपबालक तथा गोपदेवियाँ

घेरे हैं। किसकी क्षमता है जो इस अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यको भाषाके द्वारा व्यक्त कर सके!

व्रजमें प्रकट भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यपर उनकी वात्सल्यमयी माता तथा मातृस्थानीया गोपमाताएँ, उनकी परम प्रेयसी गोपरमणियाँ और उनके सब प्रकारके सखागण तो अपने-अपने भावानुसार मुग्ध थे ही—उनकी मुग्धताके तो असंख्य उदाहरण हैं; संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं था, जिसकी दृष्टि एक बार उनके सौन्दर्यपर पड़ी हो और वह अपनेको भूल न गया हो। नामकरण-संस्कार करानेके लिये आचार्य पधारते हैं और शिशु श्रीकृष्णके अश्रुतपूर्व दिव्य रूप-सौन्दर्यको देख विचित्र दशाको प्राप्त होकर अपने आपको भूल जाते और कहने लगते हैं—

धैर्यं धिनोति बत कम्पयते शरीरं
रोमाञ्चयत्यतिविलोपयते मतिं च।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोऽह-
मालोपितं पुनरनेन ममैव नाम॥

'(मेरा) धैर्य छूट रहा है, शरीर कम्पित और रोमाञ्चित हो रहा है तथा बुद्धि भी लोप हुई जा रही है। आश्चर्य है! जिनके नामकरणके लिये मैं यहाँ आया, उन्होंने तो स्वयं मेरा नाम ही मिटा दिया है।' नाम-रूप मिटनेपर ही तो मुक्ति होती है। सचमुच जिस भाग्यवान्‌को उनके रूप-सौन्दर्यकी झाँकी हो जाती है, उसके लिये फिर नाम-रूपात्मक संसार कैसे रह सकता है।

महाकवि भवभूतिको एक बार श्रीश्यामसुन्दरके रूप-सौन्दर्यकी जरा-सी झाँकी हो गयी और वे सदाके लिये अपने मनको लुटा बैठे। वे कहते हैं—

शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं
पञ्चाक्षरीजपपरा नितरां तथापि।

चेतो मदीयमतसीकुसुमावभासं
स्मेराननं स्मरति गोपवधूकिशोरम् ॥*

'मैं शैव हूँ, इस सम्बन्धमें तो कुछ विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है; मैं सदा-सर्वदा 'नमः शिवाय' यह पञ्चाक्षर मन्त्र भी जपता रहता हूँ। इतना सब होते हुए भी मेरा मन तो अब निरन्तर अतसी-कुसुम-सुन्दर गोप-वधू-किशोर श्रीश्यामसुन्दरके मधुर मुसकानभरे मुखका ही स्मरण करता रहता है।'

अद्वैतनिष्ठासम्राट्, अद्वैतसिद्धिके रचयिता श्रीमधुसूदन स्वामीने अपनी दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

अद्वैतपथसे स्वाराज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हुए ऐसे-ऐसे ज्ञानी महारथियोंको भी यह शठ गोपीवल्लभ हठपूर्वक अपना दास बना लेता है। फिर दूसरा कोई तत्त्व उन्हें सूझता ही नहीं। इसीसे वे कह उठते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

पण्डितराज जगन्नाथ अपने चित्तसे कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

'अरे चित्त! सावधान रहना। तू वृन्दावनमें गौएँ चरानेवाले, नवीन

---

* यह श्लोक भक्तकवि 'लीलाशुक' के संग्रहमें भी मिलता है।

नील-नीरदके समान नीलश्याम कान्तिवाले उस अनिर्वचनीय पुरुषको अपना बन्धु मत बना लेना। कहीं बना लिया तो वह अपनी सौन्दर्य-सुधा-वर्षिणी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित कर लेगा और तेरे समस्त प्रिय विषयोंको तुरंत नष्ट कर डालेगा।' सच है, उनकी सौन्दर्य-सुधामयी मुसकानके सामने विषय-विष कैसे रह सकता है!

औरोंकी तो बात ही क्या, बूढ़े व्यास एवं भीष्म-सरीखे महापुरुष तथा नारदादि ऋषि-मुनि भी उनके स्वरूप-सौन्दर्यको एकटकी लगाकर देखते ही रह जाते थे।

सुर-मुनि, मनुज-दनुज, पसु-पंछी, को अस जो जग जायौ।
लखि कै छबि-माधुरी ललन की, सुधि-बुधि नहिं बिसरायौ॥
जोगी, परम तपस्वी, ज्ञानी, जिन निज-निज मन मार्‍यौ।
तनिक निरखि मुसक्यान मधुर तिन बरबस जीवन वार्‍यौ॥
बिसर्‍यौ सहज बिराग, ब्रह्मसुख, थकित बिलोचन ठाढ़े।
तनु पुलकित, दृग प्रीति-सलिल, द्रुत हृदै, प्रेम-रस बाढ़े॥

× × × ×

भगवान् एक ही हैं

कुछ महानुभाव ऐसा मानते हैं कि लीलामें अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णका त्रिविध प्रकाश है—कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्ण पूर्ण सत् और ज्ञान-शक्तिप्रधान हैं, द्वारका और मथुरामें पूर्णतर चित् और क्रियाशक्तिप्रधान हैं एवं श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्ण पूर्णतम आनन्द और इच्छाशक्तिप्रधान हैं। कुछ लोग महाभारत और श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णको दोतक मानते हैं। यह सब उनकी अपनी भावना है। *'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* वस्तुतः परिपूर्णतम भगवान् एक ही हैं, उनका अनन्त लीलाविलास है और लीलानुसार उनका स्वरूप-वैचित्र्य है। वस्तुतत्त्व एक ही है।

जिस किसी भी भावसे कोई उन्हें देखे—अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार उनके दर्शन करे, सब करते एक ही भगवान्‌के हैं। उनमें

किसीको भी छोटा-बड़ा न मानकर अत्यन्त प्रेम-भक्तिके साथ अपने इष्ट-स्वरूपकी सेवामें ही लगे रहना चाहिये * । अस्तु,

आजका मङ्गल-दिवस

आज वही महान् मङ्गलमय दिवस है, जिस दिन स्वयं भगवान्का इस धराधामपर प्राकट्य हुआ था । हम धन्य हैं जो आज इस महामहोत्सवका सौभाग्य प्राप्तकर मानव-जीवनको सफल बना रहे हैं ।

भगवान् प्रकट हुए मथुराके कंस-कारागारमें—यद्यपि कुछ भक्त उनका गोकुलमें प्रकट होना भी मानते हैं । जो कुछ भी हो, उनके प्राकट्यका उत्सव मनानेका सौभाग्य मिला श्रीनन्द-यशोदाको और व्रज-वासियोंको ही । अतः हम भी उन्हींके साथ उत्सवमें सम्मिलित होकर, ग्वाल-बाल तथा नन्दबाबाके साथ मिलकर नाचें-गायें—

हौं इक नई बात सुनि आई ।
महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर घर होति बधाई ॥
द्वारें भीर गोप गोपिनि की, महिमा बरनि न जाई ।
अति आनंद होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई ॥
नाचत बृद्ध तरुन अरु बालक, गोरस कीच मचाई ।
सूरदास स्वामी सुख सागर सुंदर स्याम कन्हाई ॥

× × × ×

नन्द के आनंद भयो, जै कन्हैयालाल की !

---

* एक सज्जन पूछते हैं कि क्या भगवान् राम भगवान् श्रीकृष्णसे किसी प्रकार न्यून हैं ? इसका उत्तर यह है कि भगवान्में न्यूनताकी कल्पना करना ही अपराध है । वे दोनों सर्वथा एक ही हैं । लीलामें एक मर्यादापुरुषोत्तम, दूसरे लीला-पुरुष । दोनों ही षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं । जैसे श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णके लिये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' आया है, वैसे ही महारामायणमें भगवान् श्रीरामके लिये 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' आया है । अतएव इनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना नहीं करनी चाहिये ।

श्रीकृष्णका भूलोकमें प्राकट्य

(सं० २०१६ वि० के श्रीश्रीकृष्णजन्ममहोत्सवपर प्रवचन)

गोकुलाङ्गणमण्डनं कृतपूतनाभवमोचनं
कुन्दसुन्दरदन्तमम्बुजवृन्दवन्दितलोचनम् ।
सौरभाकरफुल्लपुष्करविस्फुरत्करपल्लवं
दैवतव्रजदुर्लभं भज बल्लवीकुलवल्लभम् ॥
तुण्डकान्तिदण्डितोरुपाण्डुरांशुमण्डलं
गण्डपालिताण्डवालिशालिरत्नकुण्डलम् ।
फुल्लपुण्डरीकखण्डक्लृप्तमाल्यमण्डनं
चण्डबाहुदण्डमत्र नौमि कंसखण्डनम् ॥

आज अजन्माके दिव्य जन्मका महामहोत्सव है। वे अजन्मा श्रीकृष्ण क्या हैं, कैसे हैं—इस रहस्यको वे ही जानते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—'मेरे प्राकट्यके रहस्यको न देवता जानते हैं न महर्षिगण ही।'

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

तथापि उन्होंने अपने श्रीमुखसे गीतामें अपना जो परिचय दिया है, उसका स्मरण करके हम अपने जीवनको और अन्तःकरणको परम पवित्र कर सकते हैं। उनका आत्मपरिचय बतलाता है कि वे कर्मोंसे सर्वथा अलिप्त रहते हैं और कर्मफलमें सर्वथा निःस्पृह हैं (४।१४); सम्पूर्ण यज्ञ-तपोंके भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर, समस्त प्राणियोंके सुहृद हैं (५।२९); वे सर्वत्र व्याप्त हैं और समस्त अनन्त चराचर जगत् उनमें है (६।३०); वे जलमें रस, चन्द्र-सूर्यमें प्रकाश, पृथ्वीमें गन्ध, जीवमात्रके जीवन, समस्त भूतोंके सनातन बीज, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंके तेज, बलवानोंके काम-राग-विवर्जित बल हैं (७।८—११); अष्टधा जड अपरा और चेतन परा—दोनों उनकी ही प्रकृति हैं (७। ४, ५); वे क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, आज्य, अग्नि, हवन—समस्त श्रौत-स्मार्त कर्म और उनके साधन हैं (९।१६); वे जगत्के माता, पिता, पितामह, धाता, जानने योग्य, पवित्र ओंकार और वेदत्रयी हैं; वे ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण्य, सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलय, सर्वाधार, सर्वनिधान और अव्यय बीज हैं (९।१९)। वे ही सत् हैं—असत् हैं, मृत्यु हैं—अमृत हैं (९।१९); वे सत् भी नहीं हैं असत् भी नहीं हैं (१३।१२); वे सत्-असत् दोनोंसे परे हैं (११।३७)। वे महापापीको भी अनन्यभाक् होकर भजनेपर तुरंत धर्मात्मा, शाश्वती शान्तिका अधिकारी और भक्त बना लेते हैं (९। ३१); उनका स्मरण करते हुए मरनेवाला उन्हींको निस्संदेह प्राप्त करता है (८।५)। सम्पूर्ण जगत् उनके एक अंशमात्रमें स्थित है (१०। ४२); उनके सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, सारा चराचर जगत् सूत्रमें सूतके मनियोंकी भाँति उनमें गुँथा है (७।७)। वे आत्मारूपसे सर्वत्र सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं (१०।२०); वे अमृत, शाश्वत धर्म, ऐकान्तिक आनन्द और अविनाशी ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा हैं (१४।२७); वे क्षर जगत्से परे, कूटस्थ अक्षर ब्रह्मसे उत्तम और

परम पुरुषोत्तम हैं (१५ । १६-१७) । यह गीतोक्त श्रीकृष्णका संक्षिप्त आत्मपरिचय है ।

इसके अतिरिक्त विभिन्न शास्त्र—वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, सर्वदर्शी ऋषि-मुनियोंद्वारा रचित और अनुभवी महापुरुषोंके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों एवं सफल-जीवन महात्मा भक्तों—संतोंके अनुभवके अनुसार श्रीकृष्ण पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, मन्वन्तरावतार, प्राभव-वैभव और परावस्थावतार, अंश-कलावतार, अर्चावतार आदि सभी अवतारोंके मूल अवतारी, चतुर्व्यूहमें सर्वप्रथम वासुदेव, सर्वेश्वरेश्वर, समस्त भगवत्स्वरूपोंके अंशी, सबके आदि, अनादि, निर्गुण—स्वरूपभूतगुणमय, निराकार—भौतिक आकारसे रहित, अचिन्त्यानन्तसद्गुण-समुद्र, सर्वातीत, सर्वमय, सर्व-गुणमय, सर्वजीवप्राण, युगपत् विरोधिगुणाश्रय, ज्ञानमूर्ति, अखिलप्रेमामृत-सिन्धु, षडैश्वर्यसम्पन्न, षोडशकलापूर्ण, परम प्रेमस्वरूप, रसस्वरूप, रसिकशिरोमणि, भक्तानुग्रहकातर, भक्त-भक्तिमान्, हानोपादानरहित नित्य सत्य सच्चिन्मय भगवद्देहरूप दिव्य सच्चिदानन्दघन रसघनमूर्ति परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम 'स्वयं भगवान्' हैं । उन्हीं अचिन्त्यानन्तमहिमामय सदा स्वमहिमामें सुप्रतिष्ठित भगवान्ने आजके शुभ दिन इस धराधामको पावन करनेके लिये दिव्य अवतार धारण किया था ।

यह 'स्वयं भगवान्'का अवतरण था; इसलिये सितकृष्णकेशावतार, नर-नारायणावतार, वामनावतार आदि सभी इनके अन्तर्गत हैं । समस्त पुरुष, अंश, कला, विभूति तथा लीला, शक्ति आदि अवतार इन्हींमें अधिष्ठित हैं । इन्हीं अज, अविनाशी, सर्वेश्वरेश्वरका अवतार होनेसे यह अजन्माका जन्म है । ये भगवान् गर्भमें नहीं आये, मनमें आये और इन्होंने अपने दिव्य स्वरूपमें प्रकट होकर परम सौभाग्यशाली माता-पिताको आश्चर्यचकित कर दिया । इनके जन्म और कर्म सभी दिव्य हैं । इन्होंने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४ । ९)

'अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है—इस प्रकार जो तत्त्वसे जानता है, वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, मुझे प्राप्त होता है ।'

जिसके जन्मका रहस्य जाननेपर जाननेवालेका जन्म नहीं होता, उसका वह जन्म दिव्य है—इसमें क्या संदेह है ।

वास्तवमें भगवान्‌का सच्चिदानन्दमय भगवद्देह नित्य, शाश्वत और हानोपादानरहित भगवत्स्वरूपमय है । अप्राकृत ही नहीं, परम दिव्य है । जन्म-मृत्यु-युक्त, कर्म-जनित और पाञ्चभौतिक नहीं ! इसीसे यह नित्य है । इसमें सृजन-विनाशकी कल्पना ही नहीं है । इसीलिये भगवान्‌ने स्वयं गीतामें, मानव-सदृश दीखनेवाले इस सच्चिदानन्द श्रीकृष्णविग्रहको प्राकृत मनुष्य-देह माननेवालोंको 'बुद्धिहीन' और 'मूढ़' कहा है । वे वहाँ 'परम भाव'—भगवद्भाव—भगवत्स्वरूपकी महिमाका संकेत करते हुए कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

(७ । २४)

"वे बुद्धिहीन लोग मेरे सर्वश्रेष्ठ 'परमभाव'—'नित्य-चिदानन्द-विग्रह' भगवत्स्वरूपको न जानते हुए मुझ मायादृष्टिसे व्यक्त न होनेवाले भगवान्‌को व्यक्तिभावापन्न मनुष्य मानते हैं ।"

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(९ । ११)

"समस्त भूत-प्राणियोंके महान् ईश्वर मेरे 'परमभाव'—'भगवत्स्वरूप'-को न जानते हुए मूढलोग मुझको प्राकृत मनुष्यदेह धारण करनेवाला समझते हैं ।"

'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णने प्रकट होकर अपनी लौकिक-अलौकिक लीलासे परम आदर्शकी स्थापना की, अधर्म तथा अधर्मियोंका नाश किया। धर्मकी प्रतिष्ठा की। अर्जुनको निमित्त बनाकर गीता-सरीखे ज्ञानभंडारका द्वार सबके लिये खोला, प्रेमियोंके प्रेम-सुधा-रसका आस्वादन किया और उन्हें प्रेम-रसास्वादन कराकर धन्य किया। उनमें सभी गुणोंका, कलाओंका, योग-सांख्यका, ज्ञान-विज्ञानका पूर्ण लीला-प्रकाश था। वे ही व्रजेश्वर, मथुरेश्वर और द्वारकाधीश हैं। आज उन्हींका यह परमपावन प्राकट्य-महोत्सव है।

कुछ उच्च श्रेणीके परम वैष्णव महानुभावोंकी यह मान्यता अथवा अनुभूति कही जाती है कि 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्ण जिस समय मथुरामें कंस-कारागारमें चतुर्भुजरूपसे श्रीवसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय नन्दबाबाके घरपर भी इन यशोदानन्दनका प्राकट्य हुआ था। इसका विशद विवेचन अन्यत्र किया गया है।

श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य-प्रेम सर्वथा विशुद्ध था, उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही प्रकट हुए। उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। निश्चित अपने उदरसे उत्पन्न पुत्र समझकर यशोदाने उन्हें गोदमें उठा लिया और नन्दबाबाने स्नान किया और वस्त्राभूषणोंसे सजकर वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलाकर स्वस्तिवाचन और अपने पुत्रका जातकर्म-संस्कार कराया। देवता और पितरोंकी यथाविधि पूजा की। ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित बीस लाख गौएँ दान दीं। रत्नोंसे और स्वर्णमण्डित वस्त्रोंसे ढके सात तिलपर्वत दान किये। बड़े-बड़े विचित्र मङ्गलमय बाजे बजवाये और आनन्दमत्त होकर वे तथा गोपगण एक दूसरेपर दही, दूध, घृत तथा जल उड़ेलने लगे, एक दूसरेके मुखपर मक्खन पोतने लगे तथा मक्खन उछाल-उछालकर उन्होंने महान् आनन्द-महोत्सव मनाया।

आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते ।
तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ५ । १-३)

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।

× × ×

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ५ । १३-१४)

वही नन्दबाबाका 'दधिकाँदो' महोत्सव आज भी मनाया जाता है । कंस-कारागारमें तो किसी उत्सवको स्थान ही नहीं था । अतः भगवान् यशोदा-नन्दके यहाँ उनके मनके विशुद्ध भावानुसार ही प्राकृत बालकरूपमें आविर्भूत हुए ।

सर्वभवनसमर्थ, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तिमान्'के लिये दोनों जगह एक साथ प्रकट होना तनिक भी असम्भव नहीं है । जो भगवान् करोड़ों गोपरमणियोंके साथ एक ही समय रासमण्डलमें दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपसे प्रकट हो गये थे, द्वारकामें जो हजारों रानियोंके राजप्रासादोंमें प्रत्येक रानीके यहाँ नारदजीको विविध लीला करते दिखायी दिये थे, वे भगवान् एक ही साथ गोकुलमें भी प्रकट हो सकते हैं और कंस-कारागार मथुरामें भी । क्या, कैसा, क्यों हुआ ? यह तो श्रीभगवान् ही जानते हैं । अपने तो उनकी लीला-स्मृतिसे अन्तःकरणको पवित्र करना है ।

वात्सल्य-स्नेह-राज्यमें ऐसा माना जाता है कि श्रीनन्द-यशोदा भगवान्के नित्य पिता-माता हैं । लीलाधाममें भगवान् सदा ही इनके पुत्ररूपमें अवतरित हुआ करते हैं । इनके इस लीला-जीवनकी बड़ी सुन्दर कथा है ।

गोपराज श्रीनन्द समस्त समृद्धियोंसे सम्पन्न थे, पर उनके पुत्र नहीं था। उनकी अवस्था ढल गयी थी। चौथापन समीप था। अतः प्रेमीहृदय व्रजवासियोंकी आशा-लता क्रमशः सूखती जा रही थी। इसलिये उपनन्द आदि वृद्ध गोपोंने परामर्श करके एक पुत्रेष्टि-यज्ञका आयोजन किया। सबने यज्ञ-पुरुषसे गोपराज नन्दको पुत्र प्रदान करनेकी प्रार्थना की।

इधर बाहर यज्ञ हो रहा था, ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे आकाश मुखरित था। उधर गोपराज श्रीनन्द अन्तःपुरमें यशोदासे कह रहे थे—"यशोदा-रानी! इस यज्ञके फलस्वरूप मेरे पुत्र नहीं होगा। मनमें पुत्रकी कामना भी है और पुत्रेष्टि-यज्ञमें मेरा विश्वास भी है। परंतु मेरे मनमें जिस प्रकारके पुत्रकी वासना सदा जाग्रत् है, उस प्रकारका पुत्र प्रदान करना कर्मजनित अपूर्वके लिये सहज नहीं है। यज्ञादि कर्मोंके सभी फल 'चञ्चल' हैं। मैं जिसको सदा अपने पुत्ररूपमें देखता हूँ, वह 'अचल' है। कर्मके फलस्वरूप उसे प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है। वह कर्मका फल है ही नहीं। मैंने जिसको अपने मनोरथपर बैठाया है और जिसको स्वप्नमें देखा है, वैकुण्ठाधिपति नारायण भी उसके समान सुन्दर नहीं हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस सौन्दर्यका जिसके हृदयने एक बार भी स्पर्श कर लिया है, उसका चित्त किसी प्रकार भी दूसरी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता।"

व्रजराजकी यह बात सुनकर यशोदारानीने अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ स्वप्नकी बात पूछी। इसपर नन्दराजने कहा—'देवी! तुम मेरी नित्यसहधर्मिणी हो, सुख-दुःखकी नित्यसङ्गिनी हो। तुमसे क्या छिपाऊँ। अबतक मैंने इसको असम्भव समझकर ही तुमसे नहीं कहा था; क्योंकि ऐसी असम्भव बातका कहना पागलपन ही माना जायगा। पर आज तुम्हारे अनुरोधको न टाल सकनेके कारण मैं तुम्हें बता रहा हूँ—सुनो। मैं स्वप्नमें तथा मनोरथमें सदा-सर्वदा ही देखता हूँ—

श्यामश्चञ्चलचारुदीर्घनयनो बालस्तवाङ्कस्थले
दुग्धोद्गारिपयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन् मयाऽऽलोक्यते।



यशोदाका स्वप्न

[पृष्ठ २५३

स्वप्नस्तत् किमु जागरः किमथवेत्येतन्न निश्चीयते
सत्यं ब्रूहि सधर्मिणि स्फुरति किं सोऽयं तवाप्यन्तरे ॥

'मैं देखता हूँ दिव्यातिदिव्य नीलमणि-सदृश श्यामसुन्दरवर्ण एक बालक, जिसके चञ्चल मनोहर नेत्र अत्यन्त विशाल हैं, तुम्हारी गोदमें स्थित होकर तुम्हारे दुग्धस्रावी पयोधरोंका दुग्ध पान कर रहा है और भाँति-भाँतिके खेल कर रहा है। उसे देखकर मैं अपने-आपको खो देता हूँ। सोता हूँ या जागता, कुछ भी पता नहीं चलता। यशोदे! सत्य बताओ—क्या कभी तुमने भी स्वप्नमें इस बालकको देखा है?'

स्वामीकी बात सुनकर यशोदा आनन्दविह्वल होकर गद्गद कण्ठसे कहने लगी—'व्रजराज! सचमुच मैं भी ठीक ऐसे ही बालकको सदा अपनी गोदमें खेलते देखती हूँ। स्वप्नमें उसे स्तन्यपान कराती हूँ, लाड़-प्यार करती हूँ। मैंने भी अति असम्भव समझकर ही संकोचवश कभी आपको यह बात नहीं बतायी थी। कहाँ मैं आभीर-स्त्री और कहाँ दिव्य स्पर्शमणि!'

व्रजराज नन्दने फिर कहा—'मैंने असम्भव समझकर इस वासनाको मनसे निकालनेकी बड़ी चेष्टा की, पर किसी प्रकार भी इस असम्भव वासनाकी निवृत्ति नहीं हुई। ज्ञात होता है अखिल ब्रह्माण्डकी सृष्टि करनेवाले भगवान् नारायणकी कृपादृष्टिसे ही यह अदृष्ट और अश्रुत वस्तु हमें दृष्टिगोचर हो रही है। नारायण कृपा करें तो न तो इस असम्भव वासनाका निवृत्त होना कठिन है और न इस दुर्लभ वस्तुका सुलभ होना ही असम्भव है। उनकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही होगा।'

तदनन्तर नारायण-सेवानिष्ठ यशोदाकी सम्मतिसे नन्द-यशोदा दोनोंने तन-मन-वचनसे श्रीनारायण-चरण-शरणापन्न होकर एक वर्षके लिये श्रीहरिकी अत्यन्त प्रिय द्वादशीके दिन यथाविधि व्रत करनेका नियम लिया और व्रत आरम्भ कर दिया।

नन्द-यशोदाके द्वादशी-व्रतकी संख्यावृद्धिके साथ-ही-साथ स्वप्नमें

देखे हुए दिव्यातिदिव्य परम सुन्दर बालकको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेकी दम्पतिकी लालसा भी बढ़ती गयी। अब परम व्याकुलताकी परिस्थिति हो गयी। व्रतानुष्ठान सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न हो गया। तब एक दिन उन्होंने सामान्य निद्राके समय स्वप्नमें अपने इष्टदेव चतुर्भुज शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् नारायणको देखा। भगवान् नारायण उनके समीप आकर कृपापूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देखते हुए बड़ी मधुर वाणीमें बोले—

अहो मय्यभिषक्तौ भक्तौ कथं निर्विद्य खिद्येथे, योऽसावतसीकुसुमसुषमः सुकुमारः कुमारः शश्वदेवानुभवतोर्भवतोः कुमारतया स्फुरति, स तु सदा भवतोरेवानुगतः। प्रतिकल्पं स्वभक्तिप्रवर्तनाय दिवि मत्प्रवर्त्तितद्रोणधरारूपांशकलावतोः।

'तद्भूरिभाग्यम्' इत्यादिरीत्या ब्रह्माद्यलभ्यसाक्षात्तत्फलसाक्षात्काराय स्वयमेव पृथिव्यां भवतोर्भवतोरेव भवं लभत एव। अचिरादेव रुचिरा रुचिरेषा युवयोः सफलतां वलिता।

'अहो नन्द-यशोदे ! तुम मुझमें आसक्त और मेरे परम भक्त हो। तुम इतना खेद करते हुए क्यों काल्यापन करते हो ? तुम जिस अतसी-कुसुमके सदृश श्यामसुन्दर सुकुमार कुमारको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेके लिये चिन्तित और उत्कण्ठित हो रहे हो, वह तो तुम्हारा ही पुत्र है। जगत्में वात्सल्य-प्रेमका प्रचार करनेके लिये मेरी प्रेरणासे तुम्हारे ही अंश द्रोण और धराके रूपमें स्वर्गमें आविर्भूत होकर प्रत्येक कल्पमें तीव्र तपस्या किया करते हैं। उनकी तपस्याका फल ब्रह्मादिके लिये अलभ्य है। उन्होंने तपस्या करके जो फल प्राप्त किया है, ब्रह्मादिके लिये उसका प्राप्त करना तो दूर रहा, उनके निवासस्थानपर बसनेका सौभाग्य प्राप्त करनेपर भी ब्रह्मा अपनेको कृतार्थ मानते हैं। 'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां' आदि वचनोंसे ब्रह्माने स्वयं इसको स्वीकार किया है। तुम्हारे अंश द्रोण और धरारूपसे तप करके जिस फलको प्राप्त करना चाहते हैं, उसी फलका आस्वादन करनेके लिये तुम दोनों स्वयं पृथ्वीपर प्रकट हुए हो। तुम तनिक भी चिन्ता मत करो, शीघ्र ही तुमलोगोंका मनोरथ सफल होगा।'

गोपराज नन्द श्रीनारायणके इन कृपादेश-वचनोंसे परम आशान्वित होकर प्रतिक्षण उस मनोहर बालकको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेकी प्रतीक्षा करने लगे। यही स्थिति श्रीयशोदाजीकी थी। इन्हीं दिनों एक दिन एक अर्धवृद्धा तपस्विनी एक स्नातक ब्राह्मण-बालकको साथ लिये गोपराज नन्दकी सभामें पधारीं। दूरसे ही देखकर सभी सभासदोंको लगा कि ये कोई महान् प्रभावशालिनी तपस्विनी हैं। सब लोगोंने खड़े होकर हाथ जोड़े और बड़े आदरके साथ आसनादि देकर पूछा—'देवी ! आप कौन हैं ? आपको देखनेपर ऐसा लगता है मानो आप साक्षात् भगवान्की शक्ति योगमाया हैं और आपके साथका यह बालक ऐसा प्रतीत होता है मानो मुनि नारदजी ही बालक-मूर्ति धारण करके हमलोगोंके कल्याणार्थ यहाँ पधारे हैं।'

गोपराजके सभासदोंकी बात सुनकर तपस्विनीने मुसकराकर कहा—'मेरा नाम पौर्णमासी है। मैं तपस्विनी और दैवज्ञा हूँ। मेरे साथके इस बालकका नाम 'मधुमङ्गल' है। बालक स्नातक है। इसे देखकर नारदका स्मरण होना उचित ही है; क्योंकि इस बालककी प्रवृत्ति सचमुच नारद ऋषिके समान ही है।'

तपस्विनीकी बात सुनकर गोपराज-सभाके सदस्योंने हाथ जोड़कर कहा—'देवी ! हम आपकी सेवा करने योग्य बिल्कुल ही नहीं हैं। इसपर भी आपने हमलोगोंपर इतनी महती कृपा क्यों की है, कुछ समझमें नहीं आता।' इसके उत्तरमें तपस्विनीने कहा—'बहुत शीघ्र ही तुमलोगोंका कोई एक अनिर्वचनीय सौभाग्य उपस्थित होनेवाला है। इसीलिये मैं यहाँ आयी हूँ।' तदनन्तर सबके पूछनेपर पौर्णमासीजीने बताया कि 'तुमलोगोंके प्राणाधिक प्रियतम गोपराज नन्दके एक पुत्र होगा और वह पुत्र अखिल जगत्को आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देगा।' पौर्णमासीकी यह बात सुनकर सभी परमानन्दसे उल्लसित और पुलकित होकर गद्गदवाणीसे कहने लगे—''देवी ! आपके शुभागमनसे हमारा यह बृहद्वन महान् तीर्थ हो गया है। हम आपके लिये 'कृष्णान्तिके' (यमुनाजीका नाम कृष्णा है,

उनके समीप) एक पर्णशाला बना देंगे । आप उसीमें निवास करें ।' पौर्णमासीजी बोलीं—'तुम्हारा यह प्रतिश्रुति-वाक्य श्रुतिवाक्यके सदृश ही है । यह वाक्य नव्य—अभी-अभी उच्चारित होनेपर भी अव्यभिचारी सत्य है । मेरा निवास 'कृष्णान्तिके' (कृष्णके समीप) ही होगा । तुम्हारे मुखसे 'यमुनातीरे' न निकलकर 'कृष्णान्तिके' शब्द निकला है, इससे प्रतीत होता है कि इस नन्दनन्दनका नाम 'कृष्ण' होगा और वह महान् प्रभावशाली होगा । उसके प्रभावकी बात क्या बतलाऊँ, उसके प्रभावसे परस्पर विरोधी वस्तुओंमें कोई विरोध नहीं रह जायगा ।''

तस्मिन् जातवति निर्दानवता पृथिव्यां भविष्यति, तदीयगुणे सदानवता । सगुणता विद्यादिप्रबन्धे तत्सम्बन्धे तु निर्गुणता । सकिंचनता विषयसम्पत्तौ, तद्भक्तौ तु निष्किंचनता । इत्यादिकं विरुद्धायमानमपि सर्वैरनुरुद्धं करिष्यते ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

''नन्दनन्दनके जन्म ग्रहण करनेपर पृथ्वीमें निर्दानवता-सदानवता, सगुणता-निर्गुणता, सकिंचनता-निष्किंचनता आदि परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाले कर्मोंका एकत्र समावेश हो जायगा । इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके आगमनसे पृथ्वी दानवशून्य हो जायगी—वे पृथ्वीके समस्त दानवोंका विनाश कर देंगे । अतः 'निर्दानवता' सिद्ध होगी । नन्दनन्दनकी अनन्त मधुर गुणावलीका पृथ्वीके भाग्यशाली व्यक्तियोंके द्वारा नित्य नव रूपमें आस्वादन होगा, अतः 'सदा नवता' होगी । पृथ्वीके लोग विद्यादि गुणोंसे विभूषित होनेपर भी नन्दनन्दनके सम्बन्धके कारण सत्त्व, रज, तम—इन प्राकृत गुणोंसे अतीत हो जायँगे—इसलिये 'सगुणता' और 'निर्गुणता' सिद्ध होगी और भगवत्सेवार्थ शरीर-निर्वाहके लिये किंचित् विषययुक्तता—'सकिंचनता' होनेपर भी भक्तिके सम्बन्धको लेकर सर्वथा 'निष्किंचनता' होगी । यों एक ही समय परस्परविरोधी वस्तुओंका सम्मेलन हो जायगा ।'

पौर्णमासी देवीके लिये कालिन्दी-तटपर पवित्र पर्णशालाका निर्माण हुआ और नन्दनन्दनकी दर्शनाभिलाषासे मधुमङ्गलसहित वे वहाँ रहने लगीं।

ये पौर्णमासी देवी देवर्षि नारदजीकी शिष्या और श्रीकृष्णके अध्यापक सांदीपनि मुनिकी माता थीं। ये महान् शक्तिमती थीं और श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका सब प्रकारसे समाधान किया करती थीं। मधुमङ्गल इन पौर्णमासी देवीका पौत्र और श्रीसांदीपनिजीका पुत्र था। यह भगवान् श्यामसुन्दरका प्रिय सखा तथा परिहासरसिक—बड़ा विनोदी था। श्रीकृष्णकी गोष्ठ-लीला तथा गोपाङ्गनाओंकी सूर्य-पूजादि लीलाओंमें इसका नाम आया है। यही 'मसखरे मनसुखा' के नामसे प्रसिद्ध है।

भगवान् पहले वसुदेवजीकी भाँति नन्दबाबाके हृदयमें आये और फिर एक दिन यशोदामैयाने स्वप्नकी भाँति यह अनुभव किया कि वह पहले स्वप्नमें दीखा हुआ बालक एक बिजली-सी चमकती हुई बालिकाके साथ नन्दहृदयसे निकलकर उनके हृदयमें प्रवेश कर रहा है। बस, तभीसे यशोदाके दिव्य भगवद्भावमय गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगे और आठ महीनोंके अनन्तर भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीके मङ्गलमय दिन आनन्दमय श्रीगोविन्दके प्राकट्यसे पृथ्वी, स्वर्ग, आकाश, वायु आदि सभी परमानन्द-रसमें निमग्न हो गये।

आज इस परमानन्द-रस-सागरमें डूबकर हम सभी उनके चरण-कमलोंमें प्रार्थना करें—

स्तुति-नवक

सजल-जलद-नीलाभ श्याम तन परम मनोहर।
गोरोचन-चर्चित तमाल पल्लव सम सुन्दर॥
गोल भुजा आजानु प्रलम्बित मद-मनोज-हर।
कङ्कण-केयूरादि विभूषित परम रम्य वर॥ १॥

गुञ्जावलि-परिवेष्टित सुमन विचित्र सुशोभित।
चूड़ा मण्डित रत्न-मुकुट शिखिपिच्छ नवल युत॥
घुँघराली अलकावलि नील कपोल सुचुम्बित।
कुण्डल-द्युति कमनीय गण्ड-आभापर उजलित॥ २॥

बिम्बाफल-बन्धूक पुष्पके सुषमा हारी।
अरुन अधर पर मधुर मुरलिका मञ्जुल धारी॥
हास्य मधुरतम त्रिभुवन-मोहन अति मुदकारी।
नासा-अग्र सुराजित मुक्ता मणि सहकारी॥ ३॥

बिंधे नेत्र गोपी-कटाक्ष-शरसे शोभित नित।
जिनके भ्रू-चालनसे गोपी-गण उन्मादित॥
सहज त्याग सब भोग निरन्तर सुख-सेवा-रत।
श्यामाश्याम-सुखैक-वासना अति मन अतुलित॥ ४॥

रेखात्रय राजित सुकण्ठमें खेल रहीं कल।
स्वर-संयुत मूर्च्छना राग-रागिनियाँ निर्मल॥
कौस्तुभमणि देदीप्यमान विस्तृत वक्षःस्थल।
दिव्य रत्नमणि-हार सुमन-माला शोभित गल॥ ५॥

कटि-किङ्किणि मृदु मधुर शब्द घण्टिका विकाशित।
अरुण चरण-नख दिव्य ज्योतिसे ब्रह्म प्रकाशित॥
मणिमय नूपुर चरण करत जग मोद-सुहासित।
पीत-वसन अमसोर्ध्व ज्योतिमय देह सुलासित॥ ६॥

अनुपम अङ्ग-सुगन्ध दिव्य सुर-मुनि-मनहारी।
खड़े सुललित त्रिभङ्ग कल्पतरु-मूल-विहारी॥
साथ दिव्य गुण-रूपमयी वृषभानुकुमारी।
सदा अभिन्न, परम आराध्या राधा प्यारी॥ ७॥

सखा-सुरभि-गोवत्स-बन्धु-प्रिय माधव मनहर।
नन्द-यशोदानन्दन विश्व-विमोहन नटवर॥
हम सर्वथा अयोग्य, अनधिकारी, निकृष्टतर।
सहज दयावश करो हमें स्वीकार मुरलिधर॥ ८॥

दो उन प्रेमी भक्तोंके भक्तोंकी पद-रज।
जो सेवन-रत सदा प्रिया-प्रियतम-पद-पङ्कज॥
परम सुदुर्लभ, जिसे चाहते हैं उद्धव-अज।
नहीं चाहते भुक्ति-मुक्ति, उस पद-रजको तज॥ ९॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥

बोलो आनन्दकंद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

नंदके आनंद भयो, जै कन्हैयालालकी!

श्रीकृष्णका परम स्वरूप और उनका प्रेम

आपका पत्र मिला। आपका लिखना ठीक है। श्रीकृष्ण-प्रेमी भक्त वैष्णव सचमुच ऐसा ही मानते हैं कि तत्त्वरूप निराकार ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं, परमात्मा उनके अंश हैं और षडैश्वर्य (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) के पूर्ण आधारस्वरूप भगवान् श्रीनारायण श्रीकृष्णके विलास-विग्रह हैं। श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता श्रीराधा सर्वथा अभिन्न हैं। सर्वथा द्वैतरहित एक ही परम भगवत्तत्त्व लीला-रसास्वादनके लिये दो रूपोंमें प्रकट है। इन्हीं दो रूपोंको 'विषय' और 'आश्रय' कहा गया है। श्रीकृष्ण 'विषय' हैं और श्रीराधाजी 'आश्रय'। विषय 'भोक्ता' होता है और आश्रय 'भोग्य'। लीलाके लिये कभी-कभी श्रीकृष्ण 'आश्रय' बन जाते हैं और श्रीराधाजी 'विषय' सजती हैं। श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपभूत आनन्दका ही मूर्तिमान् रूप हैं। परंतु लीलाके लिये श्रीराधारानी प्रेमका परिपूर्ण आदर्श हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दके। इसीसे लीलामयी श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे श्रेष्ठ 'आराधिका' हैं, उन्हें निज सुखका बोध नहीं है। वे जानती हैं श्रीकृष्णके सुखको, और श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही नित्य परम सुखका अनुभव करती हैं। उनकी सङ्गिनी और सखी समस्त गोपियाँ भी इसी भावकी मूर्तियाँ हैं। वे श्रीराधाकृष्णके सुखसे ही सुखी होती हैं। उनमें निजेन्द्रिय-सुखकी वासना कल्पनाके लिये भी नहीं है। इसीसे वे प्रेममय भक्तिमार्ग और प्रेमी भक्तोंकी परम आदर्श पथप्रदर्शिका हैं।

चोर-जार-शिखामणि

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥

अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मी-
सरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे ।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीला-
मदमुदितवदनशशिमधुरिमणि लीये ॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम' में भगवान्‌का एक नाम 'चोर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच वृत्तियाँ हैं। भगवान्‌के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्‌में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है? और यदि उनमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है? और यदि वास्तवमें भगवान्‌में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे बिना कैसे

रहेंगे ? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्बन्धमें आपका मत जानना चाहता हूँ ?

इसके उत्तरमें अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। प्रश्नकर्त्ता महोदयको इससे कुछ संतोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्त्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं, वे कदापि विवेकवान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते; और भगवान्‌में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खताकी सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्‌का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्‌को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्‌में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शङ्का भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये। स्वरूपभूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्‌में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके आचार्य और विश्वके भरण-पोषण-कर्त्ता होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेषसद्गुणालंकृत हैं और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्-रूपमें उन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसारके सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं,* सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि.................. (गीता ७। १२)

अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं आता। उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं।*

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्‌का है; क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'† हैं, और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मारूपसे वे ही स्वयं विराजित हैं‡। इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्यका ही।

परंतु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्त्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्‌के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं। उनका कहना है कि 'धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं, जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो।'

इसके उत्तरमें यों तो यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्‌पर माया-जगत्‌के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है और वे जो कुछ कहते हैं, वही शास्त्र है। अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना सबके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही; क्योंकि भगवान्‌की क्रिया भगवान्‌के स्वधर्मानुकूल होती है। जीवमें भगवत्ता न

---

* न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। (गीता ९। ९)
अर्थात् हे अर्जुन! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते।

† सर्वलोकमहेश्वरम् (गीता ५। २९)

‡ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १०। २०)
अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ।

होनेसे वह भगवान्‌के धर्मका आचरण नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्यको छिपा दिया, नन्हीं उम्रमें कनिष्ठिका अँगुलीपर पहाड़ उठा लिया और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया। जीव इनमेंसे कोई-सा भी काम नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्‌की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता। हाँ, उनकी वाणीका—उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये और इसीमें जीवोंका कल्याण है।

ऐसा होनेपर भी साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्‌की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती, जो शास्त्रविरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों। मोहवश मूढ़लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओंपर दोषारोपण कर बैठते हैं*। तब फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है? अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है। यों तो वेदोंमें भी भगवान्‌को 'स्तेनानां पतये नमः' चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है। भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुभवी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'लोचन सुखद बिस्व चितचोरा' कहा है। परंतु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे बारंबार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परात्पर तत्त्व घोषित किया है। और इन भगवान्‌का 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रक्खा गया है उन व्रज-गोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गीता ९।११)

'सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ मनुष्य ही मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्‌को न पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं।'

पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं* तथा स्वयं भगवान् जिनको अपनेको ऋणी घोषित करते हैं† ।

* तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन् ! मुझे इस धरातलपर व्रजमें—विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय, जिससे मैं गोकुलवासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरण-रजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है (परंतु पाती नहीं) ।'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६४)

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो ! इन गोपियोंकी चरण-रजका सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ भी हो जाऊँ (जिससे उन गोपियोंकी चरण-रज मुझे भी प्राप्त हो); क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जाने योग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं ।''' मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरण-रेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्‌की लीला-कथाओंका गान त्रिभुवनको पवित्र करता है ।'

† न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदम्बपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये। और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये। परंतु इस माखन-खोरी, चीरचोरी और रास-रमणके प्रेमराज्यसम्बन्धी रहस्यका किंचित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीसङ्गरूप व्यभिचार ही है।

शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसङ्गानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते हैं। वेदोंमें और गीतामें भी अच्छे भावोंमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वयं एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते हैं।* धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते हैं।† गोपियोंके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है।‡ श्रुतियोंमें और गीतामें 'रति' शब्द आता है।§ गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है।+ परंतु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये। गीतामें भगवान्‌के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं, परंतु वे स्वयं अर्जुनसे कहते हैं—मेरे

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इस साधुकार्यका बदला मैं देवताओंकी आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपनी ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।'

* 'सोऽकामयत' (तैत्तिरीय० २। ६)

† 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ! (गीता ७। ११) अर्थात् हे अर्जुन! धर्मसे अविरुद्ध 'काम' मैं हूँ।

‡ प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्।

§ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

(मुण्डक० ३। १। ४)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्। (गीता ३। १७)

+ तुष्यन्ति च रमन्ति च। (गीता १०। ९)

कई जन्म हो चुके हैं। * साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है? वह अजन्माका जन्म है—दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्‌का 'काम', उनकी 'चोरी', उनकी 'जारी', उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्‌का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्‌में बहिरङ्गा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

तब फिर ये क्या हैं? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरङ्गा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक अत्यन्त स्थूल रूप है, जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरङ्गा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती, फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्य-राज्यके खेलको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है। इसीलिये ऐसे शब्दोंको पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्‌को अपने ही सरीखे प्राकृतशरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य

---

* बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि······(गीता ४। ५)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

अर्थात् अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है; इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।

लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषारोपण करके, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टा करके घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं ! यह हमारा ही अज्ञान है । अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है । इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है ।* यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है । इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की जिन दिव्य लीलाओंका यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूप-मय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंकी समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हींपर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्‌की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं ।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था, जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्‌के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुखी होती थी ? श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावितमति गोपिकाओंका तन-

---

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
(गीता १८ । ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है; तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपमें जानता है ।'

मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी—स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छविका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि 'मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानीसे पहुँच सके; फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ।' रातभर गोपी इसी विचारमें रहती। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही बिलोकर माखन निकालकर छींकेपर रखती। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन सोचती—'हा! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया? क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती, लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती। श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं?—सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक

रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर भोग लगाते, भक्तको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुना बढ़ा देते !

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है ? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है ? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फलस्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है । फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्‌की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है ?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की, जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथरूपमें प्राप्त करना चाहती थीं । गोपियोंका भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी । स्वरूपभूत गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे ? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं ! उसी प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखानेके लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने दिव्य परिकर और अपने दिव्यधामसहित अवतीर्ण होकर व्रजमें जो मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्र-हरण भी एक अनोखी लीला थी । यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है । विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये बिना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता । विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो

भगवान्‌की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि 'श्रीकृष्ण उस समय छः वर्षके बहुत छोटे बालक थे। किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके लिये बन ही नहीं सकता। अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नंगी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है,* ऐसा नहीं करना चाहिये। परंतु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है। उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका—सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते हैं। भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें–मल और विक्षेपरूप दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है, तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है। आवरणका नाश सहजमें नहीं होता। अज्ञान इस सुकौशलसे जीवकी बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्‌के सामने निरावरण—बेपर्द होकर जानेकी अनुमति नहीं देती! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है। आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द-रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती। देह-गेह, लज्जा-संकोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं। फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्‌के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णका एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये फट जाता है, उन भगवान्‌का साक्षात् सङ्ग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओंमें सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होनेवाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तिसे विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना

*'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।'
(श्रीमद्भा० १०। २२। १९)

करना तो भगवदपराध ही है। गोपिकाओंकी और भगवान्‌की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं। जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलङ्करूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्‌का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमास्पदमें किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं, तब एक ही भगवान्‌के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अङ्ग कैसे छिपाकर रक्खा जा सकता है? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है। परंतु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे संकोच होता है, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण करके अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिङ्गनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबाकर रसमय बनानेके उद्देश्यसे बलपूर्वक उसके आवरणको हर लेते हैं। यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है। क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका संदेह हो सकता है? क्या इस आवरण-भङ्गलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्‌को अपना मन देना चाहता है, अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं! जिसका मन चोरा गया, वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है।

श्यामसुन्दरके बालसौन्दर्यके जादूसे बचनेके लिये नन्दबाबाकी गलीमें जानेसे मना किया जाता है—

बटाऊ ! वा मग तैं मति जइयो।
गली भयावनि भारी जा मैं सबरो माल लुटइयो॥
ठाढ़ो तहाँ तमाल नील एक छैल छबीलो छैयो।
नंगे बदन मदन-मद-मारत मधुर मधुर मुसकैयो॥
देखन कौं अति भोरो छोरो जादूगर बहु सैयो।
हरत चित्तधन सरबस तुरतहि नहिं कोउ ताहि रुकैयो॥

अबतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अब जारके अर्थपर कुछ विचार करना है। यह बात तो पहले कही ही जा चुकी है कि सब जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्में कभी औपपत्यकी—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती; परंतु यहाँ साकार दिव्य-मङ्गल-विग्रह भगवान्को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसीपर विचार करना है। भगवत्-सम्बन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य। इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है, परंतु भगवान्के साथ सम्बन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्-प्रेमके उत्तरोत्तर बढ़े हुए पाँच भाव बन जाते हैं। इन पाँचोंमें सबसे ऊँचा रस है—माधुर्य। माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं। यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है। इस रसके रसिक लोग भोग-मोक्ष सबको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें मतवाले रहते हैं। इसीसे इसका नाम मधुर है। शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकासमात्र होता है। दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है; परंतु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं और भक्त दीन है, दास है और सेवक है। इसमें कुछ अलगाव-सा है और संकोच-सा है। परंतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है। वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छाया-सी आती है, भक्तमें स्नेहका विकास रहता

है और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर—अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं। इस रसमें न प्रार्थना है न कामना है, न भय है और न संकोच है। समय-विशेषपर प्रसङ्गानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। इस रसमें भगवान्‌की जो सेवा होती है, वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है। इस माधुर्यभावके दो प्रकार हैं—स्वकीयाभाव और परकीयाभाव। अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है, उसे स्वकीयाभाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो परपुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है, उसे परकीयाभाव कहते हैं। लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुख-की प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है और नरकका कारण है, अतएव सर्वथा त्याज्य है; क्योंकि लौकिक परकीयाभावमें अङ्ग-सङ्गकी घृणित कामना है और प्रेमास्पद 'जार' पुरुष है। परंतु भगवत्प्रेमके दिव्य कान्ताभावमें परकीयाभाव स्वकीयाभावसे कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अङ्ग-सङ्गकी या इन्द्रियसुखकी कोई आकाङ्क्षा नहीं है और प्रेमास्पद 'जार' नहीं, परंतु पति-पुत्रोंके, अपने और समस्त विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् हैं। स्वकीयाभावमें भी पतिव्रता पत्नी अपना नाम-गोत्र, मन-प्राण, धन-धर्म, लोक-परलोक—सभी कुछ पतिके अर्पण करके जीवनका प्रत्येक क्षण पति-की सेवामें ही बिताती है; परंतु उसमें चार बातोंकी परकीयाकी अपेक्षा कमी होती है। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, प्रियतममें किसी भी दोषका न दीखना और कुछ भी न चाहना—ये चार बातें निरन्तर एक साथ निवास होनेके कारण स्वकीया-में नहीं होतीं; इसीलिये परकीयाभाव श्रेष्ठ है। भगवान्‌से नित्यमिलनका अभाव न होनेपर भी परकीयाभावकी प्रधानताके कारण गोपियोंको भगवान्‌का

क्षणभरका अदर्शन भी असह्य होता था।* वे प्रत्येक काम करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका चिन्तन करती थीं † और श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें ऐसी दिव्य गुणमयी दीखती थी कि एक क्षणभरके लिये भी उनसे उनका चित्त हटाये नहीं हटता था। अवश्य ही यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषयवासनासे सर्वथा विमुक्त दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है—

> परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
> व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहिं वास॥

'सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता।' इसीलिये इस प्रेमराज्य-

---

* अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं—'श्यामसुन्दर! जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब हम वनसे लौटते समय घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं (क्योंकि पलकोंका पड़ना हमें सहन नहीं होता)।'

† या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें छिड़काव करते तथा झाड़ू लगाते समय, प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

के सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम परकीयाबुद्धिसे था। इसीसे उनके लिये 'जारबुद्ध्यापि संगताः' कहा गया है। जारबुद्धि अर्थात् जारभाव था, न कि विषय-वासनायुक्त कामप्रेरित घृणित मनोविकार !

भगवान्‌की अन्तरङ्ग शक्तियोंमें 'ह्लादिनी शक्ति' सर्वप्रधान है। यही भगवान्‌की 'प्रकृति', 'आत्ममाया' या योगमाया है। भगवान्‌का रसराज-रूपमें प्राकट्य इसी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे हुआ है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, दिव्य लीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका दिव्य रसास्वादन करनेके लिये ह्लादिनी शक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं और उसीसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं, जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधाकी प्रेम-लीलामें श्रीराधाकी सहचरी होकर रहती हैं। श्रीराधाकृष्णके प्रेममिलनमें इन सबका संयोग रहता है और ये ही श्रीगोपियाँ हैं। इन गोपियोंका दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको भगवान् आवाहन करते हैं। भगवान्‌के आवाहनको सुनकर भला, किससे रहा जा सकता है ? जिन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया था, वे 'कृष्णगृहीतमानसाः' गोपियाँ उस दिव्य अनङ्गवर्धन वंशीसंगीतको सुनकर—जो जिस अवस्थामें थीं—उसी अवस्थामें प्रियतमसे मिलनेके लिये भाग निकलती हैं; परंतु स्थूल देहसे नहीं। उनका वह देह तो वहीं रह जाता है, जिसको प्रत्येक गोप अपने पास सोया हुआ देखता है——

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोये हुए देखा।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे—जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे

परे केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मङ्गलविग्रह भगवान् योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं। वह रमण किस प्रकारका होता है, इसपर मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
यंथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । १७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया।' यह है संक्षेपमें भगवान्के जाररूपकी स्थूल व्याख्या! भला, इस दिव्य प्रेमलीलाको—परमात्माकी और जीवात्माकी या भगवान् और भक्तकी इस आदरणीय मिलनलीलाको कोई व्यभिचार कह सकता है?

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मन-प्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किंतु असंख्य देहोंमें असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्म-रमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डंकेकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखामणि' कहा और ठीक ही कहा !!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्की इस दिव्यलीलाको लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं; परंतु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें, भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयोग करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगामी होते हैं!



श्रीकृष्णचरित्रकी उज्ज्वलता

× × × × आपके पत्रमें ऐसे प्रश्न थे, जिनका उत्तर श्रीकृष्णचरित्रके स्मृतियोगमें स्थित चित्तकी सुस्थिर अवस्थामें ही किसी अंशमें लिखा जा सकता है। यह भी देर होनेका एक कारण है। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपने अपने प्रश्नोंमें भगवान् श्रीकृष्णके व्रजचरित्रपर जो आक्षेप किये हैं और व्यङ्ग्यात्मक वाक्य लिखे हैं, वे तो ठीक नहीं हैं। यह ठीक है कि आप श्रीकृष्णको 'बहुत ही उज्ज्वल' रूपमें देखना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि आपको श्रीकृष्ण-चरित्रका जो 'अपवित्र' (?) वर्णन मिलता है, उसे पढ़-सुनकर दुःख होता है। आपकी नीयत ठीक है, परंतु श्रीकृष्ण-चरित्रका मर्म समझे बिना ही उसपर दोषारोपण करना और उसे अपवित्र बतला देना उचित नहीं। आज आपके-ऐसे और भी बहुत-से लोग हैं, जो सच्चे हृदयसे श्रीकृष्णके चरित्रको अपनी कल्पनाके अनुसार उज्ज्वलताके साँचेमें ढला हुआ देखना चाहते हैं। परंतु वह उनकी कल्पना है। भगवान्‌को अपनी मर्यादाके अंदर बाँध रखनेकी उनकी यह कल्पना सचमुच हास्यास्पद ही है। भगवान् भगवान्

ही हैं—उनकी लीलाओंकी परीक्षा हमारी मायाच्छन्न बुद्धि नहीं कर सकती।

आप श्रीकृष्णका भजन-चिन्तन कीजिये। भजनके प्रतापसे उनकी कृपाके द्वारा शुद्ध मतिके प्राप्त होनेपर आप श्रीकृष्णके व्रजचरित्रका महत्त्व कुछ समझ सकेंगे। उनका उज्ज्वल चरित्र देखना हो तो उनकी श्रीमद्भगवद्गीताको देखिये, जिसमें कहीं भी किंतु-परंतुके लिये गुंजाइश नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका व्रजचरित्र उज्ज्वल नहीं है। वह तो परमोज्ज्वल है और परम पवित्र है, परंतु पहले उज्ज्वलकी उपलब्धि होनेपर ही परमोज्ज्वलकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। गीताके चरम उपदेश भगवत्-शरणागतिको प्राप्त होनेपर ही आगे चलना सम्भव है। जो उनके गीतोक्त उज्ज्वल चरित्रको समझे बिना ही उनके परम उज्ज्वल व्रजचरित्रकी आलोचना करनेका दुस्साहस करते हैं, उनकी विवेककी आँखें चौंधिया जाती हैं और वे अपनेको एक विलक्षण अँधेरेमें पाते हैं, जो उनकी आँखोंके न सहनेयोग्य आत्यन्तिक प्रकाशके कारण उत्पन्न होता है। इसीसे वे वास्तविक रहस्यको न समझकर नाना प्रकारके कुतर्क करके श्रीभगवान्पर दोषारोपण करते हैं या उनके उक्त चरित्रको मिथ्या कहकर बड़े भयानक पाप-पङ्कमें अपनेको फँसा लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं व्रजचरित्रके रहस्यको पूर्णतया जानता हूँ। मैं तो उनके उज्ज्वल गीता-रहस्यको भी नहीं जानता। आपने प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी अपनी 'सम्मति' पूछी है, इसीसे कुछ लिख रहा हूँ। यही ठीक रहस्य है, यह मेरा दावा नहीं है। आपके लंबे प्रश्नोंका अलग-अलग उत्तर न लिखकर संक्षेपमें एक ही साथ लिखता हूँ। कोई बात छूट जाय तो क्षमा कीजियेगा।

मैं श्रीगोपीजनोंके साथ की हुई भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंको सर्वथा सत्य और परम पवित्र मानता हूँ। मेरी समझसे उनमें व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है। वह तो साधनके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी परम पवित्र दिव्य अनुभूति है, जो परम दुर्लभ अत्यन्त कठिन गोपीरतिकी साधनामें

सिद्ध परम विरक्त, एकान्त भगवद्-रसिक महापुरुषोंको ही उपलब्ध होती है।

श्रीराधारानीका नाम अवश्य ही श्रीमद्भागवतमें नहीं है। इससे यह कहनेका साहस नहीं करना चाहिये कि श्रीराधारानीकी 'कहानी' कल्पित है। वह 'कहानी' नहीं, सत्य सत्य है। श्रीमद्भागवतमें नाम नहीं है तो कहीं विरोध भी नहीं है। उसमें तो किसी भी गोपीका नाम नहीं है। अत्यन्त प्राचीन पद्मपुराणमें, ब्रह्मवैवर्तमें तथा गर्गसंहितादि सम्मान्य ग्रन्थोंमें उनकी लीला लिखी है और इससे भी बढ़कर उन महात्मा पुरुषोंकी अनुभूति प्रमाण है, जिन्होंने श्रीराधारानीका और उनकी कृपाका प्रत्यक्ष किया है। कोई न माने तो उसपर न तो कोई जोर है न आग्रह है। परंतु किसीके मानने-न-माननेसे सत्यका विनाश नहीं हो सकता। श्रीराधारानीका श्रीकृष्णके साथ विवाह हुआ था या नहीं---इस खोजकी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि इसका भी वर्णन मिलता है। मेरा तो कहना यह है कि यदि केवल स्थूलदृष्टिसे श्रीकृष्णको साधारण मानव मानकर विचार करते हैं, तब तो श्रीकृष्ण जिस समय वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये थे, उस समय उनकी उम्र ११ वर्षकी थी। रासलीलादि तो इससे भी बहुत पहलेकी घटनाएँ हैं। इतनी छोटी अवस्थामें कामक्रीडा हो नहीं सकती। और यदि उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सबके एकमात्र आत्मा, सर्वलोकमहेश्वर, सच्चिदानन्दघन स्वयं भगवान् मानते हैं, तब श्रीराधारानी बाहरसे कोई भी क्यों न हों, वे साक्षात् भगवती हैं, भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं, उनके आनन्दस्वरूपका मूर्तरूप हैं, उनकी स्वरूपा शक्ति हैं। वे उनसे कदापि अलग नहीं हैं। आनन्द और प्रेमकी अति दिव्य लीलामें उनका—एक ही रूपका दो भावोंमें दिव्य नित्य प्रकाश है। श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रेमस्वरूप हैं। प्रेमका स्वरूप है प्रेमास्पदके सुखसे सुखी होना। जहाँ निजेन्द्रियतृप्तिकी वासना है, वहाँ तो प्रेम है ही नहीं; वहाँ तो कलुषित काम है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके प्रेमास्पद हैं और श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी प्रेमास्पदा हैं। श्रीराधारानी जो कुछ करती हैं, श्रीकृष्णके सुखके लिये करती हैं और श्रीकृष्णको सुखी

देखती हैं तो उनके सुखसे सुखी होनेका स्वभाव होनेके कारण श्रीराधारानी-को अपार सुख होता है। इधर श्रीराधारानीको सुखी देखकर श्रीकृष्णका सुख बढ़ता है; क्योंकि श्रीराधारानी उनकी प्रेमास्पदा हैं और उनको सुखी करनेके लिये ही श्रीकृष्णकी प्रेमलीला होती है। इस प्रकार दोनों परस्पर एक-दूसरेको सुखी करते हुए और एक-दूसरेके सुखसे अपने सुखकी वृद्धि करते हुए लीलामें संलग्न रहते हैं। श्रीगोपीजन इन्हीं श्रीकृष्णकी स्वरूपा-शक्ति ह्लादिनीकी घनीभूत मूर्तियाँ हैं, जो दिन-रात श्रीराधा-कृष्णके मिलन-सुखमें सुखका अनुभव करती हुई उनकी लीलामें संयुक्त रहती हैं। यह लीला अत्यन्त दिव्य है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही प्रेमी हैं—दोनों ही प्रेमास्पद हैं; इसीसे भक्त कवि श्रीभगवतरसिकजीने एक पदमें कहा है—

परस्पर दोउ चकोर, दोउ चंदा।
दोउ चातक, दोउ स्वाती, दोउ घन, दोउ दामिनी अमंदा॥
दोउ अरबिंद, दोऊ अलि लंपट, दोउ लोहा, दोउ चुंबक।
दोउ आशिक, महबूब दोउ मिलि, जुरे जुराफा अंबक॥
दोउ मेघ, दोउ मोर, दोउ मृग, दोउ राग-रस-भीने।
दोउ मनि बिसद, दोउ बर पंनग, दोउ बारि, दोउ मीने॥
भगवतरसिक बिहारिनि प्यारी, रसिक बिहारी प्यारे।
दोउ मुख देखि जिअत, अधरामृत पियत, होत नहिं न्यारे॥

परंतु इन्हीं भगवतरसिकजीने ठीक ही कहा है—

भगवतरसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

यह सत्य है कि रासलीला आदिमें शृङ्गारका खुला वर्णन है और नायक-नायिकाओंकी भाँति चरित्रचित्रण है; परंतु उसके पढ़नेसे काम-वासना जाग्रत् होती है, यह बात ठीक नहीं। रासपञ्चाध्यायीका पाठ तो हृद्रोग—कामका नाश करनेवाला माना गया है और है भी यही बात। हाँ, उनकी बात दूसरी है जो भगवद्भावहीन हैं और उनके लिये रासलीलाका पढ़ना उचित भी नहीं है। यही तो अधिकारिभेदका रहस्य है। मेरी समझसे इस शृङ्गार और नायक-नायिकाकी लीलामें कुछ भी दोष नहीं है।

स्वयं समग्र ब्रह्म, पुरुषोत्तम, सर्वान्तर्यामी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वात्मा, सर्वाधिपति, अखिल विश्वब्रह्माण्डके एकमात्र आधार, सम्पूर्ण विश्वसमष्टिको अपने एक अंशमात्रसे धारण करनेवाले, सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् तो गोपीनाथस्वरूपसे इस रसके नायक हैं; और उपर्युक्त ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत मूर्तियाँ—तत्त्वत: अभिन्नरूपा श्रीगोपीजन नायिका हैं। इनकी वह लीला भी सच्चिदानन्दमयी, अत्यन्त विलक्षण और हमलोगोंके प्राकृत मन-बुद्धिके सर्वथा अगोचर, दिव्य और अप्राकृत है; परंतु यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि इस लीलामें मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका ही रसास्वादन हुआ था, तो भी इसमें तत्त्वत: कोई दोष नहीं आता। अत्यन्त मधुर मिश्रीकी कड़वी तूँबीके शकलकी कोई आकृति गढ़ी जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबी-सी मालूम होती हो, तो इससे वह तूँबी क्या कड़वी होती है? अथवा क्या उसमें मिश्रीके स्वभावगुणका अभाव हो जाता है? बल्कि वह और भी लीलाचमत्कारकी बात होती है। लोग उसे खारी तूँबी समझते हैं, होती है वह मीठी मिश्री। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघनमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा ह्लादिनीशक्तिकी घनीभूत मूर्ति श्रीगोपीजनोंकी कोई भी लीला कैसी भी क्यों न हो, उसमें लौकिक कामका कड़ुवा आस्वादन है ही नहीं! वहाँ तो नित्य दिव्यसच्चिदानन्दरस है। जहाँ मलिना माया ही नहीं है, वहाँ मायासे उत्पन्न कामकी कल्पना कैसे की जा सकती है? कामका नाश तो इससे बहुत नीचे स्तरमें ही हो जाता है। हाँ, इसकी कोई नकल करने जाता है तो वह अवश्य पाप करता है। श्रीभगवान्‌की नकल कोई नहीं कर सकता। मायिक पदार्थोंके द्वारा अमायिकका अनुकरण या अभिनय नहीं हो सकता। कड़वी तूँबीके फलसे चाहे जैसी मिठाई बनायी जाय और देखनेमें वह चाहे जितनी भी सुन्दर हो, परंतु उसका कड़वापन नहीं जा सकता। इसीलिये जिन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीलाकी नकल करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा है या जो चाहते हैं, वे तो डूबे हैं और डूबेंगे ही। श्रीकृष्णका अनुकरण तो सब बातोंमें केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं!

हाँ, आपका यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि 'फिर भगवान् लोकसंग्रहके आदर्श कैसे माने जा सकते हैं ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो किसीके बचपनके कार्य लोकसंग्रहके आदर्श हुआ नहीं करते। संसारके बहुत बड़े-बड़े आदर्श महात्माओंके बचपनके कार्य भी महात्माओंके योग्य ही हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। व्रजलीला ११ वर्षकी उम्रके पहले ही समाप्त हो जाती है। दूसरे, यह रहस्य है कि व्रजलीलामें यह गोपीलीला अत्यन्त गोपनीय वस्तु है। इसका साक्षात्कार तो श्रीभगवान् और उनकी अन्तरङ्ग शक्तियों-को ही होता है। अन्य किसीका इसमें प्रवेश ही नहीं है। यह लीला न तो लोकालयमें होती है और न लोकसंग्रह इसका उद्देश्य ही है। यह तो बहुत ऊपर उठे हुए महात्माओंके अनुभव-राज्यमें होनेवाली अप्राकृत लीला है। इसका बाह्य लोकसंग्रहसे कोई सम्बन्ध नहीं। व्रजमें भी इस लीलाको प्रायः कोई नहीं जानते थे। बाहरवालोंकी तो बात ही क्या है, गोपोंने तो अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास सोये हुए देखा था---

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३८)

ब्रह्मादि देवता---मण्डपके अंदर होनेवाले कार्यको न देख पाकर, बाहरसे मण्डपकी शोभा देखकर ही मुग्ध और चकित होनेवाले लोगोंकी भाँति---केवल बाह्यभावको देख-देखकर चकित हो रहे थे। भगवान् शंकर और नारदको तथा किसी कालमें अर्जुनको गोपीभावकी प्राप्ति होनेपर ही इस लीलाके दर्शन हुए थे। इसीलिये शिशुपालने भगवान्पर गालियोंकी बौछार करते समय कहीं गोपीलीलाका संकेत भी नहीं किया। अगर उसे पता होता तो वह इस विषयमें चुप न रहता। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि यह लीला हुई ही नहीं थी। महाभारतमें ही द्रौपदीने अपनी आर्तपुकारमें श्रीभगवान्को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है। द्रौपदी अन्तरङ्ग भक्ता थीं, इससे उनको इस रहस्यका कुछ पता था। अतएव लोकसंग्रहसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तब लोकसंग्रहके आदर्शमें कोई बाधा कैसे आ सकती है ! यह तो साधारण लोककी बात

है । जो अन्तरङ्ग साधक हैं, उनके लोकके लिये तो यही लोकसंग्रहका आदर्श है ।

गोपियोंके चित्तमें वंशीध्वनि सुनकर काम (अनङ्ग) की वृद्धि हुई थी, यह बात सचमुच भागवतमें ही है और यह सत्य है; परंतु ऊपर कहा ही जा चुका है कि वह काम हमलोगोंका दूषित काम नहीं था । प्रेम भी अङ्गरहित ही होता है । गोपियोंका यह 'काम'—श्रीकृष्णविषयक प्रेम था—नित्यसिद्ध प्रेम था, जो वंशीकी ध्वनि सुनते ही प्रबल हो उठा और जिसने गोपीजनोंको प्रेममें बावली बनाकर श्रीभगवान्‌की ओर तत्क्षण ही प्रेरित कर दिया । भगवान् उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेके लिये ही यमुनापुलिनपर उपस्थित थे । उन्होंने वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे आवाहन करके गोपीजनोंको अपने निकट बुला लिया । यही प्रेमी भक्त और भगवान्‌की प्रेमलीला है ! इसमें कामकी कहीं गन्ध भी नहीं है ।

रही कवियोंकी बात, सो मेरी समझसे कवि तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं--(१) वे भक्त कवि, जिन्होंने लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव किया; (२) वे कवि, जिन्होंने लीलापर विश्वास करके श्रद्धा, भक्ति और पवित्रभावसे व्रजलीलाकी रचना की और (३) वे शृङ्गारी कवि, जो पवित्र या अपवित्र भावसे भी शृङ्गारका वर्णन करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी या गोपीजनोंको नायक-नायिकाके स्थानमें बैठाकर काव्यरचना करते हैं । नाम बतलानेको और कौन किस श्रेणीमें है, यह निर्णय करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं । किसके मनमें क्या था, कौन जान सकता है ? हाँ, श्रीसूरदासजी, तुलसीदासजी, नन्ददासजी आदि भक्त कवियोंके प्रति मेरी श्रद्धा है और उन्होंने जो कुछ कहा है, अत्यन्त पवित्रभावसे कहा है--यह मेरा विश्वास है। तुलसीदासजी यद्यपि श्रीरामभक्त थे, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वे श्रीकृष्णचरित्रका वर्णन करते ही, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण-गीतावलीमें श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंका संक्षेपमें बड़ा ही मधुर वर्णन किया है ।



व्रजसुन्दरियोंके भगवान्

श्रीश्रीव्रजसुन्दरियोंको निबिड़ अरण्यमें छोड़कर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गये। वे सब विरहके आवेशमें अपने प्राण-प्रियतमको खोजने लगीं। खोजते-खोजते श्रीकृष्णमय बन गयीं। तदनन्तर श्रीकृष्णदर्शन-लालसासे कातर होकर प्रलाप करने और फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक इसी समय श्यामसुन्दर उनके बीचमें मधुर-मधुर मुसकराते हुए प्रकट हो गये। उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। पीताम्बर धारण किये हुए थे। गलेमें दिव्य वनमाला थी। उनका सौन्दर्य समस्त विश्व-प्राणियोंके मनको मथनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। वे 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथ' थे। करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको अपने बीचमें पाकर व्रज-सुन्दरियोंके प्राणहीन शरीरोंमें मानो दिव्य प्राण लौट आये। उनके नेत्र आनन्द और प्रेमसे खिल उठे। हठात् प्रियतमके प्राकट्यसे उनके हृदयमें नवीन स्फूर्ति आ गयी। उनके एक-एक अङ्गमें नवीन चेतना जाग उठी। उन्होंने अपने-अपने मनके अनुसार प्रियतमकी आव-भगत की—किसीने उनके कोमल कर-कमलोंको अपने हाथोंसे पकड़ लिया, किसीने चरणारविन्दका आलिङ्गन किया, किसीने चरण पकड़कर अपने हृदयपर रख लिया, किसीने उनका चबाया हुआ पान ग्रहण किया, किसीने प्रणय-कोपसे विह्वल होकर त्यौरी चढ़ाकर दूरसे ही भृकुटिपूर्ण कटाक्षपात किया और कोई-कोई निर्निमेष नेत्रोंके द्वारा उनके मनोहर मुखकमलका मधुर मकरन्द पान करने लगीं। उनका रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार विरहताप प्रशमित होनेपर वे अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको घेरकर बैठ गयीं। अब फिर हास्य-कौतुक आरम्भ हुआ। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र बड़े निष्ठुर हैं—बड़े छलिया हैं, यह बात उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये व्रजसुन्दरियोंने मानो एक पहेली-सी रखकर उनसे पूछा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १६)

'श्यामसुन्दर ! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो भजनेवालोंको ही भजते हैं—प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं; कुछ लोग न भजनेवालोंको भजते हैं—प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। तीसरे प्रकारके कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भजनेवालोंको भी नहीं भजते—प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते; फिर न करनेवालोंसे न करें, इसमें तो बात ही कौन-सी है। प्रियतम ! बताओ, इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है ?' व्रजसुन्दरियोंके कहनेका तात्पर्य यह था कि इन तीनोंमें तुम किस श्रेणीके हो—यह स्पष्ट कहो।

इसके उत्तरमें आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने कहा—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०। ३२। १७–२२)

भगवान्‌ने कहा, 'मेरी प्रिय सखियो ! जो भजनेपर ही भजते हैं—प्रेम करनेपर ही प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम ही सर्वथा स्वार्थपूर्ण

है, उनमें न सौहार्द है और न तो धर्म ही। निरा बनियापन है—लेन-देन है; स्वार्थके अतिरिक्त उनका और कोई भी प्रयोजन नहीं है। जो लोग भजन न करनेपर, प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणामय सज्जन और माता-पिता, उनका हृदय सौहार्दसे भरा होता है। उनका प्रेम सचमुच निर्मल है और वहाँ धर्म भी है। जो लोग भजन करनेपर भी नहीं भजते, प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते, फिर न प्रेम करनेपर प्रेम करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे उदासीन लोग चार प्रकारके होते हैं—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही। सखियो! यदि तुम मेरे सम्बन्धमें पूछती हो तो मैं इन तीनों (सापेक्ष, निरपेक्ष और उदासीन) मेंसे कोई-सा भी नहीं हूँ। मैं यदि प्रेम करनेवालोंसे कभी वैसा प्रेमका व्यवहार नहीं करता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनसे प्रेम नहीं करता। मैं ऐसा इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहे। मैं मिलकर फिर जब छिप जाता हूँ, तब भक्तोंकी वृत्ति मुझमें सारूप्य प्राप्त कर लेती है। जैसे किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय धनकी चिन्ता करते-करते धनमय हो जाता है, वह सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाता है, वैसे ही मेरे छिप जानेपर भक्त मुझमें तन्मय हो जाते हैं। प्रियाओ! तुमलोगोंने अपनी समस्त वृत्तियोंको मुझमें अर्पण करके मेरे लिये लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने आत्मीय स्वजनोंको भी छोड़ दिया है। यहाँ मैं इसीलिये छिप गया था कि तुम्हारे मनमें अपने सौन्दर्य और सुहागकी बात न उठ सके; तुम्हारा मन केवल मुझमें ही लगा रहे। मैं प्रत्यक्षमें नहीं दीखता था, पर था तो तुम्हारे बीचमें ही। तुम्हारे प्रेमकी सारी दशाएँ देख रहा था। तुम्हारे प्रेममें निमग्न हो रहा था। अतएव तुम मुझपर दोषारोपण मत करो। तुम सब मुझे बड़ी प्रिय हो और मैं भी तुम्हारा प्यारा हूँ। तुम्हारा प्रेम सर्वथा निर्मल है—इसमें कहीं भी स्वार्थकी गन्ध नहीं है। तुमने मेरे लिये गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े समर्थ लोग भी नहीं तोड़ सकते। यदि मैं देव-शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक

भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता। मैं सदाके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। मैं तो ऋण चुकानेमें असमर्थ ही हूँ।'

श्रीव्रजसुन्दरियोंके प्राणधन भगवान् लेन-देन करनेवाले व्यापारी नहीं हैं। प्रह्लादको वरका प्रलोभन देनेपर प्रह्लादने श्रीभगवान् नृसिंहदेवसे कहा था—'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, निरा व्यापारी है (न स भृत्यः स वै वणिक्) और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूरी करता है, वह स्वामी नहीं।' भगवान्ने गीतामें जो कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(४। ११)

'जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।'—यह तो साधारण नियम है। प्राणिमात्रके साथ भगवान्का यही व्यवहार है। पर यहाँ तो श्रीभगवान्ने इसको केवल स्वार्थपूर्ण उद्यम बतलाया है; क्योंकि इसमें स्पष्ट ही एक 'अपेक्षा' है। जहाँ अपेक्षा है, वहीं शर्त है और शर्तमें न स्वतन्त्रता है और न हृदयका एकाङ्गीभाव ही। खरीददार और बेचनेवाला दोनों जैसे स्वार्थकी 'अपेक्षा'से मिलते हैं; इसमें भी वैसा ही है। पर व्रजसुन्दरियोंके या भक्तोंके भगवान् अपने भक्तोंके साथ 'किसी स्वार्थके उद्यम'से प्रेम नहीं करते। उनका पारस्परिक भजन या प्रेम सर्वथा अहैतुक, अतएव प्रेममूलक और प्रेमस्वरूप ही होता है।

श्रीव्रजसुन्दरियोंके (प्रेमी भक्तोंके) भगवान् माता-पिताकी भाँति केवल करुणामय 'निरपेक्ष' प्रेमी भी नहीं हैं। माता-पिता स्नेहवश संतानके दोषोंको ढक देते हैं। उनकी करुणा—दया संतानको कभी उदास नहीं देख सकती, इसलिये संतानमें दोष रह जानेकी सम्भावना रहती है। भगवान् अपने भक्तको सर्वथा निर्दोष—सारा कूड़ा-कर्कट जलाकर खरा सोना बना देते हैं। अतएव वे न तो वणिकोंकी भाँति सापेक्ष हैं, न माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष।

भक्तोंके भगवान् 'आत्माराम' भी नहीं हैं। आत्मारामगण अपने

स्वरूपमें मस्त रहते हैं। उनकी दृष्टिमें जगत्‌का कोई महत्त्व नहीं है, फलतः वे जगत्‌से उदासीन रहते हैं। ऐसे आत्मारामके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३। १७)। परंतु भगवान् तो अपने भक्तके लिये कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं। उनका कार्य कभी पूरा होता ही नहीं। वे अमर जीवनमें भक्तका कार्य करते रहनेपर भी कभी कामको पूरा हुआ नहीं मानते।

भक्तोंके भगवान् 'आप्तकाम' भी नहीं हैं। आप्तकाम वे होते हैं, जिनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, जिन्हें किसी वस्तुकी वासना-कामनाकी गन्ध भी नहीं रहती। परंतु भक्तोंके भगवान् तो भक्तके प्रेम-पूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल—यहाँतक कि चिउरोंकी कनियोंतकके लिये लालायित रहते हैं और कई दिनोंके भूखे प्राणीकी तरह आँगनमें बिखरे हुए कणोंको चुन-चुनकर खा जाते हैं। वे व्रज-सुन्दरियोंके साथ रसमयी रासक्रीड़ाकी कामना करते हैं। मुरलीमें मधुर स्वर भरकर उनको अपने समीप बुलाते हैं। वात्सल्यमयी यशोदा मैयाका स्तन्यपान करनेके लिये मचल-मचलकर रोते हैं और व्रजसुन्दरियोंके घरोंका माखन-दही चुरा-चुराकर भोग लगाते हैं!

भगवान् कृतघ्न भी नहीं हैं। वे एक बार प्रणाम करनेवालेके सामने भी सकुचा जाते हैं—'सकुचत सकृत प्रनाम किएहूँ'; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। वे उसके तो अधीन ही हो जाते हैं। श्रीदुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधु स्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर लिया है। वे मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।' अतएव भगवान् सदा ही कृतज्ञ हैं। कृतज्ञ कभी उदासीन नहीं होता।

आत्माराम और आप्तकाम भी उदासीन होते हैं, परंतु उनकी

उदासीनता दूषित नहीं होती। वह तो उनके स्वरूपकी शोभा है। पर कृतघ्न और गुरुद्रोहीकी उदासीनता बड़ी भीषण होती है। इनमें भी गुरुद्रोही सबसे बढ़कर है। जो लोग मजेमें दूसरोंका माल उड़ाकर गर्वसे मूँछोंपर ताव देते हैं, उनसे भी वे अधिक बुरे हैं जो उपकारियोंके साथ द्रोह करते हैं। श्रीभगवान् ऐसे गुरुद्रोही नहीं हैं। वे भक्तोंका उपकार मानते हैं और अपनेको उनके सामने ले जानेमें भी सकुचाते हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भक्त हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इससे सिद्ध है कि भगवान् किसी भी श्रेणीके उदासीन भी नहीं हैं।

तो वे क्या हैं? वे हैं व्रजसुन्दरियोंके ऋणी—वैसे भक्तोंके चिरऋणी! वे सर्वसमर्थ, सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण होकर भी उनका बदला नहीं चुका सकते, अतएव वे अपेक्षासे प्रेम नहीं करते। वे सबके माता-धाता-पितामह होकर भी माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष रहकर भक्तमें कोई दोष नहीं रहने देते। वे नित्य आत्माराम होकर भी उदासीन नहीं रह सकते। वे नित्य आप्तकाम होकर भी निष्काम नहीं रहते। वे अपने सहज उपकारोंसे सबको कृतज्ञ करनेवाले होकर भी स्वयं कृतज्ञ होते हैं और वे एकमात्र जगद्‌गुरु होनेपर भी श्रीव्रजसुन्दरियोंको—श्रीराधारानीको अपना प्रेम-गुरु मानते हैं और उनसे कभी द्रोह नहीं करते। यह है परम प्रेम-सुधासागर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अपने मुँहसे दिया हुआ आत्म-परिचय! भगवान्‌ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे आत्मस्वरूप शंकर, मेरे भाई बलरामजी और मेरी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी भी नहीं हैं। और तो क्या, मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

श्रीकृष्णदर्शनकी साधना

एक गुजराती सज्जन निम्नलिखित प्रश्नोंका उत्तर बड़ी उत्कण्ठाके साथ चाहते हैं। नाम प्रकाश न करनेके लिये उन्होंने लिख दिया है, इसलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है, प्रश्नोंके भावोंकी रक्षा करते हुए कुछ शब्द बदले गये हैं।

१—कई महात्मा पुरुष कहते हैं कि इस समय ईश्वरका दर्शन नहीं हो सकता। क्या यह बात माननेयोग्य है? यदि थोड़ी देरके लिये मान लें तो फिर भक्त तुलसीदास और नरसी मेहता आदिको इस कलियुगमें उस श्यामसुन्दरकी मनमोहिनी मूर्तिका दर्शन हुआ था, यह बात क्या असत्य है?

२—जैसे आप मेरे सामने बैठे हों और मैं आपसे बातें कर रहा हूँ, क्या प्यारे कृष्णचन्द्रका इस प्रकार दर्शन होना सम्भव है? यदि सम्भव है तो हमें क्या करना चाहिये कि जिससे हम उस मोहिनी मूर्तिको शीघ्र देख सकें?

३—जहाँतक ये चर्म-चक्षु उस प्यारेको तृप्त होनेतक नहीं देख सकेंगे, वहाँतक ये किसी कामके नहीं हैं। नेत्रोंको सार्थक करनेका 'सिद्ध-मार्ग' कौन-सा है, वह बताइये।

४—कृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि हृदयमें जल रही है, न जाने वह बाहर क्यों नहीं निकलती! इसीसे मैं और भी घबरा रहा हूँ।

इन प्रश्नोंके साथ उक्त सज्जनने और भी बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे विदित होता है कि उनके हृदयमें भगवद्दर्शनकी अभिलाषा जाग्रत् हुई है। इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर तो उन पूज्य महापुरुषसे मिलना सम्भव है, जो उस श्यामसुन्दरकी मनोहर और दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन करके धन्य हो चुके हैं। परंतु महापुरुषोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे

जो कुछ सुननेमें आया है, उसीके आधारपर इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कुछ चेष्टा की जाती है। प्रश्नकर्ता सज्जनने ये प्रश्न करके मुझको जो भगवत्-चर्चाका शुभ अवसर प्रदान किया है, इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। चारों प्रश्नोंका उत्तर पृथक्-पृथक् न लिखकर एक ही साथ लिखा जाता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस युगमें भगवान्‌के दर्शन अवश्य हो सकते हैं, बल्कि अन्यान्य युगोंकी अपेक्षा थोड़े समयमें और थोड़े प्रयाससे ही हो सकते हैं। भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी और नरसी मेहता आदि प्रेमियोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं, इस बातको मैं सर्वथा सत्य मानता हूँ। यदि भक्त चाहे तो वह दो मित्रोंकी भाँति एक स्थानपर मिलकर भगवान्‌से परस्पर वार्तालाप कर सकता है। अवश्य ही भक्तमें वैसी योग्यता होनी चाहिये। भक्तोंके ऐसे अनेक पुनीत चरित इस बातके प्रमाण हैं। भगवान्‌के शीघ्र दर्शनका सबसे उत्तम उपाय दर्शनकी तीव्र और उत्कट अभिलाषा ही है। जिस प्रकार जलमें डूबता हुआ मनुष्य ऊपर आनेके लिये परम व्याकुल होता है, उसी प्रकारकी परम व्याकुलता यदि भगवद्दर्शनके लिये हो तो भगवान्‌का दर्शन होना कोई बड़ी बात नहीं। व्याकुलता बनावटी न होकर असली होनी चाहिये। किसीका इकलौता पुत्र मर रहा हो या किसीकी सैकड़ों वर्षोंसे बनी हुई इज्जत जाती हो—उस समय मनमें जैसी स्वाभाविक और निष्कपट व्याकुलता होती है, वैसी ही व्याकुलता परमात्माके दर्शनके लिये जिस परम भाग्यवान् भक्तके अन्तरमें उत्पन्न होती है, उसको दर्शन दिये बिना भगवान् कभी नहीं रह सकते। ऐसी व्याकुलता तभी होती है, जब वह भक्त संसारके समस्त पदार्थोंसे परमात्माको बड़ा समझता है, इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको अत्यन्त तुच्छ और नगण्य समझकर केवल एक परम प्यारे श्यामसुन्दरके लिये अपने जीवन, धन, ऐश्वर्य, मान, लोकलज्जा, लोकधर्म और वेदधर्म—सबको समर्पण कर चुकता है! देवर्षि नारदजीने भक्तिका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है—

...तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

'अपने समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पण कर देना और उन्हें भूलते ही परम व्याकुल होना भक्ति है।' जबतक जगत्‌के भोगोंकी इच्छा है, जबतक जगत्‌के अनित्य पदार्थ सुन्दर, सुखरूप और तृप्तिकर जान पड़ते हैं और जबतक उनमें रस आता है, तबतक हमारे हृदयका पूरा स्थान भगवान्‌के लिये खाली नहीं। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

'यदि मुझे भगवान् राम प्यारे लगते तो शृङ्गारादि नवों रस और अम्ल आदि छओं रस नीरस होकर सीठे (सारहीन—फीके) हो जाते।' हम अपने अन्तरमें भगवान्‌को जितना-सा स्थान देते हैं, उतना-सा उसका फल भी हमें प्राप्त होता है; परंतु जबतक हम अपने हृदयका पूरा आसन उस हृदयेश्वरके लिये सजाकर तैयार नहीं करते, जबतक हमारे अन्तःकरणमें अनवरत और निरन्तर अटूट तैलधाराकी भाँति भगवद्भावका स्रोत नहीं बहता, तबतक उसके लिये व्याकुलता नहीं हो सकती और जबतक हम व्याकुल नहीं होते तबतक भगवान् भी हमारे लिये व्याकुल नहीं होते; क्योंकि भगवान्‌की यह एक शर्त है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' जब भक्त प्रेममें तन्मय होकर मतवालेकी तरह घर-बार, स्त्री-पुत्र, लोक-परलोक, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सबका विसर्जन करके उस परमात्माके लिये परम व्याकुल होता है, एक क्षणभरके विछोहसे भी जो जलसे अलग की हुई मछलीके समान छटपटाने लगता है, भक्तिमती गोपियोंकी भाँति जिसके प्राण विरह-वेदनासे व्याकुल हो उठते हैं, उसको भगवान्‌के दर्शन अत्यन्त शीघ्र हो सकते हैं; परंतु हमलोगोंमें वैसी अनन्य व्याकुलता प्रायः नहीं है। इसीलिये दर्शनमें भी विलम्ब हो रहा है। हमलोग धन-संतान और मान-कीर्तिके लिये जितना जी-तोड़ परिश्रम और सच्चे मनसे प्रयत्न करते हैं, जितना छटपटाते हैं, उतना परमात्माके लिये क्या अपने जीवनभरमें कभी

किसी दिन भी हमने प्रयत्न किया है या हम छटपटाते हैं ? तुच्छ धन-मानके लिये तो हम भटकते और रोते फिरते हैं; क्या परमात्माके लिये व्याकुल होकर सच्चे मनसे हमने कभी एक भी आँसू गिराया है ? इस अवस्थामें हम कैसे कह सकते हैं कि परमात्माके दर्शन नहीं होते। हमारे मनमें परमात्माके दर्शनकी लालसा ही कहाँ है। हमने तो अपना सारा मन अनित्य सांसारिक विषयोंके कूड़े-कर्कटसे भर रक्खा है। जोरकी भूख या प्यास लगनेपर क्या कभी कोई स्थिर रह सकता है ? परंतु हमारी भोग-लिप्सा और भगवान्‌के प्रति उदासीनता इस बातको सिद्ध करती है कि हमलोगोंको भगवान्‌के लिये जोरकी भूख या प्यास नहीं लगी। जिस दिन वह भूख लगेगी, उस दिन भगवान्‌को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु हमें नहीं सुहायेगी। उस दिन हमारा चित्त सब ओरसे हटकर केवल उसीके चिन्तनमें तल्लीन हो जायगा। जिस प्रकार विशाल साम्राज्यके प्राप्त हो जानेपर साधारण कौड़ियोंके तुच्छ व्यापारसे स्वाभाविक ही मन हट जाता है, उसी प्रकार जगत्‌के बड़े-से-बड़े भोग हमें तुच्छ और नीरस प्रतीत होने लगेंगे। उस समय हम अनायास ही कह उठेंगे—

इस जगकी कोई वस्तु न हमें सुहाती।
पल-पलमें श्यामल मूर्ति स्मरण है आती॥

भगवान् परम मधुर और परम आनन्दस्वरूप होनेपर भी हमारा उनकी ओर पूरा आकर्षण नहीं है, इसका कारण यही है कि हमने उनके महत्त्वको भलीभाँति समझा नहीं; इसीलिये अमृतको छोड़कर हम रमणीय विषयोंके विषभरे लड्डुओंके लिये दिन-रात भटकते हैं और उन्हें खा-खाकर बारंबार मृत्युको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के दर्शन दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है उनके दर्शनकी दम्भशून्य और एकान्त लालसा ! जो भगवान् नित्य और सत्य हैं, सब समय सभी स्थानोंमें व्यापक हैं, किसी एक युगविशेषमें उनके दर्शन न हों—यह बात कैसे मानी जा सकती है। ऐसा कहनेवाले लोग या तो श्रद्धासे रहित हैं या भगवान्‌की महिमाका भाव समझनेके लिये उन्हें कभी अवसर नहीं मिला।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन नेत्रोंकी सफलता नित्य अतृप्तरूपसे

उस नवीन नीलनीरज श्यामसुन्दरकी विश्व-विमोहिनी रूपमाधुरीका दर्शन करनेमें ही है। परंतु जहाँतक भगवत्-कृपासे इन नेत्रोंको दिव्यभाव नहीं प्राप्त होता, वहाँतक ये नेत्र उस रूपछटाके दर्शनसे वञ्चित ही रहते हैं। नेत्रोंको दिव्य बनाकर उन्हें सार्थक करनेका 'सिद्धमार्ग' उपर्युक्त 'परम व्याकुलता' ही है। जिस महानुभावके हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि जल रही है, वह तो सर्वथा स्तुतिका पात्र है। विरहाग्नि प्रायः बाहर नहीं निकला करती और जब कभी वियोग-वेदना सर्वथा असह्य होकर बाहर फूट निकलती है, तब वह उसके सारे पाप-तापोंको तुरंत जलाकर उसे प्रेममें पागल बना देती है। उस समय वह भक्त—अनन्य प्रेममें मतवाला भक्त—व्रजगोपियोंकी भाँति सब कुछ भूलकर उस प्राणाधिक मनमोहनके दर्शनके लिये दौड़ पड़ता है और अपनी सारी शक्ति और सारा उत्साह लगाकर उसको पुकारता है। बस, इसी अवस्थामें उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते हैं। दर्शन उसी रूपमें होते हैं कि जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है एवं व्यवहार, बर्ताव या वार्तालाप भी प्रायः उसी प्रकारका होता है कि जिस प्रकार उसने पहले चाहा है।

ऐसी स्थितिको प्राप्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि पहले वह सत्सङ्गके द्वारा भगवान्‌के अतुलनीय महत्त्वको कुछ समझे और उसके निरन्तर नामजप तथा ध्यानके द्वारा अपने अन्तरमें उसके प्रति कुछ प्रेम उत्पन्न करे। ज्यों-ज्यों भगवत्-प्रेमसे हृदय भरता जायगा, त्यों-ही-त्यों वहाँसे विषय हटते चले जायँगे। यों करते-करते जिस दिन वह अपना हृदयासन केवल परमात्माके लिये सजा सकेगा, उसी दिन और उसी क्षण उसके हृदयमें परम व्याकुलता उत्पन्न होगी और वह व्याकुलता अत्यन्त तीव्र होकर भगवान्‌के हृदयमें भी भक्तको दर्शन देनेके लिये वैसी ही व्याकुलता उत्पन्न कर देगी। इसके बाद तत्काल ही वह शुभ समय प्राप्त होगा, जिसमें कि भक्त और भगवान्‌का परस्पर प्रत्यक्ष मिलन होगा और उससे भूमि पावन हो जायगी।



सौन्दर्य-लालसा

×××××मनकी सौन्दर्यलालसाको दबाइये मत, उसे खूब बढ़ने दीजिये; परंतु उसे लगानेकी चेष्टा कीजिये परम सुन्दरतम पदार्थमें। जो सौन्दर्यका परम अपरिमित निधि है, जिस सौन्दर्य-समुद्रके एक नन्हे-से कणको पाकर प्रकृति अभिमानके मारे फूल रही है और नित्य नये-नये असंख्य रूप धर-धरकर प्रकट होती और विश्वको विमुग्ध करती रहती है—आकाशका अप्रतिम सौन्दर्य, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुका सुख-स्पर्श-सौन्दर्य, अग्नि-जल-पृथ्वीका विचित्र सौन्दर्य, अनन्त विचित्र पुष्पोंके विविध वर्ण और सौरभका सौन्दर्य, विभिन्न पक्षियोंके रंग-बिरंगे सुखकर स्वरूप और उनकी मधुर काकलीका सौन्दर्य, बालकोंकी हृदयहारिणी माधुरी, ललनाओंका ललित

लावण्य तथा माता-पत्नी-मित्र आदिका मधुर स्नेह-सौन्दर्य—ये सभी एक साथ मिलकर भी जिस सौन्दर्य-सुधासागरके एक क्षुद्र सीकरकी भी समता नहीं कर सकते, उस सौन्दर्यराशिको खोजिये। उसीके दर्शनकी लालसा जगाइये, सारे अङ्गोंमें जगाइये। आपकी बुद्धि, आपका चित्त-मन, आपकी सारी इन्द्रियाँ, आपके शरीरके समस्त अङ्ग-अवयव, आपका रोम-रोम उसके सुषमा-सौन्दर्यके लिये व्याकुल हो उठे। बस, यह कीजिये। फिर देखिये, आपकी सौन्दर्य-लालसा आपको किस चिन्मय दिव्य सौन्दर्य-साम्राज्यमें ले जाती है। अहा! यदि आपको एक बार उसकी जरा-सी झाँकी भी हो गयी तो आप निहाल हो जाइयेगा। फिर सौन्दर्य-लालसा मिटानी नहीं होगी। वह अमर हो जायगी और इतनी बढ़ेगी—इतनी बढ़ेगी कि मुक्ति-सुखको भी खाकर स्वयं जीती-जागती बनी रहेगी और आप फिर उस सौन्दर्य-समुद्रमें नित्य डूबते-उतराते रहेंगे। वह ऐसा सौन्दर्य है कि जिसे दिन-रात अनन्त कालतक अविरत देखते रहनेपर भी तृप्ति नहीं होती, दर्शनकी प्यास कभी मिटती ही नहीं। 'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी' ही बनी रहती हैं। प्यासके बुझनेकी तो कल्पना ही नहीं, वरं ईंधनयुक्त घृतकी आहुतिसे बढ़ती हुई अग्निकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वह अनन्तकी ओर अग्रसर होती रहती है। पर यह प्यास—यह दर्शनकी बढ़ी हुई लालसा दर्शनसे भी अधिक सुखदायिनी होती है।

यह वह सौन्दर्य है, जिसे देखकर मुनियोंके मरे हुए मनोंमें भी जीवनका संचार हो जाता है।

श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीश्रीराधिकाजी कहती हैं—

नवाम्बुदलसद्द्युतिर्नवतडिन्मनोज्ञाम्बरः
सुचित्रमुरलीस्फुरच्छरदमन्दचन्द्राननः।
मयूरदलभूषितः सुभगतारहारप्रभः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नेत्रस्पृहाम्॥

'सखी! नव जलधरकी अपेक्षा जिनकी सुन्दर कान्ति है, नवीन

विद्युत्-मालासे भी अधिक चमकीला जिनका मनोज्ञ पीताम्बर है, जो चित्र-विचित्र सुन्दर मुरलीके द्वारा सुशोभित हैं, जिनका वदनचन्द्र निर्मल शारदीय पूर्ण चन्द्रमाकी अपेक्षा भी समुज्ज्वल है, जो मयूरपिच्छसे सुभूषित हैं और जिनके गलेमें निर्मल कान्तियुक्त श्रेष्ठ मोतियोंकी माला चमक रही है, वे मदनमोहन मेरे नेत्रोंकी दर्शन-स्पृहा बढ़ा रहे हैं।'

नेत्रोंकी ही क्यों—प्रत्येक इन्द्रियकी दर्शन-स्पृहा बढ़ रही है। सभी अङ्ग उनके मधुर मिलनकी उत्कट आकाङ्क्षासे आतुर हैं। बार-बार मिलनेपर भी वियोगकी—विरहकी ही अनुभूति होती है। वे फिर कहती हैं—

नदज्जलदनिःस्वनः श्रवणकर्षिसत्सिञ्जितः
सनर्मरससूचकाक्षरपदार्थभङ्ग्युक्तिकः ।
रमादिकवराङ्गनाहृदयहारिवंशीकलः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति कर्णस्पृहाम् ॥

'सखी! जिनकी कण्ठध्वनि मेघ-गर्जनके सदृश सुगम्भीर है, जिनके आभूषणोंकी मधुर झनकार कानोंको आकर्षित करती है, जिनके परिहास-वचनोंमें विविध भावभङ्गिमाओंका उदय होता रहता है और जिनकी मुरलीध्वनिके द्वारा लक्ष्मी आदि देवियोंका हृदय-हरण होता रहता है, वे मदनमोहन मेरे कानोंकी श्रवणस्पृहाको बढ़ा रहे हैं।'

कुरङ्गमदजिद्वपुःपरिमलोर्मिकृष्टाङ्गनः
स्वकाङ्गनलिनाष्टके शशियुताब्जगन्धप्रथः ।
मदेन्दुवरचन्दनागुरुसुगन्धिचर्चार्चितः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम् ॥

'सखी! जिनके मृगमदविजयी श्रीअङ्गकी सौरभतरङ्गोंसे अङ्गनाएँ वशीभूत हो जाती हैं, जो अपने देहरूप अष्टकमल (दो चरणकमल, दो करकमल, दो नेत्रकमल, एक नाभिकमल और एक मुखकमल) के द्वारा कर्पूरयुक्त कमलकी सुगन्धका विस्तार कर रहे हैं और जो कस्तूरी, कर्पूर, उत्कृष्ट चन्दन, अगुरु आदि सुगन्धि द्रव्योंके द्वारा निर्मित अङ्गरागसे अङ्ग-

विलेपन किये हुए हैं, वे मदनमोहन मेरी नासिकाकी सुगन्ध-स्पृहाको बढ़ा रहे हैं।'

हरिन्मणिकपाटिकाप्रततहारिवक्षःस्थलः
स्मरार्त्ततरुणीमनःकलुषहन्तृदोरर्गलः ।
सुधांशुहरिचन्दनोत्पलसिताभ्रशीताङ्गकः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति वक्षःस्पृहाम् ॥

'सखी! जिनका विशाल वक्षःस्थल इन्द्रनीलमणिके कपाटके सदृश मनोहर है, जिनके अर्गलासदृश बाहुयुगल प्रेम-पीड़ित तरुणिसमुदायके मानस क्लेशको नाश करनेमें समर्थ हैं और जिनका अङ्ग चन्द्रमा, हरि-चन्दन, कमल और कर्पूरके सदृश सुशीतल है, वे मदनमोहन मेरे वक्षःस्थलकी स्पर्श-स्पृहाको बढ़ा रहे हैं।'

व्रजातुलकुलाङ्गनेतररसालितृष्णाहर-
प्रदीव्यदधरामृतः सुकृतिलभ्यफेलालवः ।
सुधाजिदहिवल्लिकासुदलवीटिकाचर्वितः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति जिह्वास्पृहाम् ॥

'सखी! जिनकी सुमधुर अधरसुधा उपमारहित व्रजकुलाङ्गनाओंके इतर रससमूहकी स्पृहाका अपहरण कर रही है, जो महान् पुण्यराशि होनेपर ही प्राप्त की जा सकती है और जिनके द्वारा चर्वित ताम्बूलकी बीड़ी अमृतको भी पराजित करती है, वे मदनमोहन मेरी जिह्वाकी रस-स्पृहाको बढ़ा रहे हैं।'

पण्डितराज जगन्नाथ विषयविमुग्ध मनको सावधान करते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

'रे चित्त! मैं तेरे हितके लिये कहता हूँ। तू वृन्दावनमें गायोंको

चराते हुए नवीन श्याममेघके समान कान्तिवाले किसीको अपना बन्धु मत बना लेना । वह सौन्दर्यसुधा बरसानेवाली अपनी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे प्रिय विषयोंको भी तुरंत नष्ट कर डालेगा ।'

इस रूपमाधुरीका जिसने पान किया, वही इस रसको जानता है । दूसरोंको क्या पता ।

कहते हैं कि मुसलमान भक्त रसखान किसी स्त्रीपर आसक्त थे; पर वह बहुत मानिनी थी, बारंबार इनका तिरस्कार किया करती थी । एक बार इन्होंने कहीं श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन आनन्दकन्द मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका मनोहर चित्र देख लिया और उसी क्षणसे उनपर मोहित हो गये । लोगोंसे पूछा—'यह साँवरी सूरतवाला मेरा चित्तचोर कहाँ रहता है और इसका क्या नाम है ?' बताया गया यह श्रीवृन्दावनधाममें रहता है और इसका नाम है 'रसखानि' । बस, वह उसी समय उन्मत्त-से होकर वृन्दावन पहुँच गये और उत्कट एवं अनन्य दर्शन-लालसाके फलस्वरूप गो-गोप-गोपीपरिवेष्टित निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रस-सुधा-सार-सर्वस्व परमानन्दघन व्रजचन्द्रके मन्मथ-मन्मथ रूपके दर्शन पाकर सदाके लिये उन्हींपर न्यौछावर हो गये । वे कहते हैं—

मोहन छबि रसखानि लखि, अब दृग अपने नाहिं ।
ऐंचे आवत धनुष-से, छूटे सर-से जाहिं ॥
या छबि पै रसखानि अब वारौं कोटि मनोज ।
जाकी उपमा कबिन नहिं पाई, रहे सु खोज ॥
मोहन सुंदर स्याम कौ देख्यौ रूप अपार ।
हिय-जिय-नैननि मैं बस्यौ वह ब्रजराजकुमार ॥
मो मन-मानिक लै गयो चितै चोर नँद-नंद ।
अब बेमन मैं का करूँ परी फेर के फंद ॥

रसखान स्वयं तो रसखानिके रससौन्दर्यपर मोहित थे ही । वे उस अनिवार्य मोहिनीकी महिमा गाते हुए पुकार-पुकारकर समस्त व्रजजनोंको सावधान कर रहे हैं—

कानन दै अँगुरी रहिबो
जबहीं मुरलीधुनि मंद बजैहै ।
मोहिनी तानन सौं रसखानि
अटा चढ़ि गो-धन गैहै तो गैहै ॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि
कालिह कोऊ कितनी समुझैहै ।
माई री वा मुखकी मुसुकानि
सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै ॥

बस, उस मदनमोहन श्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुरीकी लालसा हृदयमें जगाइये और कृतार्थ हो जाइये ।

काम, क्रोध, लोभ, अभिमानादि जितने भी दुर्गुण हैं, छूटने बड़े कठिन हैं और इन्हें छोड़नेके फेरमें पड़कर जीवन गँवानेकी आवश्यकता भी नहीं है । इन सबके विषयको बदल दीजिये । देवर्षि नारदजीने कहा है—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।

जब सब कुछ उन्हें सौंप दिया, तब फिर काम-क्रोधादि किसको देने जायँ ? असलमें जैसे गङ्गाजीके निर्मल प्रवाहमें पड़कर गंदे नालेका पानी भी गङ्गाजल हो जाता है, वैसे ही काम-क्रोधादि दुर्गुण भी भगवान्‌से सम्बन्धित होकर, ब्रह्म-संस्पर्श पाकर भक्तिस्वरूप या स्वयं भगवत्-स्वरूप, अतएव परम उपादेय बन जाते हैं ।

इसीलिये भक्तगण मुक्तिका तिरस्कार करके जन्म-जन्ममें नित्य दासत्वकी कामना करते हैं । इसीसे प्रेमीजन प्राणवल्लभ प्रियतम श्यामसुन्दरपर प्रेमकोप तथा मान किया करते हैं और इसीसे भक्तोंका भक्ति-लोभ कभी मिटता ही नहीं । ये काम, क्रोध, लोभादि फिर भक्तके जीवनोपयोगी मधुर साधन बन जाते हैं । इनको वह कभी छोड़ना नहीं चाहता । यह भी एक मधुर और दिव्य कला है, जो सीखनेयोग्य है ।



बिखरे सुमन

१—भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। उनका यह अवतार भक्तोंको सुख देनेके लिये ही हुआ है। भक्तोंको सुख देकर प्रसन्न होना, यह श्रीकृष्णका सहज स्वभाव है। यशोदा मैया डराती हैं, धमकाती हैं, ऊखलमें बाँधती हैं और भगवान् रोते हैं—यह सब यशोदाके वात्सल्य-रसको पुष्ट करनेके लिये है। इस लीलाकी अन्तिम झाँकी यही है कि यशोदाको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है, उनके हृदयमें वात्सल्यका समुद्र उमड़ आता है और वे अपने कन्हैयाको छातीसे लगाकर स्नेहाश्रुओंकी वर्षा करती हुई एक अनिर्वचनीय सुखमें डूब जाती हैं। सखाओंको पीठपर चढ़ाना उन्हें सख्यरसका आस्वादन करानेके लिये होता है तथा श्रीराधा-

रानीकी इच्छाके अनुरूप सखी आदिका वेष धारण करके वे उन्हें दिव्यातिदिव्य माधुर्य-रस-सिन्धुमें निमग्न करते रहते हैं। इन लीलाओंमें भगवान्‌को, उनके परिकरोंको तथा प्रेमी भक्तोंको कितना आनन्द होता है—यह वाणीका विषय नहीं है। यह सुख और यह रस केवल स्वानुभवगम्य है। इसका आस्वादन श्रीप्रिया-प्रियतमकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है।

२—श्रीकृष्ण-प्रेमका यह स्वभाव है कि भक्त अपनेको तो भूल जाता है, पर श्रीकृष्णके साथ अपना क्या सम्बन्ध है और उनकी सेवा क्या, कैसे करनी है—यह वह कभी नहीं भूलता।

३—भगवान् जगत्‌में आते हैं रसास्वादनके लिये, अपने दिव्य आनन्दरसका स्वयं पान करनेके लिये—अपने सखाओंके द्वारा सख्यरसका, अपने प्रेमियोंद्वारा मधुररसका और अपने माता-पिता आदिके द्वारा वात्सल्यरसका। इन रसोंका भगवान् स्वयं आस्वादन करते हैं और अपने माता-पिता-सखा आदिको कराते हैं।

४—भगवान्‌का जन्म अलौकिक है। वात्सल्यप्रेममयी कौसल्या या देवकी-यशोदाको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि मेरे पेटमें बालक है तथा गर्भके सब लक्षण भी दीखते हैं। पर वास्तवमें भगवान् न तो जीवकी भाँति गर्भस्थ होते हैं और न माताके खाये हुए अन्नसे उनका शरीर बनता है। जो गर्भस्थ होता है तथा माताके खाये हुए अन्नसे बनता है, वह अविनाशी नहीं होता, न दिव्य ही होता है। पर भगवान्‌का शरीर तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, भगवान् ही है।

५—अन्तर्यामीरूपमें भगवान् सबके हृदयमें हैं, पर प्रेमियोंके हृदयमें वे प्रेमके सम्बन्ध-रूपसे रहते हैं, जैसे वात्सल्यभाववालेके हृदयमें पुत्ररूपमें, माधुर्यभाववालेके प्रियतमरूपमें, सख्यभाववालेके सखारूपमें।

६—भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपका दर्शन किसीको होना, न होना—यह भगवान्‌की इच्छापर निर्भर है।

७—नित्यसिद्धा वात्सल्य-प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं—यशोदा मैया । यशोदा मैया नित्यजननी हैं श्रीकृष्णकी और श्रीकृष्ण नित्यपुत्र हैं यशोदाके । यशोदा मैया वात्सल्यप्रेमकी ही घनीभूत मूर्ति हैं; उनमें और चीज है ही नहीं ।

प्रश्न—श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्यार करना तो यशोदाका अज्ञान है । इस प्रेमसे जब ज्ञान प्राप्त होगा, तभी तो उन्हें भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति होगी न ?

उत्तर—जो ज्ञान भगवान्‌को अलग रक्खे, जो ज्ञान भगवान्‌को अगोचर बताकर उन्हें न देखने दे, जो ज्ञान भगवान्‌को न सुनने दे, न स्पर्श करने दे, वह ज्ञान अच्छा कि यशोदाका यह अज्ञान अच्छा, जिसने भगवान्‌को प्राकृत बालककी भाँति पकड़ रक्खा है ? जगत् भगवान्‌के पीछे चलता है, पर भगवान् यशोदा मैयाके पीछे चलते हैं ।

भगवान्‌को पूर्णरूपसे अनुभव करना शुद्ध प्रेमी (रागात्मक) भक्तोंके लिये ही सम्भव है ।

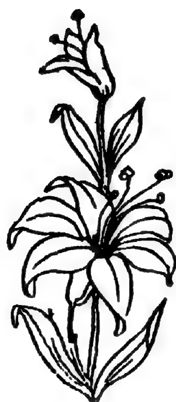
८—भगवान् श्रीकृष्ण अतर्क्य हैं; उनके स्वरूपका, ऐश्वर्यका, माधुर्यका तर्कसे अनुमान नहीं हो सकता । तर्कके लिये किसी दृष्टान्तकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्‌के लिये कोई दृष्टान्त लागू नहीं होता । भगवान्‌का ऐश्वर्य-माधुर्यमय स्वरूप भगवान्‌के लिये ही सम्भव है; अतएव दृष्टान्तविहीन—जिनके लिये कोई दृष्टान्त सम्भव ही नहीं—के विषयमें तर्क आदि करनेकी सम्भावना ही नहीं है ।

९—श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष दर्शन हो और उनका माधुर्यभाव ठीक समझमें आ जाय, इसका सरल और अमोघ उपाय है—सब ओरसे ममता, आसक्ति हटाकर सर्वथा श्रीराधाजीके चरणोंमें आत्म-समर्पण । श्रीराधाकी कृपासे ही श्रीकृष्णके माधुर्य-रसका समास्वादन हो सकता है ।



श्यामको रिझानेका उपाय

कृपा जो राधा जू की चहिये ।
तौ राधाबर की सेवा मैं तन मन सदा उमहिये ॥
माधव की सुख-मूल राधिका, तिनके अनुगत रहिये ।
तिनके सुख-संपादन कौ पथ सूधौ अबिरत गहिये ॥
राधा पद सरोज सेवा मैं नित चित निज अरुझइये ।
या बिधि स्याम-सुखद राधा-सेवा सौं स्याम रिझइये ॥
रीझत स्याम, राधिका रानी की अनुकंपा पइये ।
निभृत निकुंज जुगल सेवा कौ सरस सुअवसर लहिये ॥



श्रीराधा-माधव

प्रार्थना

राधा-माधव जुगल के प्रनवौं पद-जलजात ।
बसे रहैं मो मन सदा, रहै हरष उमगात ॥
हरौ कुमति सब ही तुरत, करौ सुमति कौ दान ।
जातें नित लागौ रहै तुव पद-कमलनि ध्यान ॥
राधा-माधव ! करौ मोहि निज किंकर स्वीकार ।
सब तजि नित सेवा करौं जानि सार कौ सार ॥
राधा-माधव ! जानि मोहि निज जन अति मति हीन ।
सहज कृपा तैं करौ निज नित सेवा में लीन ॥
राधा-माधव ! भरौ तुम मेरे जीवन माझ ।
या सुख तैं फूल्यौ रहौं भूलि भोर अरु साँझ ॥
तन-मन-मति सब मैं सदा लखौं तिहारौ रूप ।
मगन भयौ सेवौं सदा पद-रज परम अनूप ॥
राधा-माधव चरन-रति-रस के पारावार ।
बूड्यौ, नहिं निकसौं कबहुँ पुनि बाहर संसार ॥

श्रीराधा-माधवकी एकरूपता

× × × × राधा-कृष्ण स्त्री-पुरुष नहीं हैं, हमारी तरहसे कर्मसे पैदा होनेवाले पाञ्चभौतिक देहधारी जीव नहीं हैं। वे साक्षात् सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं और एक ही लीलाके लिये दो रूपोंमें प्रकट हैं।........राधा श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता शक्ति हैं। राधा श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्ण राधा हैं।............राधा भगवान् श्रीकृष्णकी स्त्री नहीं हैं, राधा भगवान् हैं। भगवान् (श्रीकृष्ण) राधाके पति नहीं, भगवान् राधा हैं।........और राधा-कृष्ण स्त्री-पुरुष भी हैं, पति-पत्नी भी हैं, प्रकृति-पुरुष भी हैं, पुरुषोत्तम भी हैं, दोनों एक ही हैं, दोनोंकी महिमा कौन जान सकता है।........

कृष्ण शक्तिमय, शक्ति राधिका—चिन्मय एक तत्त्व भगवान।
नित्य अनादि अनन्त अगोचर अमल अनामय सत्य महान॥
त्रिगुणरहित भगवद्गुणमय शुचि सच्चिन्मय-आनन्द शरीर।
लीलामय, लीला, लीला-रत, दो तनु दिव्य नित्य अशरीर॥



श्रीराधा-कृष्ण एक ही तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण वस्तुतः एक ही तत्त्वके दो नाम-रूप हैं । इनका नित्य अभिन्न सम्बन्ध है । अतः इनके विवाह होने, न होने-का प्रश्न ही नहीं उठता । विवाह तो लौकिक जीवोंमें होता है । तथापि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनके विवाहकी बात भी आती है । इनकी लीला नित्य है और नित्य ही ये अपने ही एक तत्त्वके दो स्वरूपोंमें लीला-विहार करते रहते हैं । समस्त दिव्य धामोंमें प्रमुख सच्चित्-परमानन्दमय गोलोकधाम है, वही समस्त ब्रह्माण्डका आत्मा है । उसीमें अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं । वह नित्य सच्चिदानन्दमय परधाम सबसे विलक्षण और सर्वोपरि होनेपर भी सर्वत्र व्याप्त और सबमें स्थित है । इतनेपर भी उसकी पादविभूति एक अंशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है । इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपादविभूति है, वह अनैसर्गिक अप्राकृत सच्चिदानन्दमय परमधाम है । वही साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि परधामोंके

रूपमें भक्तोंके अनुभवमें आता है। उस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणमय, परम सुन्दर, सर्वातिशायी नित्य गोलोकधाममें ही वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज तथा विरजा और यमुना आदि दिव्य शाश्वत प्रदेश हैं। हमारा यह मर्त्यधाम पार्थिव है, ठोस है; यहाँ एकमें दूसरा नहीं रह सकता। जहाँ काशी है, वहां प्रयाग नहीं है—दोनों पृथक्-पृथक् हैं; परंतु दिव्य सच्चित्-परमानन्दमय धाम इस प्रकारका जड तथा ठोस नहीं है; वह कैसा है इसे वाणीसे नहीं समझाया जा सकता। परंतु इतना जान लेना चाहिये कि भगवान्‌की भाँति ही वह सर्वशक्ति-सम्पन्न, सर्वाधार, दिव्य, प्रकाशमय, तेजोमय, नित्य सत्य भावमय है। उसीमें समस्त दिव्य लोकोंका सत्य स्फुरण है। वे साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि भेदोंसे सत्य-सत्य ही अनेक होते हुए सत्य-सत्य एक ही हैं। उसी परतम गोलोकधामकी अधीश्वरी श्रीराधारानी हैं; जो श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न होनेपर भी श्रीकृष्णको नित्य परमानन्द प्रदान करनेवाली उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपका आधार वे हैं और श्रीकृष्ण उनके स्वरूपके आधार हैं। वे नित्य प्रिया-प्रियतम हैं। कभी एक क्षणके लिये भी उनका वियोग नहीं होता। पर यह प्रिया-प्रियतमभाव कैसा है, इसे समझनेके लिये कोई भी लौकिक दृष्टान्त समीचीन और उपयुक्त नहीं है। जैसे भगवान् सर्वविलक्षण, निरुपाधि और अतुलनीय तथा अचिन्त्य हैं, वैसे ही यह प्रिया-प्रियतमभाव भी अतुलनीय और अचिन्त्य है।

इस प्राकृत जगत्‌में जो इन सबका अवतरण हुआ था, कहा गया है कि वह इनके दिव्य राज्यमें इनकी एक स्वप्नलीला थी। विचित्र-लीलासम्पादिनी भगवान्‌की योगमाया सदा लीलावैचित्र्यके आयोजनमें ही लगी रहती हैं। प्रिया-प्रियतम निकुञ्जमें शयन कर रहे हैं। इसी समय प्रिया श्रीराधारानीके सामने योगमाया एक दृश्य उपस्थित करती हैं। श्रीजीको स्वप्न होता है,—'मैं भारतमें श्रीवृषभानुपुरीमें कीर्तिदा माताके अङ्कमें बालिकारूपसे प्रकट हुई हूँ, इत्यादि।' स्वप्न मनका संकल्प है। श्रीजी सदा सत्य-संकल्प हैं, अतः उनके उस संकल्पके

अनुसार भारतवर्षके व्रजमण्डलान्तर्गत वृषभानुपुरीमें उनके प्रादुर्भावकी लीला सम्पन्न होने लगी। इसी प्रकार योगमायाके संकेतसे श्रीकृष्णका भी संकल्पसे ही अवतरण हुआ। यहाँकी इस लीलामें श्रीकृष्ण ग्यारह वर्षकी आयुतक ही व्रजमें विराजे। श्रीजीकी आयु भी लगभग इतनी-सी ही थी। कहते हैं कि वे श्रीकृष्णसे पंद्रह दिन छोटी थीं। इसी बाल्यकालमें व्रजमें इन दोनोंमें प्रथम दर्शन, पूर्वराग, संयोग आदिकी समस्त रसलीलाएँ सम्पन्न हुईं। लोकदृष्टिमें इनकी सगाईकी चर्चा चल रही थी। किसी-किसी भक्तने इनके विवाहका भी वर्णन किया है। हमारे पास एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें बड़ी सुन्दर विवाह-लीलाका सचित्र वर्णन है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार भी लोगोंकी दृष्टि बचाकर साक्षात् श्रीब्रह्माजीने वृन्दावनमें सखियोंके सामने इन शाश्वत प्रिया-प्रियतमका विवाह भी करवा दिया था। फिर श्रीकृष्ण मथुरा पधारे और तदनन्तर द्वारका गये। तत्त्वत: श्रीकृष्णस्वरूपिणी नित्य कृष्णसङ्गिनी श्रीकृष्णप्रिया श्रीराधारानी प्रेमयोगिनी विरहिणीका प्रेमानुरागमय जीवन बिताने लगीं। अवतार-लीला सम्पन्न होनेमें यहाँके परिमाणके अनुसार लगभग सवा सौ वर्ष लग गये। तत्पश्चात् परमधाम-गमनसे पूर्व ही भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें आकर समस्त गोप-गोपियोंको तथा व्रजमण्डलको गोलोकधाममें भेज दिया। इतना सब देख चुकनेपर श्रीराधाजीका स्वप्न भङ्ग हुआ। उन्होंने देखा—'मेरी आँख लग गयी, इतनेमें ही क्षणभरमें मैंने यह स्वप्न देख लिया था। वस्तुत: तो मैं प्रियतम श्रीकृष्णके पास ही हूँ। न कहीं गयी न आयी।' श्रीकृष्ण तथा अन्य सबने भी लीलानुरोधसे यही अनुभव किया। यह एक प्रसङ्गकी कथा है। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि श्रीराधाकृष्ण नित्य सनातन परस्पर-अभिन्न प्रिया-प्रियतम हैं। इनका स्वरूप अनिर्वचनीय है—अचिन्त्य है। इनकी परम कृपासे ही उसका किसी-किसीको कहीं कुछ आभास मिलता है। उनका आदर्श और महत्त्व वे ही लोग जानते हैं। आपकी कृपासे पत्रका उत्तर लिखनेके बहाने प्रिया-प्रियतमकी पवित्र स्मृति हुई, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। शेष भगवत्कृपा।

दिव्य युगल

परम प्रेम-आनंदमय दिव्य जुगल रस-रूप ।
कालिंदी-तट कदँब-तल सुषमा अमित अनूप ॥
सुधा-मधुर-सौंदर्य-निधि छलकि रहे अँग-अंग ।
उठत ललित पल-पल बिपुल नव-नव रूप-तरंग ॥
प्रगटत सतत नवीन छबि दोउ होड़ लगाय ।
हार न मानत जदपि, पै दोउ रहे बिकाय ॥
नित्य छबीली राधिका, नित छबिमय व्रजचंद ।
बिहरतबृंदाबिपिन दोउ लीला-रत स्वच्छंद ॥



श्रीयुगल-तत्त्व और उनसे प्रार्थना

ब्रह्म, ब्रह्मकी शक्ति नित्यमें नहीं कभी रंचक भी भेद ।
जो वह, वही तुम्हीं हो, है निश्चय दोनोंमें नित्य अभेद ॥ १ ॥

शक्ति न हो तो, कहीं रहेगा कभी न शक्तिमानका रूप ।
शक्तिमानके बिना शक्तिको कहीं न होगा स्थान अनूप ॥ २ ॥

शक्ति प्राण है शक्तिमानका, शक्तिमान है शक्ति-प्राण ।
दोनोंसे दोनोंकी सत्ता है, अन्यथा उभय निष्प्राण ॥ ३ ॥

नहीं कभी होता असङ्ग, चिन्मात्र ब्रह्मसे विश्व-विकास ।
पराशक्तिके समाश्रयणमें ही होता सब भाँति प्रकाश ॥ ४ ॥

कारण-रूप जगत्‌की है वह परमोत्कृष्ट पूर्ण पर-शक्ति ।
इसीलिये हरि-हर-ब्रह्मा सब देव कर रहे उनकी भक्ति ॥ ५ ॥

जगकी बात अलग, उनका अपना भी जो है निज अस्तित्व ।
एकमात्र कारण है उसमें, नित परिपूर्ण शक्तिका तत्त्व ॥ ६ ॥

शक्ति बिना शिव 'शव' हो जाते, विष्णु 'अविष्णु', रमासे हीन ।
हो अभाव यदि ब्रह्म-शक्तिका, विधि 'अशक्त' हो जाते दीन ॥ ७ ॥

राधे बिना कृष्ण 'आधे' हैं, सीताहीन राम 'अति दीन' ।
नहीं 'देव' हो कोई, वह यदि हो 'देवत्व-शक्ति'से हीन ॥ ८ ॥

'भगवत्ता'से रहित नहीं माना जाता कोई भगवान ।
शक्तिरहित समझा जाता है इसी भाँति सब मृतक-समान ॥ ९ ॥

जगन्नियामकत्व, शुचि सच्चित्-आनन्दत्व नित्य निर्बाध ।
सृजन-स्थिति-संहार, जगत्-कर्तृत्व, नित्य ईशत्व अगाध ॥ १० ॥

पृथक्-पृथक् हैं दोनोंमें, पर तनिक न अनुपपत्तिका दोष ।
एक तत्त्व दोनों स्वरूपतः नित्य निरन्तर अविचल ठोस ॥ ११ ॥

एक बने दो लीला-रत रहते नित शक्ति, शक्ति-आधार ।
विविध खेल रचते, होते अति मुदित एकको एक निहार ॥ १२ ॥

नहीं पुरुष तुम, नहीं नारि हो, नहीं नपुंसक, सर्वातीत ।
तदपि सर्वमय सदा तुम्हीं हो; तुम ही पुरुष, नारि सुपुनीत ॥ १३ ॥

मूलप्रकृति राधा तुम, दुर्गा, लक्ष्मी, शुभ सावित्रीरूप ।
सरस्वती, गङ्गा, तुलसी तुम दिव्यशक्ति सब भाँति अनूप ॥ १४ ॥

स्वाहा, स्वधा, दक्षिणा, षष्ठी, मनसा, पुष्टि, तुष्टि हो स्वस्ति ।
नहीं तुम्हारे बिना कहीं कुछ; तुम्हीं नास्ति हो, तुम ही अस्ति ॥ १५ ॥

करुणा-सुधामयी देवी ! तुम परम मनस्विनि, अमित उदार ।
राधा-रूप-चरण-रज दे निज करो तुरंत कृपा-विस्तार ॥ १६ ॥



युगलतत्त्वकी एकता

जैसे अग्नि और अग्निकी दाहिका-शक्ति, सूर्य और सूर्यकी किरणें, चन्द्रमा और चन्द्रमाकी चाँदनी, एवं जल और जलकी शीतलता सदा एक हैं, इनमें कभी कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार शक्तिमान् और शक्तिमें कोई भेद नहीं है। जैसे अग्निशक्ति अग्नि-स्वरूपके आश्रयके बिना नहीं रहती और जैसे अग्निस्वरूप अग्निशक्तिके बिना सिद्ध ही नहीं होता, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान्‌का एकत्व-सम्बन्ध है। वह नित्य पुरुषरूप है और नित्य ही नारी-स्वरूप। ऐसे दो होते हुए ही वे नित्य एक हैं। स्वरूपतः कभी दो होकर रह ही नहीं सकते। एकके बिना एकका अस्तित्व ही नहीं रहता।

पराशक्ति परब्रह्म शक्तिमान्‌के आश्रय बिना नहीं रहती; इसलिये वे शक्तिमान् 'परमात्मस्वरूपा' ही हैं। इसी प्रकार शक्तिमान् परब्रह्म पराशक्तिके कारण ही शक्तिमान् हैं, इसलिये वे नित्य 'पराशक्तिरूपा' ही हैं। इन दोनोंमें भेद मानना ही भ्रम है। परंतु इस प्रकार नित्य अभिन्न होनेपर भी इनमें प्रधानता शक्तिकी ही है।

'सच्चिदानन्दघन' सर्वातीत तत्त्व भी 'सच्चिदानन्द-शक्ति'का अभाव हो तो 'शून्य' रह जाता है। इसलिये उसका सत्-तत्त्व सत्-शक्तिसे, चित्-तत्त्व चित्-शक्तिसे और आनन्द-तत्त्व आह्लादिनी-शक्तिसे ही स्वरूपतः सिद्ध है।

परमात्माकी इन्हीं शक्तियोंको संधिनी, संवित् और ह्लादिनी-शक्ति भी बतलाया गया है। अपनी जिस स्वरूपाशक्तिके द्वारा भगवान् सबको सत्ता देते हैं, उस शक्तिका नाम 'संधिनी' है; जिसके द्वारा ज्ञान या प्रकाश दिया जाता है, वह 'संवित्' शक्ति है और स्वयं नित्य अनाद्यनन्त परमानन्दस्वरूप होकर भी जिस शक्तिके द्वारा अपने आनन्दस्वरूपकी

जीवोंको अनुभूति कराते हैं तथा स्वयं भी आत्मस्वरूप विलक्षण परमानन्दका साक्षात्कार करते हैं, उस आनन्दमयी स्वरूपाशक्तिका नाम ह्लादिनीशक्ति है।

यह परमाश्चर्यमयी नित्य परमानन्दस्वरूपा ह्लादिनीशक्ति ही स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव और महाभावरूपमें भक्ति या प्रेम-शब्द-वाच्य होकर परमप्रेमसुधाका प्रवाह बहाती है और उसमें अवगाहन करके भक्त तथा भगवान् दोनों ही परमानन्दका अतृप्त पान करते हैं। यह सब शक्तिका ही चमत्कार है।

भगवान् विष्णु, भगवान् शंकर, भगवान् राम, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य बड़े-छोटे किसीकी भी उपासना शक्तिरहित रूपमें हो ही नहीं सकती। जो शक्ति विष्णुको विष्णु, जो शक्ति शिवको शिव, जो शक्ति रामको राम और जो शक्ति श्रीकृष्णको श्रीकृष्ण बनाये हुए हैं, जिनके बिना उनकी स्वरूप-सत्ता ही नहीं रहती, उन शक्तियोंके बिना जब वे शक्तिमान् रूप ही नहीं रहते, तब उनकी अकेलेकी—'शक्तिरहित शक्तिमान्'की उपासना कैसे हो सकती है। शक्ति न रहनेपर तो उनका स्वरूप ही नहीं रहेगा।

शक्तिको साथ माना जाय या न माना जाय, उपासनामें शक्तिका विग्रह साथ रक्खा जाय या न रक्खा जाय, जब उपासना होगी तब शक्ति साथ रहेगी ही। उसके बिना उपास्य तथा उसकी उपासना सम्भव ही नहीं।

इसी प्रकार अकेली पराशक्तिकी भी उपासना नहीं हो सकती। जब शक्ति शक्तिमान्में ही निवास करती है, तब शक्तिकी उपासनासे शक्तिमान्की उपासना भी स्वतः ही हो जायगी। पुरुषरूप शक्तिमान्की उपासना करनेवाले स्वाभाविक ही शक्तिकी उपासना करते हैं, चाहे अपनी जानमें न करें। और इसी प्रकार शक्तिकी उपासना करनेवाले भी शक्त्याधार शक्तिमान्की उपासना करते हैं। अतएव मुख्य या गौण भेदसे किसी भी शक्तिमान् या शक्तिकी उपासना की जाय, यदि उसमें अनन्यभाव है तो वह एकमात्र सच्चिदानन्द-तत्त्वकी ही उपासना है।

तथापि पृथक्-पृथक् रूपोंमें तथा विभिन्न नामोंसे शक्तिकी उपासना

की जाती है। वैष्णवजन भगवती लक्ष्मीकी, भगवती सीताकी, भगवती राधाकी उपासना करते ही हैं। शैव भगवती उमा-सतीकी—दुर्गाकी उपासना करते हैं और इसी प्रकार शाक्त भी भगवान् शिव तथा भैरवकी उपासना करते हैं। विशेष-विशेष अवसरोंपर भगवान् स्वयं उपदेश देकर भगवती देवीकी उपासना अपने भक्तोंसे करवाते हैं और भगवती स्वयं उपदेश देकर भगवान्की उपासना करवाती हैं तथा इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है। भगवान् रामकी उपासनासे सीताको, भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनासे राधाको, भगवान् श्रीविष्णुकी उपासनासे लक्ष्मीको और भगवान् श्रीसदाशिवकी उपासनासे पार्वतीको एवं इसी प्रकार भगवती सीताकी उपासनासे श्रीरामको, भगवती राधाकी उपासनासे श्रीकृष्णको, भगवती लक्ष्मीकी उपासनासे श्रीविष्णुको और पार्वतीकी उपासनासे श्रीमहादेवको अनिर्वचनीय सुखकी प्राप्ति होती है।

उपासनामें इष्टका रूप एक होना चाहिये। यह परम आवश्यक है। तथापि उस एककी प्रसन्नता सम्पादनके लिये, या उसके आज्ञापालनके लिये अन्य रूपकी उपासना करना भी कर्तव्य होता है। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे भगवान् शिवकी तथा 'एकानंशा' शक्तिकी उपासना की। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भगवान् शंकरकी उपासना, भगवान् श्रीरामने स्वयं शक्ति तथा शिवकी उपासना की, श्रीशंकरने भगवान् विष्णु तथा रामकी एवं शक्तिकी आराधना की, गोपोंने अम्बिकाकी पूजा की, गोप-रमणियोंने कात्यायनीकी पूजा की; यादवोंने दुर्गापूजन किया एवं श्रीसीताजी और श्रीरुक्मिणीजीने अम्बिकापूजन किया। ये सब कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

शक्ति और शक्तिमान्में अभेद मानते हुए ही जिनकी जिस रूपमें, जिस नाममें, जिस तत्त्व-विशेषमें रुचि हो, जिसका जो इष्ट हो, उसको उसीकी उपासना उसीके अनुकूल पद्धतिसे करनी चाहिये। पर यह मानना चाहिये कि हमारे ही परम इष्टकी उपासना सभी लोग विभिन्न नाम-रूपोंसे करते हैं तथा हमारे ही परम इष्टदेव विभिन्न नाना रूपोंको धारण किये हुए हैं।



उपनिषद्में युगल-स्वरूप

भारतके आर्य-सनातनधर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्की उपासना करते हैं; अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्के साथ है और शक्ति है, इसीसे वह शक्तिमान् है और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें

भी युगलभाव है । जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं । जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं । जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं । यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है ।

वेदमूलक उपनिषद्में ही इस युगल-स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है । उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्य-तया दो स्वरूप हैं- एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक' । सर्व-कारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वा-तीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है । सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्की कार्य-कारण-शृङ्खला ही टूट जाय, उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय । फिर जगत्के किसी मूलका ही पता न लगे । और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं न मिले । वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैत पूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है । उपनिषद्के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अन-वच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्यसत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है । ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा

सकता है; न उसका कोई गोत्र है, न वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्धमें न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है; जो आत्मप्रत्ययका सार है, प्रपञ्चसे रहित है, शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

(मुण्डक० १ । १ । ६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्……।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहाँ, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त शिव अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य, पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १ । १ । ६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥
(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पञ्चमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी एवं प्रेरक, सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
(श्वेताश्वतर० १।३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्माति-सूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वा-तीत तत्त्व है—वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका, अनन्त ऐश्वर्यका, अनन्त ज्ञानका और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्वसृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।'

(छान्दोग्य० ६ । २ । १)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६ । २ । ३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो सबसे 'अतीत' है वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु औपनिषददृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है । भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है । कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं । भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी अवस्थामें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है । उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता । अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड-जगत्‌में है । स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्‌के संकीर्ण धरातलमें ही हैं । विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है । वह विशुद्ध अभेदभूमि है । वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है । इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं । इस

अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिङ्गन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था, इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की····उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया····वे पति-पत्नी हो गये।········

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्····स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।······'

(बृहदारण्यक० १।४।३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये; क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका नित्य पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल, अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल-स्वरूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीताराम, श्रीराधा-कृष्ण,

श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रिय-रूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारी-रूपमें इसी युगल-स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है, तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंद्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीलावैचित्र्यमयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यका विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्द-का विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहार-कर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें

उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति)-रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्तवैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देश-कालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्द-स्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती है। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपमें परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए, एक दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्त काल विना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणी द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

श्रीयुगल-स्वरूपकी उपासना

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः ।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥

एक सज्जनने बहुत-से प्रश्न लिख भेजे हैं और बड़े आग्रहके साथ अपने प्रश्नोंके उत्तर देनेकी आज्ञा की है । उनके आज्ञानुसार प्रश्नोंका उत्तर लिखनेका प्रयत्न किया जाता है ।

(क) *प्रश्न*—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌की उपासना उनकी शक्ति-सहित करनी चाहिये और कुछ लोग कहते हैं कि अकेले भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये । इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है ?

उत्तर—भगवान् और भगवान्‌की शक्ति दो अलग-अलग वस्तु नहीं हैं । जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एक ही वस्तु हैं, उसी प्रकार भगवान् और उनकी शक्ति हैं । दाहिका शक्ति है, इसीलिये वह अग्नि है;

नहीं तो उसका व्यक्त अग्नित्व ही नहीं रहता। और अग्नि न हो तो दाहिका शक्तिका कोई आधार नहीं रहता। अतएव दोनों मिलकर ही एक अग्नि बने हैं या अग्निके ही ये दो नाम हैं। इसी प्रकार भगवान् और भगवान्की शक्ति सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें भेद मानना ही पाप है। इस दृष्टिसे जो भगवान्की उपासना करता है, वह उनकी शक्तिकी उपासना करता ही है और जो शक्तिका उपासक है, वह भगवान्की उपासना करनेको बाध्य है; अतएव एककी उपासनामें दोनोंकी उपासना आप ही हो जाती है। परंतु उपासक यदि चाहें तो विग्रहके रूपमें दोनोंकी अलग-अलग मूर्तियोंमें भी उपासना कर सकते हैं। इतना याद रखना चाहिये कि लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि सब एक ही हैं; इनमें अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार किसी भी युगल रूपकी उपासना हो सकती है। यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहिये कि युगल रूपकी उपासना विशेष अधिकारीको ही करनी चाहिये। नहीं तो, उसमें अनर्थ होनेका डर है। जगज्जननी लक्ष्मी, उमा, राधा या सीताके स्वरूपमें कहीं पापभावना हो गयी तो सारी उपासना नष्ट होकर उलटा विपरीत फल हो सकता है; और जो लोग वैराग्यवान् नहीं हैं, उनके द्वारा स्त्रीरूपकी उपासनामें मनमें विकार होनेका डर है ही। क्योंकि ऐसे लोग भगवान्की दिव्य स्वरूपाशक्तिके तत्त्वको न जानकर अपने अज्ञानसे इन्हें प्राकृत स्त्री ही समझ लेते हैं और प्राकृत स्त्रीरूपका आरोप करके विषयासक्तिके कारण विकारके वश हो जाते हैं। भगवान्की रासलीला देखनेवाले एक मनुष्यने तथा श्रीराधाजीका ध्यान करनेवाले एक दूसरे मित्रने अपनी ऐसी दुर्घटनाएँ सुनायी थीं; इससे यह पता चलता है कि दिव्य अनन्तसौन्दर्यसुधामयी इन स्वरूपाशक्तियोंके साथ भगवान्की उपासना करनेवाले सच्चे अधिकारी विरले ही होते हैं। × × × ×।

(ख) प्रश्न—श्रीराधा, सीता, उमा आदि भगवान्की स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाके अधिकारीमें कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिये?

उत्तर—१. पहली बात तो यही है कि उसे कामविजयी होना

चाहिये। कामी पुरुष दिव्य स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाका अधिकारी कदापि नहीं है।

२—दम्भ, द्रोह, द्वेष, काम, लोभ और विषयासक्तिके त्यागसे ही इस प्रेममार्गकी साधना आरम्भ होती है। जिन पुरुषोंमें दम्भादि छः दोष हैं और जो विषयोंमें आसक्त हैं अर्थात् जिनका मन सुन्दर रूप, बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ, मनोहर गन्ध, कोमल स्पर्श और सुरीले गायनपर रीझा रहता है, वे इस मार्गपर नहीं चल सकते। त्यागी-विरागी महज्जन ही इस प्रेमपंथके पथिक हो सकते हैं; क्योंकि इस उपासनामें दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश करना पड़ता है और वहाँ बिना गोपी-भावको प्राप्त किये किसीका प्रवेश हो नहीं सकता। एवं गोपी-भावकी प्राप्ति विषयासक्त पुरुषको कदापि होनी सम्भव नहीं। जो विषय-लोलुप भी हैं और अपनेको श्रीराधाकृष्णके प्रेमी बतलाते हैं, वे या तो स्वयं धोखेमें हैं अथवा जान या अनजानमें जगत्को धोखा देना चाहते हैं। उपर्युक्त सात दोषोंसे बचकर और विषयासक्तिको त्यागकर निम्नलिखित रूपमें मुख्य साधना करनी चाहिये—

(१) अपनेको श्रीराधिकाजीकी अनुचरियोंमें एक तुच्छ अनुचरी मानना।

(२) श्रीराधाजीकी सेविकाओंकी सेवामें ही अपना परम कल्याण समझना।

(३) सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान्की प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी दासियोंकी दासी बना रहूँ और श्रीराधाकृष्णके मिलन-साधनके लिये विशेषरूपसे यत्न कर सकूँ।

यह बहुत ही रहस्यका विषय है। इसलिये इस विषयपर विशेषरूपसे लिखना अनुचित है। इस मार्गपर पैर रखना आगपर खेलना है। जो बिना इसका रहस्य समझे इस पथमें प्रवेश करना चाहता है, वह गिर जाता है। जिसके हृदयमें तनिक-सा काम-विकार हो, उसे इस मार्गसे डरकर सदा अलग ही रहना चाहिये। अवश्य ही जो अधिकारी

साधक हैं, उन्हें इस मार्गमें जो अतुल दिव्य आनन्द है, उसकी प्राप्ति होती है। श्रीराधिकाजीकी सेविकाओंकी सेवामें सफल होनेपर स्वयं श्रीराधिकाजीकी सेवाका अधिकार मिलता है और श्रीराधिकाजीकी सेवा ही युगलस्वरूपकी कृपा प्राप्त करनेका प्रधान उपाय है। जो ऐसा नहीं कर सकते, उन्हें युगलस्वरूपकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देवदेव शंकरसे कहा है—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

'हे महेश्वर! (युगल-स्वरूपकी कृपा चाहनेवाला) जो पुरुष मेरे शरण होता है परंतु मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीके शरण नहीं होता, वह मुझको (युगल-स्वरूपमें) वस्तुतः नहीं प्राप्त होता, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ। अतएव पूरे प्रयत्नसे मेरी प्रिया (श्रीराधिकाजी) की शरण ग्रहण करो। मेरी प्रियाका आश्रय ग्रहण करनेवाला मुझे अपने वशमें कर लेता है। मैंने आपसे यह परम रहस्यकी बात कही है, आप भी इसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त ही रखियेगा।'

युगल-स्वरूपकी उपासनाका विषय कितना रहस्यमय है, यह उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे सिद्ध है। मुख्य उपासना तो यही है।

३—इसके अतिरिक्त इस उपासनासे पूर्व गौणरूपसे कायिक, वाचिक और मानस—तीन प्रकारके व्रत भी किये जाते हैं। इन व्रतोंसे मुख्य उपासनाके दर्जेतक पहुँचनेमें बड़ी सहायता मिलती है। देवर्षि नारदने भक्त अम्बरीषसे कहा है—

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥

वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम् ।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये ॥

'दिनभरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे खा लेना और रातको उपवास करना—राजन्! यह कायिक व्रत कहलाता है। वेदका अध्ययन, भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्यभाषण और किसीकी निन्दा या चुगली न करना—वाचिक व्रत कहा जाता है। और अहिंसा, सत्य, किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना और कपट न करना—मानस व्रत कहलाता है।'

४—भगवान्‌की इस उपासनामें अनन्य भावका होना परम आवश्यक है। बस, प्रेमी साधक केवल एक भगवत्प्रेमको ही चाहे और वह भी प्रेममय भगवान्‌से ही चाहे।

दिन-पर-दिन केवल अहैतुक प्रेम ही बढ़ता रहे। मोक्ष, ज्ञान, ऐश्वर्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्ति—कुछ भी नहीं चाहिये। और यह प्रेमकी भीख भी भगवान् ही दें। दूसरेकी या दूसरी आशा करना अथवा दूसरेपर या दूसरा विश्वास-भरोसा करना तो हृदयकी जड़ता है।

पार्वतीजी तो यहाँतक कहती हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

'जबतक भोग या मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक वहाँ प्रेमानन्दका उदय कैसे हो सकता है।'

वास्तवमें यह विषय बहुत ही रहस्यमय है। अधिकारी पुरुषको श्रीराधाकृष्णतत्त्वके ज्ञाता किसी प्रेमप्राप्त सद्गुरुकी सेवामें रहकर इस विषयको जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(ग) **प्रश्न—ऐसे सद्गुरुके क्या लक्षण हैं? और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?**

उत्तर—कान फूँकने और द्रव्यादिकी आशा रखनेवाले गुरु तो संसारमें बहुत मिलते हैं, परंतु सद्‌गुरु—खास करके प्रेममार्गके गुरु तो कोई बिरले ही मिलते हैं। ऐसे सद्‌गुरुमें निम्नलिखित गुणोंका होना तो अत्यन्त आवश्यक है—

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः ।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः ॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः ।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः ॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः ।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते ॥

'गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन न हो, श्रीकृष्ण ही जिनका अनन्य साधन हो, जो बुद्धिमान् हों, काम और क्रोध जिनमें बिल्कुल ही न हो, जो श्रीकृष्णरसतत्त्वके जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्रज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हों, जो सदा श्रीकृष्णके मन्त्रका ही आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे—मनमें और व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारके नियोजक हों, श्रीराधा-कृष्णतत्त्वके जाननेवाले सम्प्रदायमें हों, जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो और जो भोग-मोक्ष दोनोंमें ही राग न रखते हों।'

ऐसे ही सद्‌गुरुकी शरणमें जाकर अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

(घ) *प्रश्न*—अधिकारी शिष्यके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—प्रेममार्गके अधिकारी शिष्यमें पहला आवश्यक गुण तो भगवान्‌में सहज अनुराग है। श्रीकृष्णमें जिनकी प्रीति नहीं है, वे अन्य सब गुणोंसे विभूषित होनेपर भी अधिकारी नहीं हैं—

अत्राधिकारी न भवेत् कृष्णभक्तिविवर्जितः ।

भक्तिके साथ ही कृतज्ञता, निरभिमानता, विनय, सरलता, श्रद्धा

आदि गुणोंका होना भी आवश्यक है। दम्भी, लोभी या कामी, क्रोधीको गुरु यह विषय न बताये। शास्त्रमें कहा है—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिते।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

'जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम और क्रोधसे रहित हो, उसी पुरुषको यह विषय बतलाना चाहिये।' परंतु ऐसे अधिकारीको भी सालभर उसकी परीक्षा करनेके बाद ही बतलाना उचित है—

नाशुश्रूषुं प्रति ब्रूयान्नासंवत्सरसेविनम्।

(ङ) प्रश्न—अधिकारी शिष्यको मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेके बाद क्या करना चाहिये?

उत्तर—मुख्य साधना तो ऊपर बतलायी ही जा चुकी है। परंतु अधिकारी शिष्यका कर्तव्य बतलाते हुए भगवान् शंकरने कई बातें और कही हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मन्त्रदीक्षा प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शिष्य भक्तिपूर्वक गुरु महाराजकी सेवा करते हुए निरन्तर इष्टदेवके भजनमें लगे रहें। दूसरोंको कोई दुःख न दें, किसीको भी कटु शब्द न कहें, इस लोक और परलोककी सारी चिन्ताओंको छोड़ दें। इस लोकमें पूर्वकर्मके अनुसार फल मिलेगा और परलोकमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मङ्गल करेंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जायँ और श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहें। परंतु पूजामें यह भाव कभी मनमें न आने दें कि मेरे इस लोक और परलोककी भलाईके लिये मैं पूजा करता हूँ। भगवान्‌के पूजनको विषय-सुखका साधन कभी न बनायें। और—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाऽऽचरेत्॥

'बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री जैसे केवल

उस पतिपर ही प्रेम करती हुई तथा एकमात्र उसीके सङ्गकी आकाङ्क्षा करती हुई दीन होकर सदा-सर्वदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके गुणोंको गाती और सुनती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको एकमात्र श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।'

पतिपरायणा साध्वी पत्नी जैसे अपने सर्वस्वको पतिके अर्पणकर पतिको ही परम गति मानकर प्रतिक्षण बिना विराम शरीर-मन-वाणीसे पतिकी सेवामें लगी रहती है और इसीमें परमानन्दका अनुभव करती है, उसी प्रकार अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णकी सेवामें प्रेमपूर्वक निरन्तर लगे रहना और इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये। एकमात्र श्रीकृष्णके ही अनन्यशरण होना चाहिये, दूसरा कुछ भी उसके लिये साध्य या साधन नहीं होना चाहिये। दूसरे देवताको न तो इष्टभावसे पूजना चाहिये और न किसी अन्य देवकी निन्दा करनी चाहिये। उसे अपने इष्टको छोड़कर दूसरेको स्मरण करनेका भी अवसर क्यों मिले। दूसरेका जूँठा भोजन न करे, दूसरेके पहने हुए वस्त्र न पहने, दूसरे विचारवालोंसे वाद-विवाद न करे, श्रीकृष्णकी, किसी अन्य देवताकी और भक्तकी निन्दा न सुने। अपने इष्टदेवके अनुकूल आचरण करे, प्रतिकूलका सर्वथा त्याग कर दे। निरन्तर अनन्य होकर चातकी वृत्तिसे श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज चातकी वृत्तिका सुन्दर वर्णन करते हुए कहते हैं—

जौं घन बरषै समय सिर, जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
जिअत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

'ओ बादल! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो या जीवनभर कभी न बरसो, प्रेमी याचक चातकको तब भी तुम्हारी ही आशा बनी रहेगी, वह

तो तुम्हें छोड़कर दूसरेकी ओर ताकेगा ही नहीं। जल न बरसाकर यदि मेघ उलटे चातकके ऊपर ओले बरसाने लगे, डरा-डराकर गरजे और कठोर वज्र गिराये, तब भी प्रेमी चातक क्या मेघको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकता है ? प्रेमी चातकका अपने प्रियतम मेघके दोषोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता, चाहे वह कुछ भी करे; प्रेमके समुद्रका नाप-तौल कभी हो नहीं सकता। चातक अपनी टेकपर अड़ा रहता है, उसने जीते-जी तो मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन झुकायी नहीं और मरते हुए भी गङ्गा-जलमें अर्धजली नहीं माँगी।'

शास्त्र कहते हैं कि इसी प्रकार—

सरस्समुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम्॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।
स्वेष्टदेवौ सदा याच्यौ गतिस्तौ मे भवेदिति॥

'जैसे चातक सहज ही प्राप्त सरोवर, नदी और समुद्र आदिको छोड़कर एकमात्र मेघकी याचना करता है, प्याससे मर जाता है परंतु दूसरेकी ओर नहीं देखता, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी एकमात्र अपने इष्टदेव युगल सरकारका ही आश्रय और उन्हींसे याचना करे।'

(च) *प्रश्न*—युगलस्वरूपकी प्राप्तिके लिये मन्त्र कौन-सा है ?

उत्तर—मन्त्र तो वस्तुतः गुरुसे ही पूछना चाहिये। युगलस्वरूपकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले अनेक मन्त्रोंका शास्त्रोंमें विधान है। उनमें कुछ ये हैं—

१—'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये' यह षोडशाक्षर मन्त्र है। २—'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्' यह दशाक्षर मन्त्र है। ३—'क्लीं राधा-कृष्णाभ्यां नमः' यह अष्टाक्षर मन्त्र है। ४—'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-वल्लभाय स्वाहा' यह अष्टादशाक्षर मन्त्र है। ऐसे ही और भी मन्त्र हैं। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इनमेंसे किसी भी मन्त्रका आश्रय ग्रहण करनेपर श्रीराधाकृष्णकी संनिधि प्राप्त हो सकती है। इन मन्त्रोंमें प्रधान सहायक श्रद्धा-विश्वास

ही हैं। न्यास, देश-काल, नियम, शोधन आदिकी विशेष आवश्यकता नहीं है। तथापि कोई करना चाहे तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अङ्गन्यास-करन्यास कर ले। तीसरे मन्त्रमें तो बीज तथा 'नमः' है ही। चौथेमें भी बीज हैं ही। और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे।

(छ) प्रश्न—मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये ?

उत्तर—सद्गुरुकी शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें, तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्‌को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्‌को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। मानव-गुरुकी अपेक्षा यह अधिक श्रेष्ठ है। दीक्षाके अनेक भेद हैं, परंतु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं। भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

(ज) प्रश्न—अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण' और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है। दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है; जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूल-रूपका और आंशिक ही होता है। भगवान् क्या हैं, इस बातको भगवान् ही जानते हैं। अतएव उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है। परंतु जो कुछ वर्णन होता है, वह उन्हींका होता है—इस दृष्टिसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। भगवान्‌का पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण है, सब ओरसे पूर्ण है, सब लीलाओंमें पूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही विज्ञानानन्दघन निराकार निर्विकार

मायातीत ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर आत्मा हैं, भगवान् ही देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा, प्रकृति और जगत् हैं। जो कुछ है सो वे ही हैं; जो कुछ नहीं है, सो भी वे ही हैं। इतना ही नहीं, 'हैं' और 'नहीं' से जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वे ही हैं। इतना होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये भगवान्का स्वरूपवर्णन लोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा—सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। श्रीराधाजी इन्हींकी स्वरूपाशक्ति हैं। श्रीराधाजी और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य चिन्मय आनन्दविग्रह हैं और श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय प्रेमविग्रह हैं। वे रसराज हैं, ये महाभाव हैं। भगवान्की इन्हीं स्वरूपाशक्तिसे अनन्तकोटि शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो जगत्का सृजन, पालन और संहार करती हैं। श्रीराधाजी ही श्रीलक्ष्मी, श्रीउमा, श्रीसीता, श्रीरुक्मिणी हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य और प्रभा एक दूसरेसे सर्वथा अभिन्न हैं, उसी प्रकार युगलस्वरूप भी सर्वथा अभिन्न है। भगवान्ने स्वयं कहा है—जो नराधम हम दोनोंमें भेदबुद्धि करता है, वह चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक कालसूत्र नामक नरकमें रहता है।

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

दूसरे प्रसङ्गमें भगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं—

'जो तुम हो, वही मैं हूँ; हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार मैं तुममें हूँ।'

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

राधातापिनी उपनिषद्में कहा है—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् ।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम् ॥

'जो यह राधा और जो यह कृष्ण आनन्दरसके सागर हैं, वे एक ही लीला करनेके लिये दो रूप बने हुए हैं। जैसे छायासे देह शोभित होती है, उसी प्रकार श्रीराधाजीसे श्रीकृष्ण शोभायमान हैं। इनके चरित्र पढ़ने-सुननेसे जीव इनके शुद्ध परमधामको प्राप्त होता है।'

लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं और नित्यविहारिणी, नित्यविहारकी बीजभूता, रस-सागरा, महारासकी अधिष्ठात्री देवी भगवती श्रीराधिकाजी रसेश्वरी हैं। रसेश्वर और रसेश्वरीका महामिलन ही महारास है, जो नित्य अखण्ड और अनन्त है। ये श्रीराधाकृष्ण सबसे परे, सबमें भरे और सर्वरूप हैं। भगवान् शिव देवर्षि नारदसे कहते हैं—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।
सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी ॥
ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः ।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः ॥
सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः ।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम ॥
इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची ।
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः ॥
बहूनां किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किंचन ।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत् ॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५० । ५३ से ५७)

'ये कृष्णमयी होनेके कारण परम देवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा और श्रीकृष्णकी आह्लादस्वरूपा हैं। विप्र! इसीसे मनीषिगण इन्हें ह्लादिनी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कला

और अंश हैं । ये साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण भगवान् नारायण प्रभु हैं । मुनिसत्तम ! इनमें परस्पर तनिक भी भेद नहीं है । ये दुर्गा हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं, ये शची हैं, श्रीकृष्ण इन्द्र हैं । ये सावित्री हैं, श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं । ये धूमोर्णा हैं, श्रीकृष्ण यमराज हैं । मुनिवर ! अधिक क्या, इनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है । यह जड-चेतन जगत् सब बस, राधाकृष्णमय ही है । संक्षेपमें श्रीराधाकृष्णका यही स्वरूप है ।

(झ) *प्रश्न*—क्या इस स्वरूपका साक्षात्कार भी हो सकता है ? हो सकता है तो किस उपायसे ?

उत्तर—अवश्य ही हो सकता है । जब युगलसरकार कृपा करके अपने दुर्लभ दर्शन देना चाहें तभी दर्शन हो सकते हैं । उनकी कृपा ही उनके साक्षात्कारका उपाय है ।

प्रश्न—क्या साक्षात्कारमें भगवान्‌की मुरलीध्वनि, नूपुरध्वनि सुनायी दे सकती है, क्या उनके श्रीअङ्गकी मधुर दिव्य गन्ध और उनके दिव्य चिन्मय चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर—दर्शन होनेपर उनकी कृपासे सभी कुछ हो सकता है । परंतु एक बात याद रखनी चाहिये कि ये सब बातें ध्यानमें भी हो सकती हैं । जैसे स्वप्नमें देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना सब कुछ होता है परंतु वस्तुतः वहाँ अपनेसे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, सब मनकी ही कल्पना होती है, उसी प्रकार ध्यानकालमें भी मनोनिर्मित विग्रहका स्पर्श, मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनिका श्रवण, मधुर गन्धका ग्रहण हो सकता है । उसमें और साक्षात्कारमें बड़ा अन्तर है; परंतु इस अन्तरका पता साक्षात्कार होनेपर ही लगता है, पहले नहीं । ध्यान होना भी बड़े ही सौभाग्यका विषय है ।

श्रीराधा-कृष्णकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण! तुम्हारा पत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करना।

तुमने श्रीराधाकृष्ण-युगलस्वरूपकी मधुर रागमयी आराधनाके विषयमें पूछा सो यह विषय यद्यपि लिखने-पढ़नेका नहीं है, संलग्न होकर—तन्मय होकर करनेका है और इसके जानने-बतलानेवाले भी विशेष अधिकारी ही होते हैं—मैं स्वयं इसका पूरा जानकार नहीं, तथा करनेमें तो त्रुटि-ही-त्रुटि है—इसलिये इस विषयमें मेरा कुछ भी लिखना अनधिकार-चेष्टामात्र है; तथापि तुमने आग्रहसे पूछा है, और इसी बहाने प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवकी किंचित् स्मृति हो जायगी—यह समझकर कुछ लिख रहा हूँ। ध्यानसे पढ़ना और समझमें आये तो करनेका प्रयत्न करना।

यह निश्चय करना चाहिये कि एकमात्र श्रीराधा-कृष्ण ही मेरी परम गति हैं, वे ही एकमात्र मेरे प्राणोंके आराध्य हैं, वे ही मेरे प्राणवल्लभ हैं। जैसे मछली जलको ही सब कुछ मानती है, जैसे चातक मेघको ही जानता है, जैसे सती एकमात्र पतिको ही पुरुषरूपमें पहचानती है, उसी प्रकार एकमात्र श्रीराधा-गोविन्द ही मेरे सर्वस्व हैं और श्रीराधा-गोविन्द-युगलके प्रेमसुधा-रस-सुख-सागरमें नित्य निमग्न होकर जो नित्य-निरन्तर उनके सुख-संविधानरूप परिचर्यामें लगी रहती हैं—वे महाभाग्यवती व्रजगोपियाँ ही मेरे प्राण हैं तथा मेरे जीवनकी कला हैं एवं परम आदर्श गुरु हैं। श्रीराधा-माधव—युगलकिशोरका अनिर्वचनीय अनन्त विश्वविमोहन मोहन रूप-सौन्दर्य कोटि-कोटि मदन और कोटि-कोटि रतियोंके निरुपम रूपसौन्दर्यको सहज तिरस्कृत करता है, वस्तुतः उसके साथ किसीकी तुलना ही नहीं की जा सकती। श्रीनन्दनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी सच्चिदानन्द-सौन्दर्यसुधानिधि हैं। वे अनन्तैश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त रससे परिपूर्ण हैं। श्रीराधा मानो दिव्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय स्वर्णकेतकी पुष्प

हैं और श्रीश्यामसुन्दर दिव्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय नीलकान्तिमय समुज्ज्वल मरकत-मणि हैं। उनका अलौकिक प्रतिक्षण नव-नवायमान परम मधुर रूपसौन्दर्य कल्पनातीत अनन्तानन्त सौन्दर्य-राशिका गर्व सतत खर्व कर रहा है। सर्वश्रेष्ठ नायक और नायिकाके शास्त्रवर्णित समस्त गुणोंकी सीमाको पार करके निश्शेष निस्सीम अनन्त विचित्र मधुर गुणगण श्रीराधा-माधवमें नित्य विराजित हैं। दोनोंके ही गुणोंसे दोनों नित्य मुग्ध हैं। अश्रु-पुलकादि सात्त्विक-भावरूप आभूषणोंसे दोनोंके ही श्रीअङ्ग नित्य सुशोभित हैं। वे परस्पर एक-दूसरेके भावोंसे विभावित हैं। उन्होंने अपने सारे अङ्गों-अवयवोंमें मानो भावमय अलंकार धारण कर रक्खे हैं। वस्तुतः उनके परस्परके अन्तर्गत दिव्य मधुर प्रेमोज्ज्वल भाव ही बाहर समस्त अङ्गोंमें आभामय अलंकारोंकी भाँति झिलमिला रहे हैं। श्रीराधिकाजीने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके प्रेममें मुग्ध होकर उनकी नीलवर्ण अङ्गकान्तिको अपने अङ्गका भूषण बनानेके लिये नीलवर्ण वसन पहन रक्खा है और श्रीश्यामसुन्दरने प्रियतमा श्रीराधिकाजीके प्रेममें मुग्ध होकर उनकी स्वर्णवर्ण अङ्गकान्तिको अपने अङ्गका भूषण बनानेके लिये विद्युत्-वर्ण पीत वसन धारण कर रक्खा है। नीलचीरधारिणी श्रीवृषभानु-नन्दिनी और पीतवसनधारी श्रीश्यामसुन्दर दोनों ही अपने-अपने अन्तरके मधुरतम भावोंसे एक दूसरेके प्रति लोलुप होकर जिस निरुपम निरुपाधि अवर्णनीय शोभा-सौन्दर्यको धारण किये हुए हैं, वह सर्वथा वर्णनातीत है। नित्य एक ही परम तत्त्व नित्य दो बनकर परस्पर मधुरतम सुख-संविधानमें संलग्न है।

इन्हीं श्रीराधा-माधवकी मधुर रागमयी आराधना करनी है। प्रेममयी तृष्णाका नाम 'राग' है। इस रागमयी भक्तिका साधन चार भावोंसे होता है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। भगवान् श्रीकृष्ण मेरे एकमात्र स्वामी हैं, मैं उनका दास या भृत्य हूँ—इस भावका नाम है 'दास्य' भाव-का भजन; श्रीकृष्ण मेरे सखा या बन्धु हैं, इस भावका नाम है 'सख्य'; श्रीकृष्ण मेरे पुत्र या पुत्रस्थानीय हैं, इस भावका नाम है—वात्सल्य; और श्रीकृष्ण मेरे पति, स्वामी, प्राणवल्लभ हैं, मैं उनकी दासी हूँ—इस भावका नाम है 'मधुर' भावका भजन। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमकी प्राप्तिके लिये रागमार्गीय प्रेमी भक्तोंके अनुगत होकर दास्य, सख्य, वात्सल्य और

मधुर—इन चार भावोंमेंसे किसी एक भावसे या अनुकूल मिश्रित भावोंसे भजन करना आवश्यक है ।

भजनके दो प्रकार प्रधान हैं—विधिमार्ग और रागमार्ग । विधिमार्गके भजनको 'विशुद्ध ऐश्वर्यमय, या माधुर्यमिश्रित ऐश्वर्यमय' कहा जा सकता है और रागमार्गका भजन 'विशुद्ध माधुर्यमय' है । विधिमार्गको ऐश्वर्यमार्ग कहा जाता है और रागमार्गको माधुर्यमार्ग । रागमार्गका सम्बन्ध व्रजके साथ है और विधिमार्गका ऐश्वर्यमय दिव्य धाम आदि तथा राजपुरियोंके साथ । जो सम्पूर्ण माधुर्यमय भगवान् नन्दनन्दनको या उनके दुर्लभ मधुर प्रेमको प्राप्त करना चाहते हैं, वे रागमार्गका भजन करते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये अनुभवी भक्तोंने पाँच भाव बतलाये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर । इनमें शान्तके गुण दास्यमें, शान्त-दास्यके गुण सख्यमें, शान्त-दास्य-सख्यके गुण वात्सल्यमें और शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य—चारोंके गुण मधुरभावमें रहते हैं । इससे मधुरभाव ही परिपूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ भाव है । व्रज-प्रेम-प्रणालीमें स्वतन्त्ररूपसे तो 'शान्त' भावका अस्तित्व ही नहीं है । दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये स्वतन्त्र भी रह सकते हैं; परंतु इन सबमें मधुरभाव सर्वश्रेष्ठ है और इस परमश्रेष्ठ मधुरभावके भजनसे ही एकान्त श्रीकृष्ण-सेवास्वादनकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो सकती है । यह मधुरभाव उन्हींमें प्रस्फुटित होता है, जो वैराग्यकी चरम सीमाको अति-क्रम कर चुके होते हैं—जिनमें गंदे इन्द्रिय-भोग-सुखोंकी तो कोई कल्पना ही नहीं, मोक्ष-सुखका भी परित्याग हो जाता है । अपने लिये जहाँ कुछ रहता ही नहीं, 'अहं'का जहां सर्वतोभावेन सर्वथा विस्मृति या निवृत्ति हो जाती है और सुख एवं दुःख दोनों ही केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही स्वीकार किये जाते हैं, ऐसा विलक्षण मधुरतम भाव केवल श्रीव्रजगोपियोंमें ही पूर्ण एवं विशुद्धरूपसे सदा सुप्रतिष्ठित रहता है । जो भक्त भगवान् श्रीकृष्णकी जिस भावसे आराधना करता है, भगवान् उसे उसकी वासनाके अनुरूप ही फलप्रदान किया करते हैं । तभी वे भक्तके भक्ति-ऋणसे मुक्त होते हैं । परंतु इन मधुरभावापन्न व्रज-सुन्दरियोंके भावके अनुरूप फल भगवान् दे ही नहीं पाते । इनके भावके अनुकूल कुछ भी देनेका अर्थ है—अपने ही

सुखको और बढ़ाना, प्रकारान्तरसे इनके भजन-ऋणसे और भी दब जाना; क्योंकि गोपसुन्दरियोंके हृदयमें न किसी कामनाका संकल्प है, न तनिक भी आत्मसुखकी अभिलाषा है और न किसी वासनालेशका ही अस्तित्व है। उनका जीवन सहज ही केवल श्रीकृष्णसुखके निमित्त है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-निरन्तर व्रजसुन्दरियोंके ऋणी बने हुए हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'गोपियो! तुमने मेरे लिये गृहकी उन कठिन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें तोड़ना बहुत ही कठिन है। तुम्हारा यह आत्ममिलन निर्मल–निर्दोष है। मैं देवताओंकी आयुमें भी तुम्हारा ऋण नहीं चुका सकता। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे ऋणमुक्त कर सकती हो।'

जीव कितनी भी उत्कृष्ट सुदुर्लभ वस्तु, स्थिति, मति या गति चाहे या प्राप्त करे, श्रीकृष्णप्रेमधनके साथ किसीकी भी, किसी अंशमें भी, तुलना नहीं हो सकती। वर जबतक इन दूसरी-दूसरी वस्तुस्थितियोंकी इच्छा रहती है, तबतक इस प्रेमके पवित्र भावका उदय होना भी कठिन होता है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

'भोग और मोक्षकी (प्रेमरसका उदय होनेसे पहले ही उसके भावाभिलाषरूप रक्तको पी जानेवाली) पिशाचिनी स्पृहा जबतक हृदयमें रहती है, तबतक हृदयमें उस प्रेमसुखका उदय ही कैसे हो सकता है?'

श्रीव्रजधामकी व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत श्रीराधा-माधवकी लीला बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनियोंके लिये भी अगोचर है। जिसे प्राप्त करनेके लिये महान् ऐश्वर्यशाली शिव-ब्रह्मादि देवगण भी सदा समुत्सुक रहते हैं और जिसकी जरा-सी झाँकी पाकर ही वे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, श्रीनारायणकी वक्षोविलासिनी भगवती श्रीश्रीरमादेवी भी जिसके लिये नित्य लालायित

रहती हैं, स्वयं ब्रह्मविद्या जिसकी प्राप्तिके लिये कल्पोंतक तपस्या करती है—उस दिव्य मधुरसुधामयी भगवत्-प्रेम-रस-लीलाके आस्वादनके लिये चित्तकी जो प्रबल और अदम्य लालसा होती है, उसीका नाम यथार्थमें 'मधुर प्रेम' है। यह मधुर प्रेम ही सर्वोपरि श्रेष्ठ और एकमात्र वाञ्छनीय है। यही प्रेमियोंका 'परम धन' है। इस धनकी अनन्य आकाङ्क्षा करके अनन्य साधन करते रहनेपर साधकको उसकी सिद्धावस्थामें इस परम अमूल्य प्रेमधनकी प्राप्ति हो सकती है।

इस भजन-प्रणालीमें सबसे पहले आवश्यक है—असत्सङ्ग (धन, स्त्री, मानका और इनके सङ्ग) का परित्याग, इन्द्रिय-सुखकी वासनाका सर्वथा त्याग, जनसंसर्गमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी विरक्ति, निज-सुख—मोक्ष-तकके इच्छालेशका सर्वथा त्याग और अपनेको व्रजमें स्थित एक किशोर-वयस्का सुन्दरी गोपिकाके रूपमें अर्थात् मञ्जरी-देहप्राप्त गोपकुमारीके रूपमें ले जाकर—मनसे ऐसा मानकर विशुद्ध रागमयी श्रीललितादि सखियों, श्रीरूपमञ्जरी आदि मञ्जरियों एवं तदनुगा नित्यसिद्धा अन्यान्य व्रजदेवियोंमेंसे किसी एकके अनुगत होकर उसके मधुर सेवाभावका अवलम्बन करके उक्त गुरुरूपा सखीकी बायीं ओर रहकर निरन्तर सेवामें संलग्न रहना—अर्थात् मनमें ऐसा भाव, चिन्तन, धारणा या ध्यान करना कि 'मैं एक किशोरवयकी परमा सुन्दरी गोपकुमारी हूँ; मेरे हृदयमें इन्द्रियसुखकी, नाम-कीर्तिकी, लोक-परलोककी या भोग-मोक्षकी—किसी भी वासनाका लेश भी नहीं है; श्रीराधा-माधवका सुख-सेवा-रसास्वादन ही मेरा स्वभाव है और मैं अपनी इन गुरुरूपा नित्यसिद्धा सखीके वामपार्श्वमें रहकर उनकी अनुगता होकर सदा-सर्वदा श्रीराधा-माधवकी यथोचित सेवामें संलग्न हूँ।'

बाह्यरूपमें जीभसे सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण-नामका मधुर जप और संसारके समस्त भोग-पदार्थोंसे नित्य उपरामताका अभ्यास बना रहना चाहिये।

श्रीराधा-कृष्ण—युगलरूपकी मधुर रागमयी आराधनाका यह एक संक्षिप्त संकेतमात्र है। शेष भगवत्कृपा।



श्रीराधा-कृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा

साधकगण श्रीव्रजधाममें अपनी अवस्थितिका चिन्तन करते हुए अपने-अपने गुरुस्वरूप मञ्जरीके अनुगत होकर, एक परम सुन्दरी, गोपकिशोरी-रूपिणी अपनी-अपनी सिद्ध मञ्जरी-देहकी भावना करते हुए, श्रीललितादि सखीरूपा तथा श्रीरूप-मञ्जरी आदि मञ्जरीरूपा नित्यसिद्धा व्रजकिशोरियों-की आज्ञाके अनुसार परम प्रेमपूर्वक मानसमें दिवानिशि श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करें।

निशान्तकालीन सेवा

१. निशाका अन्त (ब्राह्ममुहूर्तका* आरम्भ) होनेपर श्रीवृन्दादेवी-के आदेशसे क्रमशः शुक, सारिका, मयूर, कोकिल आदि पक्षियोंके कलरव करनेपर श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी नींद टूटनेपर उठना।

२. श्रीराधा और श्रीकृष्णके एक दूसरेके श्रीअङ्गमें चित्र-निर्माण करनेके समय दोनोंके हाथोंमें तूलिका और विलेपनके योग्य सुगन्धि-द्रव्य अर्पण करना।

३. श्रीराधा-कृष्ण-युगलके पारस्परिक श्रीअङ्गोंमें श्रृङ्गार करनेके समय दोनोंके हाथोंमें मोतियोंका हार, माला आदि अर्पण करना।

४. मङ्गल-आरती करना।

५. कुञ्जसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके घर लौटते समय ताम्बूल और जलपात्र लेकर उनके पीछे-पीछे चलना।

६. जल्दी चलनेके कारण टूटे हुए हार आदि तथा बिखरे हुए मोती आदिको आँचलमें बाँधना।

---

* सूर्योदयसे पूर्व ६ घड़ी (दो घंटे, २४ मिनट) का काल 'ब्राह्ममुहूर्त' कहलाता है।

७. चर्वित ताम्बूल आदिको सखियोंमें बाँटना ।

८. घर (यावट ग्राम) पहुँचकर श्रीराधिकाका अपने मन्दिरमें शयन करना ।

प्रातः*कालीन सेवा

१. ब्रह्ममुहूर्त बीतनेपर (अर्थात् प्रातःकाल होनेपर) श्रीराधारानीके द्वारा छोड़े हुए वस्त्रोंको धोकर तथा अलंकार, ताम्बूल-पात्र और भोजन-पान आदिके पात्रोंको माँज-धोकर साफ करना ।

२. चन्दन घिसना और उत्तम रीतिसे केसर पीसना ।

३. घरवालोंकी बोली सुनकर सशङ्कित-सी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीका जगकर उठ बैठना ।

४. श्रीमतीको मुख धोनेके लिये सुवासित जल और दाँतन आदि समर्पण करना ।

५. उबटन अर्थात् शरीर स्वच्छ करनेके लिये सुगन्धि-द्रव्य तथा चतुस्सम अर्थात् चन्दन, अगर, केसर और कुङ्कुमका मिश्रण, नेत्रोंमें आँजनेके लिये अञ्जन और अङ्गराग आदि प्रस्तुत करना ।

६. श्रीराधारानीके श्रीअङ्गोंमें अत्युत्कृष्ट सुगन्धित तेल लगाना ।

७. तत्पश्चात् सुगन्धित उबटनद्वारा उनके श्रीअङ्गका मार्जन करते हुए स्वच्छ करना ।

८. आँवला और कल्क (सुगन्धित खली) आदिके द्वारा श्रीमतीके केशोंका संस्कार करना ।

९. ग्रीष्मकालमें ठंडे जल और शीतकालमें किंचित् उष्ण जलसे श्रीराधारानीको स्नान कराना ।

१०. स्नानके पश्चात् सूक्ष्म वस्त्रके द्वारा उनके श्रीअङ्ग और केशोंका जल पोंछना ।

११. श्रीवृन्दावनेश्वरीके श्रीअङ्गमें श्रीकृष्णके अनुरागको बढ़ानेवाला स्वर्णखचित (जरीका) सुमनोहर नीला वस्त्र (साड़ी) पहनाना ।

---

* सूर्योदयके उपरान्त छः दण्डतक प्रातःकाल या संगवकाल रहता है ।

१२. अगुरु-धूमके द्वारा श्रीमतीकी केश-राशिको सुखाना और सुगन्धित करना ।

१३. श्रीमतीका शृङ्गार* करना ।

१४. उनके श्रीचरणोंको महावरसे रँगना ।

१५. सूर्यकी पूजाके लिये सामग्री तैयार करना ।

१६. भूलसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके द्वारा कुञ्जमें छोड़े हुए मोतियोंके हार आदि उनके आज्ञानुसार वहाँसे लाना ।

१७. पाकके लिये श्रीमतीके नन्दीश्वर (नन्दगाँव) जाते समय ताम्बूल तथा जलपात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

१८. श्रीवृन्दावनेश्वरीके पाक तैयार करते समय उनके कथनानुसार कार्य करना ।

१९. सखाओंसहित श्रीकृष्णको भोजनादि करते देखते रहना ।

२०. पाक तैयार करने और परोसनेके कार्यसे थकी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीकी पंखे आदिके द्वारा हवा करके सेवा करना ।

२१. श्रीकृष्णका प्रसाद आरोगनेके समय भी श्रीराधारानीकी उसी प्रकार पंखेकी हवा आदिके द्वारा सेवा करना ।

२२. गुलाब आदि पुष्पोंके द्वारा सुगन्धित शीतल जल समर्पण करना ।

२३. कुल्ला करनेके लिये सुगन्धित जलसे पूर्ण आचमनीय पात्र आदि समर्पण करना ।

---

* श्रीराधाके निम्नाङ्कित सोलह शृङ्गार गिनाये गये हैं—(१) स्नान, (२) नाकमें बुलाक धारण कराना, (३) नीली साड़ी धारण कराना, (४) कमरमें करधनी बाँधना, (५) वेणी गूँथना, (६) कानोंमें कर्णफूल धारण कराना, (७) अङ्गोंमें चन्दनादिका लेप करना, (८) बालोंमें फूल खोंसना, (९) गलेमें फूलोंका हार धारण कराना, (१०) हाथमें कमल धारण कराना, (११) मुखमें पान देना, (१२) ठोढ़ीमें घिसी हुई कस्तूरीकी काली बेंदी लगाना, (१३) नेत्रोंमें काजल आँजना, (१४) अङ्गोंको पत्रावलीसे चित्रित करना, (१५) चरणोंमें महावर देना और (१६) ललाटमें तिलक लगाना ।

२४. इलायची-कपूर आदिसे संस्कृत ताम्बूल समर्पण करना।

२५. बदले हुए पीताम्बर आदि सुबलके द्वारा श्रीकृष्णको लौटाना।

पूर्वाह्न*कालीन सेवा

१. बाल-भोग (कलेऊ) आरोगकर श्रीकृष्णके गोचारणके लिये बन जाते समय श्रीराधाजी सखियोंके साथ कुछ दूर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाकर जब यावटको लौटें, उस समय ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर पीछे-पीछे गमन करना।

२. श्रीराधा-गोविन्दके पारस्परिक संदेश उनके पास पहुँचाकर उनको संतुष्ट करना।

३. सूर्य-पूजाके बहाने (अथवा कभी-कभी वन-शोभादर्शनके बहाने) श्रीराधाकुण्डमें श्रीकृष्णसे मिलन करानेके हेतु श्रीमतीको अभिसार कराना और उस समय ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना।

मध्याह्न†कालीन सेवा

१. श्रीकुण्ड अर्थात् राधाकुण्डपर श्रीराधा और श्रीकृष्णके मिलनका दर्शन करना।

२. कुञ्जमें विचित्र पुष्प-मन्दिर आदिका निर्माण करना और कुञ्जको साफ करना।

३. पुष्पशय्याकी रचना करना।

४. श्रीयुगलके श्रीचरणोंको धोना।

५. अपने केशोंके द्वारा उनके श्रीचरणोंका जल पोंछना।

६. चँवर डुलाना।

७. मधुक (महुए) के पुष्पोंसे पेय मधु बनाना।

८. मधुपूर्ण पात्र श्रीराधा-कृष्णके सम्मुख धारण करना।

९. इलायची, लौंग, कपूर आदिके द्वारा सुवासित ताम्बूल अर्पण करना।

१०. श्रीयुगल-चर्वित कृपाप्राप्त ताम्बूलका आस्वादन करना।

---

* संगवकालके उपरान्त छः दण्डके कालकी पूर्वाह्न-संज्ञा है।

† पूर्वाह्नके उपरान्त बारह दण्डका काल मध्याह्नके नामसे निर्दिष्ट है

११. श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी विहाराभिलाषाका अनुभव करके कुञ्जसे बाहर चले आना।

१२. कस्तूरी-कुङ्कुम आदिके अनुलेपनद्वारा सुवासित श्रीअङ्गके सौरभको ग्रहण करना।

१३. नूपुर और कंगन आदिकी मधुर ध्वनिका श्रवण करना।

१४. श्रीयुगलके श्रीचरण-कमलोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्नोंके दर्शन करना।

१५. श्रीयुगलके विहारके पश्चात् कुञ्जके भीतर पुनः प्रवेश करना।

१६. श्रीयुगलके पैर सहलाना और हवा करना।

१७. सुगन्धित पुष्प आदिसे वासित शीतल जल प्रदान करना।

१८. श्रीराधा-रानीके श्रीअङ्गोंके लुप्त चित्रोंका पुनः निर्माण करना और तिलक-रचना करना।

१९. श्रीमतीके श्रीअङ्गोंमें चतुस्समके गन्धका अनुलेपन करना।

२०. टूटे हुए मोतियोंके हारको गूँथना।

२१. पुष्प-चयन करना।

२२. वैजयन्ती माला तथा हार एवं गजरे आदि गूँथना।

२३. हास-परिहास-रत श्रीयुगलके श्रीहस्तकमलोंमें मोतियोंका हार तथा पुष्पोंकी माला आदि प्रदान करना।

२४. हार-माला आदि पहनाना।

२५. सोनेकी कंघीके द्वारा श्रीमतीके केशोंको सँवारना।

२६. श्रीमतीकी वेणी बाँधना।

२७. उनके नयनोंमें काजल लगाना।

२८. उनके अधरोंको सुरञ्जित करना।

२९. चिबुकमें कस्तूरीके द्वारा बिन्दु बनाना।

३०. अनङ्ग-गुटिका, सीधु-विलास आदि प्रदान करना।

३१. मधुर फलोंका संग्रह करना।

३२. फलोंको बनाकर भोग लगानेके लिये प्रदान करना।

३३. किसी एक स्थानमें रसोई बनाना ।

३४. श्रीयुगलके पारस्परिक रहस्यालापका श्रवण करना ।

३५. श्रीयुगलके वन-विहार, वसन्त-लीला, झूलन-लीला, जल-विहार, पाशा-क्रीड़ा आदि अपूर्व लीलाओंके दर्शन करना ।

३६. श्रीयुगलके वन-विहारके समय श्रीमतीकी वीणा आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

३७. अपने केशोंके द्वारा श्रीयुगलके श्रीपादपद्मोंकी रजको झाड़ना-पोंछना ।

३८. होली-लीलामें पिचकारियोंको सुगन्धित तरल पदार्थोंसे भरकर श्रीराधिका और सखियोंके हाथोंमें प्रदान करना ।

३९. झूलन-लीलामें गान करते हुए झूलेमें झोंटे देना, झुलाना ।

४०. जल-विहारके समय वस्त्र और अलंकार आदि लेकर श्रीकुण्डके तीरपर रखना ।

४१. पाशा-क्रीडामें विजयप्राप्त श्रीराधिकाजीकी आज्ञासे श्रीकृष्णके द्वारा दावपर रक्खी सुरङ्गा आदि सखियों (या मुरली आदि) को बलपूर्वक लाकर उनके साथ हास्य-विनोद करना ।

४२. सूर्य-पूजा करनेके लिये राधाकुण्डसे श्रीमतीके जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना ।

४३. सूर्य-पूजामें तदनुकूल कार्योंको करना ।

४४. सूर्य-पूजाके पश्चात् श्रीमतीके पीछे-पीछे चलकर घर लौटना ।

अपराह्ण*कालीन सेवा

१. श्रीराधिकाजीके रसोई बनाते समय उनके अनुकूल कार्य करना ।

२. श्रीराधारानीके स्नान करनेके लिये जाते समय उनके वस्त्राभूषण आदि लेकर उनके पीछे-पीछे जाना ।

३. स्नानके पश्चात् उनका शृङ्गार आदि करना ।

४. सखियोंसे घिरी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीके पीछे-पीछे अटारीपर चढ़कर वनसे लौटते हुए सखाओंसे घिरे श्रीकृष्णके दर्शन करके परमानन्द उपभोग करना ।

---

* सूर्यास्तके पूर्व छः दण्डके कालको अपराह्ण-काल कहा जाता है ।

५. छतके ऊपरसे श्रीराधिकाजीके उतरनेके समय सखियोंके साथ उनके पीछे-पीछे उतरना ।

सायंकालीन* सेवा

१. श्रीमतीका तुलसीके हाथ व्रजेन्द्र श्रीनन्दजीके घर भोज्य-सामग्री भेजना । श्रीकृष्णको पानकी गुल्ली और पुष्पोंकी माला अर्पण करना तथा संकेत-कुञ्जका निर्देश करना । तुलसीके नन्दालय जाते समय उसके साथ जाना ।

२. नन्दालयसे श्रीकृष्णका प्रसाद आदि ले आना ।

३. वह प्रसाद श्रीराधिका और सखियोंको परोसना ।

४. सुगन्धित धूपके सौरभसे उनकी नासिकाको आनन्द देना ।

५. गुलाब आदिसे सुगन्धित शीतल जल प्रदान करना ।

६. कुल्ला आदि करनेके लिये सुवासित जलसे पूर्ण आचमन-पात्र प्रदान करना ।

७. इलायची-लौंग-कपूर आदिसे सुवासित ताम्बूल अर्पण करना ।

८. तत्पश्चात् प्राणेश्वरीका अधरामृत-सेवन अर्थात् उनका बचा प्रसाद भोजन करना ।

प्रदोष† कालीन सेवा

१. प्रदोषकालमें वृन्दावनेश्वरीका वस्त्रालंकारादिसे समयोचित शृङ्गार करना अर्थात् कृष्णपक्षमें नील वस्त्र आदि और शुक्लपक्षमें शुभ्र वस्त्रादि तथा अलंकार धारण कराना एवं गन्धानुलेपन करना ।

२. अनन्तर सखियोंके साथ श्रीमतीको अभिसार कराना तथा उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

निशा‡कालीन सेवा

१. निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्णका मिलनदर्शन करना ।

२. रासमें नृत्य आदिकी माधुरीके दर्शन करना ।

---

* सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डका काल सायंकालके नामसे व्यवहृत होता है ।

† सायंकालके उपरान्त छः दण्डके कालको प्रदोष कहते हैं ।

‡ प्रदोषके उपरान्त बारह दण्डके कालको निशाकाल कहा जाता है ।

३. वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीके नूपुरकी मधुर ध्वनि और श्रीकृष्ण-की वंशी-ध्वनिकी माधुरीको श्रवण करना।

४. श्रीयुगलकी गीत-माधुरीका श्रवण करना तथा नृत्यादिके दर्शन करना।

५. श्रीकृष्णकी वंशीको चुप कराना।

६. श्रीराधिकाकी वीणा-वादन-माधुरीका श्रवण करना।

७. नृत्य, गीत और वाद्यके द्वारा सखियोंके साथ श्रीराधाकृष्णके आनन्दका विधान करना।

८. सुवासित ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य, माला, हवा, सुवासित शीतल जल और पैर सहलाने आदिके द्वारा श्रीराधा-कृष्णकी सेवा करना।

९. श्रीकृष्णका मिष्टान्न तथा फलादि भोजन करते दर्शन करना।

१०. सखियोंके साथ वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णके प्रसादका भोजन करते हुए दर्शन करना।

११. उनका अवशेष भोजन ग्रहण करना।

१२. सखियोंके साथ-साथ श्रीराधा-कृष्ण-युगलका मिलन दर्शन करना तथा उनके ताम्बूल-सेवन और रसालाप आदिकी माधुरीके दर्शन करते हुए आनन्द-लाभ करना।

१३. सुकोमल शय्यापर श्रीयुगलको शयन कराना।

१४. परिश्रान्त श्रीयुगलकी व्यजनादिद्वारा सेवा करना और उनके सो जानेपर सखियोंका अपनी-अपनी शय्यापर सोना। स्वयं भी वहीं सो जाना।

निम्नलिखित दिनोंमें श्रीकृष्णकी गोचारण-लीला और श्रीमतीकी सूर्यपूजा बंद रहती है—

१. श्रीजन्माष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनोंतक।

२. श्रीराधाष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनोंतक।

३. माघकी शुक्ला पञ्चमी अर्थात् वसन्तपञ्चमीसे फाल्गुनी पूर्णिमा अर्थात् दोलपूर्णिमापर्यन्त २६ दिनोंतक।

दिव्य नित्य विहार

प्रिया-प्रीतम नित करत बिहार ।
नित्य निकुंज परम सोभन सुचि माया-गुन-गोपार ॥
नहिं तहँ रबि-ससिकी दुति, नहिं तहँ भौतिक अन्य प्रकास ।
नित्य उदित दिव्याभा तनुकी छाई रहत अकास ॥
जिनकी पद-नख-प्रभा ब्रह्म बनि ज्ञानी जन-मन-छाई ।
जिनकी हीं सत्ता प्रभुता सब जग में रही समाई ॥
जिनके हास-बिलास-रास-रस सब निरगुन हरि-रूप ।
मायिक गुन प्रबिसत न तहाँ, चिन्मय सब बस्तु अनूप ॥
दिव्य निकुंज मध्य नहिं संभव असरीरी-अस्तित्व ।
बिलसित नित्य दिव्य अति भगवत्-रूप प्रेम कौ तत्त्व ॥
सखी-मंजरी सज्या-सोभा लीला-साधन अन्य ।
सबहि स्याम-स्यामामय, प्राकृत नाम, भये ते धन्य ॥
कहत सुनत समुझत सोइ मानव जो तजि भोगासक्ति ।
रहत निरंतर सेवा-रत जो करत निर्भरा भक्ति ॥
सोइ देखत निकुंज की लीला अनुपम दिव्य महान ।
जिनकौं है अधिकार दिखावत स्वयं जुगल भगवान ॥



विनय

श्रीराधामाधव ! यह मेरी सुन लो विनती परम उदार।
मुझे स्थान दो निज पावन चरणोंमें प्रभु ! कर कृपा अपार ॥
भूलूँ सभी जगतको, केवल रहे तुम्हारी प्यारी याद।
सुनूँ जगतकी बात न कुछ भी, सुनूँ तुम्हारे ही संवाद ॥
भोगोंकी कुछ सुध न रहे, देखूँ सर्वत्र तुम्हारा मुख।
मधुर-मधुर मुसकाता, नित उपजाता अमित अलौकिक सुख ॥
रहे सदा प्रिय नाम तुम्हारा मधुर दिव्य रसना रसखान।
मनमें बसे तुम्हारी प्यारी मूर्ति मञ्जु सौन्दर्य-निधान ॥
तनसे सेवा करूँ तुम्हारी, प्रति इन्द्रियसे अति उल्लास।
साफ करूँ पगरखी-पीकदानी सेवा-निकुंजमें खास ॥
बनी खवासिन मैं चरणोंकी करूँ सदा सेवा, अति दीन।
रहूँ प्रिया-प्रियतमके नित पद-पद्म-पराग सु-सेवन लीन ॥

हे राधा-माधव ! तुम दोनों दो मुझको चरणोंमें स्थान।
दासी मुझे बनाकर रक्खो, सेवाका दो अवसर दान ॥
मैं अति मूढ़, चाकरीकी चतुराईका न तनिक सा ज्ञान।
दीन, नवीन सेविकापर दो समुद उडेल सनेह अमान ॥
रजकण सरस चरणकमलोंका खो देगा सारा अज्ञान।
ज्योतिमयी रसमयी सेविका मैं बन जाऊँगी सज्ञान ॥
राधा-सखी मञ्जरीको रख सन्मुख मैं आदर्श महान।
हो पदानुगत उसके, नित्य करूँगी मैं सेवा सविधान ॥
झाड़ू दूँगी मैं निकुञ्जमें, साफ करूँगी पादत्रान।
हौले-हौले हवा करूँगी सुखद व्यजन ले सुरभित आन ॥
देखा नित्य करूँगी मैं तुम दोनोंकी मोहनि मुसकान।
वेतन यही, यही होगा बस, मेरा पुरस्कार निर्मान ॥

भावराज्य तथा लीला-रहस्य

भावराज्यकी विलक्षणता

भाव-राज्यके सभी विलक्षण होते हैं शुभ भोग-विराग ।
नहीं समझमें आ सकते वे जागे बिना शुद्ध अनुराग ॥
होते सभी नाम लौकिक कामों के भी वैसे ही रूप ।
होते अतिशय पूत किंतु लोकोत्तर सभी विशेष अनूप ॥
हर्ष-शोक-आसक्ति-वासना-भय-संकोच-विकलता-काम ।
बन्धन-मान-विलास-रास-सहवास आदि सब होते नाम ॥
करना मान, रूठना-रोना, करना तिरस्कार-अपमान ।
करना तंग, सताना, चुगली-चाटुकारिता कर्म महान ॥
मन विकार होता न तनिक पर, नीयतमें न कभी कुछ दोष ।
दक्षिण-वाम सभी ये होते लीलाके शुचि रस निर्दोष ॥
त्याग-पूर्ण निज-सुख-वाञ्छा-विरहित यह प्रेम-राज्य सुविशाल ।
पर इसमें न कभी जा पाते प्रकृतिजनित विकार क्षण काल ॥
अपनेमें अपनेसे अपने ही होते सब भाव विशेष ।
भौतिक स-मल विकारोंका—भावोंका रहता कहीं न लेश ॥
सभी दिव्य चिन्मय भगवन्मय, सभी विकार रहित पर-भाव ।
प्रेमी-प्रियतम बने स्वयं प्रभु लीलारत रहते अति चाव ॥



भाव-राज्य

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नका उत्तर निम्न-लिखित है——भाव जबतक केवल आवेगमात्र है, तबतक वह साधन-राज्यसे बाहरकी चीज है । भावके आवेगसे जिस कामनाका प्रादुर्भाव होता है, वह मनमें अशान्ति तथा ज्वाला उत्पन्न करनेवाली होती है । कामना एक प्रकारकी अग्नि है, जो विषयोंकी आहुति पड़नेसे बढ़ती रहती है और यदि कहीं आघात पा जाती है तो क्रोधका कराल रूप धारण कर लेती है । अतः यदि भावका आवेग आता हो तो उसका भगवान्‌में प्रयोग कर देना चाहिये । भगवान्‌से जुड़ते ही भाव पवित्र होकर साधन बन जायगा, जो सहज ही 'कर्मराज्य'से उच्चस्तरपर पहुँचकर साधकको भगवान्‌की ओर अग्रसर कर देगा ।

इस 'भाव-राज्य'से उच्चस्तरपर 'ज्ञान-राज्य' है, जो परमात्माके तत्त्व-ज्ञानका बोध कराता है; उससे भी उच्चस्तर सिद्ध 'भाव-राज्य' है, जो नित्य एक, पर नित्य दो बने हुए श्रीराधा-माधवका अतिशय उज्ज्वल धाम है । यहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है । वहाँ नटनागर श्यामसुन्दरके लीलाविहारका महान् मधुर अगाध सागर अत्यन्त प्रशान्त होनेपर भी नित्य उछलता रहता है और वे उसमें विविध मनोहारिणी अलौकिक भाव-तरङ्गोंके रूपमें क्रीड़ा करते रहते हैं । यह कल्पना नहीं, सत्य है । इस परम उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ भाव-राज्यकी सीमामें उसीका प्रवेश हो सकता है जो घृणित भोगोंसे तथा कैवल्य मोक्षसे भी सदा विरक्त होकर केवल श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही अत्यन्त आसक्त हो गया है । यहाँ कोई आवेग नहीं, यह वस्तुस्थिति है और सच्चिदानन्दमयी मधुर लीला है । शेष भगवत्कृपा ।

भाव-राज्यकी महिमा

प्रश्न—भाव-जगत्‌में मनुष्य बहुत-सी बातोंका अनुभव करता है, क्या वे वास्तविक सत्य हैं या कल्पनासे उत्पन्न होती हैं ?

उत्तर—दोनों ही बातें हो सकती हैं। भावका अर्थ केवल कल्पना ही नहीं है। गीताके 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' में भावका अर्थ है सत—सदा रहनेवाला। 'सत्‌का कभी अभाव नहीं होता और असत्‌का कभी भाव नहीं होता।' वैष्णव-साहित्यमें भावका अर्थ है उच्चाति-उच्च प्रेम। भगवान् श्यामसुन्दर सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णको 'रसराज' और रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजीको 'महाभाव' कहा गया है।

आजकल 'भाव'का प्रयोग बहुत हल्के अर्थमें होता है। भाव और भावनामें कोई अन्तर नहीं माना जाता। बंगालमें तो भावनाका प्रचलित

अर्थ है—'चिन्ता'। भावना करते-करते जिस वस्तुका जो रूप बन जाय, उसका नाम भी 'भाव' कहा जाता है। भावसे भावित पुरुषमें होनेवाली मनोवृत्तिको भावुकता कहते हैं। भावुकका चलता अर्थ है भावप्रवण—कल्पनाराज्यमें विचरण करनेवाला व्यक्ति, जो विचारशील नहीं है या विवेक-हीन—मूढ़ है। प्रेम तथा अनुरागको भी 'भाव' कहते हैं। प्रेम, अनुराग आदिके भाव जो अन्तस्तलमें उठते हैं, उनको भी भावुकता कहते हैं। ऐसे प्रेमी व्यक्तियोंका हृदय भावना करते-करते द्रवीभूत हो जाता है। श्रद्धालुओं-को भी भावुक कहते हैं। भावुक व्यक्ति भावनाके अनुसार अनेक प्रकारकी कल्पना करके उसके राज्यमें विचरते रहते हैं। वैष्णवोंने भावको सर्वथा 'पवित्र प्रेम' के अर्थमें लिया है। भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है, उनकी जो स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति है, अन्तरङ्गा शक्ति है, वही आनन्द-शक्ति है, वही 'भाव' है; वही मूर्तिमान् होकर महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिकाजीके दिव्य विग्रहके रूपमें प्रकट है।

जहाँ-जहाँ भक्त अपनी दृष्टिसे भावराज्यकी बात कहता है, वहाँ वह भगवान्‌के यथार्थ प्रभावकी ही बात कहता है, कल्पना-प्रसूत भावनासे नहीं। वह सर्वथा यथार्थ है, न कि कल्पना। भक्तकी दृष्टि ऐसी ही होनी भी चाहिये। भावनासे जिस प्रकार भगवान्‌के रूपका ध्यान होता है, उसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध आदिका भी ध्यान हो सकता है और होता है। ध्यानमें हम भगवान्‌की वंशीकी मधुर-ध्वनि सुन सकते हैं, उनके रूपको निरख सकते हैं, उनके अधरामृतका पान कर सकते हैं, उनके स्पर्शकी पुलकमें पुलकित हो सकते हैं, यहाँतक कि उनके अङ्गकी गन्ध भी सूँघ सकते हैं। ध्यानमें मनुष्य यह देख सकता है कि हमने भगवान्‌के चरण पकड़ लिये, उन्होंने हमारे मस्तकपर हाथ रख दिया। साधक भक्तकी दृष्टिमें ये सारी बातें सत्य हैं; पर जबतक ये सब मनकी कल्पनासे बने हुए स्वरूप हैं, तबतक ये भावनाजनित ही हैं। जैसे स्वप्नके मनोराज्यमें किसी औरके न होते भी हम स्पर्शका अनुभव करते हैं, शब्द सुनते हैं, रूप देखते हैं, गन्ध सूँघते हैं, रसका आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार भाव-जगत्‌में भी हम

भावनाके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका भलीभाँति अनुभव कर सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।

यह भी ध्यानकी बहुत ऊँची और अत्यन्त कल्याणप्रद स्थिति होती है, पर इससे परे सच्चे प्रेमराज्यमें रसराज श्रीभगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकते हैं। भगवद्दर्शनकी भावनाको किसी प्रकारके भी तर्कसे प्रमाणित करना कठिन है। अविश्वासीको भगवद्दर्शनकी बात समझा देना असम्भव-सा है। श्रद्धा और विश्वास ही तो साधनाका मूलमन्त्र है। भक्त जिस रूपमें भगवान्को देख रहा है, हो सकता है वह शास्त्रोंमें प्रकट न हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि शास्त्रोंमें भगवान्के जिस रूपका वर्णन है उस रूपमें भगवान् किसी भक्तको दर्शन न दें और एक साधारण वेषमें ही प्रकट हो जायँ। भगवान्का रूप कैसा ? जैसा भक्त चाहे वैसा। भक्तकी जैसी इच्छा होती है, वैसा ही रूप लेकर भगवान् उपस्थित हो जाते हैं। इसके सिवा दिव्यधामोंमें लीलाविहार करनेवाले भगवान्के नित्यरूप भी हैं, जो हमारी कल्पनामें आयें या न आयें। इन स्वरूपोंके दर्शन भी कृपापात्र प्रेमी भक्तोंको हुए हैं और हो सकते हैं।

कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं अभिमानी दर्शनोत्सुक भक्तोंको मार्गच्युत करनेके लिये या उनकी परीक्षा करके उनमें और भी दृढ़ता लानेके लिये उपदेवता भी विभिन्न रूपोंमें उनके सामने आ सकते हैं और अपनेको भगवान् बताकर उनको भ्रममें डालनेकी चेष्टा कर सकते हैं। ऐसे अनुभव भी सुननेमें आये हैं कि कोई-कोई खेचर उपदेवता सकामभावसे किसी इष्ट-विशेषके उपासकोंको उस रूपमें आकर ठगनेकी चेष्टा करते हैं। हमने भूतलपर जो तेज देखा है, उससे कई गुना अधिक तेज उन उपदेवताओंका ही होता है। वे आकर हमारे इष्टदेवकी मूर्तिमें उपस्थित होकर हमें ठग लेते हैं। भयके रूपमें जिस प्रकार देवताओंका विघ्न आता है, उसी प्रकार लोभके रूपमें भी आता है। ध्रुवके सामने उपदेवता उसकी माताके लोभनीय रूपमें आये—'बेटा! मैं बहुत दुखी हूँ—मैं जल रही हूँ, मुझे बचाओ!' पर ध्रुव अपनी साधनासे टले नहीं। जो भगवान्का शरणागत

भक्त होता है, उसके सारे विघ्नोंका तो नाश स्वयं प्रभु अपने अनुग्रहसे ही कर डालते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

भगवान्‌में जिसका चित्त अर्पित हो गया है, ऐसे अर्पितात्मा भक्तका सारा दायित्व भगवान्‌पर आ जाता है । भगवान्‌की आज्ञा है कि 'मेरा भक्त आँख मूँदकर मेरे राजमार्गपर चले, उसे कोई विघ्न नहीं रोक सकता ।' भगवान्‌के सम्मुख आते ही जीवका सदाके लिये उद्धार हो जाता है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

अनन्य और निष्कामभावसे भगवान्‌की शरणमें आते ही भक्तके समस्त योग-क्षेमका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं । इसका अभिप्राय यह नहीं कि भक्त भगवत्पथपर चलना बंद कर देता है । वह तो बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर दौड़ता है । सोचता तब, जब सोचने चला होता । मन तो दस-बीस हैं नहीं कि एकसे सोचेगा और दूसरेसे अर्पण करेगा । मन तो एक था, जिसे श्यामसुन्दरको दे दिया । उस मनको अब कहाँ दिया जाय ? अर्पितात्मा व्यक्ति प्रभुके सिवा किसीकी इच्छा ही नहीं करता । गोपियोंका अर्पण सर्वतोभावेन सम्पूर्ण था । इसीलिये भगवान् कहते हैं—'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।' उन्होंने मुझमें अपने मन मिला दिये हैं, प्राणोंको विलय कर दिया है और मेरे लिये ही अपने शारीरिक कर्मोंका भी उत्सर्ग कर दिया है ।

भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥

(श्रीरामचरितमानस)

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका विचार ही मैं कैसे कर सकता हूँ ।'

सब पदार्थोंमेंसे ममत्व निकालकर तन, मन, धन—सभी, सब कुछ सर्वभावेन भगवान्के चरणोंमें अर्पितकर भक्त निःस्पृह और निरीह हो जाता है । मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मन ही जब श्रीहरिके चरणोंमें समर्पित हो गया, तब मोक्षकी इच्छाका उदय ही कैसे हो ? ऐसे सर्वथा निष्काम अर्पितात्माको उपदेवता आदिका भय ही नहीं होता कि वे आकर तंग करेंगे । उसके पथमें कोई भी बाधा नहीं डाल सकता ।

साधनाका प्रारम्भ ही भावनासे होता है । भावनाके मूलमें है श्रद्धा । श्रद्धाहीन भाव मिथ्या है । भाव करते-करते भगवत्कृपासे सच्चे भावराज्यमें प्रवेश होता है—साधक स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतममें प्रवेश करता है । वहाँ उस दिव्य भावनालोकमें प्रवेश करके भगवान्की पूजा करता है । देहके पाँच भेद माने जाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भाव और चिन्मय । चिन्मय और भावदेह कुछ विलक्षण हैं । भगवान्का जो नित्यविग्रह है, वह चिन्मय है । वह देह देह नहीं, भगवत्स्वरूप ही है । वहाँ देह-देहीका भेद नहीं है । वहाँ योगमायाका भी पर्दा नहीं है । भगवान् दो तरहसे ही प्रकट होते हैं—योगमायाको लेकर और योगमायाको हटाकर । जहाँ योगमाया साथ है, वहाँ आवरण है । बहिरङ्ग प्रकृतिका नाम 'माया' है; भगवान्की अन्तरङ्गा शक्तिका नाम है 'योगमाया' । मलिना माया, जिससे जगत् आच्छादित है, भगवान्को नहीं ठग सकती । भगवान् स्वयं योगमाया-की चादर ओढ़कर, उस आवरणको स्वयं धारणकर सामने आते हैं । जहाँ भगवान्का योगमायासे रहित चिन्मय स्वरूप है, वहाँ योगमाया आह्लादिनी शक्तिका रूपान्तर है । भगवान् जहाँ योगमायासे आच्छादित होकर बोलते हैं, वहाँ सबके सामने प्रकट होते हैं । जहाँ योगमायाका पर्दा हटा रहता है, वहाँकी अन्तरङ्गा लीलामें जो प्रेमीजन भगवान्के साथ होते हैं—वहाँ प्रेममें ज्ञान अन्तर्हित होता है—उनके देहका नाम भावदेह है । श्रीराधिका-

जीका भावदेह नहीं है, वे तो चिन्मय दिव्य विग्रह हैं। और सभी गोपियाँ राधाकी कायव्यूहरूपा हैं।

गोपियोंका काम है श्रीराधा-कृष्ण प्रिया-प्रियतमके मिलन-आनन्दकी व्यवस्था करना और उसे पूर्ण करके पूर्णरूपमें देखना। इसीमें उनकी चरम तृप्ति है। यह रहस्य तभी खुलता है, जब भक्त इस दिव्य लीलाराज्यमें प्रवेश करते हैं। इस लीलामें प्रवेश किये बिना भी मुक्ति तो हो सकती है। भगवान्की प्राप्तिके अनेकों निश्चित मार्ग हैं और वे सभी मोक्षप्रद हैं। मोक्ष भी तो भगवान्का ही स्वरूप है। परंतु इस लीला-संदोहमें प्रवेश करनेके लिये तो गोपी-भावापन्न ही होना पड़ेगा। नारदको, अर्जुनको, भगवान् शिवजीतकको इस लीलाके आस्वादनके लिये गोपी बनना पड़ा। रासोल्लास-तन्त्रमें भावदेहका वर्णन आया है। भगवान्के नित्यधाममें नित्य-परिकरोंके चिन्मय देहमें लीलाके लिये एक शक्ति दी गयी है। उसका नाम है 'भाव'। भगवान्के नित्यपरिकर भावदेहमें होते हैं। भावदेहकी प्राप्तिसे ही उनका रासलीलामें प्रवेश होता है। इसीलिये यह परमगुह्य रहस्य है। यह रहस्य तर्कोंके द्वारा सिद्ध हो नहीं सकता। भावलीलामें योगमायाका पर्दा हटा रहता है। वहाँ लोकसंग्रह नहीं है। लोकसंग्रह वहीं है, जहाँ लोक है। जहाँ जगत्के प्राणी हैं, जहाँ प्रजा है, लोक है, मनुष्य हैं, वहीं लोकसंग्रहकी आवश्यकता है। जहाँ लोक है ही नहीं, वहाँ लोकसंग्रह कैसा? जहाँ लोकालय नहीं है, कर्मयोग करनेवाले जीव नहीं हैं—जहाँ केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं, जहाँ—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।
(श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)

—जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि गोपियोंके साथ रमण करते हैं, जहाँ एकसे भिन्न कोई लोक नहीं, कोई जगत् नहीं, कोई प्राणी नहीं, जहाँ यहाँके इन सूर्य-चन्द्रमाकी गति नहीं, न यहाँका शरीर ही है, वहाँ लोकका ध्यान ही कैसे आता? नित्य-दिव्य रासलीलाका रहस्य हम माया-मुग्ध मानव कैसे समझें? हृदयमें

वासनाका जो अन्धकार है, वह हमें रासके ज्ञानसे आलोकित होने नहीं देता। जगत्के विषयोंसे परम उपरतिके अनन्तर ही रासका रहस्य प्रेमी महानुभावोंके निश्छल सङ्ग और प्रेमास्पद परम प्रियतम श्यामसुन्दरकी कृपासे यत्किंचित् समझमें आ सकता है।

हमारे इस लोकमें और भगवान्के दिव्य रासलोकमें महान् अन्तर है। हमारा हृदय वासनासे इतना ग्रस्त है कि दिव्यलोककी लोकोत्तर लीलाओंमें भी हम अपने मनके पापोंकी छाया देखा करते हैं। वहाँ इस मायिक जगत्की कोई वस्तु नहीं है। वहाँ योगमायाका आवरण भी नहीं है। योगमायाका आवरण हटाकर, रासमें राधा और श्रीकृष्णका व्यवधान-रहित मिलन होता है। आवरण हटे बिना पूर्ण मिलन कैसे होगा? वहाँ न ये वस्त्र हैं न ये स्त्रियाँ ही। वहाँ वासनाका लेश भी नहीं है। सर्वथा व्यवधानराहित्य है। मायाका कोई व्यवधान है ही नहीं।

भगवान् ग्यारह वर्षके बाद व्रजमें नहीं रहे। यह तो हम मानवोंके समझनेभरके लिये है। अपने परिकरोंके लिये तो वे नित्य किशोर हैं। कालकी कल्पना मायाके राज्यमें है। जहाँ आवरणमुक्त दिव्य जगत् है, जहाँ कालके भी महाकाल, नित्य कालातीत प्रभुकी नित्यलीलाका ही साम्राज्य है, वहाँपर किसी कालकी कैद नहीं है। वहाँ सब कुछ भगवान्का खेल है। हम मायामें बैठकर अमायिककी बात कैसे समझें? रास हुआ, गोपियों-का आलिङ्गन आदि सब कुछ हुआ; पर उस आलिङ्गनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। कामपर पूर्ण विजय कर लेनेपर महान् वैराग्यके अनन्तर इस राज्यमें यत्किंचित् प्रवेश करना सम्भव है। उसको हम मायालोकमें लेआकर यहाँके मलिनभावसे मिलाकर प्रकट करें, यह ठीक नहीं। मानवलोकमें उस लोककी कल्पना भी नहीं हो सकती। साधारण मानवसमाजमें भगवान्के प्राकट्यके लिये वर्णाश्रमधर्मके संस्थापनका जो हेतु है, वही ठीक है; पर भक्तोंके संसारमें वह नहीं है। संकल्पमात्रसे भगवान् धर्मका अभ्युत्थान और संस्थापन तथा पापियोंका विनाश कर सकते हैं। जिनकी एक मुसकानसे सृष्टिका प्रसार हो जाता है और उस मुसकानके रुकते ही सृष्टि विलय हो जाती है, उनके लिये अवतारकी क्या आवश्यकता? भगवान्को तो भक्तके

प्रेम-धर्मसे बाध्य होकर प्रकट होना पड़ता है। जहाँ भक्त भगवान्‌के लिये मचल उठते हैं, वहाँ उन्हें स्वयं आना ही पड़ता है। वे अपनेको रोक नहीं सकते। माता नाना प्रकारके खिलौने और मिठाइयाँ देती है, पर उन्हें फेंककर बच्चा जब माताके लिये तड़प उठता है, तब वहाँ माताको बच्चेकी व्यथा मिटानेके लिये स्वयं आना ही पड़ता है। भक्तके हृदयमें दुःख है एकमात्र विरहतापका, उसे मिटाकर दिव्य प्रेम-धर्मकी संस्थापनाके लिये ही स्वयं भगवान्‌को आना पड़ता है।

भावलीलामें मानवी कर्मचेष्टा नहीं होती। मानवजगत्‌के आदर्शके शिखरतक मानवके कर्म हैं। भाव-लीलामें तो लोकका भाव है ही नहीं। जहाँ यह भावलीला है, वहीं भावदेह भी है। गोपोंने देखा कि सभी गोपियाँ अपने-अपने पतियोंके पास सोयी हुई हैं। मानव-देहको मानवोंके पास छोड़कर वे भावदेहसे, चिन्मयरूपसे, दिव्य रूपसे वहाँ आ गयीं और रासमें शामिल हुईं। सूक्ष्म और कारण-देहमें ये कर-चरणादि अङ्ग नहीं होते। पर चिन्मय और भावदेहमें ये सब होते हैं। पर वे सब होते हैं दिव्य—अलौकिक। जैसे स्वयं भगवान् ही गोपबालक, गोवत्स और बालकोंका सारा साज-सामान बन गये। उसी प्रकार उस नित्य रासलीलामें भी स्वयं भगवान् ही 'महाभाव' और 'रसराज' दोनों रूपोंमें प्रकट होते हैं। वह रासमण्डल इस मायासे सर्वथा परे है। वहाँ न इस मायाकी देह, न इस मायाके मनुष्य और न इस मायामें रमण। मायासे विरहित योगमायाके पर्देको भी हटाकर आत्माराम श्रीकृष्णने आत्मरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ रमण किया—'आत्मारामोऽप्यरीरमत्।' वहाँ शरीररूपसे स्वयं भगवान् ही हैं। गोपियाँ भी वही हैं—सब कुछ स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। यह कोई कल्पना नहीं है। रास सत्य है, रास नित्य है और रास चिन्मय है।

वह है क्या—यह कौन कहे? कैसे कहे? जो भावुक हैं—जिनका इस भावराज्यमें प्रवेश है, वे ही इसका आनन्द जानते हैं, पर इस आनन्दको मायिक वाणी कैसे व्यक्त कर सकेगी? जो इस पर-आनन्दमें मग्न हैं, वे फिर इसके परे क्या है, उस ओर ताकतेतक नहीं। यही तो वेदान्तशिरोमणि श्रीमधुसूदन स्वामीने कहा है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'जिनके दोनों हाथ बाँसुरीसे शोभा पा रहे हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन मेघके समान श्याम है, साँवले अङ्गपर पीताम्बर सुशोभित हो रहा है, लाल-लाल ओठ पके हुए बिम्बफलकी सुषमा छीने लेते हैं, सुन्दर मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी लज्जित कर रहा है और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर प्रतीत होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई भी परम तत्त्व है—यह मैं नहीं जानता ।'

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

'यदि योगीलोग ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो करते रहें; हम तो चाहते हैं—वह जो यमुनाके किनारे कोई अनिर्वचनीय साँवला-सलोना तेज दौड़ता फिरता है, वही हमारे नेत्रोंमें चिरकालतक चमत्कार (विस्मय-पूर्ण उल्लास) उत्पन्न करता रहे ।'

यह कल्पनाका लोक नहीं है—परात्पर सत्यका दिव्यलोक है। कोई आवश्यकता नहीं कि इसे किसीको समझाया जाय; भगवान्‌को इसकी आवश्यकता नहीं कि लोग उनके इस राज्यको मानें ही। पर तो भी इस भावराज्यमें प्रवेश होता है भगवत्कृपासे ही। इस भावराज्यमें प्रवेश करनेपर भक्त प्रभुके सिवा अन्य किसीको मानता, जानता, समझता नहीं। सारा संसार विरोध करे, लाख करे; पर उसको तो संसारकी कोई परवा ही नहीं। जगत्‌की समालोचनाका विषय यह है ही नहीं।



भगवान्की नित्य-लीला

भगवान्की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है । स्थूल जगत्को लीला तो हम सभी देखते हैं, परंतु दुर्भाग्यवश भ्रमसे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं । भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है—'ऐसा मिलेगा नहीं', 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' । हो तो मिले । परंतु हम भगवान्की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनःकल्पित स्वरूपको सत्य समझकर तुच्छ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य

नया दुःख मोल लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्वब्रह्माण्डोंके संचालन-सूत्रोंको हाथमें लिये हुए भगवान्की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत्के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत्की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है। दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है, जिसमें भगवान् अपने परिकरोंसहित नित्य-लीला करते हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। सगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अन्तर्जगत्के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार-प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए, अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं। इसी सूक्ष्मतम स्तरको विशेष स्तरभेदसे श्रीरामभक्त 'साकेत', श्रीकृष्णभक्त 'गोलोक', श्रीशिवभक्त 'कैलास', श्रीविष्णुभक्त 'वैकुण्ठ' परमधाम, महाकारण आदि कहते हैं। यही भगवान्का लौकिक-सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे परे, वरं इन सबको प्रकाश देनेवाले दिव्य प्रकाशसे संयुक्त नित्य दिव्यधाम है; इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं। यहींकी लीलाओंका कुछ स्थूल अंश और वह भी बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलनिधिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पञ्चवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, 'जिस समय स्वयं भगवान् अपने प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और ब्रजमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह नित्यविहार आज भी वहाँ होता है, भाग्यवान् जन देख पाते हैं! वस्तुतः भगवान्के अवतरणके साथ ही उनके नित्यधामका भी अवतरण होता है। उसीमें भगवान्की लीलाएँ होती हैं, इसीसे लीलाधामोंकी इतनी महिमा है!



नित्य लीलाके समझनेका अधिकार

व्यतिरेक और अन्वय—दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मज्ञानकी साधना होती है। जगत्‌को सर्वथा वस्तुशून्य समझना 'व्यतिरेक' साधना है और चेतनाचेतनात्मक समस्त विश्वमें एक चेतन अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्मसत्ताका अनुभव करना 'अन्वय' साधना। दोनों साधनाओंके समन्वयसे जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'; 'नेह नानास्ति किंचन' तत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है।

यह श्रीभगवान्‌का सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप है। इसके जान लेनेपर ही समग्र पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमलीला या व्रजलीलाके समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। दिव्य हृदय और दिव्य नेत्रोंके बिना

व्रजलीलाके दर्शन नहीं हो सकते। विविध साधनाओंके द्वारा हृदय जब समस्त संस्कारोंसे शून्य होकर शुद्ध सत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जब सम्पूर्ण विश्वमें एक अखण्ड अनन्त समरस सर्वव्यापक सर्वरूप अव्यक्त ब्रह्मकी साक्षात् अनुभूति होती है, तभी प्रेमकी आँखें खुलती हैं, तभी भगवान्‌की लीलाके यथार्थ और पूर्ण दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है और तभी प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ पूर्णैक्यमय मिलन होता है। यही ज्ञानकी परा निष्ठा है—'निष्ठा ज्ञानस्य या परा।' (गीता १८।५०) श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५४-५५)

'साधक जब प्रसन्न-अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, जब उसे न तो किसी बातका शोक होता है और न किसी बातकी आकाङ्क्षा ही, समस्त प्राणियोंमें उसका समभाव हो जाता है, तब उसे मेरी पराभक्ति—पूर्ण प्रेम प्राप्त होता है। और उस पराभक्तिके द्वारा मुझ भगवान्‌के तत्त्वको—मैं जो कुछ और जितना कुछ हूँ—वह पूरा-पूरा जान लेता है और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें मिल जाता है (मेरी लीलामें प्रवेश करता है)।'

यह ब्रह्मज्ञान और यह पराभक्ति—केवल ऊँची-ऊँची बातोंसे नहीं मिलती। निरी बातोंसे तो ब्रह्मज्ञानके नामपर मिथ्या अभिमान और भक्तिके नामपर विषय-विमोहकी प्राप्ति ही होती है। सत्सङ्ग, साधुसेवन, सद्विचार, वैराग्य, भजन, निष्काम कर्म, यम-नियमादिका पालन और तीव्रतम अभिलाषा होनेपर ही इनकी प्राप्ति सम्भव है। भगवत्कृपाकी तो शरीरमें प्राणोंकी भाँति सभी साधनाओंमें अनिवार्य आवश्यकता है।



भगवदवतारका रहस्य

प्रश्न—भगवान्के अवतारमें प्रयोजन क्या है ? वे किस उद्देश्यसे अवतार लेते हैं ?

उत्तर—भगवानने स्वयं ही इसका उत्तर दिया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(गीता ४ । ८)

'साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।'

प्रश्न—साधुओंका परित्राण, पापियोंका विनाश और धर्मकी स्थापना तो भगवान् अपने साधारण-से संकल्पसे ही कर सकते हैं, अधिक करें

तो अपनी संनिधिमें रहनेवाले किसी मुक्त कारक पुरुषको भी भेज सकते हैं। भला, जिन भगवान्‌के भ्रूसंकेतमात्रसे अखिल ब्रह्माण्डोंका सृजन और प्रलय हो सकता है, वे स्वयं इस साधारण कार्यके लिये अवतीर्ण क्यों होंगे ?

उत्तर—भगवान्‌की कौन-सी लीला क्यों होती है, इस बातको हमलोग नहीं समझ सकते। भगवान्‌को जानना, पहचानना और उनकी लीलाका रहस्य समझना केवल उनकी कृपासे ही सम्भव है। कोई भी निश्चितरूपसे नहीं कह सकता कि यह बात यों ही है। तथापि इस श्लोकका रहस्यार्थ महात्मालोग इस प्रकार करते हैं कि यहाँ "साधु-शब्दसे 'गोपाङ्गना'-जैसे साधु समझने चाहिये, जिनका परित्राण साक्षात् भगवान्‌के दर्शन बिना हो ही नहीं सकता था तथा दुष्कृति भी भगवान्‌के परम अन्तरङ्ग भक्त 'जय-विजय'-जैसे समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान्‌की लीलाविशेषके विकासके लिये ही था, अन्य दुष्कृतियोंको तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा; और धर्म-संस्थापनसे यहाँ 'भक्ति-प्रेम-योगरूप धर्मकी स्थापना समझनी चाहिये, जो ऐसे कोटि-कोटि-कामकमनीय मधुर-मनोहर भजनीय भगवान्‌के बिना हो नहीं सकती।" यही अर्थ युक्तियुक्त भी मालूम होता है। हाँ, अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओंकी रक्षा, भाग्यवान् दुष्कृतियोंका शरीर-विनाशरूपसे उद्धार और पवित्र सनातन धर्मकी स्थापना भी है ही। कुन्तीदेवी स्तुति करती हुई भगवान्‌के अवतारका हेतु बतलाती हैं—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

"जिनके अन्तःकरण सर्वथा मलरहित—पवित्र हैं, उन परमहंस मुनियोंकी भक्तियोगमें प्रवृत्ति करानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपको हम अबलाएँ कैसे देख (जान) सकती हैं ?"

इससे ज्ञात होता है कि परमहंस मुनियोंको प्रेमदान करनेके लिये भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं। आगे चलकर कुन्तीदेवी श्रीकृष्णावतारके प्रयोजनमें मतभेद दिखलाती हुई कहती हैं—

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥
अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥
भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ८ । ३२—३६)

'कोई कहते हैं कि आपने पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिरका यश बढ़ानेके लिये ही यदुवंशमें अवतार लिया है अथवा चन्दन जिस प्रकार मलयाचलमें पैदा होकर उसकी कीर्ति बढ़ाता है, उसी प्रकार आपने महाराज यदुका यश बढ़ानेके लिये यदुवंशमें अवतार लिया है। किसीका कथन है कि श्रीवसुदेव-देवकीने अपने पूर्वजन्ममें आपसे पुत्ररूपसे प्रकट होनेकी प्रार्थना की थी, उनकी प्रार्थनासे अजन्मा होते हुए भी आप जगत्के कल्याण और देवद्रोही दानवोंका वध करनेके लिये ही उनके पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए हैं। कोई कहता है कि समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान पृथ्वी भारी भारसे डूबी जा रही थी, उसके भारको उतारनेके लिये आपने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अवतार धारण किया है।' अब कुन्तीजी अपना मत प्रकट करती हैं कि 'इस संसारमें अज्ञान, कामना और कामनायुक्त कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए जो जीव विभिन्न प्रकारके क्लेश भोग रहे हैं, उन संतप्त जीवोंको क्लेशसे मुक्त करनेके लिये उनके सुनने और मनन करने योग्य सुन्दर दिव्य लीलाओंको करनेके लिये आपने अवतार लिया है। जो लोग आपकी प्रेमभरी दिव्य लीलाओंको सुनते हैं, गाते हैं, कीर्तन करते हैं, बार-बार स्मरण करके आनन्दित होते हैं, वे शीघ्र ही जन्म-

मरणरूपी संसार-प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके मङ्गलमय चरणकमलोंके दर्शन पा जाते हैं।'

उपर्युक्त सभी प्रयोजन उचित और सत्य हैं, परंतु कुन्तीजीका बतलाया हुआ अन्तिम प्रयोजन बहुत ही हृदयग्राही है। भगवच्चरित्र ही वस्तुतः भवसागरसे तरनेके लिये दृढ़ नौका है। कलियुगी जीवोंका तो यही आधार है। इसीसे गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अमलात्मा मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेवाला प्रयोजन भी बहुत ही युक्तियुक्त हैं। इसीसे तो पवित्र भागवतधर्मकी स्थापना होती है। इन्हीं हेतुओंसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छाशून्य भगवान् अवतीर्ण होनेकी इच्छा करते हैं।

प्रश्न—जय-विजयादि-सरीखे दुष्कृतियोंकी और प्रेमधर्म-स्थापनकी बात तो समझमें आ गयी, परंतु गोपाङ्गनाओंके परित्राणकी बात कुछ समझमें नहीं आयी। उनको क्या दुःख था, जिससे भगवान्‌के साक्षात् अवतीर्ण हुए बिना वे उससे नहीं छूट सकती थीं?

उत्तर—सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासागर नटनागर भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य मङ्गल स्वरूपके दर्शनकी लालसा ही उनका महान् दुःख था। वे इसी घोर विरहतापसे संतप्त थीं, उनका यह ताप बिना श्रीभगवान्‌के साक्षात् मिलनके मिट ही नहीं सकता था। इस दुःखसे परित्राण करनेके लिये ही भगवान् स्वयं प्रकट हुए।

परंतु यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि प्रयोजनका यही एकमात्र स्वरूप है। विभिन्न युगोंमें प्रयोजनोंके विभिन्न स्वरूप होते हैं; परंतु उनमें बातें वे तीन ही होती हैं—साधुपरित्राण, दुष्टविनाश और धर्मसंस्थापन।



माखनचोरीका रहस्य

भगवान्की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्का लीलाधाम, भगवान्के लीलापात्र और भगवान्का लीलाशरीर प्राकृत नहीं होता। भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-

स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवत (१० । १४ । २) में ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ॥

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पाञ्चभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का सभी कुछ अप्राकृत होता है, उनकी जन्म-कर्मकी सभी लीलाएं दिव्य होती हैं; परंतु यह व्रजकी लीला, व्रजमें निकुञ्जलीला और निकुञ्जमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, सर्वथा अन्तरङ्ग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

यदि भगवान्के नित्य परमधाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी अभीष्ट पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान्की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्की मुक्तजन-वाञ्छित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएं थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी

ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं। श्रुतिरूप गोपियाँ, जो 'नेति-नेति'के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्‌रूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्‌के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिका और विपञ्ची आदि।

भगवान्‌के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले— अपने-आपको उनके स्वरूप-सौन्दर्यपर न्योछावर कर देनेवाले ऋषिगण, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें गोपी होकर अपनेको प्राप्त करनेका वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिलाकी गोपियाँ, कोसलकी गोपियाँ, अयोध्याकी गोपियाँ—पुलिन्दगोपियाँ, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी गोपियाँ आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद गोपी-स्वरूपको प्राप्त किया था। उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक उग्रतपा नामके ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढव्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पञ्चदशाक्षरमन्त्रका जाप और रासोन्मत्त नव-किशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया था। सौ कल्पोंके बाद वे सुनन्दनामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२—एक सत्यतपा नामके मुनि थे। वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षर-मन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। दस कल्पके बाद वे सुभद्रनामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—हरिधामा नामक एक ऋषि थे। वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-

कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल सरकारका ध्यान करते थे। तीन कल्पके पश्चात् वे सारङ्ग-नामक गोपके घर 'रङ्गवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए।

४—जाबालि नामके ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बाँया हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बताया—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्।
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।

(पद्मपुराण पाताल० ७२। ३०—३२)

'मैं वह अनुपम ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ।' ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्‌का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्ड नामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा'के रूपमें प्रकट हुए।

५—कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण वेदतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं हं सः' मन्त्रका जाप करते हुए और कंदर्प-सुन्दर गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते

हुए घोर तपस्या की। कल्पके बाद ने व्रजमें सुधीर नामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्‌के लिये इतनी तपस्या करके, इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसङ्गमें स्वयं भगवान्‌ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(१०। ३२। २२)

'गोपियो! तुमने घरकी सारी कठिन बेड़ियोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग देवताओंकी आयुतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी बने रहना चाहते हैं उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही, भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला, विचारिये तो सही—श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्र-दुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये



माखन-प्रेमी बालकृष्ण [पृष्ठ ३७

ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर— श्रीकृष्णको देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति— दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखती और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें, फिर मेरे प्राणधन बालकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ। और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहत तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछें ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपनें घर देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परंतु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी? ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी!' प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—'गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कें घर।'

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
पूछति सखी परस्पर बातैं, पायौ परयौ कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—'अरी! तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन-सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे! सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारें आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुवावैं॥
मनहीं मन अभिलाष करतिं सब, हृदय धरतिं यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर मैं लै, दैहौं माखन खान॥
× × × × ×
चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहि देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि॥

सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधि कौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होनेकी बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीकेपर रखतीं। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—हा! आज प्राण-प्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखनकी क्या कमी है! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं! इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती। लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती। सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मनःकामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आप भजे ब्रज खोरी॥
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कैं माखन खाऊँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परंतु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं, सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर

माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्‌के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजाका स्वीकार कैसे न करें?

भगवान्‌की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किसकी होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई वस्तु उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्‌की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्‌का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं, जो भगवान्‌की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्‌की दिव्य लीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्‌का प्रेमका नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही। यही रहस्य है।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्‌की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसङ्गमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं।



चीरहरण-रहस्य

चीरहरणके प्रसङ्गको लेकर कई तरहकी शङ्काएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौभाग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ भी चिन्मयी होती हैं। सच्चिदानन्द-रसमय साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है, उसकी ऐसी विलक्षणता है कि कई बार तो ज्ञान-विज्ञानस्वरूप विशुद्ध चेतन परमब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता और इसीलिये ब्रह्मसाक्षात्कारको प्राप्त महात्मालोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्की इस परमोज्ज्वल दिव्य रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदङ्गभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो जाती हैं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये

वे साधनमें लग जाती हैं। इसी अध्यायमें भगवान् आकर उनकी साधना पूर्ण करते हैं। यही चीर-हरणका प्रसङ्ग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्के विभूति-स्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़के दिनोंमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका संकोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी वालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था! वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही; परंतु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भङ्ग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने

निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर वह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है, पूर्ण समर्पणकी तैयारी! उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं, तब वे मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परंतु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी हल्का कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लङ्घन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्‌के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्‌ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्‌के प्रेमके नामपर विधिका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह प्रसङ्ग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मका भक्तिमें है और रागात्मका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीरहरणके द्वारा वही कार्य सुसम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की; जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रक्खा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा उनके मनमें

है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है ? है, अवश्य है और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वे ही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है, जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो। वे ही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वे ही आत्मा हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं। गोपियाँ उन्हीं भगवान्‌को, यह जानते हुए कि ये ही भगवान् हैं—ये ही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं। वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है। जो लोग भगवान्‌को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शङ्का ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंका फल उदय होनेपर

भगवान्‌की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दु:खज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्‌के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्सङ्ग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकाङ्क्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परंतु भगवान्‌की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्‌की संनिधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्‌की अन्तरङ्ग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्‌की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं; वे जलमें सर्वव्यापक, सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें

ही नहीं हैं, स्वयं जलस्वरूप भी वे ही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं, परंतु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परंतु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए' (शुद्धभाव-प्रसादितः) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें, तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पातीं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परंतु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि 'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ, मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो? यह परदा ही तो परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसंचित आकाङ्क्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका वह

मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान! न वह जगत्को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किंचित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्धक हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह संकोच कलङ्क है। तुम तो सदा निष्कलङ्का हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्व-त्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने, इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं। उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता थी नहीं; क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परंतु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं उन्हें वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतिसे जगाकर फिर जगत्में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर प्रतिष्ठित करती है, जो निस्संकल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली

शारदीय रात्रियोंमें हमारे साथ रमण होगा। भगवान्‌ने साधना सफल होनेकी अवधि निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी काम-विकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी कब वशमें रह सकता है।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्‌के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे—विक्षेपका काम कर रहे थे—वे ही भगवान्‌की कृपा, प्रेम, सांनिध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये। इसका कारण क्या है? इसका कारण है, भगवान्‌का सम्बन्ध। भगवान्‌ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अङ्ग कंधेपर रख लिया था। नीचेके शरीरमें पहननेकी साड़ियाँ भगवान्‌के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है। असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्‌से सम्बद्ध और भगवान्‌का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया विशुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण हमें भगवान्‌के दर्शनसे वञ्चित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्‌का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इस स्थितिमें पहुँचकर भी बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी, अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी ही वस्तु हो गये हैं। अब तो ये भगवान्‌के पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्‌का स्मरण करानेवाले भगवान्‌के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने उन्हें स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्‌की इच्छासे मर्यादा स्वीकार

की। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्‌की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उत्तम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल ये ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते, वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्‌की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्रदृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलताओंसे ही परिवेष्टित है—केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्‌की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला मानवी थी, तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती, जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लाञ्छनरूप हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें तो नवें वर्षमें ही चीरहरण-लीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति

थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उद्भावना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परमसुन्दर परममधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, 'न नग्नः स्नायात्'—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो सभी वस्तुओंमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है, इस नग्नस्नानको केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं, देवताओंके प्रति अपराध बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है, इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अञ्जलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया। महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती

और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी श्रीमद्भागवतमें आये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परंतु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है। महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उन्हें 'रमण' और 'रति' शब्दोंका अर्थ केवल क्रीड़ा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—'रमुक्रीडायाम्।'

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है। अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें। वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है। इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है। भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्यलीला-विलास है और अनादि कालसे अनन्त कालतक यह नित्य चलता रहता है। कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्द-मङ्गलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। साधकोंपर किस प्रकार कृपा करके भगवान् उनके अन्तर्मलको और अनादि कालसे संचित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है। भगवान्की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं। यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है।

दिव्य रासक्रीडाका स्वरूप तथा महत्त्व

थीं वे विकसित शारदीय मल्लिका-सुमन शोभित रजनी।
देख उन्हें कर प्रकट 'योगमाया'—'अचिन्त्य निज शक्ति' धनी॥
षडैश्वर्य भगवान पूर्णने किया तुरत संकल्प महान।
रमण—'रसास्वादन-स्वरूपवितरण'का, कर सबको रसदान॥ १॥

दीर्घकाल पर दे दर्शन निज प्यारीको जैसे प्रियतम।
रँग दे केसरसे उसका मुखमण्डल निज कर सुखद परम॥
वैसे प्राची दिशा सुमुखि मुख सुखद स्वकिरण-अरुणसे रंग।
उदय हुआ विधु जग-जीवोंका ताप मिटाता शीतल अंग॥ २॥

लक्ष्मीमुख-सम शोभित नव कुङ्कुम-सम अरुण-वर्ण शशि देख।
विधुकी कोमल किरणावलिसे उद्भासित अरण्यको लेख॥
मधुर मनोहर नेत्रवती शुचि व्रज-सुन्दरियोंका मन-हर।
किया विचित्र वेणु-वादन माधवने सुललित मधुर-स्वर॥ ३॥

मुरलीके मधु स्वरमें पाकर प्रियतमका रसमय आह्वान।
हुई सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल, मान॥
पति, शिशु, गृह, धन, धान्य, वस्त्र, भूषण, गौ, कर भोजनका त्याग।
चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग॥ ४॥

नहीं किसीसे पूछा कुछ भी, कहा न कुछ भी, चित्त विभोर।
चलीं वेगसे जहाँ बजाते थे मुरली मधु नन्दकिशोर॥
प्रेमविवर्धक मुरली-स्वरसे हो अति विह्वल व्रजनारी।
पहुँचीं तुरत निकट प्रियतमके भूल स्व-परकी सुधि सारी॥ ५॥

थीं वे कृष्णगृहीत-मानसा, थीं वे उज्ज्वल रसकी मूर्ति।
थीं वे शुचितम प्रेम पूर्ण नटवरकी मधुर लालसा-पूर्ति॥
आत्मनिवेदन, पूर्ण समर्पण था पवित्रतम उनका भाव।
जिसमें था न स्व-सुख-वाञ्छाका किंचित् लेश, न किंचित् चाव॥ ६॥

विविध भाँतिसे किया परीक्षण, दिखा मोह, भय, धर्म, विवेक।
पर उन प्रेममयी शुचि व्रज-वधुओंने तनिक न छोड़ी टेक॥
कहा—'विभो! सर्वत्र विराजित! सर्व-समर्थ! सर्व-आधार।
क्यों नृशंस तुम बोल रहे यों? आयीं हमें देख निज द्वार॥ ७॥

त्याग सर्वविषयोंको—भुक्ति-मुक्तिको, हम आयीं पदमूल।
दुराग्रह! मत छोड़ो हमको, यों सारी रसमयता भूल॥
प्रिय! तुम ही हो प्राणिमात्रके बन्धु, आत्मा अति प्रियतम।
पाकर छोड़ जाय जो तुमको, महामूर्ख वह, पतित, अधम॥ ८॥

तुम्हीं बताओ परम धर्मविद्! नित्यप्रिय! तुमसे कर प्रीति।
भजे अन्य दुःखदको फिरसे, क्या है कभी उचित यह नीति?
छोड़ कहाँ हम जायँ तुम्हें अब, चलते नहीं चरण पद एक।
सुखसे लूट सभीका मन-धन, चले बताने हमें विवेक॥ ९॥

आत्मारामशिरोमणि सत्-चित्-परमानन्दरूप पर-धाम।
योगेश्वर-ईश्वर सब-लोक-महेश्वर नित्यतृप्त निष्काम॥
अज-भव-शेष-सनक-नारद सब करते नित जिनका गुणगान।
प्रेममयी व्रजवनिताओंके शुद्धप्रेम-वश वे भगवान॥१०॥

अङ्ग विमल शुचि स्पर्शदान कर किया सभीको पावन, धन्य।
भावोद्दीपन किया, जगाया शुद्ध-काम रतियोग्य अनन्य॥
आत्मरमण फिर किया परम शुचि पूर्णकाम हरिने अभिराम।
शारदीय उन शशधर-किरण-सुशोभित रातोंमें रसधाम॥११॥

सत्यकाम अवरुद्ध-सुसौरत हरिने किया पवित्र विहार।
सत्-संकल्प चिन्मयी लीला-रस-मय मधुर नित्य अविकार॥
नहीं रमण यह था कदापि विषयासक्तोंका 'इन्द्रिय-भोग'।
नहीं आत्माराम योगियोंका भी 'आत्मरमण'-संयोग ॥१२॥

'काम-विजयका भी न कहीं था कुछ भी यहाँ कल्पना-लेश।
क्योंकि नीच कामका तो हो सकता यहाँ न कभी प्रवेश॥
था विशुद्ध वितरण माधवका 'निज-स्वरूप-आनंद' महान।
था यह परम 'रसास्वादन'का निजमें ही निजका सुविधान॥१३॥

आस्वादक आस्वाद्य न दो थे, था मधुमय लीला-संचार।
था यह एक विलक्षण पावन परम प्रेमरसका विस्तार॥
मधुर परम इस रस-सागरमें गोपीजनका ही अधिकार।
परम त्यागका मूर्त रूप लख, जिन्हें किया हरिने स्वीकार॥१४॥

प्रेममयी व्रज-रमणी-गण-मण्डलमें हुए सुशोभित श्याम।
अगणित राशि तारिकामें अकलङ्क पूर्ण विधु विमल ललाम॥
अथवा नव नीलाभ-श्याम घन दामिनि-दलमें रहे विराज।
घन दामिनि, दामिनि घन अन्तर अगणित उभय अतुल द्युति साज॥१५॥

रासेश्वरी राधिकाके एकाधिपत्यमें सुन्दर साज।
शुचि सौन्दर्य मधुर रसमय असमोर्ध्व अमित बिजली-घनराज॥
एक एकके मध्य मनोहर एक एक, सब मिल, दे ताल।
रास रसिक रस-नृत्य-निरत, शुचि बाज रहे मृदु वाद्य रसाल॥१६॥

जो इस मधुर शुद्ध रसका किंचित् भी कर पाता आस्वाद।
दृश्य जगत्का मिटता सारा शोक-मोह-भय-क्षोभ-विषाद॥
होता कामरोगका उसके जीवनमें सर्वथा अभाव।
राधा-माधव-चरण-रेणु-कण-करुणासे वह पाता 'भाव'॥१७॥

'भाव'प्राप्त हो, वह हो पाता राधारानीका अनुचर।
सभी दोष मिट, होती उसमें प्रकट गुणावलि शुचि सत्वर॥
पाता वह फिर नित निकुञ्जमें अति दुर्लभ सेवा-अधिकार।
जिसके लिये सदा ललचाते ऋषि-मुनि-तापस छोड़ विकार॥१८॥

रासलीला-रहस्य

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २९ । १)

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें २९ से ३३ वें अध्यायतक भगवान्की रासलीलाका प्रसङ्ग है । इसीको रासपञ्चाध्यायी कहते हैं । इस रासपञ्चाध्यायीमें श्रीमद्भागवतवर्णित तत्त्वोंके सारभूत परम तत्त्वका परमोज्ज्वल प्रकाश है । ये पाँच अध्याय वस्तुतः श्रीमद्भागवतके पञ्चप्राण-स्वरूप हैं । भगवान्की दिव्य लीलाका भाव न समझकर केवल बाह्यदृष्टिसे देखनेपर यह सारी कथा शृङ्गार-रसपूर्ण दिखायी दे सकती है और इससे मनुष्य भ्रमग्रस्त हो सकता है । इसीसे सम्भवतः श्रीशुकदेवजीने उपर्युक्त प्रथम श्लोकमें प्रथम शब्द 'भगवान्' दिया है, जिससे पढ़नेवाला व्यक्ति इसे भगवान्की लीला समझकर ही

पढ़े। वस्तुतः यह लौकिक काम-प्रसङ्ग कदापि नहीं है। इसके श्रोता हैं—विवेक-वैराग्य-सम्पन्न, मुमुक्षु, धर्मज्ञानपूर्ण, मरणकी प्रतीक्षा करनेवाले महाराज परीक्षित् और वक्ता हैं—ब्रह्मविद्वरिष्ठ परम योगी जीवन्मुक्त सर्वऋषिमुनिमान्य श्रीशुकदेवजी। ऐसे वक्ता-श्रोता लौकिक शृङ्गारकी बातें कहें-सुनें, यह सोचना ही भूल है। वस्तुतः इन पाँच अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी परम दिव्य अन्तरङ्ग लीलाका, निजस्वरूपभूता महाभावरूपा ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी तथा उन्हींकी कायव्यूहरूपा दिव्य कृष्णप्रेममयी गोपाङ्गनाओंके साथ होनेवाली भगवान्‌की रसमयी लीलाका वर्णन है। 'रास' शब्दका मूल 'रस' है और 'रस' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः'। जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम 'रास' है। अतएव यह रासलीला भी लीलामय भगवान्‌का ही स्वरूप है। भगवान्‌की यह दिव्य लीला भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्यरूपसे निरन्तर हुआ करती है। भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी यह अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, दिव्य रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रास-नृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल

प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्‌की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओं-के सम्बन्धमें विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्यलीलाके रहस्यको समझने-में असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्‌की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थ स्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होने-वाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अङ्ग-सङ्गकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध

है । इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है ।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है । वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है । वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है । इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं । इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है । यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है । आवरण-भङ्गके अनन्तर अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है ।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे । जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता । 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं । इस 'कारण शरीर'के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है । इसी कर्मबन्धनके कारण पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है । प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं । फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे; बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो । ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं—योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही । ये सभी प्राकृत शरीर हैं । इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, तथापि वे भी हैं प्राकृत ही ।

पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीला-पुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है; श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है! इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिण और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं; फिर कोई शङ्का करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी

भागवती सृष्टि थी, भगवान्‌के संकल्पसे हुई थी । भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है । इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ, वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं ।

× × × ×

उन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है । भगवान्‌ने अगली रात्रियों-में उनके साथ विहार करनेका प्रेमसंकल्प कर लिया है । इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-लीलामें सम्मिलित करना है । वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है । उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा । 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है । जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम् ।'—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है । मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है । गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था । उनके पास स्वयं मन न था । अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्ण-ने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की । योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है, जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है । इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है ।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है । भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं । कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—'धर्म'के काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि 'अर्थ'के काममें लगी हुई थी, कोई साज-

श्रृङ्गार आदि 'काम'के साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि 'मोक्ष'-साधनमें लगी हुई थीं। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परंतु वास्तवमें उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं, उस विषयासक्तिशून्य संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादा-रहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्त्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलङ्करूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदी-के पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहीं-तक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

श्रीगोपांजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहती थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लङ्घन कर

एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है; क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वे ही कर सकते हैं, जो उसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परम फल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं। वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वतः ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्-प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें, वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकनेवालोंने रोका भी, परंतु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण शरीरसे जानेमें समर्थ न हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्के प्रेमालिङ्गनसे उनके समस्त पुण्योंका परम फल प्राप्त हो गया और वे भगवान्के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्के पास पहुँच गयीं। भगवान्में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभा-शुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं, तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे

रहित श्रीभगवान्‌की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् संताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया—उनके समस्त पाप नष्ट हो गये और प्रियतम भगवान्‌के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव हो जानेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है, उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्‌के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा, शिव आदिके भी वन्दनीय, निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु उन्होंने ऐसी भावभङ्गी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। कदाचित् गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात—प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा लगता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले तुम्हें ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातनधर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं

जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो, परंतु प्रेममें शारीरिक संनिधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सांनिध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारीजातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। उन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और उनके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं थीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती थीं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती थीं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करने योग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्‌के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्‌के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और भावकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य, सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—क्यों न पूर्ण हो? भगवान्‌ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।

जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके

साथ खेलता है, वैसे ही रमेशभगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरसप्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रस-परब्रह्म अखिल-रसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अङ्ग-सङ्ग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी इस जड जगत्में भी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, 'मान' और 'मद' ही भगवान्की लीलामें बाधक हैं। भगवान्की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्के पास रहनेपर भी उनका दर्शन नहीं कर सकते। परंतु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे, हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद'को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो ! मैं

तुम्हारे प्रेमभावका नित्य ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था!' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योग-सिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें एक साथ आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्‌को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वे ही अनेकों प्रकारकी शङ्का-कुशङ्काएँ किया करते हैं। भगवान्‌की निज लीलामें इन तर्कोंके लिये कोई स्थान नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्‌की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्‌के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वे ही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णको पराया समझें; वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल उनका अपना ही लीलाविलास है, सभी उनकी स्वरूपभूता आत्मस्वरूपा अन्तरङ्गा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा भी है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अङ्ग-सङ्ग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—(१) अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, (२) मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और (३) दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर पास रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परंतु परकीयाभावमें ये तीनों भाव उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। कुछ गोपियाँ जार-भावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्ण-के प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र-कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख-रेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पति-परायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह 'सकामभाव' छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपना सर्वस्व देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हल्की-सी प्रकाश-रेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्शस्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका था, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्‌की स्वरूपभूता हैं, या

जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लङ्घन कैसे कर सकती हैं ? और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लङ्घनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है ? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपञ्चाध्यायीपर अबतक अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे 'कामपर विजय' बतलाया है, किसीने 'भगवान्का दिव्य विहार' बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परंतु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसङ्ग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका 'काम'-मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्पर-तत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरङ्कुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन, एवं नायिकाएँ थीं स्वयं ह्लादिनी-शक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण (तूँबे)-जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही प्रतीत हो, तो इससे असलमें वह मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोड़े ही हो जाता है। क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है ? नहीं-नहीं, वह किसी भी

आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा सब ओरसे मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात अवश्य है। लोग समझते हैं कड़ुआ तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्द-घनविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरङ्गा अभिन्न-स्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो, वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको कभी नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरङ्ग-लीलाओंका अनुकरण करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा! श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपञ्चाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परंतु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड़ुई-गुड़ुएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनो-रञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक, जिनके अनेकों सद्गुण बाल्यकालमें

ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना स्नेह, कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए 'काम' 'रति' आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके परम त्यागमय प्रेमका ही नामान्तर 'काम' है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।' और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही 'रति' है—'आत्मनि यो रममाणः' 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्।' इसीलिये इस प्रसङ्गमें स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ, 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' आदि पद आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

राजा परीक्षित्ने अपने प्रश्नोंमें जो शङ्काएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है। उस उत्तरसे वे शङ्काएँ तो हट गयी हैं, परंतु भगवान्की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया, सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीला-प्रसङ्ग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत जगत्में व्याख्या की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यह इस जगत्की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय—रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसङ्गको भागवतमें क्षेपक मानते

हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं; क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसङ्ग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष सिद्ध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

रासपञ्चाध्यायीके पाठकोंको इतना तो निश्चयरूपसे अवश्य ही मान लेना चाहिये कि इसमें लौकिक कामगन्धके लेशकी भी कल्पना नहीं है। यह विभूतियुक्त दिव्य चिन्मय पूर्णशक्तिके साथ सच्चिदानन्दघन परिपूर्णतम भगवान्का अप्राकृत और अचिन्त्य पवित्रतम प्रेम-रसका महास्वादन है। इसीसे श्रीशुकदेवजीने इस रासलीलाके श्रवण-वर्णनका महान् तथा अपूर्व फल बतलाया है—'हृद्रोग कामका समूल नाश और प्रेमरूपा पराभक्तिकी प्राप्ति'। इससे सिद्ध है कि यह दिव्यरसका प्रवाह ही है, इसमें लौकिक काम-गाथाका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। कुछ महानुभाव रासको काम-विजय-लीला कहते हैं, दृष्टि-भेदसे यह भी ठीक है। परंतु यहाँ इस दिव्य प्रेमराज्यमें तो कभी नीच कामके प्रवेशकी ही कल्पना नहीं है। तब काम-विजय कैसे होता। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

'व्रजवधुओंके साथ भगवान्की इस रासक्रीड़ाका जो संशयरहित मनसे श्रद्धाके साथ श्रवण और कीर्तन करेगा, वह शीघ्र ही भगवान्की प्रेमा—पराभक्तिको प्राप्त होगा और उसके हृद्रोग—कामका सर्वथा विनाश हो जायगा।'

असलमें भगवान्की इस दिव्यलीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो स्व-सुखकी वाञ्छासे रहित केवल श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये है, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। अतः रासपञ्चाध्यायीका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शङ्का न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये तथा श्रद्धायुक्त हृदयसे इसे भगवान्की पवित्रतम लीला समझकर ही पढ़ना-सुनना चाहिये।



श्रीकृष्ण-लीलाके अन्ध-अनुकरणसे हानि

भगवान् श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और भगवान् श्रीकृष्ण लीला-पुरुषोत्तम। दोनों एक हैं। एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा भिन्न-भिन्न लीलाओंके लिये दो युगोंमें दो रूपोंमें अवतीर्ण हुए। इनमें बड़े-छोटेकी कल्पना करना अपराध है। श्रीरामरूपमें आपकी प्रत्येक लीला सबके अनुकरण करनेयोग्य मर्यादारूपमें होती है, रामरूपकी लीलाओंका रहस्य अत्यन्त निगूढ़ होनेपर भी बाह्यरूपसे सबकी समझमें आ सकता है और बिना किसी बाधाके अपने-अपने अधिकारानुसार सभी उसका अनुकरण कर सकते हैं, वह सीधा राजमार्ग है; परंतु भगवान्‌की श्रीकृष्णरूपमें की गयी कुछ लीलाएँ बाहर-भीतर दोनों ही प्रकारसे निगूढ़ और रहस्यमय हैं। इनका समझना अत्यन्त ही कठिन है और बिना समझे अनुकरण करना तो हलाहल विष पीना अथवा जान-बूझकर धधकती हुई आगमें कूद पड़ना है। यह बड़ा ही कण्टकाकीर्ण और ज्वालामय मार्ग है। अतएव सर्वसाधारणके लिये सर्वथा समझने, मानने और पालन करने योग्य महान् उपदेश भगवान्

श्रीकृष्णकी भगवद्गीता है और सर्वतोभावसे अनुकरण करने योग्य भगवान् श्रीरामकी मर्यादायुक्त लीलाएँ हैं ।

जिन लोगोंने बिना समझे-बूझे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका अनुकरण किया, वे स्वयं डूबे और दूसरे अनेक निर्दोष नर-नारियोंको डुबानेका कारण बने । अग्नि पी जाने, पहाड़ अँगुलीपर उठा लेने, कालिय नागको नाथने आदि क्रियाओंका अनुकरण तो कोई क्यों करने लगा और करना भी शक्तिके बाहरकी बात है; अनुकरण करनेवाले तो बस, चीर-हरण, रासलीला और श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाओंका अनुकरण करते हैं । इन लीलाओंके महान् उच्च आध्यात्मिक भावको समझनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपनी वासनामयी वृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये इनके अनुकरणके नामपर वास्तवमें पाप किया जाता है । ऐसा कहा जाता है कि 'भगवत्प्रेममें वैराग्यकी कोई आवश्यकता नहीं, त्यागकी अपेक्षा नहीं । श्रीप्रियाप्रियतमके प्रेममें तो केवल शृङ्गार और भोगका ही प्रयोजन है ।' बल्कि यहाँतक भी कह दिया जाता है कि युगल-सरकारके चरणोंके सेवक बन जाओ; फिर चोरी-जारी, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य—जो कुछ भी करते रहो, कोई आपत्ति नहीं है । मेरी समझसे ये सारी बातें अपनी दुर्बलताओंको छिपाने, भगवद्भक्तिके नामपर विषयोंको प्राप्त करने, कपट-प्रेमी बनकर पाप कमाने और भोले नर-नारियोंको ठगकर अपनी बुरी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये कही जाती हैं । सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी आत्म-स्वरूपिणी जगज्जननी श्रीराधिकाजीका चरण-सेवक बनकर भी क्या कोई कभी चोरी-जारी आदि पापकर्म कर सकता है ? भगवान्‌के सच्चे मनसे लिये हुए एक नामसे ही जब सारे पापोंका समूह भस्म हो जाता है, तब भगवान्‌के चरणसेवकोंमें तो पाप-प्रवृत्ति रह ही कैसे सकती है । वैराग्य और त्याग तो भगवद्भक्तिकी आधार-शिला हैं । जो अपने मनसे विषयोंका त्याग नहीं करता, भोगोंकी स्पृहा नहीं छोड़ता, वह भगवान्‌का भक्त ही कैसे बन सकता है । भक्तको तो अपना सर्वस्व, लोक-परलोक और मोक्षतक भगवान्‌के चरणोंपर निछावरकर सर्वथा अकिंचन बन जाना पड़ता है । भगवत्प्रेमी भोगी कैसे हो सकता है । अतएव जो भगवत्-प्रेमके नामपर

भोगका उपदेश करते हैं, उनसे और उनके उपदेशोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। दुःखकी बात है कि श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीका भ्रान्त-अनुकरण करने जाकर काम-वासनासे स्त्रियोंसे मिलने-जुलनेमें तो कोई आपत्ति नहीं मानी जाती, यहाँ तो भगवान्‌के लीला-अनुकरणका नाम लिया जाता है, परंतु उस श्रीमद्भागवतके 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्' 'आत्मवान्‌को चाहिये कि वह स्त्रियोंके ही नहीं, स्त्रीसङ्गियोंके सङ्गको भी दूरसे त्याग दें'—इस उपदेशपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णप्रेमके एवं माधुर्यरसके मर्मको समझनेवाले तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु थे, जो मधुररसके उपासक होकर भी धन और स्त्रीसे सर्वथा दूर रहते थे।

यद्यपि कई कारणोंसे आजकल प्रकटमें प्रायः ऐसी पाप-क्रियाएँ कम होती हैं, परंतु गुप्तरूपसे इन भावोंका प्रचार और प्रसार अब भी कम नहीं है। ये भक्ति और भगवत्प्रेमके विघातक हैं। कवियोंने व्यास-शुकदेवके मर्मको न समझकर अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मनमानी रचना की; तपस्वी, भक्त और मर्मज्ञ पुरुषोंको छोड़कर शेष गुरु, भक्त और उपदेशक कहलानेवाले लोगोंने मनमाना कथन और कार्य किया। शृङ्गारके गंदे-गंदे गीतोंमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाका समावेश किया गया और दुष्ट विषयी पुरुषोंने इन लीलाओंकी आड़ लेकर पापकी परम्परा चला दी। इससे हिंदू-जातिका जो घोर अमङ्गल हुआ है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भी सब लोगोंको चेतकर भगवान् श्रीकृष्णकी गीताके दिव्य उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनाना चाहिये। भगवान्‌के इन शब्दोंको सर्वथा और सर्वदा याद रखना चाहिये—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे और आत्माको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं; इसलिये इन तीनोंको सर्वथा त्याग देना चहिये।



श्रीकृष्ण-लीलानुकरण हानिकारक

× × × जो लोग श्रीकृष्णका स्वाँग सजकर गोपीभावसे स्त्रियोंसे पूजा कराते हैं, मेरी तुच्छ समझसे वे बड़ी भारी भूल करते हैं। यह सत्य है कि यह सारा जगत् परमात्माकी अभिव्यक्ति है, इसके निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही होनेसे यह परमात्मस्वरूप ही है, और इस दृष्टिसे देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—सभीको परमात्माका स्वरूप समझना आवश्यक है; परंतु परमात्माका यह पूर्ण रूप नहीं है। यह तो अंशमात्र है। यद्यपि सब कुछ परमात्मा है, किंतु परमात्मा यह 'सब कुछ' ही नहीं है—परमात्मा इस 'सब कुछ' से परे अनन्त है। और वह अनन्त परमात्मा श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, इससे श्रीकृष्णसे ही सब व्याप्त हैं—यह ठीक ही है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९। ४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा ही है—'मेरी अव्यक्त मूर्तिसे (परमात्मा विभुसे) सारा जगत् व्याप्त है।' परंतु यही (जगत् ही) श्रीकृष्ण नहीं है। अतएव श्रीकृष्णका स्वाँग रासलीलाके खेलमें चाहे आ सकता है; परंतु कोई मनुष्य वस्तुतः श्रीकृष्ण बनकर लोगोंसे अपनेको पुजवाये यह तो बहुत ही अनुचित है और पूजनेवाले भी बड़ी भूल करते हैं। माना कि स्त्रियाँ श्रद्धालु हैं, भले घरोंकी हैं और शुद्ध भावसे ही ऐसा करती हैं; परंतु यह क्रिया वास्तवमें आदर्शके विरुद्ध और हानिकारक है। यह भी माना कि महात्मा निर्विकार हैं, परंतु उनका भी आदर्श तो बिगड़ता ही है। और यदि वे साधक हैं तो इस निर्विकारताका बहुत दिनोंतक टिकना भगवान्की असीम कृपासे ही सम्भव है। ऐसी स्थितिमें जो लोग शुद्ध भावसे इस कार्यका प्रतिवाद करते हैं, वे न तो कोई दोष करते हैं और न अनुचित ही करते हैं। मेरी समझसे यदि उनका भाव द्वेषरहित और शुद्ध है तो वे पापके भागी नहीं होते।

श्रीकृष्ण मेरी समझसे महापुरुष या सिद्ध महात्मा ही नहीं हैं, वे साक्षात् परब्रह्म, पूर्णब्रह्म सनातन पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं। उनका शरीर पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं है, वे नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह हैं और गोपीजन भी दिव्यशरीरयुक्ता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत दिव्य मूर्तियाँ हैं। पद्मपुराणमें श्रीगोपीजनोंके सम्बन्धमें कहा गया है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कदाचन॥

'गोपियोंको श्रुतियाँ, ऋषियोंका अवतार, देवकन्या और गोपकन्या जानना चाहिये। वे मनुष्य कभी नहीं हैं।'

अखिलरससागर रसराजशिरोमणि जगत्पति श्रीभगवान्‌की प्रेयसी इन महाभाग्यवती दिव्यविग्रहधारिणी गोपियोंमें कुछ तो 'नित्यसिद्धा' हैं, जो अनादिकालसे भगवान् श्रीकृष्णके साथ दिव्य लीला-विलास करती हैं। कुछ पूर्वजन्ममें श्रुतियोंकी अधिष्ठात्री देवता हैं, जो 'श्रुतिपूर्वा' कहलाती हैं; कुछ दण्डकारण्यके सिद्ध ऋषि हैं, जो 'ऋषिपूर्वा'के नामसे ख्यात हैं; और कुछ स्वर्गमें रहनेवाली देवकन्याएँ हैं, जो 'देवीपूर्वा' कहलाती हैं। पिछले तीनों वर्गोंकी गोपिकाएँ 'साधनसिद्धा' हैं। नित्य-सिद्धा गोपीजनोंमें श्रीराधाजी मुख्य हैं, और चन्द्रावलीजी, ललिताजी, विशाखाजी आदि उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं; ये 'गोपकन्या' कहलाती हैं। साधनसिद्धा गोपियाँ पूर्वजन्ममें श्रीकृष्ण-सेवा-लालसासे साधनसम्पन्न होकर इस जन्ममें गोपीगृहोंमें अवतीर्ण हुई थीं और नित्यसिद्धा गोपीजनोंके सत्सङ्ग, सहयोग और सेवनसे दिव्यरूपताको पाकर इन्होंने श्रीकृष्णका दिव्य चरण-सेवाधिकार प्राप्त किया था। न तो ये गोपियाँ परस्त्रियाँ थीं और न अखिल विश्व-ब्रह्माण्डके स्वामी, आत्माओंके आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही परपुरुष या उपपति थे। प्रेम-रसास्वादनके लिये—प्रेममार्गके साधनकी अत्युच्च भूमिकाके शिखरपर महात्माओंको भगवत्कृपासे जो सिद्धिरूपा चरमानुभूति होती है, उसी अतुलनीय दिव्य प्रेमका वितरण करनेके लिये 'जगत्पति'ने

'उपपति'का और उनकी नित्यसङ्गिनी नित्यकान्तास्वरूपा शक्तियोंने 'परस्त्री'का साज सजा था । यह रास—यह गोपी-गोपीनाथका मिलन हमारे मलिन मिलनकी तरह गंदे कामराज्यकी वस्तु नहीं है, पाञ्चभौतिक देहोंके गंदे काम-विकारका परिणाम नहीं है। यह तो परम अद्भुत, परम विलक्षण—जिसकी एक झाँकीके लिये बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कैवल्य-प्राप्त महापुरुषगण तरसते रहते हैं—दिव्य लीला है। इसका अनुकरण कोई भी मनुष्य कदापि नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही ऊँची स्थितिमें हो। इस लीलाका अनुकरण करने जाकर जो पर-स्त्री और पर-पुरुष परस्पर प्रेमका सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं, वे तो घोर नरक-यन्त्रणाकी तैयारी करते हैं। सचमुच उनमें सच्चा प्रेम है ही नहीं। वे तो तुच्छ कामके गुलाम हैं और प्रेमके नामको कलङ्कित करते हैं। सच्चा प्रेम तो एक श्रीभगवान्‌से ही होता है। प्रेममें प्रेमके सिवा और कोई कामना-वासना रहती ही नहीं। जगत्‌में परोपकारतकके कार्योंमें आत्म-तृप्तिकी एक वासना रहती है। जगत्‌का कोई भी जीव आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा बिना—चाहे वह अत्यन्त ही क्षीण हो—किसीसे प्रेम नहीं करता। और जिसमें आत्मेन्द्रिय तृप्तिकी वासना है, वह प्रेम प्रेम नहीं है। आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे रहित एकनिष्ठ प्रेम तो आत्माओंके आत्मा, हमारे आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है। जो पर-स्त्री और पर-पुरुष इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे—चाहे वह बहुत सूक्ष्म वासनाके रूपमें ही हो—प्रेमका स्वाँग सजते हैं, वे वस्तुतः अपना महान् अनिष्ट करते हैं। वासना बढ़कर प्रबल रूप धारण करते देर नहीं लगती। आगमें ईंधन डालनेसे जैसे आग बढ़ती है, वैसे ही भोग्य वस्तुकी प्राप्तिसे भोगतृष्णा बढ़ती है और उसके परिणाममें इस लोक और परलोकमें प्राप्त होते हैं—निन्दा, भय, क्लेश, कष्ट और अनन्त नरक-यन्त्रणा !

शास्त्र कहते हैं—

यस्त्विह वै अगम्यां स्त्रियं पुरुषः, अगम्यं वा पुरुषं योषिद्-भिगच्छति, तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या ।

अर्थात् 'कोई पुरुष यदि अगम्या स्त्रीमें गमन करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे गमन करती है (अगम्य वही है, जिससे विवाह न हुआ हो) तो उनके मरनेपर यमदूत उनको मारते हुए ले जाते हैं और वहाँ जलती हुई लोहेकी स्त्रीमूर्तिसे पुरुषका और पुरुषमूर्तिसे स्त्रीका आलिङ्गन कराते हैं। इस नरकका नाम 'तप्तसूर्मि' है।'

इसके बाद जब स्थूलदेहमें जन्म होता है, तब उन्हें कई जन्मोंतक नाना प्रकारके भयानक रोगोंसे पीड़ित रहना पड़ता है।

अतएव इस मायिक जगत्में श्रीकृष्णकी और गोपियोंकी दिव्य लीलाका अनुकरण कदापि नहीं हो सकता, न ऐसा दुस्साहस किसीको कभी करना ही चाहिये।

हाँ, जिनके अन्तःकरण परम विशुद्ध हो गये हैं, इस लोक और परलोकके भोगोंकी सारी वासना जिनके मनसे मिट चुकी है, जो मुक्तिका भी तिरस्कार कर सकते हैं, ऐसे पुरुषोंमें यदि किन्हीं महापुरुषकी कृपासे श्रीकृष्णसेवाकी लालसा जग उठे और भुक्ति-मुक्तिकी सूक्ष्म वासनातकका सर्वथा अभाव होकर शुद्ध प्रेमा-भक्ति प्राप्त हो, तब सम्भव है गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्ण उन्हें उपपतिके रूपमें प्राप्त हो सकें। अतएव यदि गोपियोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना हो तो वह परम पुरुष श्रीकृष्णके लिये करना चाहिये, न कि हाड़-मांसके घृणित पुतले पर-पुरुष या पर-स्त्रीके लिये।

शरीरसे तो अनुकरण कोई भी नहीं कर सकते। परंतु भावसे भी, जिनमें तनिक भी निजेन्द्रिय-तृप्तिकी वासना है, जो पवित्र और परम वैराग्यकी स्वच्छ भूमिकापर नहीं पहुँच गये हैं, वे पुरुष या स्त्री यदि श्रीगोपी-गोपीनाथकी लीलाओंका अनुकरण करना चाहेंगे तो उनकी वही दशा होगी, जो सुन्दर फूलोंके हारके भरोसे अत्यन्त विषधर नागको गलेमें पहननेवालोंकी होती है। पाञ्चभौतिक देहधारी स्त्री-पुरुषको तो श्रीकृष्णकी लीलाकी तुलना अपने कार्योंसे करनी ही नहीं चाहिये। × × × ×



भगवान्‌की सब लीलाओंका अनुकरण नहीं हो सकता

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । भगवान्‌की अवतार-लीलाओंके सम्बन्धमें कुछ भी संदेह न करके ऐसा मानना चाहिये कि वे भगवान् हैं, सर्वसमर्थ हैं, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं—चाहे जैसे, चाहे जो, चाहे जब कर सकते हैं, उनके लिये सभी कुछ ठीक है । पर हमें अनुकरण उन्हीं बातोंका करना चाहिये, जिनके लिये उनका तथा उनकी ही वाणीरूप शास्त्रोंका आदेश हो । और सच बात तो यह है कि भगवान्‌की सारी लीलाओंका अनुकरण किया भी नहीं जा सकता ।

भगवान्‌की लीलाएँ प्रधानतया तीन प्रकारकी होती हैं—१. लोकसंग्रह या लोकशिक्षाके लिये की जानेवाली आदर्श लीला, २. अद्भुत, असम्भव जान पड़नेवाली ऐश्वर्यमयी लीला और ३. 'अन्तरङ्ग प्रेमी भक्तोंके साथ की जानेवाली प्रेममयी लीला ।

(१) माता-पिताकी भक्ति, गुरुकी भक्ति, ब्राह्मण-भक्ति, सदाचार, देवपूजन, दीनरक्षण, इन्द्रियनिग्रह, ध्यान-पूजन, सत्य व्यवहार, निष्कामभाव, अनासक्ति, समत्व, नित्य आनन्दमें स्थिति आदि यथायोग्य अनुकरण करने योग्य आदर्श लीलाएँ हैं । इनका अनुकरण अपने-अपने अधिकारके अनुसार किया जा सकता है और करना ही चाहिये । भगवान्‌का आदेश भी है ऐसा करनेके लिये ।

(२) अग्नि पीना, वरुणलोकमें जाना, अँगुलीपर सात दिनोंतक पर्वत उठाये रखना, कई प्रकारसे अपने विराट्रूपके दर्शन कराना, अघासुर-शिशुपाल आदिके मरनेपर उनकी आत्मज्योतिको अपनेमें विलीन कर लेना, हजारों-लाखों मनुष्योंके साथ विभिन्न भावोंसे एक ही साथ मिलना, हजारों रानियोंके महलोंमें एक साथ रहना, दो जगह एक ही साथ एक ही समय आतिथ्य स्वीकार करना, सूर्यको ढक देना, असंख्य गोवत्स, गोपबालक तथा उनकी प्रत्येक वस्तुके रूपमें स्वयं बन जाना, ब्रह्माजीको सबमें भगवत्स्वरूपके तथा महान् ऐश्वर्यके दर्शन कराना, अक्रूरको जलमें दर्शन कराना, मारकर असुरोंका उद्धार करना आदि ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं। इनका अनुकरण साधारण मनुष्यके द्वारा सर्वथा असम्भव है।

(३) गोपियोंके घरोंसे माखन चुराकर खाना, चीरहरण, रासलीला और निकुञ्जलीला आदि अन्तरङ्ग मधुर प्रेमलीलाएँ हैं, जिन्हें भगवान् अपने आत्मस्वरूप पार्षदोंके तथा प्रेमियोंके साथ अनर्गल-अमर्यादरूपमें श्रुति-सेतुका भङ्ग करके अपने-आपमें ही किया करते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।

'रमानाथ भगवान्ने व्रजसुन्दरियोंके साथ वैसे ही खेल किया, जैसे बालक अपनी छायाके साथ करता है।'

इन मधुर लीलाओंका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये। जो मूढ़ इनका अनुकरण करने जाता है, वह शास्त्र और धर्मसे च्युत होकर घोर नरकका अधिकारी होता है!

वस्तुतः इन तीनों प्रकारकी लीलाओंमें केवल पहली लीला ही अनुकरणके योग्य होती है। पिछले दोनों प्रकारकी लीलाएँ तो श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यान करके भगवान्के प्रति भक्ति तथा प्रेम प्राप्त करनेके लिये हैं। शुद्ध मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्की ऐश्वर्य और माधुर्यसे भरी लीलाओंका चिन्तन करना चाहिये और आदर्श लोकशिक्षामयी लीलाओंको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

बिखरे सुमन

१—भगवान्‌के कर्म भगवान्‌के स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं। इसीलिये भगवान्‌के कर्मोंका नाम कर्म नहीं, लीला है। लीला सच्चिदानन्दस्वरूपका चित्स्वरूपविलास है। जैसे समुद्रकी तरङ्गें समुद्रका ही विलास हैं, वैसे चिद्-घन-सिन्धु भगवान्‌की लीला चित्स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

२—भगवान्‌की अचिन्त्य महाशक्तिमें विश्वास किये बिना लीलामें रस नहीं आयेगा। उसमें स्थान-स्थानपर संदेह उत्पन्न होगा या उन लीलाओंका आध्यात्मिक अर्थ लगाकर उनका माधुर्य नष्ट कर दिया जायगा। भगवान्‌की लीलावली भक्तोंके सामने नित्य सत्य है और वास्तवमें तो सत्य है ही।

३—लोगोंके देखनेमें वृन्दावनधाम आठ कोस लंबा तथा चार कोस चौड़ा है, पर भगवान्‌का धाम अचिन्त्य चिन्मयस्वरूप है। उसके एक-एक धूलिकणमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका समावेश हो सकता है और है।

४—भगवान्‌की प्रकट लीलामें जितने भी लीलासहचर वात्सल्य, सख्य एवं मधुरभाव रखनेवाले हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; क्योंकि वे सभी भगवान्‌के लीला-पार्षद हैं। उनके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, स्फुरणा होती है, वे जो कुछ भी करते हैं, करनेकी चेष्टा करते हैं, सब भगवान्‌की

इच्छा-शक्तिसे समन्वित लीलाशक्तिके द्वारा होता है तथा वह सब भगवान्‌की लीलाका उपकरण है ।

५—भगवान्‌की बाललीलाएँ ठीक प्राकृत बालकोंकी भाँति होती हैं । उनमें अप्राकृत भाव देखनेको नहीं मिलता । अप्राकृतका यह विचित्र प्राकृतानुकरण देखनेमें बड़ा मनोहर होता है । × × × × जिनके संकल्पसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन, संचालन होता है, उनकी प्राकृत लीलाको देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि ये सर्वेश हैं कि नहीं । × × × × यदि कोई उनके चरणोंकी शरण लेकर माधुर्य ग्रहण करना चाहे तो उसे ज्ञात होगा कि अप्राकृतकी यह प्राकृत लीला कितनी मधुर है । भगवान्‌की 'भक्तवत्सलता' एवं 'प्रेमाधीनता'का यहीं पता लगता है । अखिलब्रह्माण्ड-पालक होकर भी वे अपने असीम ऐश्वर्यका तनिक-सा भी प्रकाश न करके साधारण बालकोंके साथ ठीक बालक होकर खेलते हैं । पर ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वे कोई दम्भ करते हैं; वे सचमुच ही खेलते हैं, सचमुच ही उन्हें इसमें आनन्द मिलता है । आनन्दको आनन्द देना, आनन्दमयमें आनन्दकी कामना—स्पृहा उत्पन्न करना, यह प्रेमी भक्तोंका ही काम है । आनन्दका रस लेनेके लिये ही भगवान् वात्सल्य, सख्य, मधुर आदि प्रेमी भक्तोंके अनुरूप लीला करते हैं । अप्राकृतकी लीला अप्राकृत है, पर देखनेमें प्राकृत-सी है । प्रेमी भक्तोंको सुख हो, भगवान् उसी प्रकारकी लीलाएँ करते हैं । प्रेमियोंके सुखमें उन्हें सुख होता है । × × × उनके श्रीकृष्ण आदि अवतारोंकी लीलाएँ नयी नहीं हैं; वे तो नित्य होती हैं और नित्य होती रहेंगी—यह नहीं कि पहले नहीं थीं, अब प्रकट हुई हैं । भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ भी नित्य हैं । इनमें मायिक जगत्‌का काम नहीं । जो भक्त इनमें आनन्द लेते हैं, वास्तविक रूपमें वे ही भाग्यवान् हैं ।

६—लीलाशक्ति एवं कृपाशक्ति भगवान्‌की समस्त शक्तियोंमें प्रधान हैं । कोई भी शक्ति इन दोनों शक्तियोंके विरोधमें आत्मप्रकाश नहीं करती । सारी शक्तियाँ इन दोनों शक्तियोंके प्रकाशके लिये ही कार्य करती हैं और सदा इनके अनुगत होकर चलती हैं ।

७—भगवान् दम्भ नहीं करते, न नाट्य करते हैं। भगवान्‌की जितनी भी प्रेमलीलाएँ होती हैं, उनमें, भगवान् जानते हुए भी अनजानकी भाँति काम करते हों, यह बात नहीं है। उनकी प्रत्येक लीला सच्ची है। लीलाशक्तिकी इच्छासे वहाँ सर्वज्ञताशक्ति भी छिपी रहती है, यह उनकी प्रेमाधीनता है।

८—जीवकी तुच्छ शक्तिके काँटेपर जब हम भगवान्‌की क्रियाओंको तौलने जाते हैं, तब विफल ही होते हैं। पर यदि अपनी शक्तिको भूलकर श्रीकृष्णकी अचिन्त्य शक्तिकी ओर ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि उनकी अचिन्त्य शक्तिके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।

९—लीलामयके लीला-सिद्धान्तको समझनेके लिये लीलामयके चरणोंकी शरण लेनी चाहिये। जो अपनी विद्या, पुरुषार्थ और अपनी शक्तिके बलपर उनको समझना चाहता है, जानना चाहता है, वह न तो भगवान्‌को समझ ही सकता है और न जान ही सकता है। वह यथार्थ वस्तुको जान नहीं सकता और उसमें अपनी मायिक बुद्धिसे, मायिक समझसे प्राकृतभाव घर कर बैठता है। × × × × भगवान्‌की लीलाको समझनेके लिये भगवान्‌की कृपापर भरोसा करना, अचिन्त्य महाशक्तिकी शरण लेना तथा श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय ग्रहण करना चाहिये; नहीं तो विपरीत धारणा हो जाती है, विश्वास नहीं होता और उस लीलामें रूपक, कल्पना, माया, नाट्य, दृष्टान्त, प्रक्षिप्तता आदि दोषबुद्धि आ जाती है। इस प्रकार हम लीलाकथा सुनकर अविश्वास करके नाना प्रकारके अपराध कर बैठते हैं। हमारे पापके साथ-साथ वक्ताको भी पापका भागी होना पड़ता है। जो श्रीकृष्णलीलामें रंचमात्र भी अविश्वास करते हों, जो अपनी विद्वत्ताके कारण उसे रूपक, कल्पना आदि बताते हों, उनके सामने लीला-कथा नहीं कहनी चाहिये। श्रीकृष्ण-लीला उन्हींके सामने कहनी चाहिये, जो तर्कके स्थानपर विश्वास रखते हों तथा जो श्रद्धापूर्वक लीलाकथा सुनना चाहते हों। भगवान्‌की लीला अत्यन्त गुह्य है।

१०—भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य तो सर्वत्र व्याप्त है, उसे देखनेके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता; पर उनका माधुर्य बड़ा गोपनीय है, उसका

प्रकाश उनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता । उनका माधुर्य तो उनकी मुग्धतामें ही है । वे जब बहुत बड़े होकर भी बहुत छोटे बनते हैं, ज्ञानमय होकर भी अज्ञ बनते हैं, प्रेमी भक्तोंके साथ मिलन एवं विरहकी लीला करते हैं, उस समय उनका माधुर्य-सिन्धु उमड़ता है और उसमें अनन्त एक-से-एक विलक्षण विविध तरङ्गें लहराने लगती हैं, जिससे सारा जगत् परमानन्द-सुधासे आप्लावित हो जाना है ।

११—व्रजकी गोपियाँ वात्सल्य और मधुर प्रेमकी कल्पलताएँ हैं, जो श्रीकृष्णरूपी दिव्य कल्पवृक्षसे नित्य लिपटी रहती हैं ।

१२—भक्तोंका आनन्द बढ़ानेके लिये भगवान्का सच्चिदानन्दस्वरूप आनन्दसमुद्र उमड़ता है, इसी कारण भगवान् भक्तका आनन्द बढ़ानेके लिये अपनी हार भी स्वीकार करते हैं ।

१३—भक्त और भगवान्में जब होड़ लग जाती है, तब भगवान् अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं । यह भगवान्की प्रेमाधीनता है । भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा भगवान् अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भी करते हैं । वे तो नित्य-विजयी हैं, उन्हें कौन हराये ? पर भगवान् और भक्तकी होड़में भगवान् हार जाते हैं ।

१४—भगवान्की लीला-माधुरी और भक्तका प्रेम आपसमें होड़ लगाये रहते हैं । भगवान्की लीला भक्तके प्रेमको बढ़ाती रहती है और भक्तका प्रेम भगवान्की लीलाको । जिस प्रकार दर्शक और अभिनेता दोनों मिलकर अभिनय-माधुरीका उपभोग करते हैं, वैसे ही भक्त और भगवान् मिलकर लीला-माधुरीका आस्वादन करते हैं ।

१५—परस्पर विरुद्ध धर्मोंका युगपत्—एक ही समय साथ-साथ समावेश और समन्वय भगवान्का स्वाभाविक गुण है । भगवान्के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इस विरोधका समन्वय नहीं है । भगवान् अनन्त ऐश्वर्यवान् होकर भी लीलामें माँ यशोदासे एक-एक वस्तु माँगते हैं । सर्वथा सद्गुणरूप होनेपर भी चोरी करते हैं । नित्य तृप्त होकर भी माता यशोदाके स्तन्य-पानके लिये अतृप्त—आतुर रहते हैं ।

अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः ।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः ॥

वे स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है । स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी हैं । वे अवर्ण—सब प्रकारसे वर्णविहीन होते हुए ही श्यामवर्ण तथा अरुण-कमल-लोचन हैं । 'नृसिंहतापिन्युपनिषद्'में आया है—

'तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तम-महान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम् ।'

भगवान् 'तुरीय' हैं—(विराट्, हिरण्यगर्भ, कारणसे या जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे अतीत चतुर्थ—तुरीय हैं), साथ ही 'अतुरीय' हैं—(सबके ईक्षणकर्ता, अन्तर्यामी, सबके आत्मा या सब अवस्थाओंके आधार होनेसे सर्वरूप 'अतुरीय' हैं) । चेतन 'आत्मा' भी भगवान् हैं, साथ ही जड 'अनात्मा'—अनात्मवस्तु भी भगवान् हैं । भगवान् 'उग्र' हैं—हिरण्यकशिपुका वध करनेके समय भगवान् इतने उग्र आकृतिके थे कि देवता और लक्ष्मीजीतक उन्हें देखकर डर गये, उसी समय वहीं वे भक्तचूडामणि प्रह्लादके लिये 'अनुग्र'—परम शान्त हैं । अघ-बकादि असुरोंका संहार करनेके लिये वे महान् 'वीर' हैं, साथ ही गोप-बालक आदि प्रेमी भक्तोंके सामने 'अवीर' सदा ही पराजित हैं । वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको अपने एक-एक रोमकूपमें धारण करनेवाले 'महान्' हैं, साथ ही यशोदा मैयाकी छोटी-सी गोदमें नन्हे-से शिशुरूपमें विराजित 'अमहान्'—क्षुद्र हैं । वे 'विष्णु'—सर्वव्यापी हैं और लीलाविग्रहरूपमें भक्तोंके प्रेमानुरूप आकृतिवाले 'अविष्णु' एकदेशीय हैं । वे नेत्रोंकी तीव्र ज्वालासे असुरसमूहको भस्म करनेवाले 'ज्वलन्त' हैं, साथ ही भक्तोंके लिये परम स्निग्ध शान्त नयनानन्द-दाताके रूपमें प्रकट 'अज्वलन्त' हैं । भगवान् 'सर्वतोमुख' हैं—उनके हाथ, पैर, नेत्र, सिर और मुख सब ओर हैं (सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) और वृन्दावनादि मधुर लीलामें वे 'असर्वतोमुख'—दो हाथ, दो चरण, दो नेत्र तथा एक मुखवाले लीलाविग्रहरूपसे आनन्द बढ़ाते रहते हैं ।

वे निर्गुण रहते हुए ही सगुण हैं, निराकार रहते ही साकार हैं,

पूर्णकाम होते हुए ही सकाम हैं और अजन्मा रहते हुए ही जन्म धारण करते हैं। वे सब कुछ हैं, साथ ही सबसे अतीत हैं।

वस्तुतः यह विरुद्धधर्माश्रयता ही भगवान्‌की भगवत्ता है। इसको बिना समझे उनकी लीलाओंका सामञ्जस्य नहीं हो सकता, परम मधुर लीलारसका आस्वादन नहीं हो सकता और न अचिन्त्य ऐश्वर्यका ज्ञान ही हो सकता है। इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूपज्ञानमें कमी रह जाती है। भगवान्‌का रोना, क्रोध करना, स्तनका दूध पीने आदिके लिये व्याकुल होना न तो प्राकृतिक है और न काल्पनिक ही। यह उनका 'प्रेमाधीनता' रूप नित्य स्वाभाविक गुण है।

१६—बालस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका क्रोध एवं अश्रुजल दर्शकोंको प्रसन्न करनेके लिये किया जानेवाला नाट्य—अभिनय नहीं है, वह तो श्रीकृष्णके आन्तरिक बाल्यभावकी मधुर अभिव्यक्ति है। भगवान् दम्भ भी नहीं करते। 'भगवान्‌को वास्तवमें दुःख थोड़े ही हुआ था, उन्होंने तो छल किया था'—ऐसे विचारोंसे रस नष्ट हो जाता है। ऐसे विचारोंसे तो भगवान्‌की माधुरी एवं भक्तका वात्सल्य दोनों खो दिये जाते हैं।

१७—आन्तरिक भावकी बाह्य अभिव्यक्ति किसी दर्शक या अनुमोदककी अपेक्षा नहीं करती। आन्तरिक भावका स्वाभाविक विकास वहीं होता है, जहाँ जन-समूह नहीं होता। जन-समूहमें कारण उपस्थित होनेपर भी आन्तरिक भाव प्रकट नहीं होता। अकेलेमें निस्संकोच भावसे आन्तरिक भाव प्रकट होते हैं। किसीके असली स्वभावको जानना हो तो 'वह अकेलेमें क्या करता है' इसे देखना चाहिये; इससे उसका वास्तविक रूप प्रकट होगा। श्रीकृष्णने यशोदा मैयाके दूध उतारने चले जानेपर अकेलेमें क्रोध करके दहीके मटकेको फोड़ डाला था और भग गये थे। यह दिखानेका नाट्य नहीं था, असली भाव था।

१८—मधुर लीला, प्रेमी पार्षदोंका अधिक जुटाव, रूप-माधुर्य और वेणु-माधुर्य—ये चार प्रकारके माधुर्य श्रीव्रजराजनन्दनमें विशेषरूपसे विद्यमान हैं और ये व्रजमें ही रहते हैं, उनके साथ मथुरा और द्वारका नहीं जाते।

१९—भगवान्‌के प्रेम-रहस्यको प्रेमी भक्त खोलना नहीं चाहते और न खुलवाना ही चाहते हैं।

२०—श्रीयशोदाजीके हृदयमें अपने पुत्र श्रीकृष्णके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। प्रेम भावमय होता है। उनके हृत्-पटलपर भगवान् श्रीकृष्णका बाल-विग्रह सदा अङ्कित रहता है; क्योंकि उनका हृत्-पट भावरस-आप्लावित है।

२१—भगवान्के जितने वस्त्र हैं, अलंकार हैं, अस्त्र-शस्त्रादि हैं, सब-के-सब दिव्य, चेतन एवं सच्चिदानन्दमय हैं और भगवत्स्वरूप हैं। वे वैसे अदृश्य रहते हैं, पर समय-समयपर किसी घरवालेके या भक्तके माध्यमसे प्रकट हो जाते हैं। यशोदा मैया जब श्रीकृष्णको कोई आभूषण आदि पहनाती हैं, तब भगवान्के वे अदृश्य आभूषण आदि किसी-न-किसी रूपमें उनके कोषागारमें प्रकट हो जाते हैं और उन्हीं आभूषणोंसे मैया उनका शृङ्गार करती हैं; किंतु भक्तको अथवा घरवालोंको यह ज्ञात नहीं होता कि भगवान्के दिव्य आभूषण प्रकट हुए हैं और वह उनके द्वारा उनका शृङ्गार कर रहा है।

२२—भगवान्की लीलाके सम्बन्धमें जिस समय कोई संदेह होता है, उस समय वस्तुतः हम भगवान्को भगवान् नहीं मानते, उन्हें अपनी श्रेणीमें ले आते हैं; नहीं तो, कोई संदेह हो ही नहीं सकता। भगवान्का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक वाणी देखनेमें विपरीत जान पड़नेपर भी तत्त्वतः सत्य है।

२३—भगवान्की लीला-कथा अत्यन्त रुचिकर, सबको समान सुख देनेवाली, किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न रखनेवाली तथा अमोघ है।

२४—भगवान्से सम्बन्ध होते ही सब दोष मिट जाते हैं। भगवान्ने अपनी यह शक्ति लीला-कथामें छिपा रक्खी है। भगवान्ने कृपा करके अपनी लीलाकथामाधुरी इसीलिये छोड़ रक्खी है कि जगत्के बहिर्मुख लोगोंका कल्याण हो। ऐसे लोगों (बहिर्मुखों) से कहा जाय कि यम-नियम आदि करो तो कौन करेगा। पर कथामें कोई रोचक प्रसङ्ग आ जाय तो उनका भी मन लग ही जाता है।

२५—अग्निको देखे नहीं, अग्निको समझे नहीं, पर अग्निसे स्पर्श हो जाय तो अग्निका वस्तुगुण दाहकता जला ही देता है और जलनेपर उसपर श्रद्धा अपने-आप हो जाती है। इसी प्रकार लीलाकथासे अपने-आप श्रद्धा प्राप्त हो जाती है।

२६—बिना पुण्यबलके, बिना भगवत्कृपाके भगवत्कथा सुननेको मिलती ही नहीं। जो तार्किक हैं, वे उसे व्यर्थ मानते हैं और जो गृहासक्त हैं, उन्हें कथा सुननेका भी अवकाश नहीं।

२७—भगवान्की लीला-कथाके लिये एक ही उपाय है—उसकी जो धारा आती है, उसके लिये अपने कानोंका मार्ग खोल दो। वह पीयूषधारा बिना बाधाके कानोंमें जाती रहे। वह धारा भीतर पहुँची कि उसने जन्म-जन्मान्तरके कूड़की राशिको धो बहा दिया। फिर आगकी आवश्यकता नहीं रहेगी। और आग तो जलाकर भस्मका ढेर छोड़ देती है, पर यह इस प्रकारकी बाढ़ है कि सब चीजोंको दूर बहा देगी और साथ ही अन्तःकरण-को बना देगी द्रवतामय। उसे श्रीकृष्णप्रेमका साम्राज्य बना देगी।

२८—जहाँ श्रोताके मनमें तर्क नहीं, विवाद नहीं, केवल रस पीनेकी इच्छा है और केवल उस रसको बढ़ानेके लिये ही प्रश्न है, वहीं वास्तवमें लीला-कथामें रस आता है।

२९—कथा—अन्तरङ्ग रहस्य-कथा वहींपर प्रकट होती है, जहाँ वक्ता-के मनमें स्वतः श्रोताकी रुचि एवं इच्छा देखकर वस्तु जाग्रत् हो जाती है। कहनेवालेके पास बहुत-सी बातें हैं, पर श्रोताकी रुचि न देखकर वे छिप जाती हैं; किंतु एक समुदाय वह होता है, जहाँ बैठनेसे वक्ताके मनमें नयी-नयी बातें उदय होती हैं। परीक्षित्की भाँति जहाँ श्रवणका आग्रह है तथा निरन्तर कथा-श्रवण करनेपर भी जहाँ तृप्ति नहीं—खाये जायँ और भूखे, खाये जायँ और भूखे—ऐसे समुदायमें वक्ताके मनमें अन्तरङ्ग नवीन-नवीन कथाओंकी स्फूर्ति होती रहती है।

३०—भगवान्की लीला-कथा ही ऐसी है कि वह कैसे भी कानोंमें जाय, पाप-तापको नष्ट कर देती है। पर जो श्रीकृष्णके भक्त हैं, प्रेमी हैं, उनके मुखसे यदि कथा सुननेका सौभाग्य मिल जाय, तब तो पाप-ताप रह ही नहीं सकते; क्योंकि उनका मन श्रीकृष्णके साथ जुड़ा रहता है। अतएव वे जो भी शब्द उच्चारण करते हैं, वह श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही।

३१—ज्ञानयोगसे भगवान्को ब्रह्म समझकर भजनेवाले संसारसे मुक्त होना चाहते हैं, अष्टाङ्गयोगवाले समाधिमें स्थित होकर परमात्म-ज्योतिके दर्शन

चाहते हैं, ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भक्तलोग सामीप्यादि मुक्ति चाहते हैं। ये सब आत्महित चाहते हैं; श्रीकृष्णहितकी चिन्ता किसीके मनमें नहीं है। ये तो श्रीकृष्णको नित्य सुखमय मानते हैं; पर जो लोग श्रीकृष्णके साथ ममताके बन्धनसे बँधकर उनको पुत्र, सखा, प्राणवल्लभ आदि मानते हैं, वे अपने सारे सुखोंको भूलकर श्रीकृष्णके हितकी चिन्ता करते हैं। उनका अपना सुख-दुःख कुछ नहीं रहता। वे अहंको भूलकर केवल 'श्रीकृष्ण-सुख' रूप ही बन जाते हैं। श्रीकृष्ण भी ऐसे ममतावान् भक्तोंकी ममताके अनुरूप लीला करके दिव्य प्रेमरसका आस्वादन करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्त धन्य हैं।

३२—भगवान् जिस-जिसके साथ मिलकर लीला करते हैं, वे सभी भगवान्के पार्षद हैं। पार्षदोंके दो भेद हैं—(१) अनुकूल पार्षद, (२) प्रतिकूल पार्षद। जो अनुकूल पार्षद हैं, वे लीलामें सहायता करते हैं मित्ररूपसे और जो प्रतिकूल पार्षद हैं, वे सहायता करते हैं शत्रु-भावसे। दिव्यधाममें अनुकूल पार्षदोंके साथ लीला होती है। वहाँ प्रतिकूल पार्षद अचेतनभावसे रहते हैं।

३३—भगवान्की कृपाशक्ति इतनी बलवती है कि सारी शक्तियाँ उसका अनुगमन करती हैं। भगवान् भी उसके वशमें होकर भक्तके द्वारा नाना प्रकारके बन्धन स्वीकार करते हैं।

३४—भगवान्की जितनी लीलाएँ हैं, उनमें बाललीला परम उदार है। अन्य लीलाओंमें यदि भगवान् किसीको ज्ञान दे दें, राक्षसोंको मार दें अथवा राजाओंको राजा बना दें तो इसमें कोई बड़प्पन नहीं है। बड़ा बड़ा बन जाय, इसमें कोई बड़प्पन नहीं; क्योंकि वह बड़ा है ही। बड़ा छोटा बन जाय, इसमें ही बड़प्पन है। बाललीलामें भगवान्को अज्ञ बालक बनना पड़ता है, अज्ञ बालकोंके साथ स्वयं सम्मिलित होकर वैसी ही लीला करनी पड़ती है और इसीमें उदारता है।

३५—भगवान्के माता-पिता, आभूषण, धाम, लीला, वस्तु आदि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं और सब नित्य हैं।

३६—भगवान्की लीलाओंका तत्त्व जाननेकी चेष्टा न करके उन लीला-कथाओंका गायन करें, श्रवण करें, ध्यान करें—हमारा यही कर्तव्य है।

निकुञ्जलीलाके दर्शनाधिकारी

प्रिया-प्रीतम नित करत बिहार।
नित्य निकुंज परम सोभन सुचि, माया-गुन-गो-पार ॥
नहिं तहँ रबि-ससि की दुति, नहिं तहँ भौतिक अन्य प्रकास।
नित्य उदित दिव्याभा तनु की छाई रहत अकास ॥
जिन की पद-नख-प्रभा ब्रह्म बनि ज्ञानीजन-मन छाई।
जिन की ही सत्ता-प्रभुता सब जग में रही समाई ॥
जिन के हास-बिलास-रास-रस सब निरगुन हरि-रूप।
मायिक गुन प्रबिसत न तहाँ, चिन्मय सब बस्तु अनूप ॥
दिव्य निकुंज मध्य नहिं संभव असरीरी-अस्तित्व।
बिलसित नित्य दिव्य अति भगवत्-रूप प्रेमको तत्त्व ॥
सखी-मंजरी सज्या-सोभा लीला-साधन अन्य।
सबहि स्याम-स्यामामय, प्राकृत नाम, भए ते धन्य ॥
कहत सुनत समुझत सोइ मानव, जो तजि भोगासक्ति।
रहत निरंतर सेवा-रत जो करत निर्भरा भक्ति ॥
सोइ देखत निकुंज की लीला अनुपम दिव्य महान्।
जिन कौं दै अधिकार दिखावत स्वयं जुगल भगवान् ॥



प्रेम-तत्त्व

प्रेमाधीन भगवान्

साँवरे सदा प्रेमाधीन ।
प्रेम-रसमय रसिक बर नित प्रेम-मधु-रस लीन ॥
जपत प्रेमी-नाम संतत करत प्रेमी-ध्यान ।
रहत मोहित लखि मधुर तिन की अधर मुसुकान ॥
सुखी करिबे हित तिनैं, तजि सकल ईस्वर-भाव ।
भूलि भगवत्ता सहज सेवत तिनहि अति चाव ॥
सहज करि सरबस्व अर्पन इष्ट तिन कौं मान ।
चरन-रज-कन लेत तिन के धन्य जीवन जान ॥



भक्तिके विभिन्न स्वरूपोंमें प्रेम-भक्तिका स्थान

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्में लगे रहना अथवा भगवान्में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है । भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं । ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है । पुराण, महाभारत, रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिके वर्णनसे भरे हैं । ईसाई, मुसलमान और अन्यान्यमतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है । हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्तिसाधनाकी ही जयघोषणा करते हैं । वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते । भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है ।

उत्तमा भक्ति

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

जिनके साधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्यशक्तिने शिव-ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम उत्तमा भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है—जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो—शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णका अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परंतु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं; परंतु यहाँ श्रीकृष्णस्वरूपको सामने रखकर ही चर्चा की गयी है, इसीलिये यह कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्ति ही मुख्य है।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञान-योगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है, तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे निर्गुणतत्त्वपरक 'अहं ब्रह्मास्मि', योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्के मङ्गलमय दिव्य स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्के स्वरूप, गुण, लीला, चरित्र आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अङ्ग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्त्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह 'राजसी' है और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह 'तामसी' है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसे श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है, उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या'। इन सब क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें 'सर्वदु:खनाशकत्व' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—'विषयसुख', 'ब्राह्मसुख' और 'पारमेश्वर-सुख'। ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भाव-भक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा'। इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधनभक्तिके भी इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके

गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भावभक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेम-भक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेमभक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। ये उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—शुभदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँचों प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छबुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान (मोक्ष) आदि वस्तुएँ विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकती हैं; उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं। परंतु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं प्रेमी भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त भुक्ति-मुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्योछावर करके भगवान्की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है—करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमय भक्ति-सुख-सागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुख-सागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्यसिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—

१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। भजनके ६४ अङ्ग होते हैं। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है, उसका नाम है—राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्ध-रूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अङ्ग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-

सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्धसूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति

लोक-परलोककी कामना-वासनारूप रजोगुण-तमोगुणसे रहित, शुद्धसत्त्वरूप चित्तकी प्रेमसूर्यकी किरणके समान जो परमोज्ज्वल वृत्ति है और जिसका प्रकाश चित्तको स्निग्ध कर देता है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और संचारिभाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा-कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अङ्कुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. *क्षान्ति*—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और

व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चञ्चल न होना।

२. *अव्यर्थ-कालत्व*—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषयकार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवासम्बन्धी कार्योंमें ही लगे रहना।

३. *विरक्ति*—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. *मानशून्यता*—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. *आशाबन्ध*—भगवान्‌के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा।

६. *समुत्कण्ठा*—अपने अभीष्ट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. *नाम-गानमें सदा रुचि*—भगवान्‌के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. *भगवान्‌के गुण-कथनमें आसक्ति*—दिन-रात भगवान्‌के गुणगान, भगवान्‌की प्रेममयी लीलाओंका ही कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. *भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति*—भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, उन्हीं—वृन्दावनादि स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अङ्कुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परंतु उनका नाम भगवान्में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके सङ्गसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति

भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा रंचमात्र भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है, और राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसे ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम स्नेह है। स्नेहका चिह्न है चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्ण-रतिरूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपनविभाव। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके प्रति रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं

उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालंकारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अङ्ग मोड़ना, हुंकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (जडता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। ये सात्त्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किंचित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विकभाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विकभाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनके अंदर प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विक भावको दिग्ध भाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट, किंतु जिन्हें गुप्त रखा जा सकता है, एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रक्खा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्तभाव छिपाकर नहीं रक्खा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार

प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निस्सत्त्व कहते हैं और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारिभाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारिभावोंको ही संचारिभाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका संचालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रसनिष्ठ भक्तका सङ्ग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्य स्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके सङ्गसे सङ्गके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें सङ्गके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रसमें परिनिष्ठित भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है। परंतु साधनके योग्य आदर्श उपर्युक्त पाँच मुख्य रस हैं।



भावके विभिन्न स्तर

××××भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके अनुग्रहसे ही इस प्रेमरूप भक्तिमार्गपर आरूढ़ हुआ जा सकता है। इसके विपरीत भक्तोंका अपराध बन जानेपर साधनासे उत्पन्न भाव भी क्रमशः क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। भावकी प्रगाढ़ स्थितिका नाम ही 'प्रेम' है। प्रेममें भी जहाँतक महिमाज्ञान है, वहाँतक कुछ कमी है। वास्तविक प्रेम तो सर्वथा विशुद्ध माधुर्यमय होता है। इस प्रेमपर किसी भी विघ्न-बाधाका कोई भी प्रभाव नहीं होता। यहाँतक कि ध्वंसका कारण उपस्थित होनेपर भी यह ध्वंस नहीं होता—'सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे'; वरं उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्।' निर्मल और निष्काम—केवल प्रेम-काममय अन्तरङ्ग साधनोंके द्वारा जो 'भाव' सबसे ऊँची स्तरपर पहुँचता है उस भावजन्य प्रेमको 'भावोत्थ' कहते हैं। और श्रीभगवान् स्वयं अपने सांनिध्य, सङ्ग और प्रेमदानसे जिस 'भाव' का पोषण करते हैं और जिसे ऊँचे-से-ऊँचे स्तरपर ले जाते हैं, उस 'भाव' से उत्पन्न प्रेमको 'अतिप्रसादोत्थ' कहा गया है। श्रेष्ठ भावुक भक्तके प्रति श्रीभगवान्‌का यही सर्वोत्कृष्ट दान है। यह साधनसापेक्ष नहीं है। इसकी प्राप्ति तो तभी होती है, जब भगवान् स्वयं देते हैं। इस प्रकारकी प्रेमदान-लीला प्रत्यक्षमें एक ही पावन धाममें हुई थी। वह धाम है—'श्रीवृन्दावनधाम'। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष उच्चतम है। इससे भी उच्च स्तरका पुरुषार्थ—जो भक्तोंकी भाषामें 'पञ्चम पुरुषार्थ' माना जाता है—है 'भावोत्थ विशुद्ध माधुर्यमय प्रेम'। और भगवत्-प्रदत्त 'अतिप्रसादोत्थ' भगवत्स्वरूप प्रेम तो सबसे बढ़कर है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमके ही वशमें हैं; प्रेमसे ही उनका आकर्षण होता है और उन्हींसे यथार्थ प्रेमकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेम चाहनेवाले साधकोंको प्रेममय श्रीकृष्णकी ही उपासना करनी चाहिये।



रति, प्रेम और रागके तीन-तीन प्रकार

×××कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। उनकी प्रत्येक लीला आनन्दमयी है। उनकी मधुर लीलाको आनन्द-शृङ्गार भी कह सकते हैं। परंतु इतना स्मरण रखना चाहिये कि उनका यह आनन्द-शृङ्गार मायिक जगत्‌की काम-क्रीडा कदापि नहीं है। भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजी तथा उनकी स्वरूपभूता गोपियोंके साथ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी परस्पर मिलनकी जो मधुर आकाङ्क्षा है, उसीका नाम आप आनन्द-शृङ्गार रख सकते हैं। यह काम-गन्धरहित विशुद्ध प्रेम ही है। श्रीकृष्णकी लीलामें जिस 'काम'का नाम आया है, वह 'अप्राकृत काम' है। 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' भगवान्‌के सामने प्राकृत काम तो आ ही नहीं सकता।

वैष्णव भक्तोंने रतिके तीन प्रकार बतलाये हैं—'समर्था', 'समञ्जसा' और 'साधारणी'। 'समर्था' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्णके सुखकी ही एकमात्र स्पृहा और चेष्टा रहती है। यह अप्राकृत है और व्रजधाममें श्रीमती राधिकाजीमें ही इसका पूर्ण विकास माना जाता है। 'समञ्जसा' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्णके और अपने—दोनोंके सुखकी स्पृहा रहती है; और 'साधारणी' रति उसका नाम है, जिसमें केवल अपने ही सुखकी

आकाङ्क्षा रहती है। इन तीनोंमें 'समर्था' रति सबसे श्रेष्ठ है। इसका प्रसार महाभावतक है। यही वास्तविक 'रस-साधना' है।

प्रेमके भी तीन भाव बतलाये गये हैं—'मधुवत्', 'घृतवत्' और 'लाक्षावत्'। 'मधु' भावका प्रेम वह है, जो मधुकी भाँति स्वाभाविक ही मधुर है, जिसमें स्नेह, आदर, सम्मान, सेवा आदि अन्य किसी भावका न तो जरा-सा मिश्रण ही है और न आवश्यकता ही है, जो नित्य-निरन्तर अपने ही अनन्यभावमें आप ही प्रवाहित है। यह प्रेम होता है केवल प्रेमके लिये। इसमें प्रेमास्पदका सुख ही अपना परम सुख होता है। अपना कोई भिन्न सुख रहता ही नहीं। इस प्रेममें प्रेमास्पदका स्वार्थ ही अपना एकमात्र स्वार्थ होता है। पूर्ण आत्मसमर्पण ही इसका रहस्य है और नित्यवर्धनशीलता ही इसका स्वभाव है। यह वस्तुतः अनिर्वचनीय भाव है।

'घृतभाव'का प्रेम वह है, जिसमें पूर्ण स्वाद और माधुर्य उत्पन्न करनेके लिये घृतमें नमक, चीनी आदिकी भाँति अन्य रसोंके मिश्रणकी आवश्यकता है। साथ ही, घृत जैसे सर्दी पाकर कड़ा हो जाता है और गरमी पाकर पिघल जाता है, वैसे ही विविध भावोंके सम्मिश्रणसे इस प्रेमके भी रंग बदलते रहते हैं। यह प्रेमास्पदके द्वारा आदर-सम्मान पाकर बढ़ता है और उपेक्षा-घृणा पाकर मर-सा जाता है। इसमें प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुखी तो बनाना चाहता है, परंतु स्वयं भी उसके द्वारा विविध भावोंमें सुखकी आकाङ्क्षा रखता है। यदि प्रेमास्पदसे आदर-सम्मान नहीं मिलता तो यह प्रेम घट जाता है। इस प्रेममें स्वार्थका सर्वथा अभाव नहीं है। न इसमें पूर्ण समर्पण ही है।

'लाक्षाभाव'का प्रेम वह है, जो चपड़ेके समान स्वाभाविक ही रसहीन और कठोर होनेपर भी जैसे चपड़ा अग्निका स्पर्श पाकर पिघल जाता है, वैसे ही प्रेमास्पदको देखकर उदय होता है। प्रेमास्पदके द्वारा भोग-सुख प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य होता है।

श्रीराधिकाजीके प्रेमको 'मधुवत्', चन्द्रावलीजी आदिके प्रेमको 'घृतवत' और कुब्जा आदिके प्रेमको 'लाक्षावत्' कह सकते हैं।

इसी प्रकार रागके भी तीन प्रकार माने गये हैं—'मञ्जिष्ठा, 'कुसुमिका' और 'शिरीषा' ।

'मञ्जिष्ठा' नामक लाल रंगकी चमकीली बेल जैसे धोनेपर या अन्य किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होती और अपनी चमकके लिये किसी दूसरे वर्णकी भी अपेक्षा नहीं रखती, उसी प्रकार 'मञ्जिष्ठा'नामक राग भी निरन्तर स्वभावसे ही चमकता और बढ़ता रहता है । यह राग श्रीराधा-माधवके अंदर नित्य प्रतिष्ठित है । यह राग किसी भी भावके द्वारा विकारको प्राप्त नहीं होता । प्रेमोत्पादनके लिये इसमें किसी दूसरे हेतुकी आवश्यकता नहीं होती । यह अपने-आप ही उदय होता है और बिना किसी हेतुके आप ही निरन्तर बढ़ता रहता है ।

'कुसुमिका' राग उसे कहते हैं, जो कुसुम्भके फूलके रंगकी तरह हृदयक्षेत्रको रँग देता है और मञ्जिष्ठा और शिरीषादि दूसरे रागोंको अभिव्यञ्जित करके सुशोभित होता है । कुसुम्भके फूलका रंग स्वयं पक्का नहीं होता, परंतु किसी दूसरी कषाय वस्तुको साथ मिला देनेपर वह पक्का और चमकदार हो जाता है । वैसे ही यह राग भी श्रीकृष्णके मधुर मोहन सौन्दर्यादि कषायके द्वारा पक्का और चमकदार हो जाता है ।

'शिरीषा' राग अल्पकालस्थायी होता है । जैसे नये खिले हुए शिरीषके पुष्पमें पीली-सी आभा दिखायी देती है, परंतु कुछ ही समयमें वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह राग भी भोगसुखके समय उत्पन्न होता है और वियोगमें मुरझा जाता है । इसीसे इसका नाम 'शिरीषा' है ।

जिनका जीवन श्रीकृष्ण-सुखके लिये है—उनकी रति 'समर्था', प्रेम 'मधुवत्' और राग 'मञ्जिष्ठा' होता है । जिनका दोनोंके सुखके लिये है—उनकी रति 'समञ्जसा', प्रेम 'घृतवत्' और राग 'कुसुमिका' होता है; और जिनका प्रेम केवल निजेन्द्रियतृप्तिके लिये ही होता है—उनकी रति 'साधारणी', प्रेम 'लाक्षावत्' और राग 'शिरीषा' होता है । इनमें पहले भाव उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे अधम हैं ।



प्रेम और ब्राह्मी स्थिति

××'प्रेम' की स्थितिमें और 'ब्राह्मी स्थिति' में कोई अन्तर नहीं है। तथापि साधनमें अन्तर होनेके कारण विभिन्न अधिकारियोंके लिये दोनों अलग-अलग समझे जाते हैं। प्रेमी भी सुध-बुध भूलता है और ज्ञानी भी। परंतु इस सुध-बुध भूलनेका अर्थ शारीरिक बाह्यज्ञानशून्य अवस्था नहीं है। यह वह स्थिति है, जिसमें परमात्माको छोड़कर 'बाह्य' और कुछ रहता ही नहीं। इसी प्रकार प्रेम भी ज्ञानकी भाँति प्रेमास्पद या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही आरम्भ किया जाता है। वह पहले अपने लिये होता है, फिर भगवान्‌के लिये होता है और अन्तमें अपने और भगवान्‌के भेदका अभाव हो जाता है। निरतिशय आनन्दस्वरूप भगवान्‌का कोई उद्देश्य नहीं है। प्रेमादि गुण स्वयं भगवान्‌का आश्रय लेकर भक्तोंको—प्रेमियोंको सुख देते हैं—'निर्गुणं मां गुणगणा भजन्ते निरपेक्षकम्।' प्रेमियोंके लिये भगवान् उन गुणोंपर कृपा करके उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। प्रयोजन यही है कि प्रेमीगण अनन्ताचिन्त्यदिव्यगुणगणविशिष्ट सौन्दर्यमाधुर्यरसाम्बुधि भगवान्‌की प्रेम-सामग्रीसे पूजा करके अचिन्त्य गुणोंको प्राप्त करेंगे। परंतु यह भी प्रेमियोंकी प्राथमिक पाठशालाका ही पाठ है। आगे चलकर न तो प्रेमियोंको कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है, और भगवान्‌में तो किसी प्रयोजनकी कल्पना ही भगवान्‌की दृष्टिसे नहीं हो सकती। वहाँ उपादेय और हेयकी तो कोई बात ही नहीं है। वहाँ तो प्रेम और आनन्द घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। वहाँ राधा और कृष्णकी अलग-अलग पहचान नहीं रहती। दोनों एक हो जाते हैं—

> **राधा भई कान्ह अरु कान्ह भए राधा रानी,**
> **द्वै ह्वैकैं फेरि दोनों एक ही लखात हैं॥**

साधन-कालमें जैसे ज्ञानीको ध्यानावस्थामें बाह्य ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमीको भी नहीं रहता। जैसे ज्ञानी निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनाये रखना चाहता है, ऐसे ही प्रेमी भी आठों पहर प्रेमास्पद भगवान्‌के आनन्दमय चिन्तनमें चित्तको लगाये रखना चाहता है। जैसे ज्ञानीका मनोवाञ्छित कुछ नहीं रहता, उसी प्रकार प्रेमीका भी मनोवाञ्छित प्रेमको छोड़कर और कुछ नहीं रहता। अधिकार या रुचिभेदसे साधनमें अन्तर है, वास्तविकतामें—साध्यके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि वह तो एक ही है।



प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

भगवान्का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको भगवान् ही जानते हैं या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं। आजतक जगत्में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं, न कोई कह सकता है और न कह सकेगा। यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है, या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है। ऐसा होनेपर भी भगवान्के जितने वर्णन जगत्में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं; क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है—उसी प्रकार जैसे अनन्त आकाशमें सभी मठाकाश, घटाकाश समाते हैं।

किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है। क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है, अतएव वह जगत् ही है; परंतु यह बात नहीं कि जगत् वह गाँव ही है। फिर जगत्‌का तो वर्णन हो भी सकता है; क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा आकलन करने योग्य है। परंतु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता; इसीलिये वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। निर्गुण अक्षरब्रह्म, विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा प्रकृतिरूप जीवात्मा, अपरा प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप कर्म, व्यक्त जगत्‌का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव और इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ—ये सब उस नित्य-निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विशेष भाव हैं, या उसके आंशिक प्रकाश हैं। अवश्य ही स्वभावसे ही पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं। ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय भगवान्‌का वर्णन कौन कर सकता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है; सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ। वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं; मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पन्न और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

भगवान्‌के इस कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं। 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ; सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं है'—इस कथनका कोई अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता। इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार' का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है। परंतु यही तो भगवान्‌का 'ऐश्वरयोग' है, हमारी विषय-विमोहित जडबुद्धि इसे कैसे जान सकती है। हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्‌के लिये वह सब कुछ सम्भव है। भगवान्‌में परस्परविरोधी गुण-धर्मोंका युगपत् प्रकाश है तथा सब विरोधोंका समन्वय है। इसीलिये तो भगवान्‌का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्‌पर सत्यरूपसे लागू होता है।

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है, भगवान्‌की ही परा और अपरा प्रकृतियाँ हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं, वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं, वे ही सबका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोक-महेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं; क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्‌का यथार्थ स्वरूपज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिनपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें

जान सकते हैं और कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्‌का ऐश्वर्य-रूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप; परंतु उनके मधुरातिमधुर पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब वह दिव्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नामगुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना—सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब भगवान् उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपमें—पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

भगवान्‌ने घोषणा की है कि मैं जैसा भक्तिसे शीघ्र मिलता हूँ, वैसा अन्य किसी साधनसे नहीं मिलता—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'जिस प्रकार मेरी अनन्य भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते।'



दिव्य प्रेम

प्रेमकी सबसे पहली और एकमात्र मुख्य शर्त है—'स्वसुख-वाञ्छाकी कल्पनाका भी अभाव।' एक बड़ी सुन्दर निकुञ्जलीला है। एक सखीने एक दिन ऐसा नखशिख शृङ्गार किया कि जो प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरको परम सुख देनेवाला था। उसने दर्पणमें देखा और वह चली श्यामसुन्दरको दिखाकर उन्हें सुखी करनेकी मधुर लालसासे। प्रियतम श्यामसुन्दर निभृत निकुञ्जमें कोमल कुसुम और किसलयकी सुरभित शय्यापर शयन कर रहे हैं। अलसायी आँखोंमें नींद छायी है, बीच-बीचमें पलक खुलती है, पर तुरंत ही बंद हो जाती है। प्रेममयी गोपी आयी है अपनी शृङ्गारसुषमासे श्यामसुन्दरको सुखी करनेके लिये। उसके मनमें स्व-सुखकी तनिक भी वाञ्छा नहीं है। पर श्यामसुन्दर सो रहे हैं, वह चाहती है एक बार देख लेते तो उन्हें बड़ा सुख होता। उसके हाथमें कमल था, उसके परागको वह उड़ाने लगी। सोचा, कोई परागकण प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्रोंमें पड़ जायगा तो कुछ क्षण नेत्र खुले रह जायँगे। इतनेमें वे मेरे शृङ्गारको देख लेंगे, उन्हें परम सुख होगा।

इसी बीचमें नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने प्यारी सखीसे पूछा—'क्या कर रही हो?' सखीने सब बताया। श्रीराधारानी स्वयं स्वभावसे ही श्यामसुन्दरका सुख चाहती हैं। पर यहाँ सखीकी यह चेष्टा उन्हें ठीक नहीं लगी। उन्होंने कहा—'सखी! तुम्हारा मनोभाव बड़ा मधुर है; पर श्यामसुन्दरको जब तुम सुखी देखोगी, तब तुम्हें अपार सुख होगा न? किंतु श्यामसुन्दरके इस सुखसे तुमको तभी सुख मिलेगा, जब उनकी सुखनिद्रामें विघ्न उपस्थित होगा। इस आत्मसुखके लिये उनकी सुखनिद्रामें बाधा उपस्थित करना कदापि उचित नहीं है।' सखीने केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही शृङ्गार किया था, परंतु इसमें भी स्व-सुखकी छिपी वासना थी, इस बातको वह नहीं समझ पायी थी। प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म दर्शन करनेवाली प्रेमस्वरूपा श्रीराधिकाजीने इसको समझा और सखीको रोक दिया। सखी प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म परिचय पाकर प्रसन्न हो गयी।

गोपियाँ चाहती हैं श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमल हमारे हृदयको स्पर्श करें, उन्हें इसमें अपार सुख भी मिलता है और वे यह भी जानती हैं, इससे प्रियतम श्यामसुन्दरको भी महान् सुख होता है। तथापि वे जितनी विरहव्यथासे व्यथित हैं, उससे कहीं अधिक व्यथित इस विचारसे हो जाती हैं कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलमें कहीं आघात न लग जाय। वे रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गाती हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १९)

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं। उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर भी बहुत ही डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उनमें चोट न लग जाय। उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर अरण्यमें घूम रहे हो, यहाँके नुकीले कंकड़-पत्थरों आदिके आघातसे क्या उन चरणोंमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इस विचारमात्रसे ही चक्कर आ रहा है—हमारी चेतना लुप्त हुई जा रही है, प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर! हमारा जीवन तो तुम्हारे लिये ही है। हम तुम्हारी ही हैं।' अतः इस प्रेम-राज्यमें किसी भी प्रकारसे निज सुखकी कोई भी वाञ्छा नहीं होती। इसीसे इसमें 'सर्वत्याग' है—त्यागकी पराकाष्ठा है। 'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेमका यथार्थ स्वरूप भी समस्त मधुरोंमें परम मधुरतम है। परंतु त्यागमय होनेसे पहले यह है—बड़ा ही कटु, बड़ा ही तीखा। इसमें अपनेको सर्वथा खो देना है—तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता महान् सुधामाधुरीमें परिणत होती है। गोपीमें वस्तुतः निज सुखकी कल्पना ही नहीं है, फिर अनुसंधान तो कहाँसे होता। उसके शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और सारे संकल्प अपने प्राणाराम श्रीश्यामसुन्दरके सुखके लिये ही होते हैं; इसलिये उसमें चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह प्रेम न तो साधन है, न अस्वाभाविक चेष्टा है, न इसमें कोई परिश्रम है। प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका स्वभाव है, स्वरूप है।

हमारे इस कार्यसे प्रेमास्पद सुखी होंगे'—यह विचार उसे त्यागमें प्रवृत्त नहीं करता। सर्वसमर्पित जीवन होनेसे उसका त्याग सहज होता है। अभिप्राय यह कि उसमें श्रीकृष्ण-सुख-काम स्वाभाविक है, कर्तव्यबुद्धिसे नहीं है। उसका यह 'श्रीकृष्णसुखकाम' उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

प्राणप्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरका सुख ही गोपीका जीवन है। इसे चाहे 'प्रेम' कहें या 'काम'; यह 'काम' परम त्यागमय सहज प्रेष्ठसुख-रूप होनेसे परम आदरणीय है। मुनिमनोऽभिलषित है। 'काम' नामसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्ने धर्मसे अविरुद्ध कामको अपना स्वरूप बतलाया है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'। भगवान्ने स्वयं कामना की—'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' 'एकोऽहं बहु स्याम्।' इसी प्रकार 'रमण' शब्द भी भयानक नहीं है। भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी कामना क्यों की? इसीलिये कि अकेले 'रमण' नहीं होता—'एकाकी न रमते।' यहाँ भी 'काम' और 'रमण' शब्दका अर्थ गंदा कदापि नहीं है, इन्द्रिय-भोगपरक नहीं है। मोक्षकी कामनावालेको 'मोक्षकाम' कहते हैं। इससे वह 'कामी' थोड़े ही हो जाता है। इसी प्रकार गोपियोंका 'काम' है—एकमात्र 'श्रीकृष्ण-सुख-काम।' और यह काम उनका सहजस्वरूप हो गया है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता कि गोपियाँ कहीं यह चाहें कि हमारे इस 'काम'का कभी किसी कालमें भी नाश हो। यह काम ही उनका गोपीस्वरूप है। इसका नाश चाहनेपर तो गोपी गोपी ही नहीं रह जाती। वह अत्यन्त नीचे स्तरपर आ जाती है, जो कभी सम्भव नहीं है।

गोपीकी बुद्धि, उसका मन, उसका चित्त, उसका अहंकार और उसकी सारी इन्द्रियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके सहज साधन हैं; न उसमें कर्तव्यनिष्ठा है, न अकर्तव्यका बोध; न ज्ञान है न अज्ञान; न वैराग्य है न राग; न कोई कामना है न वासना—बस, श्रीकृष्ण-सुखके साधन बने रहना ही उसका स्वभाव है। यही कारण है कि परम निष्काम, आत्मकाम, पूर्णकाम, अकाम, आनन्दघन श्रीकृष्ण गोपी-प्रेमामृतका रसास्वादन करके आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। जो आनन्दके नित्य आकर हैं, आनन्दके अगाध

समुद्र हैं; आनन्दस्वरूप हैं, जिनसे सारा आनन्द निकलता है—जो आनन्द-के मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्द-सीकरको लेकर ही जगत्‌में सब प्रकारके आनन्दोंका उदय होता है, उन भगवान्‌में आनन्दकी चाह कैसी ? उनमें आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा कैसी ? यह बात दार्शनिककी कल्पनामें नहीं आ सकती। परंतु प्रेमराज्यकी बात ही कुछ विलक्षण है। यहाँ आनन्दमयमें ही आनन्दकी चाह है। इसीसे भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमियोंके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। यशोदा मैयाका स्तन्य-पान करनेके लिये भूखे गोपाल रोते हैं, गोप-सखाओं और बछड़ोंके खो जानेपर कातर हुए कन्हैया उन्हें वन-वन ढूँढ़ते-फिरते हैं, व्रजसुन्दरियोंका मन हरण करके उन्हें अपने पास बुलानेके लिये गोपीजनवल्लभ उनके नाम ले-लेकर मधुर मुरली-की तान छेड़ते हैं। प्रेममें यही विलक्षण महामहिम मधुरिमा है।

प्रेम भगवान्‌का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्‌की वस्तु रहें ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्दके साथ इस प्रकार आनन्दरसका आस्वादन न करें, उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हें आनन्दित करनेमें प्रवृत्त न हो, तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बड़ा रूखा रह जाता है। उसमें रस नहीं रहता। इसलिये वे स्वयं ही अपने ही आनन्दका अनुभव करनेके लिये अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्तिको प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हैं। यह आनन्द बनता नहीं। पहले नहीं था, अब बना——ऐसी बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य——दोनों ही भगवत्स्वरूप। आनन्दकी भित्ति प्रेम और प्रेमका विलक्षण रूप आनन्द। इस प्रेमका कोई निर्माण नहीं करता। जहाँ सर्व त्याग होता है, वहीं इसका प्राकट्य——उदय हो जाता है। जहाँ त्याग, वहाँ प्रेम; और जहाँ प्रेम, वहीं आनन्द। कहीं भी द्वेषसे, वैरसे आनन्दका उदय हुआ हो तो बताइये। असम्भव है। भगवान् प्रेमानन्दस्वरूप हैं। अतएव भगवान्‌की यह प्रेमलीला अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती ही रहती है। न इसमें विराम होता है, न कभी कमी ही आती है। इसका स्वभाव ही वर्धनशील है।

समस्त जगत्‌के जीव-जीवनमें भी आंशिकरूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रेम-की ही लीला चलती है। माता-पिताके हृदयका वात्सल्य-स्नेह, पत्नी-पतिका

माधुर्य, मित्रका पवित्र सख्यप्रेम, पुत्रकी मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुका स्नेह, शिष्यकी गुरु-भक्ति—इस प्रकार विभिन्न विचित्र धाराओंमें प्रेमका ही प्रवाह बह रहा है। यह प्रेम त्यागसे ही विकसित होता और फूलता-फलता है। जगत्‌में यदि यह प्रवाह सूख जाय, संतानको माता-पिताका वात्सल्य न मिले, पति-पत्नीका माधुर्य मिट जाय, मित्र-बन्धुओंके सखाभावका नाश हो जाय, गुरु-शिष्यकी स्नेह-भक्ति न रहे और माता-पिताको पुत्रकी विशुद्ध श्रद्धा-सेवा न मिले तो जगत् भयानक हो जाय, कदाचित् ध्वंस हो जाय। या फिर जगत् क्रूर राक्षसोंकी ताण्डवस्थली बन जाय ! अतएव त्यागमय प्रेमकी बड़ी आवश्यकता है। यही प्रेम जब सब जगहसे सिमटकर एक भगवान्‌में लग जाता है, तब वह परम दिव्य हो जाता है। इसी एकान्त, विशुद्ध प्रेमकी निर्मल मूर्ति है—गोपी। और उस प्रेमका पुञ्जीभूत रूप ही हैं श्यामसुन्दर—'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानाम्'।

जहाँ स्व-सुखकी वाञ्छा है, वस्तु अपने लिये है, वहीं वह 'भोग' है। वही वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी तो 'सेवा' है। 'स्व-सुख-वाञ्छा'को लेकर हम जो कुछ भी करते हैं, सब भोग है। उसी कामको भगवत्-समर्पित करके हम सुखी होते हैं तो वह प्रेम है। घरकी कोई वस्तु, मनकी कोई वस्तु, जीवनकी कोई वस्तु जबतक 'स्व-सुख'के लिये है, तबतक 'भोग' हैं; और जबतक भोग हैं, जबतक उनका इन्द्रियोंके साथ भोग्य-सम्बन्ध है, तबतक उनसे दुःख ही उत्पन्न होता रहेगा। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो भी संस्पर्शज भोग हैं, वे सभी दुःखकी उत्पत्तिके क्षेत्र हैं और आदि-अन्तवाले हैं; इसलिये भैया अर्जुन ! बुद्धिमान् लोग उनमें प्रीति नहीं रखते।'

पर ये ही सब भोग जब स्व-सुखकी इच्छाका परित्याग करके पर-सुखार्थ—भगवदर्पित हो जाते हैं, तब इन्हींको 'भगवान्‌की सेवा' कहा जाता है। यही प्रेम है। गोपीप्रेम इसीसे स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित परम उज्ज्वल

है। यहाँ पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर भी नित्य समर्पणकी लीला चलती रहती है, प्रतिक्षण समर्पण होता रहता है। यों समर्पण होते-होते समर्पणक्रिया भी विस्मृत होने लगती है और फिर, 'ग्रहण' भी समर्पणरूप, त्यागरूप बन जाता है; क्योंकि उसमें भी प्रियतमके सुखकी ही निर्मल वाञ्छा रहती है!

पर इस 'ग्रहणमें' प्रेमकी पहचान बहुत कठिन है। हम हलवा खा रहे हैं, हमें उसके मिठासका स्वाद आ रहा है तथा हमें सुख मिल रहा है। यह हलवा खाना तथा उसमें मिठास तथा सुखकी अनुभूति—स्व-सुखके लिये हो रही है, या प्रेमास्पदके सुखके लिये—इसका परीक्षण बहुत कठिन है। इसका यथार्थ स्वरूप वेही जानते हैं, जो प्रेमके इस स्तर तक पहुँच गये हैं। प्रेमीको स्वाद आ रहा है; पर स्वादके सुखका ग्रहण वह तभी करता है, जब कि उससे प्राणधन प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको सुख होता हो। स्वाद प्रेमीको आता है; परंतु यदि प्रेमास्पदको उसमें सुख नहीं है तो वह स्वाद कभी प्रेमीको इष्ट नहीं है। हलवेका मिठास लेते-लेते उसे यदि ज्ञात हो जाय कि प्रेमास्पद चाहते थे कि तुम मीठा हलवा न खाकर कडुवा नीम खाते तो तुरंत हलवा उसके लिये कड़वा हो जायगा, बुरी वस्तु बन जायगा और वह नीम खाने लगेगा। यहीं पता लगता है कि 'ग्रहण' स्व-सुखकी वाञ्छासे था या प्रेमास्पदके सुखके लिये। यही बात कपड़े पहनने, सोने, जागने, जगत्-के सारे व्यवहार करनेमें है। प्रत्येक क्रियामें प्रेमास्पदका सुख ही एकमात्र इष्ट होना चाहिये। प्रेमीको यह पता लग जाय कि प्रेमास्पद हमारे मरणमें प्रसन्न है तो प्रेमीके लिये एक क्षण भी जीवन-धारण करना परम दुःखरूप हो जायगा।

यों प्रेमास्पदके सुखका जीवन जिनका बन जाता है, उनको प्रेमास्पद प्रभुके मनकी बात खोजनी नहीं पड़ती। वह उसके सामने स्वयं प्रकट रहती है। प्रेमास्पदका मन उस प्रेमीके मनमें आ विराजता है। इसीलिये भगवान्-ने अर्जुनसे श्रीगोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'मेरी महिमा, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप तथा मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं, हे अर्जुन ! दूसरा कोई नहीं जानता ।'

इसलिये गोपीको यह पता नहीं लगाना पड़ता कि भगवान् किस बात-से प्रसन्न होंगे । उसके अंदर भगवान्का मन ही काम करता है । भगवान्ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।

(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४)

'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, मेरे लिये अपने दैहिक वस्तुओं तथा कार्योंका सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं ।' श्रीकृष्ण ही गोपियोंके मन हैं । श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं । उनके सारे संकल्प तथा सारे कार्य सहज ही श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ या श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही होते हैं ।

प्रेमकी बड़ी ही विचित्र गति होती है । वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है । प्रेमीमें प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्तभावसे स्थिर हो जाता है, परंतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमें लहरें—तरङ्गें उठने लगती हैं । ये तरङ्गें ही प्रेमलीला हैं ।

गोपियोंके जीवनमें इन प्रेम-तरङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है । प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं, जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं । ये तरङ्गें कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं; कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं; कभी सीधी होती हैं, कभी दायें-बायें हो जाती हैं । प्रेममें दो तरहके भाव होते हैं—दक्षिण और वाम । दक्षिण भावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेमलीलाएँ चलती रहती हैं । जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओंका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हें मनाया करते हैं, और जहाँ प्रेमघन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है, वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उनको मनाया करती हैं । मधुर

मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरह-तट' पर कभी 'विप्रलम्भ'रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट'पर 'सम्भोग'रसका आस्वादन होता है। फिर, कभी मिलनमें ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है, जिसे प्रेम-वैचित्त्य कहते हैं।

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियाऽऽर्तिस्तं प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

'प्रेमके उत्कर्षके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना--प्रेम-वैचित्त्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमें अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गें उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे? जो तटपर खड़ा है, वह तो तरङ्गोंके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोंमें मिल गया, वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर 'हा कृष्ण! हा श्यामसुन्दर! हा प्राणवल्लभ!' पुकारने लगते हैं और रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमें 'हा राधे! हा प्राणेश्वरि प्राणाधिके! हा मनमोहिनि!' पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेम-समुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गें हैं। यह श्रीराधा-माधवका प्रेम, प्रेमविहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्द्धनशील है; इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण वर्द्धनशील है। किसी-किसी युगमें कोई ऐसे प्रेमी संत होते हैं, जो इस प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्यधाम तथा प्रेमी परिकरों, सखाओं, सखियोंको लेकर, दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियों और वृक्ष-लताओंको लेकर इस मर्त्यभूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवधलीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेमराज्यमें उन्हींका प्रवेश है, जो अपनेको खोकर, स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओंको मिटाकर भगवान्के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोंने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। अर्थ, धर्म, काम,

मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं । प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है । प्रेम-सेवाको छोड़कर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिका स्वीकार नहीं करते—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।

यहीं त्यागकी पराकाष्ठा है । इसमें अहंकी चिन्ता या अहंकी मङ्गल-कामनाका सर्वथा अभाव है । जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है । बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे ? और बन्धन किसीको होता है । जो बँधा है, वही छुटकारा चाहता है । अतः बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसमें है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं । छुटकारेकी इच्छामें ही बन्धनकी अनुभूति है और जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है, वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है। हम उसको चाहे मुमुक्षु कहें, चाहे जिज्ञासु या साधक—कुछ भी कहें, उसमें 'अहं' है और वह 'अहं'का मङ्गल चाहता है । पर प्रेम-राज्यमें तो अहंकी चिन्ता ही नहीं है, 'स्व' की सर्वथा विस्मृति है । प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है । इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है ।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' है । 'मोक्षसंन्यास' का यह अर्थ किया जाय कि इसमें 'मोक्षके भी परित्याग'का विषय है । वही तो 'शरणागति' है । यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्‌ने रणाङ्गणमें प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया, जिसको अपना अत्यन्त प्रिय इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया—

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

—उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा । अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा । अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह नाश हो गया और मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा ।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है । इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये । अब महाभारतमें देखिये—

अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष'की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला । महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमें कथा है—

'देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्‌के दिव्य धाममें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं । उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अतः वे भलीभाँति पहचाननेमें आ रहे हैं । उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है । उनके सुदर्शन चक्रादि आयुध देवताओंके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवामें लगे हैं । वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्‌की सेवामें संलग्न है । देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारीति सत्कार किया ।....'

इससे समझमें आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला । उन्हें भगवान्‌की 'प्रेम-सेवा' प्राप्त हुई ।

शरणागतिसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'नष्टो मोहः ।' अतएव संसारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया । बन्धन रह गया केवल भगवान्‌की प्रेमसेवाका, जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही इष्ट है । अर्जुनसे भगवान्‌ने मानो कह दिया—'तुम्हारा मोह नाश हो गया । तुम मेरे सेवक थे, सेवक ही रहोगे । मोहवश कह रहे थे—'मैं यह नहीं करूँगा, 'यह करूँगा । अब तुम मेरे वचनोंका ही अनुसरण करोगे । बस, काम हो गया । तुम मेरे चिर सेवक ही रहो । तुम्हें मोक्षसे क्या मतलब ।' यही मोक्ष-संन्यास है । प्रेमी मोक्षका भी संन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है ।

मोक्ष-संन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं; मुझे गीताका न अध्ययन है न ज्ञान । यह तो मैंने स्वान्तःसुखाय अपने मनका अर्थ कह दिया है । वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद; मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ । गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें !

इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है, तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही; क्योंकि इसमें अपने बन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दुःखरूप है, उससे मुक्ति प्राप्तकर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अतः यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है; प्रेमीजन पूर्ण त्यागी होते हैं, अतः वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेमसेवामें ही सहज संलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोंकी तो बात ही दूसरी है, उनके तनिक-से सङ्गके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३; ४।३०।३४)

'भगवत्सङ्गी'का अर्थ है—भगवान्‌में अनुरक्त, आसक्त, भगवान्‌का सङ्गी, भगवान्‌का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लव-मात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या है, स्वर्गसे भी नहीं होती, वरं अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव'का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता, वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लवमात्रके भगवत्सङ्गीके सङ्गसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—व्रजरसकी वाञ्छा शिव-नारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वयं ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमें विचरते समय एक विशाल बावड़ीके तटपर वटवृक्षकी छायामें एक अनन्य सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह जानना चाहा कि 'ये देवी कौन हैं तथा

क्यों तपस्या कर रही हैं ।' पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ब्रह्मविद्या ही ये हैं । नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते ।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः ॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः ।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम् ॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना ।

(पद्मपुराण)

'मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ, जिसको महान् योगिराज सदा ढूँढ़ा करते हैं । मैं श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ । मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है । परंतु श्रीकृष्णमें मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली, इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ !'

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या कल्पोंतक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिके लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं, वह कितना उज्ज्वल, कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है—इसको कौन बता सकता है । वे गोपरमणियाँ धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेम-रसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की, और जिनके सामने भगवान्‌ने अपना पूर्ण प्रकाश किया ।

हमलोगोंके सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, 'योगमाया' (अपनी आत्ममाया) से ढका रखते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

(गीता ७ । २५)

भगवान्ने कहा—'मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यों नहीं ? इसीलिये कि मैं योगमायासे अपनेको ढका रखता हूँ ।' परंतु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ यह बात नहीं है । वहाँ भगवान् 'योगमाया-समावृत' नहीं हैं, वहाँ 'योगमायामुपाश्रित' हैं । अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—'मैं इस समय अनावृत हूँ; बेपर्द हूँ; तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ ।' योगमाया काम करती हैं । भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है । यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है । भगवान्की अनावृत लीला है । गोपियोंका चीरहरण क्या है ? वह कोई गंदी चीज थोड़े ही है । गंदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियोंको प्रिय होती, और होती अनन्त कालतक नरकोंमें ले जानेवाली ! शुकदेवजी परीक्षित्के सामने उसे कहते ही क्यों । पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है । मल, विक्षेप और आवरण—तीन बड़े बाधक दोष हैं, जो आत्म-स्वरूप तक, भगवान् तक साधकको नहीं जाने देते । इनमें मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है । विक्षेप दोष नष्ट हो जाता है भगवान्में मन लगानेसे । वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है । रह जाता है—आवरण दोष । यह बड़ा व्यवधान बना रहता है । ज्ञानके साधकोंका यह दोष ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोषको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं । वे अपने हाथों 'आवरण भङ्ग' कर देते हैं, पर्दा फाड़ डालते हैं । यही गोपियोंका चीर-हरण है । जिस प्रेममें भय, लज्जा, संकोच तथा तनिक भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुषका - पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्में देखते हैं । वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती, जिसे गोपनीय कहा जा सकता है । यही लौकिक प्रेम जब अलौकिक दिव्य भाव बनकर भगवान्के प्रति हो जाता है तथा

पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है, तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। समस्त आवरणोंका विनाश हो जाता है। यौन भाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रास-लीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान्, और अनावृत (अहंता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्का घुल-मिल जाना—एक हो जाना !

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेम-राज्यमें जिनका प्रवेश है, उनकी चरण-रज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वयं भी उनके चरण-धूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान !
छटपटात तुम बिना दिवस निसि मेरे दुखिया प्रान ॥
बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन, दुःसह दुखमय जीवन।
अमिलनके अति घोर दाह तैं दहत देह इंद्रिय, मन ॥
कलपत बिलपत ही दिन बीतत, निसा नींद नहिं आवै।
सुपन-दरसहू भयौ असंभव कैसैं मन सचु पावै ॥
अब जनि देर करौ मनमोहन ! दया नैक हिय धारौ।
परम सुधामय दरसन दै निज उर की अगिनि निवारौ ॥

प्रेमका स्वरूप

प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं; जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। संसारमें भी हम देखते हैं कि प्रिय वस्तुके मिलनेपर, उसका समाचार पानेपर, उसके स्पर्श, आलिङ्गन और प्रेमालापका सुअवसर मिलनेपर हृदयमें जिस आनन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन वाणी कभी नहीं कर सकती। जिस प्रेमका वर्णन वाणीके द्वारा हो सकता है, वह तो प्रेमका सर्वथा बाहरी रूप है। प्रेम तो अनुभवकी वस्तु है।

प्रेमका अनुभव होता है मनमें और मन रहता है सदा अपने प्रेमास्पदके पास। फिर भला, मनके अभावमें वाणीको यत्किंचित् भी वर्णन करनेका असली मसाला कहाँसे मिले? अतएव प्रेमका जो कुछ भी वर्णन मिलता है, वह केवल सांकेतिकमात्र है—बाह्य है। प्रेमकी प्राप्ति हुए बिना तो प्रेमको कोई जानता नहीं और प्राप्ति होनेपर वह अपने मनसे हाथ धो बैठता है। जलमें मुखसे शब्दका उच्चारण तभीतक होता है, जबतक मुख जलसे बाहर रहता है, जब मनुष्य अतलतलमें डूब जाता है, तब तो डूबनेवालेकी लाशका पता लगना भी कठिन होता है। इसी प्रकार जो प्रेम-समुद्रमें डूब चुका है, वह कुछ कह ही नहीं सकता। और ऊपर-ऊपर डुबकियाँ मारने और डूबने-उतरानेवाले जो कुछ कहते हैं, वह केवल ऊपर-ऊपरकी ही बात होती है।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परंतु गुड़का स्वाद नहीं बतला सकता, उसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव करके आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, परंतु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको भी बतला नहीं सकते। इस प्रेममें तन्मयता होती है। इसलिये प्रेमी यह नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या जानता हूँ। इसीसे श्रीराधाने एक समय कहा है कि 'हे सखि! मैं कृष्णप्रेमकी बात कुछ भी नहीं जानती, नहीं समझती और जो कुछ जानती हूँ, उसे प्रकट करने योग्य भाषा मेरे पास नहीं है। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जब हृदय-के अंदर उनका स्पर्श होता है, तभी मेरा सारा ज्ञान चला जाता है।'

यह तो निश्चित है कि वाणीद्वारा प्रेमका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता; परंतु जब कोई प्रेममदसे छके हुए भाग्यवान् महापुरुष तन-मनकी सुधि भुलाकर दिव्य उन्मत्तवत् चेष्टा करने लगते हैं, तब प्रेमका कुछ-कुछ प्रकाश लोगोंको प्रकट दीखने लगता है। उस समय ऐसे महात्माकी केवल वाणीसे और नेत्रोंसे ही नहीं, शरीरके रोम-रोमसे प्रेमकी किरणें अपने-आप ही निकलने लगती हैं। यह प्रेमका प्राकट्य साक्षात् भगवान्का ही प्रकाश है। ऐसा प्रकाश किसी विरले ही प्रेमी महापुरुषमें होता है।

वास्तविक प्रेममें गुणोंकी अपेक्षा नहीं है। प्रेमीको अपने प्रेमास्पदमें गुण-दोष देखनेका अवकाश ही कहाँ मिलता है, वहाँ तो स्वाभाविक सहज प्रेम होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि प्रेम गुणातीत होता है। वह तीनों गुणोंकी परिधिसे परेकी वस्तु है!

प्रेममें कुछ भी कामना नहीं होती; क्योंकि प्रेममें प्रेमास्पदको सुखी देखनेकी एक इच्छाको छोड़कर अन्य किसी स्वार्थकी वासना ही नहीं रहती। उसका तो परम अर्थ केवल प्रेमास्पद ही है! जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है, वहाँ तो प्रेमका पवित्र आसन कुटिल कामके द्वारा कलङ्कित हो रहा है। अतएव प्रेममें कामनाका लेश भी नहीं है।

सच्चा प्रेम कभी घटता तो है ही नहीं, वरं वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। प्रेमीका सदा यही भाव रहता है कि मुझमें प्रेमकी कमी ही है। किसी भी अवस्थामें उसे अपना प्रेम बढ़ा हुआ नहीं दीखता, अतएव उसकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेम बढ़ानेकी होती है। इस विच्छेदरहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। यह विशुद्ध प्रेम दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता ही रहता है।

परम प्रेमके दिव्य रसमें डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय, रसमय प्रियतमको ही देखता है। उसे कहीं दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। उसके कानमें जो कुछ भी ध्वनि आती है वह केवल प्रेममयके प्रेमसंगीतकी स्वरलहरीकी ही होती है; वह सर्वदा उसकी मुरलीकी मीठी तानमें मस्त रहता है। इसी प्रकार उसके मुखसे भी प्रेममयको छोड़कर दूसरा शब्द नहीं निकलता। वह प्रेममयका गुण गाते-गाते कभी थकता ही नहीं, बात-बातमें उसे केवल दिव्य प्रेमरसामृतका ही अनुपम स्वाद मिलता रहता है और वह अतृप्त रसनासे सदा उसी अमृत-रसपानमें मत्त रहता है। उसके चित्तमें तो दूसरेके लिये स्थान ही नहीं रह गया। वहाँ एकमात्र प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार है। ऐसा थोड़ा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपसे भी आ सके। चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन

जाता है; यही नहीं, समस्त अङ्ग केवल उसीका अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसीको विषय करती हैं। आँखें अहर्निश सम्पूर्ण विश्वको श्याममय देखती हैं। कान सदा उसीकी मधुरातिमधुर शब्दब्रह्ममयी वेणुध्वनि सुनते हैं। नासिका नित्य निरन्तर उसी नटवरके अङ्गसौरभको ही सूँघती है। जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेमसुधाका आस्वादन करती है और शरीर सर्वदा उसी अखिलसौन्दर्यमाधुर्यरसाम्बुधि रसराज परम सुखस्पर्श आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दनके अनुपम स्पर्श-सुखका अनुभव करता है। आकाशमें वही शब्द है, वायुमें वही स्पर्श है, अग्निमें वही ज्योति है, जलमें वही रस है और पृथ्वीमें वही गन्ध बना हुआ है। सबमें वही भरा है। सबमें वही अपनी अनोखी रूप-माधुरीकी झाँकी दिखा रहा है। सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द है। समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है। सब कुछ आनन्दसे और सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है। दृश्य, द्रष्टा सभी मधुर हैं; हम-तुम सभी मधुर हैं। उस परमानन्द-रस-सुधामय मधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः,····मधुमत् पार्थिवं रजः' सर्वत्र मधु-ही-मधु है।

× × × ×

भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है; वह सबसे अधिक मधुर है और जिसको यह प्रेमामृत मिल जाता है, वह उसे पानकर अमर हो जाता है। लौकिक वासना ही मृत्यु है। अनन्यप्रेमी भक्तके हृदयमें भगवत्प्रेमकी एक नित्य नवीन, पवित्र वासनाके अतिरिक्त दूसरी कोई वासना रह ही नहीं जाती। इसी परम दुर्लभ वासनाके कारण वह भगवान्‌की मुनिमनहारिणी ललित लीलाका एक साधन बनकर कर्म-बन्धनयुक्त जन्म-मृत्युके चक्करसे सर्वथा छूट जाता है। वह सदा भगवान्‌के समीप निवास करता है और भगवान् उसके समीप! प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद भगवान्‌का यह नित्य अटल संयोग ही वास्तविक अमरत्व है। इसीसे भक्तजन मुक्ति न चाहकर भक्ति चाहते हैं—

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥



भगवत्प्रेमसम्बन्धी कुछ बातें

····आपके तीन पत्र मिले। बदलेमें क्या लिखूँ, कुछ समझमें नहीं आया। अतः पत्रका उत्तर न लिखकर जो कुछ मनमें आता है, लिख रहा हूँ। मैं नहीं जानता आपकी आध्यात्मिक स्थिति कैसी है। ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकता। मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह यदि आपकी स्थितिसे निम्न स्तरके साधकोंके कामकी बात हो तो आप केवल पढ़कर छोड़ दें। आपके लिये उपयोगी हो तो उसपर विचार करें।

यद्यपि मैंने बहुत ऊँची स्थितिका अनुभव नहीं किया है, तथापि भगवत्प्रेमके मार्गकी कुछ बातें सोचना-कहना किसी-न-किसी सूत्रसे मैं जान गया हूँ। उसीके आधारपर मेरा यह लिखना है। जहाँतक मेरा विश्वास है—मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह ठीक है। भगवत्प्रेमके मार्गपर चलनेवाले इसपर विचार कर सकते हैं।

भगवत्प्रेमके पथिकोंका एकमात्र लक्ष्य होता है—भगवत्प्रेम! वे भगवत्प्रेमको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहते—यदि प्रेममें बाधा आती दीखे तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनकी भी अवहेलना कर देते हैं, यद्यपि उनका हृदय मिलनके लिये आतुर रहता है। जगत्‌का कोई भी पार्थिव पदार्थ, कोई भी विचार, कोई भी मनुष्य, कोई भी स्थिति, कोई भी सम्बन्ध, कोई भी अनुभव उनके मार्गमें बाधक नहीं हो सकता। वे सबका अनायास—बिना ही किसी संकोच, कठिनता, कष्ट और प्रयासके त्याग कर सकते हैं। संसारके किसी भी पदार्थमें उनका आकर्षण नहीं रहता। कोई भी स्थिति उनकी चित्तभूमिपर आकर नहीं टिक सकती, उनको अपनी ओर नहीं खींच सकती। शरीरका मोह मिट जाता है। उनका सारा अनुराग, सारा ममत्व, सारी आसक्ति, सारी अनुभूति, सारी विचारधारा, सारी क्रियाएँ एक ही केन्द्रमें आकर मिल जाती हैं; वह केन्द्र होता है, केवल भगवत्प्रेम—वैसे ही जैसे विभिन्न पथोंसे आनेवाली नाना नदियाँ एक ही समुद्रमें आकर मिलती हैं। शरीरके सम्बन्ध, शरीरका रक्षण-पोषणभाव, शरीरकी आसक्ति,

शरीरमें आकर्षण (अपने या परायेमें), शरीरकी चिन्ता (अपने या परायेकी)—सब वैसे ही मिट जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार। ये तो बहुत पहले मिट जाते हैं। विषय-वैराग्य, काम-क्रोधादिका नाश, विषाद-चिन्ताका अभाव, अज्ञानान्धकारका विनाश भगवत्प्रेम-मार्गके अवश्यम्भावी लक्षण हैं! भगवत्प्रेमका मार्ग सर्वथा पवित्र, मोहशून्य, सत्त्वमय, अव्यभिचारी, त्यागमय और विशुद्ध होता है। भगवत्प्रेमकी साधना अत्यन्त बढ़े हुए सत्त्वगुणमें ही होती है। उसमें दीखनेवाले काम, क्रोध, विषाद, चिन्ता, मोह आदि तामसिक वृत्तियोंके परिणाम नहीं होते। वे तो शुद्ध सत्त्वकी ऊँची अनुभूतियाँ होती हैं, उनका स्वरूप बतलाया नहीं जा सकता। भूलसे लोग अपने तामस विकारोंको उनकी श्रेणीमें ले जाकर 'प्रेम' नामको कलङ्कित करते हैं। वे तो बहुत ही ऊँचे स्तरकी साधनाके फलस्वरूप होती हैं। उनमें—हमारे अंदर पैदा होनेवाली भोग-वासनाकी सूक्ष्म और स्थूल तमोगुणी वृत्तियोंका कहीं लेश भी नहीं होता। बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँचे हुए महात्मालोग ही उनका अनुभव कर सकते हैं, वे कथनमें आनेवाली चीजें नहीं हैं—कहना-सुनना तो दूर रहा, हमारी मोहाच्छन्न बुद्धि उनकी कल्पना भी नहीं कर सकती। भगवत्कृपासे ही उनका अनुमान होता है और तभी उनकी कुछ अस्पष्ट-सी झाँकी होती है। इस अस्पष्ट झाँकीमें ही उनकी इतनी विलक्षणता प्रतीत होती है कि जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि ये चीजें दूसरी ही जातिकी हैं। नाम एक-से हैं—वस्तुगत भेद तो इतना है कि उनसे हमारी लौकिक वृत्तियोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा जा सकता, तुलना ही नहीं होती। भगवान्‌की कृपासे—इस प्रेममार्गमें कौन कितना आगे बढ़ा होता है, कौन किस स्तरपर पहुँचा होता है, यह बाहरकी स्थिति देखकर कोई नहीं जान सकता; क्योंकि यह वस्तु बाहर आती ही नहीं। यह तो अनुभवरूप होती है। जो बाहर आती है, वह तो प्रायः नकली होती है। जिसे हम अप्रेमी मानते हैं, सम्भव है वह महान् प्रेमी हो। जिसे हम दोषी समझते हैं, सम्भव है वह प्रेममार्गपर बहुत आगे बढ़ा हुआ महात्मा हो; और जिसे हम प्रेमी समझ बैठते हैं, सम्भव है वह पार्थिव मोहमें ही फँसा हो।

भगवत्प्रेमियोंको कोटिशः नमस्कार है । उनकी गति वे ही जानें । सीधी और सरल बातें जो करनेकी हैं, वे तो ये सात हैं—

१—भोगोंमें वैराग्यकी भावना ।

२—कुविचार, कुकर्म, कुसङ्गका त्याग ।

३—विषय-चिन्तनका स्थान भगवच्चिन्तनको देनेकी चेष्टा ।

४—भगवान्‌का नाम-जप ।

५—भगवद्‌गुणगान-श्रवण ।

६—सत्सङ्ग-स्वाध्यायका प्रयत्न ।

७—भगवत्कृपामें विश्वास बढ़ाना ।

× × × ×

सच्चा एकान्त

×××× वस्तुतः बाहरी एकान्तका महत्त्व नहीं; सच्चा एकान्त तो वह है, जिसमें एक प्रभुको छोड़कर चित्तके अंदर और कोई कभी आये ही नहीं—शोक-विषाद, इच्छा-कामना आदिकी तो बात ही क्या, मोक्षसुख भी जिस एकान्तमें आकर बाधा न डाल सके । जबतक चित्तमें नाना प्रकारके विषयोंका चिन्तन होता है, तबतक एकान्त और मौन दोनों ही बाह्य हैं और इनका महत्त्व भी उतना ही है, जितना केवल बाहरी दिखावेके लिये होनेवाले कार्योंका होता है । उन प्रेमी महापुरुषोंको धन्य है, जो एकमात्र श्रीकृष्णके ही रंगमें पूर्णरूपसे रँग गये हैं, जिनका चित्त जगत्‌के विनाशी सुखोंकी भूलकर भी खोज नहीं करता, जिनकी चित्तवृत्ति संसारके ऊँचे-से-ऊँचे प्रलोभनकी ओर भी कभी दृष्टि नहीं डालती, जिनकी आँखें सर्वत्र प्रियतम श्यामसुन्दरके दिव्य स्वरूपको देखती हैं और जिनकी सारी इन्द्रियाँ सदा केवल उन्हींका अनुभव करती हैं । सच्चा एकान्तवास और सच्चा मौन उन्हीं प्रेमी महात्माओंमें है ।......................................

× × × ×

प्रेम और विकार

....आप लिखते हैं 'मैं प्रेम-धनसे शून्य हूँ । बिना प्रेमके जीवन

कैसा, वह तो बोझरूप है।' यह आपका लिखना सिद्धान्ततः ठीक ही है। प्रेमशून्य जीवन शून्य ही है। परंतु वास्तवमें यह बात है नहीं। प्रेम सभीके हृदयमें है, भगवान्‌ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्‌में भेजा है। हमने उस प्रेमको नाना प्रकारसे इन्द्रियचरितार्थतामें लगाकर विकृत कर डाला है, इसीलिये उसके दर्शन नहीं होते—और कहीं होते हैं तो बहुत ही विकृतरूपमें होते हैं। विकृत स्वरूपका नाश होते ही मोहका पर्दा फट जाता है; फिर प्रेमका वास्तविक ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, जिसके प्राकट्यमात्रसे ही आनन्दाम्बुधि उमड़ पड़ता है। प्रेम और आनन्दका नित्य योग अनिवार्य है। भगवान्‌के आनन्दसे ही प्रेमकी सृष्टि हुई है और इस प्रेमसे ही आनन्दका विकास और पोषण होता है। प्रेमकी कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहाँ आनन्दका अभाव हो और आनन्द भी कोई ऐसा नहीं, जिसमें कारणरूपसे प्रेम वर्तमान न हो। परंतु जहाँ प्रेमके नामपर कामकी क्रीड़ा होने लगती है, वहाँ प्रेम अपनेको छिपा लेता है। चिरकालसे मलिना मायाके मोहवश हम कामकी क्रीड़ामें लगे हैं, कामको ही प्रेम समझ बैठे हैं। इसीलिये प्रेम हमसे छिप गया है और इसीलिये प्रेमके अभावमें हम आनन्दरहित केवल 'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः' और 'कामोपभोगपरमाः' (गीता १६ । ११) होकर शोक-विग्रह बन गये हैं। इस कामकी कालिमाको धोनेके लिये आवश्यकता है किसी ऐसे क्षारकी, जो इसकी जड़तकका नाश कर दे; और वह क्षार वैराग्य है। गोविन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषय-चम्पक-चञ्चरीक होता ही है। बार-बार उस परम प्रेमार्णव—अनन्त प्रेमरस-सुधासमुद्र श्यामसुन्दरका स्मरण करना और उसकी दिव्य पद-नख-ज्योतिके प्रकाशसे समस्त संचित मोहान्धकारका नाश करनेके निश्चयसे प्रत्येक क्षणके प्रत्येक चिन्तनमें अपार अलौकिक आनन्दका अनुभव करना (अनुभव न हो तो भावना करना) कर्तव्य है। उसके इस मधुर चिन्तनके प्रभावसे जगत्‌के समस्त रस नीरस, कटु और त्याज्य हो जायँगे। तब उस रस-विग्रहकी रश्मियाँ हमारे ऊपर पड़ेंगी और हमारे सुप्त प्रेमको जगाकर हमें उसके दिव्य दर्शन करायेंगी।



प्रेम मुँहकी बात नहीं है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ।............किसीके व्याख्यानको सुनकर ही उसे प्रेमी मान लेनेमें बड़ा धोखा हो सकता है । प्रेम वाणीका विषय ही नहीं है । जितना प्रेम यथार्थ और शुद्ध होता है, उतना ही उसमें त्याग अधिक होता है । वस्तुतः त्याग ही प्रेमका आधार है । प्रेममें अपने क्षुद्र स्वार्थको, अपने व्यक्तिगत लाभको और अपनेको सर्वथा भूल जाना पड़ता है । प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर ये अपने-आप ही भूले जाते हैं । प्रेममें प्रेमास्पदसे कुछ भी पानेकी आशा-आकांक्षा नहीं रहती। वहाँ तो बस, देना-ही-देना

होता है——देह-प्राण-मन ले लो, धन-ऐश्वर्य-समृद्धि ले लो, मान-यश-प्रतिष्ठा ले लो, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ले लो; जो चाहो सो ले लो। और इस देनेमें ही परम सुख, परम संतोष मिलता है प्रेमीको। आत्मविसर्जन ही प्रेमका मूल-मन्त्र है। प्रेमास्पदका हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है। इस प्रकार-की स्थिति बातोंसे तो हो नहीं सकती। इसके लिये त्याग चाहिये। आपने व्याख्यान सुन लिया, प्रेमकी महिमा सुन ली, कभी एक-दो बूँद आँसू देख लिये और किसीको प्रेमी मान लिया। यह ठीक नहीं है। प्रेमका पता तो तब लगेगा, जब उसकी प्रत्येक क्रियामें आपको त्यागकी अनुभूति होगी। बहुत-से स्वार्थीलोग प्रेमकी व्याख्या इसीलिये किया करते हैं कि लोग उनके प्रेमी बनें और वे उनके प्रेमास्पद प्रियतम बनें, अर्थात् लोग अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दें। यह प्रेमके नामपर लोगोंको ठगना है। यहाँ नीच काम ही प्रेमकी पोशाक पहनकर आता है। असलमें प्रेमका व्याख्यान नहीं होता, प्रेमका तो आचरण होता है और वह किया नहीं जाता, होता है——बरबस होता है; क्योंकि प्रेमीसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता। प्रेमास्पद उसे भले ही न चाहे, बदलेमें उससे प्रेम न करे, उसके प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे; पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है। उसका चित्त तो अपने प्रेमास्पदमें सहज ही लगा है।

'मैं किसीका प्रेमास्पद बनूँ——प्रेमीका उपास्य बनूँ, मेरे प्रेमीलोग मुझे अपना प्रेमदान देकर आप्यायित करें'——ऐसी यदि मनमें चाह है तो समझना चाहिये कि हमारा मन नीच स्वार्थके——कलङ्करूप कामके वश हो रहा है और भोले लोगोंको प्रतारित करना चाहता है। ऐसी स्थितिमें सावधान हो जाना चाहिये। प्रेमका कहीं यदि उपदेश होता है तो वह अपने लिये ही होता है कि 'मैं ऐसा प्रेमी बनूँ, मैं ऐसा त्यागपूर्ण आचरण करूँ, जिससे मेरा पवित्र प्रेम खिल उठे।' ×××××शेष भगवत्कृपा।



प्रियतम प्रभुका प्रेम

सादर जय श्रीकृष्ण ! आपका कृपापत्र मिला । जब उन 'प्रियतमने आपके मनसे संसारको निकाल दिया' तब फिर उसमें रहा ही क्या । वह सूना स्थान तो फिर उन्हींका है । वे दूसरेके साथ रहना पसंद नहीं करते; इसीसे जो उनको चाहता है, उसको अपने मनसे उनके अतिरिक्त सभीको निकाल देना पड़ता है । आपके कथनानुसार तो उन्होंने ही आपके मनको संसारसे रहित कर दिया है । फिर घबरानेकी कोई बात नहीं है । प्रेम मिलेगा ही । वस्तुतः प्रेम न होता तो संसार निकलता ही कैसे । परंतु

प्रेमका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें होनेपर भी 'न होनेका' ही अनुभव हुआ करता है। नित्य संयोगमें वियोगकी अनुभूति प्रेम ही कराता है और वह 'वियोग' समस्त योगोंका सिरमौर होता है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपके मनमें उनका प्रेम पानेके लिये इतनी तड़प है और आप इसके लिये बहुत दुखी हैं। इस 'तड़प' और इस 'दुःख' से बढ़कर उनके प्रेमकी प्राप्तिका और क्या उपाय हो सकता है? आप इस वियोगमय योगका आश्रय लिये रहिये। यही तो प्रेमास्पदकी प्रेमोपासना है—नित्य जलते रहना और उस जलनमें ही अनन्त शान्तिका अनुभव करना!

प्रेमास्पद और प्रेमीके बीचमें तीसरेका क्या काम? मुझसे कोई प्रार्थना न करके आप सीधे उन्हींसे प्रार्थना कीजिये। फिर आपके पत्रके अनुसार तो आपमें-उनमें 'हजारों लड़ाइयाँ हो चुकी हैं।' ऐसी लड़ाइयाँ वस्तुतः प्रार्थनाके स्तरसे बहुत ऊँचेपर हुआ करती हैं। उनपर जो गुस्सा आता है, यह भी तो प्रेमका ही एक अङ्ग है। फिर यह कैसे माना जाता है कि प्रेम नहीं है। 'वे प्रेम देकर चाहे जितना जुल्म करें' जब यह आपकी अभिलाषा है, तब आप उनके जुल्ममें प्रेमका दर्शन क्यों न करें? यदि जुल्ममें ही उन्हें मजा आता है, यदि तरसानेमें ही उन प्रियतमको सुख मिलता है तो बड़ी खुशीकी बात है। वे पराये होते तो भला जुल्म करते ही कैसे? प्रेम न होता तो तरसाते ही कैसे? वहाँ तो यह प्रश्न ही नहीं होता। मेरी राय माँगी सो मेरी राय तो यही है कि बस, उन्हींपर निर्भर कीजिये, उन्हींसे प्रार्थना कीजिये, उन्हींको कोसिये और उन्हींसे लड़िये। कभी हिम्मत न हारिये—कभी निराश न होइये। वे छिप-छिपकर यों ही 'झाँका' करते हैं, स्वयं पकड़में न आकर पहले यों ही 'फँसाया' करते हैं, वे 'लिया' ही करते हैं 'देते नहीं।' परंतु यह सच मानिये, उनका यह छिप-छिपकर झाँकना आपके हाथोंमें पड़नेके लिये ही होता है; वे फँसनेके लिये फँसाया करते हैं और अपना सर्वस्व देनेके लिये ही 'लिया' भी करते हैं। जय श्रीकृष्ण!



श्रेय-प्रेयस्वरूप श्रीकृष्ण

जो सुख आत्माके लिये सुखकर हो, वही श्रेय है और जो इन्द्रियोंके लिये सुखकर हो, वही प्रेय है। भगवान् आत्माके भी आत्मा, परमात्मा हैं। उनकी प्रीतिके लिये जो सांसारिक भोगोंका ग्रहण होता है, वह वस्तुतः विषयोपभोग नहीं होता, वह तो विषयरूप सामग्रीके द्वारा भगवान्का पूजन होता है और इसीलिये उसका परम फल भी परम श्रेय—कल्याण ही है।

भक्ति-साम्राज्यकी सर्वोच्च सम्राज्ञी श्रीराधिकाजी एवं उनकी अभिन्न प्रतिमा व्रजाङ्गनाएँ इसी भावसे परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके लिये जीवनके समस्त कार्य करती थीं। उनका भगवान्के प्रति समर्पण और मधुर भाव इसी बुद्धिसे था। राजा परीक्षित्के यह पूछनेपर कि 'गोपियोंका अपने पति-पुत्रादिसे भी बढ़कर श्रीकृष्णमें प्रेम क्यों हुआ ?' श्रीशुकदेवजीने कहा है—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगच्चैतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।

(श्रीमद्भा० १०।१४।५४-५५)

'आत्मा ही सब प्राणियोंके लिये प्रियतम है। यह सारा चराचर जगत् (पति-पुत्र, भूमि-भवन, साम्राज्य-सुख्याति आदि) आत्माके सुखके लिये ही प्रिय हुआ करता है और श्रीकृष्ण ही अखिल आत्माओंके आत्मा हैं। (इसीलिये श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका इतना स्नेह है।)' भगवान् श्रीकृष्णने गोपाङ्गनाओंके विषयमें स्वयं उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

'गोपियोंने मेरे मन और मेरे प्राणको ही अपने मन-प्राण बना लिया और मेरे लिये ही उन्होंने समस्त देह-सम्बन्धी कार्योंका त्याग कर दिया है।'

इससे सिद्ध है कि यहाँ प्रेय और श्रेयमें कोई भेद नहीं रह गया है—श्रेय ही प्रेय है और प्रेय ही श्रेय है। श्रेयस्वरूप श्रीकृष्ण ही प्रियतम हैं और प्रियतम श्रीकृष्ण ही श्रेयस्वरूप हैं।



प्रेमीका स्वरूप

जो सबसे बढ़कर प्रिय हो, जो प्राणोंका आधार हो, जो जीवनका एकमात्र अवलम्बन हो, जिसकी स्मृति और मिलनकी आशा ही जीवनमें प्रतिपल चेतना प्रदान करती हो, उसे क्षणभरके लिये भी कैसे भुलाया जा सकता है? कोई कह सकता है कि 'दिन-रातमें दो घंटे भले ही उसे स्मरण कर लिया करो, शेष बाईस घंटे घरके दूसरे आवश्यक कामोंमें खर्च किया करो'; पर ऐसा करना उस प्रेमीके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? उसे कितने ही घंटे कुछ भी काम क्यों न करना पड़े, वह करेगा अपने प्रियतमका स्मरण करते हुए ही। उसे वह क्षणभरके लिये भी अपने हृदय-मन्दिरसे अलग नहीं कर सकता। हृदयमें उसकी झाँकी सदा खुली रहेगी, वह उसके दर्शन करता हुआ ही यन्त्रकी भाँति शरीरसे कार्य करता रहेगा। ऐसे अनन्यचेता सतत और नित्य चिन्तनमें लगे रहनेवाले प्रेमीको भगवान् नित्य प्राप्त ही रहते हैं, वे उसकी अन्तर्दृष्टिसे कभी ओझल हो ही नहीं सकते। इसी स्थितिको प्राप्त भक्त सूरदासने कहा था—

हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

भगवान्‌को याद रखनेका उपदेश, घंटे-दो-घंटे या अधिक नियमित कालके लिये नाम-जपकी आज्ञा, अथवा इतनी संख्या पूरी करनेपर सिद्धि हो जायगी—इस लोभसे संख्यायुक्त जप या संख्याकी गणनासे जप हो जाता है, अन्यथा भूल रह जाना सम्भव है, इसलिये संख्याकी अवधि बाँधकर जप करना चाहिये—यह आदेश तो उन आरम्भिक साधकोंके लिये है, जो भगवान्‌के प्रेमी नहीं हैं। न करनेकी अपेक्षा ऐसा करना बहुत उत्तम है। प्रेम प्राप्त होनेपर यह कहना नहीं पड़ता कि अमुक समयतक अमुक संख्यासे उन्हें याद किया करो। संख्या या समयका हिसाब कौन रक्खे? जब क्षणभरके लिये भी प्रियतमकी स्मृति चित्तसे

नहीं हटतीं, तब हिसाब-किताबकी बात ही कहाँ रह जाती है ? श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामको सीताका संदेश सुनाते हुए श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि 'प्रभो ! सीता प्राण-त्याग करना चाहती हैं, परंतु प्राण निकल नहीं पाते । सीताजीने कहा है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥

प्राण कैद हो गये । आठों पहर आपके ध्यानमें किवाड़ लगे रहते हैं । आपका ध्यान कभी छूटता नहीं, आपकी तमाल-श्याम-माधुरी मूर्ति कभी मनके नेत्रोंसे परे होती ही नहीं । यदि कभी किवाड़ खोले भी जायँ तो बाहर रात-दिन पहरा लगता है । पहरेदार कौन है ? राम-नाम । क्षणभरके लिये राम-नाम लेनेसे जिह्वा विराम नहीं लेती । प्राण कैसे निकलें ?' ऐसी स्थितिमें क्या सीताको इस उपदेशकी अपेक्षा थी कि 'तुम अशोकवाटिकामें अकेली रहती हो, समय बहुत मिलता है, इसके सिवा राक्षसियोंका डर रहता है; इसलिये कुछ देर रामको याद कर लिया करो ।' यह उपदेश या तो अभक्तोंके लिये है या प्रेमहीन रँगरूटोंके लिये ।

प्रेमीजनोंको तो अपने प्रेमास्पदका नाम इतना प्यारा होता है कि स्वयं तो वे उसे कभी भूल ही नहीं सकते, दूसरेको कभी भूले-भटके उच्चारण करते सुन लेते हैं, तो उसकी चरण-धूलि लेने दौड़ पड़ते हैं । प्रियतमका नाम लेनेवाला, प्रियतमका गुण गानेवाला, प्रियतमका प्रेमी हृदयसे उनके आदरका पात्र—प्रेमका पात्र न हो तो कौन होगा ? प्रियतमका चिह्न ही हृदयमें हर्ष पैदा कर देता है । गोपियाँ श्याम मेघोंको देखकर श्रीकृष्णका स्मरण करती हुई मेघोंका दीर्घजीवन मनाती हैं—

स्यामघन जीवत रहौ सदाय ।
तुम्ह देखत घनस्याम हमारे मनमंदिर प्रगटाय ॥

भरतजी श्रीरामके पदचिह्न और कुशशय्याके तृणोंको देखकर वहाँकी

धूलिको और तृणोंको सिर-माथेपर चढ़ाने लगते हैं,* श्रीराम-सीताके वस्त्रको हृदयसे लगाते हैं,† महामुनि वशिष्ठ‡ और भरतजी§ गुहको अपने रामका प्रिय सखा समझकर उसपर रामके सदृश स्नेह और प्रेम दिखलाते हैं। सीता-संदेश सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीराम और श्रीरामका आगमन-संवाद सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीभरत ऐसी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। दोनों ही अपनेको हनूमान्‌का चिरऋणी घोषित करते हैं—

श्रीरामके वचन—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

श्रीभरतके वचन—

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

भगवान् श्रीकृष्णका संदेश लेकर जब उद्धवजी व्रजमें पधारे, तब श्रीकृष्णके-से वेषमें देखकर गोपियोंने उन्हें घेर लिया और यह जानकर कि ये भगवान् श्रीकृष्णका संदेश लेकर आये हैं, गोपियोंके हर्षका पार न रहा—

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३)

---

* कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

† पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।

‡ राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

§ भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥

—और उन्होंने विनयावनत होकर प्रेमभरी लज्जापूर्ण दृष्टिसे और मधुर वचनोंसे उनका सत्कार किया ।

जबतक भगवान् हमारे परम प्रेमास्पद नहीं हैं, तभीतक उनके स्मरण-चिन्तनका अभ्यास करना है । जिस शुभ क्षणमें हम अपने आपको उनके चरणोंपर न्योछावर कर देंगे, मन उनके मनमें मिला देंगे, तबसे तो, हर घड़ी हमें उन्हींकी प्राणाधिक प्रिय छवि दिखलायी देगी; फिर गोपियोंकी भाँति कविवर 'देव' की भाषामें हम भी यह कह सकेंगे—

जौ न जीमें प्रेम तौ कीजै व्रत नेम; जब
कंजमुख भूलै, तब संजम बिसेखियै ।
आस नहीं पी की, तब आसन ही बाँधियत;
सासन कै साँसन कौ मूँदि पति पेखियै ॥
नख तैं सिखा लौं सब स्याममयी बाम भई,
बाहर औ भीतर न दूजौ देव लेखियै ।
जोग करि मिलैं जो बियोग होइ व्रजपति कौ;
जो न हरि होयँ, तौ ध्यान धरि देखियै ॥

योग कहते हैं अप्राप्तकी प्राप्तिको और प्राप्तके अभावको कहते हैं वियोग । यहाँ प्राणप्यारे नन्दनन्दनका नित्य संयोग है, फिर योग किसलिये साधें ? वियोग ही नहीं, तब योग कैसा ?

× × × ×

प्रियतम अनेक नहीं हो सकते । वह एक ही होता है । जगत्के समस्त प्रिय और प्रियतर पदार्थ परम प्रियतमके चरणोंपर सहज ही न्योछावर कर दिये जाते हैं । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती, जो प्रियतमकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके । जबतक हृदयमें प्रियतमका कोई प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ या भाव रहता है, तबतक वास्तविक प्रियतमभावकी स्थापना ही नहीं हुई । प्रियतम-भावके प्राप्त हो जानेपर उसके सामने सभी पदार्थ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगते हैं । देवर्षि नारदने इस प्रियतम-भावके उपासकोंमें भाग्यवती श्रीकृष्ण-प्रिया व्रजगोपियोंका उदाहरण दिया है—'यथा व्रजगोपिकानाम् ।'

कविवर रत्नाकरजीने गोपियोंके अति सुन्दर भावका वर्णन किया है—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं, सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम ।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम ॥
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानिही मैं
लोक-परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम ।
जाके या बियोग, दुखहू मैं सुख ऐसौ कछू,
जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहू मैं दुख मानैं हम ॥

फिर उसके लिये, प्राणाधार परम प्रियतम साँवरेके बिना जगत्में और कोई रह ही नहीं जाता ।

रहीमने कहा है—

प्रीतम छबि नैनन बसी, परछबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि पथिक आपु फिरि जाय ॥

यह बड़ी ऊँची उपासना है । यहाँ केवल इस दृश्य जगत्से ही वैराग्य नहीं है, प्रियतमके सिवा किसी भी पदार्थमें राग रह ही नहीं जाता ।

× × × ×

प्रेमीके लिये प्यारेकी प्रत्येक वस्तु प्यारी होती है, कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर प्यारी होती है । लौकिक सम्बन्धमें भी हम देखते हैं कि जब किन्हीं लड़के-लड़कीका सम्बन्ध हो जाता है, तब घरमें किसीसे एक दूसरेका नाम सुनकर या उनके विषयमें कोई बात सुनकर वे अपने हृदयमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी अनुभव करने लगते हैं । प्यारेका वस्त्र, प्यारेका भोजन—यहाँतक कि प्यारेकी फटी जूती भी प्यारी होती है । जब लौकिक प्रेमकी ऐसी बात है, तब भगवत्प्रेमके विषयमें तो कहना ही क्या है । शृङ्गवेरपुरमें भरतजी भगवान् श्रीरामचन्द्रके शयनके स्थानमें उनके अङ्गसे स्पर्शित 'कुश-साथरी' को देखकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये थे । अक्रूरजी भगवान्के चरणचिह्नोंको देखकर तन-मनकी सुधि भूल गये थे । आज भी जब हम व्रजभूमिको देखते हैं, तब स्वतः ही हमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति हो आती है और उसमें एक अनोखा आनन्द मिलता है । प्रेम और आनन्दका अविनाभाव-सम्बन्ध है; जहाँ प्रेम है, वहाँ आनन्द है ही ।

इसीसे गोपियोंके प्रेमका महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधारानी इसी प्रेम और आनन्दके मूर्तिमान् रूप हैं। भगवान्का जो आनन्दस्वरूप है, वही श्रीमती राधा हैं। राधारानीके प्रेमास्पद भगवान् हैं और भगवान्की प्रेमास्पदा श्रीराधा हैं। प्रेमका स्वभाव है 'तत्सुखे सुखित्वम्'—प्रेमास्पदके सुखमें सुखी होना; यही काम और प्रेमका अन्तर है। काममें अपने सुखकी इच्छा है और प्रेममें प्रियतमके सुखकी! राधाजी श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही प्रकट हुई हैं और अपनी सेवासे श्रीकृष्णको आनन्द होता देखकर परम सुखी होती हैं। इधर राधाजीको सुखी देखकर श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धि होती है और श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धिसे राधाजीका सुख और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार एक दूसरेके आनन्दसे दोनोंका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला आनन्द ही भगवान्का नित्यरास है। प्रेममें यही तो विलक्षणता है। इसमें कहीं अलम् नहीं होता। प्रेमका स्वरूप ही है 'प्रतिक्षणवर्धमानम्'। प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका सुख है, चाहे उसका वह सुख प्रेमीके लिये लोक-दृष्टिसे कितना ही कष्टकर क्यों न हो।

हम जो संसारके दुःखोंसे घबरा उठते हैं, इसका कारण क्या है? यही कि हम उनमें प्रेमास्पद भगवान्की रुचिको, उनके विधानको, नहीं देखते। कठोर आघातमें उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श नहीं पाते। परंतु भगवान्का प्रेमी भक्त किसी कष्टसे नहीं घबराता, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुमें भगवान्का स्पर्श पाता है। वास्तवमें भगवान्का प्रेमी भक्त सब कष्टोंसे परे पहुँचा हुआ होता है, उसका जीवन भगवत्सेवामय होता है। वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति तो वह चाहता है, जो किसी बन्धनका अनुभव करता हो। भगवत्प्रेमका बन्धन तो सारे बन्धनोंके छूट जानेपर होता है और इस प्रेमबन्धनसे भक्त कभी मुक्त होना चाहता नहीं। जो इस प्रेमबन्धनसे मुक्ति चाहता है, वह भक्त कैसा? इसीसे कहा गया है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

अर्थात् भक्तजन देनेपर भी मेरी सेवाको छोड़कर मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते।

× × × ×

एक वैष्णव-ग्रन्थमें श्रीमती राधाजी कहती हैं कि 'ऐसा मन होता है, मेरे लाखों आँखें हों तो श्यामसुन्दरके दर्शनका कुछ आनन्द आये। लाखों कान हों तो श्यामनामके श्रवणका सुख मिले।' यह कोई कल्पना नहीं है। प्रेम वस्तु ही ऐसी है। जिस दिन हमारा भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, उस दिन उनका नाम हमें इतना प्यारा होगा कि वह हमारे जीवनकी सबसे बढ़कर आवश्यक वस्तु बन जायगा। जबतक हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता, तभीतक हमें माला आदिकी आवश्यकता है। प्रेम होनेपर तो प्रियतमके नामोच्चारणमात्रसे हमारी नस-नस नाच उठेगी। हम अपने प्रियतमके प्रेममें इतने उन्मत्त हो जायँगे कि हमारे रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि होने लगेगी।

× × × ×

अनन्य प्रेमीजन जब एकत्रित होकर अपने प्राणस्वरूप प्रियतमकी चर्चा करते हैं, उस समय उनका प्रेमसागर उमड़ पड़ता है। तब वे चेष्टा करनेपर भी नहीं बोल सकते, उनका कण्ठ रुक जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है, रोम-रोमसे प्रेमकी किरणधाराएँ निकलकर उस स्थानमें निर्मल प्रेमज्योति फैला देती हैं। वहाँका वातावरण अत्यन्त विशुद्ध और प्रेममय हो जाता है। उस समय वे प्रेमी भक्त प्रेमविह्वल होकर आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बहाते हुए परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। यह स्थिति बहुत ही दुर्लभ और परम पवित्र होती है; जिन भाग्यवानोंको यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, उन सबके कुल तो पवित्र होते ही हैं—उनके अस्तित्वसे पृथ्वी भी पवित्र हो जाती है। उस समय उन पवित्र प्रेमस्वरूप भक्तोंके तनसे स्पर्श की हुई तनिक-सी वायु जिसके शरीरको स्पर्श कर लेती है, वह भी पवित्र हो जाता है।



प्रेमीके काम-क्रोधादिके पात्र—प्रियतम भगवान्

××××प्रियतम भगवान् जैसे अपने प्रेमी भक्तके प्रेमके पात्र हैं, वैसे ही उसके काम-क्रोधादिके पात्र भी वे ही हैं। दूसरा तो कोई उसके मन है ही नहीं, तब इनका पात्र और कौन हो? इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें भी विषयी पुरुषों-जैसे ही काम, क्रोध, अभिमान रहते हैं। प्रेमी भक्त महात्माओंमें यह दूषित काम कहाँ। उनमें विषयासक्ति, हिंसा, द्वेष और क्रोध कहाँ। उन अमानियोंमें मानकी गन्ध भी कहाँ। इनका तो उनमें बीज ही नहीं है। अपने सुखकी जब कोई वासना ही नहीं, तब ये दोष कहाँसे आयें? उन भक्तोंके जीवनका उद्देश्य तो बस, एक प्रियतमको सुखी करना ही है—'कृष्णसुखैकतात्पर्य गोपीभाववर्य।' उनके चित्तमें जगत्का संस्कार ही नहीं है; वे तो लज्जा, घृणा, कुल, शील, मान, देह, गेह, भोग, मोक्ष—सबकी सुधि भुलाकर केवल अपने प्रियतम भगवान्पर ही न्योछावर हो चुके हैं। अतएव जैसे ये भक्त स्वयं दिव्य भाववाले होते हैं, वैसे ही इनके काम, क्रोध, अभिमान भी दिव्य होते हैं। इसीलिये परम विरागी जीवन्मुक्त मुनियोंने इस प्रकारके भगवत्-रंग-रँगीले प्रेमियोंकी ऐसी लीलाएँ गाने और सुननेमें अपनेको कृतार्थ माना है। जिनका चित्त सब ओरसे हट गया है, एकमात्र भगवान् ही जिनकी कामनाकी वस्तु रह गये हैं, वे भक्त अपने उन भगवान्के दर्शनकी कामनाके वेगसे पीड़ित होकर रो-रोकर पुकारते हैं—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत)

'हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एकमात्र बन्धु ! हे हमारे मनोंको अपनी ओर बरबस खींचनेवाले ! हे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?'

श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीरुक्मिणीजी कहती हैं—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥
× × × ×
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३७-३८, ४३)

'हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो कानोंके द्वारा हृदयमें प्रवेश करके सुननेवालोंके अङ्गतापको हरण कर लेते हैं वे आपके दिव्य गुण, और जो नेत्रधारियोंकी दृष्टिका सबसे परम लाभ है वह आपका दिव्य रूप—इनकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त सारी लोकलाजको छोड़कर आपपर अत्यन्त आसक्त हो गया है । हे मुकुन्द ! कुल, शील, रूप, विद्या, वय, द्रव्य और प्रभावमें आपके समान बस, आप ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! आप नरलोकके मनको मोहनेवाले हैं । हे पुरुषसिंह ! विवाहकाल (आपसे मिलनका अवसर) उपस्थित होनेपर ऐसी (कौन प्रेमी भक्तरूपी) कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कन्या है, जो आपके साथ गँठजोड़ा करनेकी इच्छा न करेगी ? हे कमललोचन ! उमापति शंकरके समान महान् देव अपने हृदयका तम दूर

करनेके लिये आपकी जिस चरणधूलिमें स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, यदि वह चरणधूलि मुझे प्रसादरूपमें नहीं मिली तो यह निश्चय समझिये कि मैं व्रतादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी, और ऐसे करते-करते कभी सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद मुझको प्राप्त होगा ही।'

भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानियाँ द्रौपदीसे कहती हैं—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८३। ४१-४२)

'हे साध्वि! हमें पृथ्वीके साम्राज्य, इन्द्रके राज्य अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माके पद, मोक्ष या वैकुण्ठकी भी इच्छा नहीं है। हम तो केवल यही चाहती हैं कि प्रियतम श्रीकृष्णकी कमलाकुच-कुंकुमकी सुगन्धसे युक्त चरणधूलिको ही सदा अपने मस्तकोंपर लगाती रहें।' मुक्ति तो ऐसे भक्तोंके चरणोंपर लोटा करती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

'जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है, मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है।'

आदर्श प्रेममयी भक्तशिरोमणि गोपियाँ प्रियतम भगवान्‌के आँखोंसे ओझल हो जानेपर विलाप करती हुई कहती हैं—

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥
व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ५-६, १३)

'हे यदुकुलशिरोमणि ! जो लोग संसारके भयसे तुम्हारे चरणोंकी शरण लेते हैं, तुम्हारे करसरोज उन्हें अभय देकर उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं । हे प्रियतम ! अपने उन्हीं करकमलोंको, जिनसे आपने लक्ष्मीका हाथ पकड़ा है, हमारे सिरपर रखिये । हे व्रजवासियोंके दुःखको हरनेवाले वीर ! आपकी मन्द मधुर मुसकान भक्तोंके गर्वका खण्डन करनेवाली है । हे सखे ! हम आपकी किंकरी हैं, कृपा करके हमें स्वीकार कीजिये और अपना सुन्दर मुखकमल हमें दिखाइये । हे रमण ! हे आर्तिनाशन ! तुम्हारे चरणारविन्द प्रणत जनोंकी कामना पूरी करनेवाले हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सदा सेवित हैं, पृथ्वीके आभूषण हैं, विपत्तिकालमें ध्यान करनेसे कल्याण करनेवाले हैं; हे प्रियतम ! उन परम कल्याणमय सुशीतल चरणोंको हमारे तप्त हृदयपर स्थापित कीजिये ।'

इस प्रकार प्रेमी भक्त श्रीकृष्णके कामसे पीड़ित हुए सदा उन्हींके लिये रोया करते हैं और उन्हें पुकारा करते हैं; और आँखमिचौनीकी-सी लीला करनेवाले लीलाविहारी भगवान् जब उनकी प्रेम-पुकार सुनकर त्रिभुवन-कमनीय, योगिजनदुर्लभ, देवदेवप्रत्याशित, ऋषि-मुनि-महापुरुषचित्ताकर्षक, निखिल-सौन्दर्य-माधुर्यरसामृतसारभूत, आनन्दकन्द मदनमोहन मन्मथमन्मथ रूपमें मन्द-मन्द मुसकाते हुए और मुरलीमें अपना दिव्य मोहन सुर भरते हुए सहसा प्रकट होकर अपनी प्रेमानन्द-रसमाधुरी चारों ओर बिखेर देते हैं, जब अपने सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासुशीतल वदनविधुकी शुभ्र ज्योत्स्ना चारों ओर छिटका देते हैं, तब वहाँ उन भाग्यवान् दिव्यचक्षु दिव्यभावापन्न भक्त महात्माओंके चित्तोंकी क्या अवस्था होती है—इसका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है । यह अनिर्वचनीय रहस्य है ।

उस समय भक्तका अपना सब कुछ उनके चरणोंमें स्वयमेव न्योछावर

हो जाता है और वह आनन्दोल्लासमें मत्त होकर सारे जगत्‌की परवा छोड़कर पुकार उठता है—

घर तजौं, बन तजौं, नागर नगर तजौं,
बंसीबट तट तजौं काहू पै न लजिहौं।
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहौ कैसै तजौं,
आज राजकाज सब ऐसे साज सजिहौं॥
बावरौ भयौ है लोक, बावरी कहत मो कौं,
बावरी कहे ते मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और मैया तजौं,
दैया तजौं भैया, पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

'जीना और मरना तुम्हारे ही लिये होगा और तुम्हारे ही चरणोंमें होगा। मेरे हृदयकी यही एकमात्र कामना है। जब सब कुछ न्योछावर हो गया, तब फिर मरनेके बाद शरीरके ये पाँचों भूत अलग-अलग बिखरकर भी तुम्हारी ही सेवा करेंगे।'

कहीं ये पञ्चभूत जब मुझे छोड़कर अलग हों, तब प्रियतमकी सेवासे हट न जायँ, इसीलिये विह्वलचित्तसे भक्त विधातासे प्रार्थना करता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

इसीका अनुवाद करते हुए एक कविने कहा है—

मरिबे डरौं न बिधिहिं बस, पंचभूत करि बास।
पी बापी, मारग, मुकुर, बीजन, अँगन अकास॥

पाँचों तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही; हे प्रभो! आप इतना कर दीजिये कि जलका भाग उस सरोवर या बावड़ीमें जाकर मिल जाय, जिसके जलको मेरे प्रियतम नहाने और पीनेके काममें लेते हों; अग्नितत्त्व उस दर्पणमें जा मिले, जिसमें प्रियतम अपना मुख देखते हों; पृथ्वीतत्त्व उस मार्गमें मिल जाय, जिस मार्गसे प्रियतम आते-जाते हों; वायुतत्त्व उस भाग्यवान् पंखेमें जा मिले, जिससे

प्रियतम हवा लेते हों और आकाशतत्त्व उस आँगनके आकाशमें जाकर मिल जाय, जिसमें प्रियतम बैठते हों ।

और जीव ? वह तो प्रभुके चरणोंसे कभी अलग हो ही नहीं सकता । उसको तो वे अपने हृदयमें ही छिपा रक्खेंगे ! यह है भक्तोंके 'काम' का एक छोटा-सा दृश्य ! अब उनका क्रोध देखिये !

एक दिन श्रीकृष्णकी किसी खिझानेवाली चालसे श्रीराधाजी खीझ गयीं। सखी समझाने लगी तो वे क्रोधमें भरकर कहने लगीं—तू उनका नाम भी मेरे सामने मत ले; उनकी तो बात ही क्या है, मैं काले रंगकी वस्तुमात्रका त्याग कर दूँगी । जीवनभर उनके विरहतापसे जलती रहूँगी, परंतु उनसे मिलूँगी नहीं ।

मिलौं न तिन सौं भूल, अब जौलौं जीवन जियौं ।
सहौं बिरह कौ सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं ॥
मैं अब अपने मन यह ठानी । उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी ॥
कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ । मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ ॥
सुनौं न स्रवननि अलि पिक बानी । नील जलज परसौं नहिं पानी ॥

तनिक ध्यान देकर देखिये, इस खीझमें कितनी रीझ भरी है ।

एक दिन लीलामयने भक्त सखाओंके प्रणयकोपका आनन्द लूटनेके लिये खेलमें गड़बड़ मचाकर सखाओंको खिझा दिया । सखाओंने मिलकर निश्चय किया कि 'इस नटखटको खेलसे अलग कर दो ।' श्यामसुन्दरका वियोग तो क्षणभरके लिये भी सहनेको उनमेंसे एक भी तैयार नहीं था; क्योंकि उसे अलग करते ही प्राण अलग हो जाते हैं । परंतु ऊपरसे बात गाँठकर उन्होंने कहा—'कन्हैया ! तुम स्वयं ही गड़बड़ मचाते हो और फिर तनकर रूठ जाते हो; हटो यहाँसे, हम तुम्हें अपने साथ नहीं खेलने देंगे ।' बस, जहाँ फटकार मिली कि प्राणधन श्यामसुन्दर ढीले पड़ गये । लगे पैरों पड़ने और शपथ खा-खाकर क्षमा माँगने । सूरदासजीने गाया है—

खेलन मैं को काकौ गुसैयाँ ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबसही कत करत रुसैयाँ ॥

जाति पाँति हमते बड़ नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत ताते, जाते अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठ करै ता सँग को खेलै, हा हा खात परत तब पैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेल्यौ ई चाहैं, दाँव दियौ करि नंद दुहैयाँ॥

यह है उनका क्रोध!

अब रही मानकी बात, सो दूषणरहित मान तो इस प्रेमाभक्तिका एक भूषण ही है। एक समय श्रीराधारानी रूठ गयीं, मान कर बैठीं और सखियोंसे बोलीं—

सखि नँदलाल न आवन पावैं।
भीतर चरन धरन जिन दीजौं, चाहे जिते ललचावैं॥
ऐसन कौ बिस्वास कहा री, कपट बैन बतरावैं।
'नारायन' इक मेरे भवन तजि अनत चहे जहँ जावैं॥

भगवान् मनाते-मनाते थक गये और शेषमें बोले—

इतौ श्रम नाहिंन तबहुँ भयौ।
सुनु राधिका! जितौ श्रम मोकौं तैं इहिं मानु दयौ॥
धरनी धरि बिधि बेद उधारौ, मधु सौ सत्रु हयौ।
द्विज नृप कियौ, दुसह दुख मेट्यौ, बलि कौ राज लयौ॥
तोर्‌यौ धनुष, सुयंबर कीन्हौ, रावन अजित जयौ।
अघ बक बच्छ अरिष्ट केसि मथि, दावानल अँचयौ॥
तिय बपु धर्‌यौ, असुर सुर मोहे, को जग जो न द्रयौ।
गुरुसुत मृतक ज्यायबे कारन सागर सोध लयौ॥
जानौं नाहिं कहा या रस मैं, सहजहिं होत नयौ।
'सूर' सो बल अब तोहि मनावत मोहि सब बिसरि गयौ॥

'धन्य तेरा मान! बड़े-बड़े काम किये; कहीं हार नहीं मानी, कहीं थकावट नहीं प्रतीत हुई। आज तुझे मनानेमें मेरा सारा बल बिला गया।' यह भक्तोंकी और भगवान्‌की प्रणय-लीला है—इस लीलामें राग, काम, क्रोध, मान सभी हैं; परंतु सभी दूसरे रूपमें हैं। सभी पवित्र प्रेमके नामान्तरमात्र हैं, यहाँका यह सर्वधर्मत्याग ही परम धर्म है। यहाँकी अविधि ही सर्वोपरि प्रेमकी विधि है।



भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधन

सचमुच मनुष्य, जो अपने जीवनको भगवान्से विमुख बिता देता है, बड़ी भारी भूल करता है। जीवन बीत जानेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है—हाय ! जीव-जीवनमें मिला हुआ सुअवसर बड़ी बुरी तरह खो दिया। मनुष्य-जीवनका एकमात्र प्रयोजन होना चाहिये भगवान्की या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि। गङ्गाकी धारा जैसे निरन्तर अनवरतरूपसे समुद्रकी ओर जाती है—सारी विघ्न-बाधाओंको हटाती हुई, एक लक्ष्यसे, वैसे ही हमारी चित्त-वृत्तियाँ, हमारी चेष्टाएँ, हमरी चिन्तनाएँ, हमारी क्रियाएँ, हमारे अनुभव—सब जाने चाहिये केवल भगवान्की ओर !

यह सत्य है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये अन्य सारे प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ेगा। सब कुछ उस प्रेमकी आगमें जला डालनेके लिये हँसते-हँसते तैयार हो जाना पड़ेगा और मौका पाते ही बिना चूके इन सब कुछको वैसे ही जला डालना होगा; जैसे बिना विलम्ब तत्परतासे हम मुर्देको फूँक देतें हैं। मुर्दा फूँककर तो आत्मीयताके सम्बन्धसे हम रोते हैं; परंतु भगवत्प्रेमकी आगमें जब विषयोंका मुर्दा फुँक जाता है, तब तो रोनेके—विषादसे और शोकसे रोनेके मूल कारण ही नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी रोना भी होता है, तो वह बड़े ही आनन्दका कारण होता है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति आनन्दसे ही होती है।

इसलिये केवल भगवान्का ही चिन्तन कीजिये। भगवान्से प्रार्थना कीजिये, हमारा सारा जीवन—जीवनकी क्षुद्र-से-क्षुद्र चेष्टा भगवान्के लिये ही हो। सम्पूर्ण हृदयसे हम भगवान्को ही भजें। दूसरेके लिये न मनमें स्थान हो और न दूसरेकी सेवामें कभी तन लगे। तन, मन, वचन, धन—जो कुछ है, उन्हींका तो है। उनकी वस्तु उन्हींके अर्पण हो जाय। जो वस्तु उनके अर्पण हो जाती है, वही बचती है; वह हो जाती है अनमोल और वह हमें विपत्तिके अथाह समुद्रोंसे तार देती है।

प्रेममें खोना और अलग होना नहीं होता, खोने और अलग होनेमें भी पाना ही होता है। यही तो प्रेमका रहस्य है।

भगवत्प्रेमकी अभिलाषा

अंदर जबतक दोष हैं, तबतक अपनेको कभी उत्तम नहीं समझना चाहिये। सारे दोषोंका मिट जाना प्रतीत होनेपर भी दोषोंकी खोज करनी चाहिये तथा थोड़ा-सा भी दोष शूलकी तरह हृदयमें चुभना चाहिये। जबतक किंचिन्मात्र भी दूषित भाव हृदयमें रहे, तबतक सूरदासजीकी भाँति अपनेको महान् पातकी ही मानकर प्रभुके सामने रोना चाहिये। अन्तर्यामी प्रभुसे अपने हृदयकी बात आर्त भाषामें कहनी चाहिये। मनुष्य कदाचित् न सुने, किसीकी भाषाका मर्म न समझ सके, समझकर भी लापरवाही कर दे और समझ भी ले किंतु शक्ति न होनेसे कुछ भी सहायता न कर सके; परंतु भगवान्में ये सब बातें कोई-सी नहीं हैं। वे सुनते हैं, सबके हृदयकी भाषाका रहस्य समझते हैं, लापरवाही भी नहीं करते और सब प्रकार दोष-दुःख दूर करनेकी उनमें पूर्ण सामर्थ्य भी है; इसलिये मनुष्यको

अपने दोष-दुःखोंका नाश करनेके लिये प्रभुसे ही प्रार्थना करनी चाहिये। प्रभु अन्तर्यामी हैं, सब कुछ जानते हैं; परंतु प्रार्थना किये बिना, हमारे चाहे बिना, उनके द्वारा सदा किया जानेवाला उपकार हमपर प्रकट नहीं होता। तथा ऐसा विशेषरूपसे अद्भुत कार्य भी नहीं होता जो चाहनेपर होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि चींटीकी चालके बदलेमें भगवान् इच्छागति गरुड़की चालसे ही आते हैं, परंतु चींटीकी चालसे भी उनकी ओर चल पड़ना तो हमारा ही कार्य है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११) का यही रहस्य है कि मनुष्य उन्हें चाहने लगे, उनकी ओर अपनी ही चालसे चलना प्रारम्भ कर दे; फिर भगवान् अपनी चालसे चलकर उसके पास बात-की-बातमें पहुँच जायँगे। हमारी मन्द गतिके बदलेमें वे अपनी तेज चाल नहीं छोड़ेंगे। परंतु उनकी ओर चलना, उन्हें चाहना होगा पहले हमें। आप चल पड़े हैं, तो प्रभुके वाक्योंपर विश्वास रखिये, वे आपकी ओर द्रुत गतिसे आपके मनकी गतिके अनुसार ही अपनी तीव्र गतिसे आ रहे हैं; यदि नहीं चले हैं तो सब कुछ भूलकर चल पड़िये और फिर देखिये कितनी जल्दी वे आते हैं। भगवान्में अनन्य प्रेमकी भिक्षा अनन्य प्रेमी भगवान्से ही माँगनी चाहिये। यदि हमारी अभिलाषा सच्ची होगी तो अनन्य प्रेम अवश्य मिलेगा। अनन्य प्रेमकी आपको अभिलाषा है, यह बड़े ही सौभाग्य और आनन्दकी बात है। भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेकी अभिलाषासे बढ़कर कोई सौभाग्यभरी उत्तम अभिलाषा नहीं है। यह सर्वोच्च अभिलाषा है, जो मोक्षतककी अभिलाषाको लात मार देनेके बाद उत्पन्न होती है। भगवत्प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जो मोक्षकी इच्छाके भी त्यागसे सिद्ध होता है और जिसके परे श्रीभगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है। बल्कि भगवान् भी उस प्रेमकी डोरमें बँधकर प्रेमीके नचाये नाचते, बाँधे बँधते, जन्माये जन्मते और मारे मरते हुए-से प्रतीत होते हैं। विशुद्ध और अनन्य प्रेमकी महत्ता और कौन कहे, यह प्रेम प्रेमार्णव भगवान्से ही मिलता है। दूसरे किसमें शक्ति है, जो इसका व्यापार करे।

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका साधन—उत्कट चाह

श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ होनेपर भी भगवत्कृपासे उसीको हो सकती है और सहज ही हो सकती है, जो वास्तवमें उसे चाहता है। चाहता वही है, जो प्रेमके मूल्यमें सर्वस्व अर्पण करनेको तैयार है— यद्यपि भगवत्प्रेम किसी कीमतपर नहीं मिलता; क्योंकि वह अमूल्य है।—

'कैवल्य' की कीमत भी उसे खरीदनेके लिये पर्याप्त नहीं है; यों कहना चाहिये कि भगवत्प्रेम खरीदा ही नहीं जा सकता। वह उसीको मिलता है, जिसको कृपा करके भगवान् देते हैं, और देते उसको हैं जो सर्वस्व उनके चरणोंपर न्योछावर करके भी अपनेको प्रेमका अपात्र मानता है और पल-पलमें प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमपर मुग्ध होता रहता है। प्रेम न तो किसी भी उपायसे मिलता है और न उसके लिये समयकी ही शर्त है। प्रेमके मार्गमें किसी भी शर्तके लिये गुंजाइश नहीं है। यहाँ तो

बिना शर्तका समर्पण है। सब कुछ दे डाले, तन-मन अर्पण कर दे। मुरलीकी भाँति हृदयको शून्य कर दे और बदलेमें कुछ भी न चाहे। चाहे तो यही चाहे कि 'इस शून्य हृदयका भी उस प्रेमास्पदको पता न लग जाय; क्योंकि शून्य होनेपर भी यह प्रेमके योग्य नहीं है। उसका पवित्र प्रेम यहाँ आयेगा, इस हृदयमें उसका प्रवेश होगा तो इस प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी। प्रेमके लिये सर्वथा अयोग्य मुझको प्रेम न देनेमें प्रभुके प्रेमकी शोभा है, परंतु वह परम प्रेमास्पद इतनेपर भी न जाने क्यों मुझसे प्रेम करता है, क्या वह स्वयं अपनी प्रेमप्रतिष्ठाको भूल गया है, जो मुझ-सरीखे त्यागकी स्मृति रखनेवाले त्यागाभिमानियोंकी ओर निरन्तर प्रेमदृष्टिसे देखता है और मुझमें भी प्रेमका अस्तित्व मानता है।'

स्वाभाविक ही सर्वार्पणके पश्चात् जब इस प्रकारका भाव होता है, तब भगवान्‌के प्रेमका पवित्र प्रादुर्भाव हृदयमें होता है। प्रेम तो प्रत्येक जीवके साथ भगवान्‌का दिया हुआ है ही, वह विषयानुरागके दृढ़ और मोटे आच्छादनसे आवृत है; विषयासक्ति, ममता और अहंकारके काले पर्देसे ढका है। इस आवरण और आच्छादनके हटते ही वह निर्मल और पवित्र रूपमें प्रकट हो जाता है। यह प्राकट्य ही प्रेमका उदय है। अतएव जबतक विषयासक्ति, ममता और अहंकार दूर न हो,तबतक भगवान्‌के गुण, माहात्म्य, सौन्दर्य-माधुर्य, कारुण्य आदिके श्रवण-मननसे विषयासक्तिको, परम आत्मीय-भावके निरन्तर अनुचिन्तन और निश्चयसे विषय-ममत्वको और शरणागतिके भावसे अहंकारको हटाते और मिटाते रहना चाहिये। साथ ही भगवच्चिन्तनका सतत अभ्यास करना चाहिये।'प्रेम कितने दिनमें मिल सकेगा, इस बातकी चिन्ता छोड़कर उनका निरन्तर चिन्तन कैसे होता रहे, इसीकी चिन्ता करनी चाहिये। नाम-जप, गुणानुवाद-श्रवण-मनन, स्वरूपका ध्यान—ये सभी इसमें सहायक हैं। परंतु निर्भरताका भाव बहुत अधिक सहायक होता है। निर्भरताका अर्थ प्रेमप्राप्तिकी उत्कण्ठाका ह्रास नहीं है। उत्कण्ठा बढ़ती रहे, भगवान्‌के प्रेमके लिये प्राण तड़पते रहें, हृदयमें विरहाग्निकी ज्वाला धधक उठे। परंतु साधन एकमात्र निर्भरता हो। अपने पुरुषार्थका बल कुछ भी न रहे। प्राणोंकी आकुल तड़प, हृदयकी प्रदीप्त अग्नि ही निरन्तर

तड़पाती और जलाती रहे तथा वह तड़पन और ताप ही जीवनका आधार भी रहे। रक्त-मांसको खा डालनेवाली यह आग ही प्राणोंकी रक्षा करती रहे। बड़े सौभाग्यसे इस आगमें जलते हुए, इसी आगको प्राणाधार बनानेका सुअवसर प्राप्त हुआ करता है। उस समय यही चाह हुआ करती है कि प्राणाधार! यह आग कभी न बुझे और उत्तरोत्तर बढ़ती रहकर, मुझे जला-जलाकर सुख पहुँचाती रहे। प्रेमकी प्राप्तिका तो मुझे अधिकार ही नहीं। मेरा तो अधिकार बस जलनेका है। जलता ही रहूँ!

सच्ची चाहका स्वरूप

×××१—सच्ची चाहका स्वरूप यह है कि फिर चाही हुई वस्तुके बिना जीना कठिन हो जाता है। सच्ची चाहका रूप होता है अनिवार्य आवश्यकता। उस एक वस्तुके सिवा और किसीकी चाह तो बहुत पहले नष्ट हो जाती है। जब प्रेमी अपने इष्टके बिना रह नहीं सकता, तब इष्टको उसे दर्शन देने ही पड़ते हैं; फिर उसे खाना-पीना, सोना-जगना, उठना-बैठना—सब कुछ भार हो जाता है। सच्ची चाह उत्पन्न होनेके बाद फिर दर्शनोंमें देरी नहीं लगती।

२—सच्ची चाह निष्काम होनी चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है। यदि हमें भगवान्‌से उनके सिवा कुछ और लेनेकी लालसा होगी तो वे उसे ही देंगे, अपनेको क्यों देने लगे। पूर्वकालमें सकाम उपासना करने-वालोंको भी भगवान्‌के दर्शन हुए हैं; परंतु इस प्रकारके दर्शन भगवत्प्रेमकी तत्काल वृद्धि नहीं करते। उन्हें दर्शनानन्दकी यथार्थ प्राप्ति प्रायः नहीं होती। वे केवल भोग या मोक्ष ही पा सकते हैं, प्रेम नहीं।

३—चाहको बढ़ानेका एक सफल उपाय यह है कि भोगोंको अनित्य और दुःखोत्पादक समझकर उनकी सारी इच्छाएँ छोड़ दी जायँ। जबतक दूसरी कोई भी कामना रहेगी, तबतक भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा तीव्र नहीं हो सकती। × × × ×



भगवद्विरहकी दुर्लभ स्थिति

× × × भगवद्विरह एक ऐसी दुर्लभ स्थिति है, जो परम सौभाग्यसे किन्हीं उत्कट प्रेमियोंको स्वतः ही प्राप्त होती है । इसमें विधि-निषेधकी गति नहीं है । प्रेमीका काम तो प्रियतमकी स्मृति बढ़ाते हुए उसके विरहकी वेदनाको तीव्र करना ही है । जब वह वेदना असह्य हो जाती है, तब प्रियतमके लिये भी दूर रहना कठिन हो जाता है । उन्हें या तो स्वयं आना पड़ता है या वे उसे ही अपने पास बुला लेते हैं । प्रियतमके उस मधुर आवाहनसे प्रेमी शरीरको तृणवत् त्यागकर भगवद्धाममें प्रवेश कर जाता है । इसे आत्महत्याका नाम देना तो भारी अपराध ही है । यहाँ न कोई मरनेवाला है न मारनेवाला । यह तो प्रियतम और प्रेमीका मधुर मिलन है । × × ×

विरह-सुख

× × × श्रीश्रीगौराङ्गदेवने कहा था—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥

'गोविन्दके विरहमें मेरा एक निमेष भी युगोंके समान लंबा हो रहा है । ये दोनों आँखें सावनकी जलधाराके समान सर्वदा बरस रही हैं और सारा जगत् मेरे लिये सूना हो रहा है ।'

इस दुःखपूर्ण विरहमें कितना असीम सुख है, इस बातका प्रेमशून्य हृदयसे कैसे अनुमान लगाया जाय ? विरही जलता है, पर इस जलनमें ही

महान् शान्तिका अनुभव करता है। वह कभी इस जलनको मिटाना नहीं चाहता। वह मिलनमें उतना सुख नहीं मानता, जितना विरहकी ज्वालामें जलते रहनेमें मानता है। वह कहता है—'हा प्राणनाथ! हा प्रियतम! हा श्रीकृष्ण! इस तरह रोते-कराहते मेरे जन्म-जन्मान्तर बीत जायँ। मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता, चाहता हूँ तुम्हारे विरहमें जी भरकर रोना और तुम्हारे वियोगकी आगमें जलते रहना। मुझे इसमें क्या सुख है, इसको मैं ही जानता हूँ।'

बना रहे हमेशा यह विरह-दुख दिवाना,
मैं जानता हूँ इसमें कितना मज़ा मुझे है।

× × × ×

खुदा करे कि मज़ा इंतज़ारका न मिटे;
मेरे सवालका वह दे जवाब बरसोंमें।

भगवत्प्रेमका पागल वह विरही अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सिवा और किसीको जानता ही नहीं, वह तो अपनेको सदाके लिये उनकी चरणदासी बनाकर उन्हींकी इच्छापर छोड़ देता है और वियोगकी ज्वालामें जलता हुआ ही उन्हें सुखी देखकर परम सुखका अनुभव करता है। महाप्रभु कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वह लम्पट मुझ चरणदासीको प्रिय समझकर चाहे गले लगा ले, चाहे अपने पैरोंसे रौंद डाले और चाहे दर्शन न देकर विरहकी आगसे मेरे प्राणोंको जलाता रहे—जो चाहे सो करे; परंतु मेरा तो प्राणवल्लभ वही है, दूसरा कोई नहीं।'

आपको यदि भगवान्‌के विरहमें कुछ रस आता है तो यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। रोनेमें आनन्द आता है—यह भी बहुत उत्तम है। बस, रोते रहिये और प्रेमके आँसुओंसे सींच-सींचकर विरहकी बेलको

सारे तन-मनमें फैलाते रहिये। उसकी जड़को पातालमें पहुँचा दीजिये और फिर उसीकी सघन छायामें उसीसे उलझे बैठे रहिये। देखिये, आपका मजा कितना बढ़ता है।

श्रीसूरदासजीने रोते-रोते गाया था—

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नीर नैन कौ सजनी! मूल पताल गई॥
बिगसत लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसैं निरुवारौं सजनी! सब तन पसर गई॥

यह सच है कि ऐसा विरही मिलनसे वञ्चित नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि वह नित्यमिलनमें ही इस विरह-सुखका अनुभव करता है। भगवान् उससे कभी अलग होते ही नहीं।

फिर प्रेमीजनोंका बड़ा विलक्षण भाव होता है। वे मिलनकी अपेक्षा वियोगमें अधिक सुखानुभूति करते हैं। मिलन तो एक ही देशमें एक कालमें होता है। मिलनमें प्रियतम श्यामसुन्दर केवल बाहर ही दीखते हैं; परंतु वियोगमें वे सर्वत्र, सदा तथा अंदर-बाहर सबमें भरे तथा निस्संकोच मिलते-बोलते दीखते हैं—

है अति सुखकर मिलन मधुर, जिसमें होता प्रियका संयोग।
मृदुल मधुर, मुसुकान मनोहर अनुपम दिव्य सुधा-रस-भोग॥
पर वह होता एक देशमें, एक कालमें, एक प्रकार।
अन्तर्दृष्टि न रहती, होती वृत्ति सर्वथा बाह्याकार॥
किंतु परम उत्कृष्ट नित्य सुख देता प्रियका विषम वियोग।
दिग्दिगन्तमें मिलता उनका निशि-दिन मधु दर्शन-संयोग॥
देश-कालका कभी न रहता कुछ भी वहाँ तनिक व्यवधान।
प्रति पदार्थमें मिलते प्रियतम हरदम करते सुखका दान॥
नित्य स्पर्शसे पुलकित रहता रोम-रोम, खिलते सब अंग।
विप्रयोग इससे अति उत्तम, खिलते जहाँ नित्य नव रंग॥

प्रेमीकी तल्लीनता

×××भक्तका मन सदा प्रभु-प्रेममें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि आधे क्षणके लिये भी अन्य किसी पदार्थमें नहीं रमता। गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधौ, मन न भए दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस॥

मन अपने पास रहता ही नहीं, तब वह दूसरेमें कैसे रमे? इसीलिये तो प्रेमियोंके भगवान्‌का नाम 'मनचोर' है—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियौ माधुरी मूरति निरख नयन की कोर॥

वे प्रेमी भक्तके चित्तको ऐसी चातुरीसे चुराकर अपनी सम्पत्ति बना लेते हैं कि उसपर दूसरेकी कभी दृष्टि भी नहीं पड़ सकती। दूसरा कोई दीखे, तब न कहीं उसमें आसक्ति या प्रीति हो; जहाँ मनमें दूसरेकी कल्पनातकको स्थान नहीं मिलता, वहाँ किसमें कैसे आसक्ति या रति हो? प्रेममयी गोपियोंने कहा है—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठो जाम ऊधौ हमें स्याम ही सौं काम है।
स्याम हिए, स्याम जिए, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधे की सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रान पति,
स्याम सुखदाई सौं भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे, पाती लैकैं आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं, यहाँ रोम रोम स्याम है॥

जब एक प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरेका मनमें प्रवेश ही निषिद्ध है, तब दूसरे किसीकी प्राप्तिके लिये उत्साह तो हो ही कैसे? कोई किसीको देखे, सुने, उसके लिये मनमें इच्छा उत्पन्न हो, तब न उसके लिये प्रयत्न किया जाय? मन किसीमें रमे, तब न उसे पानेके लिये उत्साह हो। मन तो पहलेसे ही किसी एकका हो गया; उसने मनपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया और स्वयं उसमें आकर सदाके लिये बस गया—दूसरे किसीके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी; यदि कोई आता भी है तो उसे दूरसे ही लौट जाना पड़ता है! क्या करे, जगह ही नहीं रही।×××

प्रियतमका नित्य-स्मरण

परमात्माको 'प्रियतम' जान लेनेपर वास्तवमें एक भी क्षण ऐसा नहीं बीतेगा, जिसमें उनका स्मरण न हो। भूल इसीलिये होती है कि हम उन्हें प्रियतम नहीं मानते। उन्हें प्रियतम माना था गोपरमणियोंने, जो आधे क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरको हृदय-मन्दिरसे दूर नहीं कर पाती थीं। श्यामसुन्दरको बाध्य होकर गोपियोंकी दृष्टिके सामने ही सदा थिरक-थिरककर नाचना पड़ता था। इसी सत्य तथ्यके आधारपर यह कहा गया है—*वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।* 'श्यामसुन्दर वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं नहीं जाते।' जाते हों, गये हों; परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें तो नहीं गये; उनके श्यामसुन्दर तो नित्य उनके साथ हैं, चौबीसों घंटोंके उनके सहचर हैं। इसका कारण क्या था? यही कि गोपियोंने उन्हें 'परम प्रियतम' मान लिया था, उनके लिये वे इहलोक-परलोक—सबका सारा सम्बन्ध त्याग कर चुकी थीं, अपनी प्यारी-से-प्यारी सभी वस्तुएँ वे श्रीकृष्णके चरणोंमें सदाके लिये समर्पण कर चुकी थीं; फिर वे उन्हें कैसे भुलातीं? 'प्रियतम'—अहा! कितना प्रिय शब्द है! प्रियतम तो कभी चित्तसे बिसारा ही नहीं जा सकता। यह सिद्धान्त है कि तीनों लोकोंके वैभवकी प्राप्तिका लालच मिलनेपर भी प्रभुको 'प्रियतम' माननेवाले उनके प्रियजन आधे निमेषके लिये भी प्रभुके चरणकमलोंको नहीं भूल सकते।

'प्रियतम'के प्यारे जन सब जगह उसीकी झाँकी देखते हैं, उसीके शब्द सुनते हैं, उसीसे बातें करते हैं और उसीका चिन्तन करते हैं। उसके सामने जगत्‌की या जगत्‌के किसी पदार्थकी याद उन्हें कभी भूलकर भी नहीं आती।

भगवान्‌को 'प्रियतम' बनानेभरकी देर है, फिर तो जगत्‌का मूल्य कुछ रह ही नहीं जायगा। राज-पाट, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, मान-इज्जत,

जीवन-मरण, लोक-परलोक, स्वर्ग-मोक्ष—सभी कुछ उस प्रियतमके प्रेम-प्रवाहमें बह जायँगे। फिर वह श्रीश्रीचैतन्यके शब्दोंमें गा उठेगा—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

जिसमें प्रेम होता है, उसमें चाहे एक भी सद्गुण न हो, चाहे वह दुर्गुणोंकी खानि हो, प्रेमीका हृदय उसके गुणोंको नहीं देखता, वहाँ माप-तौल नहीं होता, वहाँ तो हृदय सदाके लिये निछावर किया हुआ रहता है। जब सद्गुणहीन और दुर्गुणीके प्रति भी सच्चे प्रेमीका प्रेम अटूट और सतत वर्धमान ही रहता है, तब भगवान्‌को—जो सर्वसद्गुणोंके आधार हैं, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम आदिकी अशेष खानि हैं—प्रेमास्पद बना लेनेपर उनका निरन्तर चिन्तन हुए बिना कैसे रह सकता है? बुरे विचारसे पर-पुरुषका पर-स्त्रीमें या पर-स्त्रीका पर-पुरुषमें प्रेम हो जाता है, (जो वास्तवमें प्रेम नहीं है) तो उसमें भी एक दूसरेका स्मरण कभी नहीं छूटता; उठते-बैठते, सोते-जागते स्मृति बनी ही रहती है; जब लोभी आदमी भगवान्‌के मन्दिरमें बैठकर गीता सुनता हुआ भी मन-ही-मन धनकी टोहमें रहता है, तब भला, परम प्रेमार्णव, परम लोभनीय भगवान्‌को प्रियतम बना लेनेपर वे कैसे भुलाये जा सकते हैं?

भगवान्‌के स्मरणका तार कभी न टूटे, इसके लिये हमें भगवान्‌को प्रियतम बनाना चाहिये। जबतक जगत्‌की वस्तु प्यारी लगती है, जगत्‌के पदार्थोंके लिये हम भगवान्‌को भूलते हैं, तबतक हमारे मन भगवान् 'प्रियतम' नहीं हैं। उन्हें प्रियतम बनानेके साधन हैं—उनके प्रभावको सुनना-जानना; उनकी दिव्य मधुर लीलाओंका निरन्तर श्रवण, मनन और गान करना; उनके परम पावन नामका जप करना; उनके सर्वोपरि सर्वाधार दिव्य स्वरूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, कारुण्य, सख्य, वात्सल्य, स्वामित्व, प्रेम आदि महान् गुणोंका बारंबार चिन्तन करना और उनकी कृपापर परम और अटल विश्वास रखना!



भगवत्कृपासे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र प्राप्त हुआ । धन्यवाद । भगवान् अथवा भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति कोई दूसरा करा दे—यह सम्भव नहीं । भगवान् न तो किसीके वशमें हैं और न भगवान् किसी मूल्यपर मिलते ही हैं । दर्शनकी अनन्य लालसा मनमें उत्पन्न कीजिये और अत्यन्त आतुर हो जाइये अथवा दर्शनकी एकान्त लालसाको मनमें रखकर अपनेको उनकी कृपापर छोड़ दीजिये । वे जब उचित समझेंगे, तब अपने-आप ही अपना या अपने प्रेमका दान आपको कर देंगे । दूसरा कोई साधन नहीं । मैं तो सभीके लिये हृदयसे चाहता हूँ कि सब लोग भगवान्के अपने बनें और सबपर भगवान्की कृपा हो । कृपा तो है ही, उसे पहचान लिया

जाय। भगवान्‌की कृपाका दर्शन भगवद्दर्शनसे भी अधिक महत्त्व रखता है। आप उनकी कृपापर विश्वास करके बिना किसी शर्तके उनके हो जायँ तो सम्भव है, आपकी इच्छा (यदि वह सच्ची, अनन्य और तीव्र होगी तो) दूसरे किसी भी उपायकी अपेक्षा शीघ्र पूरी होगी। न किसी साधनसे यह होगा, न किसी मनुष्यके किये होगा—यह होगा भगवत्कृपासे ही और भगवत्कृपाके दर्शन होंगे अनन्य विश्वास और उनके चरणोंकी शरणागतिसे ही। शेष भगवत्कृपा।

× × × × × ×

प्रभुप्रेमका परमामृत एकमात्र प्रभुके कृपाकटाक्षका ही प्रसाद है। जिस परम सौभाग्यशाली जीवपर उनकी कृपा प्रकट होती है, उसीको यह अमृत प्राप्त होता है। उनकी कृपा उन्हींके अधीन है। उसे किसी साधनद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। बल्कि जीवको जबतक अपने साधनोंका भरोसा रहता है, तबतक तो वह अधिकतर दुखी ही रहता है। उसे पानेका यदि कोई उपाय है तो यही कि जीव निरुपाय हो जाय। सारे साधनोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र कृपाकी ही उपासना करे, कृपाकी ही बाट जोहा करे। साधनोंका आश्रय छोड़नेसे यह अर्थ नहीं है कि सत्पथको छोड़कर कुपथमें चलने लगे। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अपने सत्कर्मोंके मूल्यमें प्रभुकृपाको पानेकी आशा न रक्खे। सत्कर्म साधनके रूपमें नहीं, स्वभावसे हों। साधन तो एकमात्र प्रभुकी इच्छाका अनुवर्तन हो। वे जैसे रक्खें, उसीमें संतुष्ट रहे और केवल प्रभुप्रेमकी प्यास बढ़ाता रहे। इस प्यासकी पीड़ा जितनी बढ़ेगी, उतनी ही प्रभुकृपा सुलभ होती जायगी। अतः प्रभुप्रेम ही प्रभुप्राप्तिका एकमात्र उपाय है। प्रभु स्वयं कृपा करके ही किसी जीवको अपनाते हैं। वह कृपा प्रभुकी इच्छासे कभी-कभी किसी भगवदीयके रूपमें आती है। किंतु भक्त केवल यन्त्रवत् उसके प्रकट होनेका निमित्तमात्र होता है। वास्तवमें तो उसके द्वारा भगवान् ही अपने शरणापन्नपर द्रवित होते हैं। ×××××



प्रेममें विषय-वैराग्यकी अनिवार्यता

×××××× मेरी समझसे ज्ञान और प्रेम दोनोंमें ही वैराग्य स्वयमेव होता है। ज्ञानमें जगत्‌का जगत्‌रूपसे अभाव हो जाता है, फिर राग किसमें हो? और प्रेममें प्रियतमके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं—कल्पनामें ही नहीं आता, तब दूसरेमें राग कैसे रहे?

स्त्री हो या पुरुष—यदि किसीका किसीमें सच्चा प्रेम है, काम-गन्धका लेशमात्र भी दोष नहीं है, यदि प्रियतमसे आत्मसुखकी कामना न होकर, अपने महान् दुःखोंकी तनिक भी परवा न करके प्रियतमके सुखके

लिये व्याकुलतापूर्ण प्रयास है तो वही पवित्र जीवन है। पवित्र भावना, पवित्र विचार, पवित्र वाणी और पवित्र शरीर वही है, जिनमें आत्मसुखकी इच्छा सर्वथा प्रियतमके सुखकी इच्छामें परिणत हो जाती है और भावना, विचार, वाणी और शरीर—सभी स्वाभाविक ही आत्मसुखका बलिदान करके सतत प्रियतमको सुखी करनेके अखण्ड प्रयत्नमें लग जाते हैं। ऐसे पवित्र भाव, विचार, वाणी और शरीरवाला प्रेमी ही यथार्थ प्रेमी है। इस प्रेममें जगत्के भोगोंसे स्वाभाविक ही वैराग्य है; क्योंकि यहाँ काम-गन्धका लेश भी नहीं है। प्रेम ऐसा पवित्र पदार्थ है कि यह जिसे प्राप्त होता है, उसके लिये यह समस्त विश्व ही प्रियतम बन जाता है। विश्व नहीं रहता, प्रियतम ही रह जाता है। वही कह सकता है—'जित देखौं तित स्याममई है।' उसके नेत्रोंमें विश्वके चित्र नहीं आते। उसके चित्तपटपर जगत्का चित्र अङ्कित नहीं होता। यदि कभी किसीके प्रेरणा करनेपर उसे विश्वकी स्मृति होती है तो दूसरे ही क्षण वह देखता है कि अपने प्रियतममें ही विश्वका भास हो रहा है। भगवान्ने जो कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

(गीता ६ । ३०)

'जो सर्वत्र मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है!' इसका यही गम्भीर रहस्य है।

प्रेमियोंका यह प्रेम—यह प्रियतमानुराग जगत्के समस्त विषयानुरागको खा-पीकर पचा जाता है, फिर उसका बीज भी नहीं रहने पाता उनके हृदयमें। लोग उन्हें पागल बताते हैं। ये परम रागमय परम विरागी पुरुष बड़े ही विलक्षण होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जीवन-लीलाके अन्तिम वर्ष इसी विलक्षण विरागमय रागका प्रत्यक्ष करानेवाले थे। वे धन्य हैं, जो इस प्रकारके प्रेमकी कल्पना भी कर पाते हैं।



प्रियतमकी प्राप्ति कण्टकाकीर्ण मार्गसे ही होती है

×××××× भगवत्प्रेम बड़ी दुर्लभ वस्तु है। इसे पानेके लिये अपना सब कुछ बलिदान करना होता है। भक्तोंको बड़ी कठोर परीक्षाओंमें होकर निकलना पड़ता है। बिना तपाये स्वर्णमें कान्ति भी तो नहीं आती। प्रह्लाद, गोपीजन, मीराँ आदि सभी भक्तोंको क्या-क्या कष्ट नहीं सहने पड़े। प्रियतमकी प्राप्ति बड़े कण्टकाकीर्ण मार्गसे होती है। योग और भोग एक स्थानमें नहीं रह सकते। अतः सच्चे प्रेमी इन आपत्तियोंकी कोई परवा नहीं किया करते। अपने प्रियतमसे दृष्टि हटानेकी उनमें शक्ति ही कहाँ होती है। वे तो सब प्रकार उसीके हो रहते हैं। अतः परिजन और गुरुजन कुछ भी करें या कहें, उन्हें उसकी परवा नहीं होती। वे खुशी-

खुशी सब कुछ सह लेते हैं और उन आपत्ति-विपत्तियोंको वे अपने प्रियतमकी छेड़खानी समझकर किसी प्रकार उनपर खीझते भी नहीं ।

यह तो हुई सिद्धान्तकी बात । सच्चे प्रेमीके लिये दो ही मार्ग हैं—वह या तो सब कुछ सहन करे या सबको त्याग दे । यदि ऐसा करनेकी अपनी शक्ति न हो तो युक्तिसे काम लेना चाहिये । इसका उपाय है—नाम-जप, सत्सङ्ग, भगवत्सेवाके भावसे जीवमात्रकी प्रेमपूर्वक सेवा, भगवान्‌की दया एवं करुणासे प्रेरित लीलाकथाओंका श्रवण-पठन आदि । यदि बाह्य पूजापाठसे घरवालोंकी अप्रसन्नता होती है तो न सही, आपके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो प्रेम है, उसे कौन छीन सकता है । आप हृदयसे ही उनका चिन्तन करें और जब अवकाश मिले, तब कातर कण्ठसे प्रार्थना करें ।××××

× × × × × ×

प्रेमपथपर बिरला ही चल सकता है—

××××××भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करना सहज बात नहीं । प्रेम मुँहकी चीज नहीं; प्रेमकी बातें बनानेवाले बहुत मिल सकते हैं, पर प्रेमके पथपर कोई बिरला वीर ही चल सकता है । जबतक जगत्‌के भोगोंमें आसक्ति है, शरीरके आरामकी चिन्ता है, यश-कीर्तिका मोह है, तबतक प्रेमके पंथकी ओर निहारना भी मना है । प्रेमके मार्गपर वही वीर चल सकता है,.जिसने वैराग्यके दावानलमें विषयासक्तिको सदाके लिये जला डाला हो । प्रेमिका मीराँ कहती है—

चुनरीके किये टूक, ओढ लई लोई । मोती मूँगे उतार बनमाला पोई ॥

प्रेमके पथपर वही पग रख सकता है, जो प्रेम-मार्गके काँटोंको फूलोंकी शय्या, प्रेमास्पदके किये हुए तिरस्कारको पुरस्कार, महान् विपत्तिको सुख-सम्पत्ति, अपमानको सम्मान और अयशको यश समझता है । उसका पथ ही उलटा होता है।वह कोई ऐसा घृणित कार्य कभी नहीं करता, जिससे उसका

अपमान, तिरस्कार हो या उसपर विपत्ति आये, तथापि वह अपमान, तिरस्कार और विपत्तिको प्रेमास्पदके मिलनका मार्ग समझकर उनका स्वागत करता है, उनसे चिपटे रहता है । प्रेमपंथियोंको प्रेमियोंके निम्नलिखित शब्द याद रखने चाहिये—

नारायन घाटी कठिन, जहाँ प्रेम कौ धाम ।
विकल मूरछा सिसकिबो, ये मग के बिस्राम ॥
सीस काटि कै भुइँ धरै, ऊपर राखै पाव ।
इश्कचमनके बीचमें, ऐसा हो तौ आव ॥
सिर काटौ, छेदौ हियौ, टूक टूक करि देहु ।
पै याके बदले बिहँसि वाह वाहकी लेहु ॥
पीया चाहै प्रेमरस, राखा चाहै मान ।
एक म्यान मैं दो खडग देखी सुनी न कान ॥
प्रेमपंथ अतिही कठिन, सब पै निबहत नाहिं ।
चढ़ि कै मोम तुरंग पै चलिबो पावक माहिं ॥
नारायन प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार ।
गेंद बनावै सीस की खेलै बीच बजार ॥
ब्रह्मादिक के भोग सब बिषसम लागत ताहि ।
नारायन ब्रजचंद की लगन लगी है जाहि ॥

ऐसे प्रेमी भक्त शीश उतारकर मरते नहीं । शीश उतारे फिरते हैं, परंतु प्यारेके लिये जीवन रखते हैं । मर जाय तो प्यारेको दुःख हो, इसलिये जीते हुए ही मर जाते हैं अथवा मरकर भी जीते हैं । जिनकी ऐसी स्थिति हो गयी है, उनको धन्य है, उनके पिता-माताको धन्य है, उनके देशको धन्य है । उन्हींका जन्म सफल होता है । ऐसा करनेपर जब उन्हें प्रियतम मिल जाता है, जब प्रियतमके साथ घुल-मिलकर वे अपने आपको खो देते हैं, तब तो वे प्रियतमका स्वरूप ही बन जाते हैं—

'तू तू करते तू भया, मुझमें रही न हूँ'

× × × ×

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' है 'मैं' नाहिं ।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥



प्रेम और विधि-निषेध

×××प्रेमभक्तिमें कर्मत्याग अपने-आप ही हो जाता है। प्रेममें मतवाला भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी बातको जानता नहीं, उसका मन सदा प्रियतम श्रीकृष्णाकार बना रहता है, उसकी आँखोंके सामने सदा सर्वत्र प्रियतम भगवान्‌की छवि ही रहती है। दूसरी वस्तुमें उसका मन ही नहीं जाता। श्रीगोपियोंने भगवान्‌से कहा था—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३४)

'प्रियतम! हमारा चित्त आनन्दसे घरके कामोंमें आसक्त हो रहा था, उसे तुमने चुरा लिया। हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी तुम्हारे पादपद्मोंको छोड़कर एक पग भी हटना नहीं चाहते। अब हम घर कैसे जायँ और जाकर करें भी क्या?'

जगत्‌का चित्र चित्तसे मिट जानेके कारण वह प्रेमी भक्त किसी भी लौकिक (स्मार्त) अथवा वैदिक (श्रौत) कार्यके करनेलायक नहीं रह जाता।

प्रेमकी प्राप्ति होनेपर लौकिक और वैदिक कर्म छूट जाते हैं, जान-बूझकर उनका स्वरूपसे त्याग नहीं करना पड़ता। समर्पणका अर्थ उनका मनसे समर्पण ही है। फिर जब प्रेमकी उच्च दशा प्राप्त होती है, तब विधि-निषेधके परे पहुँच जानेके कारण ये सब कर्म स्वतः ही उसे विधिके बन्धनसे मुक्त कर अलग हो जाते हैं। उस स्थितिका यही नियम है, परंतु जो जान-बूझकर प्रेमके नामपर शास्त्रविधिका त्याग करता है, उसे भक्तिकी सिद्धि सहजमें नहीं होती।××××

× × × × × × ×

……विधि-निषेधके ऊपर उच्च स्तरमें पहुँच जानेपर परमात्माके सत्य-स्वरूपमें इतनी प्रगाढ़ तल्लीनता हो जाती है कि समस्त नियमोंके बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं; वहाँका नियम ही स्वाभाविक स्वच्छन्दता है। परंतु उस स्थितिके पहले जान-बूझकर शास्त्र और सदाचारके आवश्यक बन्धनोंको तोड़नेवालेकी तो वही दशा होती है, जो नदीके उस पार भूमिपर उतरे हुए पथिककी देखा-देखी नदीकी बीच धारामें नौकाको छोड़ देनेवालेकी होती है। संतशिरोमणि प्रेममयी गोपियोंके सम्बन्धमें उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

'अहो! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ भी हो जाऊँ (जिससे इन महाभागाओंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो); क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेवाले स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको पाया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं (परंतु पातीं नहीं)।'

यह 'आर्यपथत्याग' उन कृष्णमयी गोपिकाओंके द्वारा ही हो सकता है, जो घर-संसारकी दुस्त्यज ममताको सर्वथा छोड़कर, समस्त मोहके परदोंको फाड़कर अनन्यरूपसे सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमें ही रमण करती थीं। जिनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌में रमण करनेके लिये ही सुरक्षित था, उन नित्य परमात्मयोगमें अखण्ड रूपसे स्थित श्रीगोपीजनोंकी दिव्य लीलाओंकी नकल करनेवाले विषयी मनुष्य तो गहरे पतनके समुद्रमें गिरकर डूबते ही हैं!



बिखरे सुमन

१–प्रेम एकमें ही होता है और वह भगवान्‌में ही होना सम्भव है। प्रेमका वास्तविक अर्थ ही है—भगवत्प्रेम।

२–वस्तुतः 'प्रेम' शब्द तभी सार्थक होता है, जब वह श्रीभगवान्‌में होता है।

३–विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम, उज्ज्वल प्रेम जब होगा, तब भगवान्‌में ही होगा और ऐसा होनेपर सारा ममत्व सब ओरसे सिमटकर एक भगवान्‌में ही लग जाता है।

४–जब भगवान्‌के प्रति प्रेम होने लगता है, तब दूसरी समस्त वस्तुओंसे प्रेम हटने लगता है—यह नियम है। और प्रेम हो जानेपर तो प्रेमी सबकी सुधि ही भूल जाता है। वह तो प्रेम ही कहता है, प्रेम ही सुनता है, प्रेम ही देखता है और चारों ओरसे प्रेम-ही-प्रेमका अनुभव करता है।

५–प्रेमकी पूर्णता कभी होती ही नहीं। मुझे पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया, इस प्रकारका अनुभव प्रेमी कभी करता ही नहीं।

६–प्रेमीको अपने प्रेममें सदा कमीका अनुभव होता है।

७–प्रेमकी कोई सीमा नहीं है।

८–प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता है, निरन्तर बढ़ते रहना उसका स्वरूप है।

९–प्रेम कहीं भी रुकता नहीं।

१०–प्रेममें सब कुछ अर्पण हो जाता है, यहाँतक कि प्रेमी स्वयं भी प्रेमास्पदके अर्पित हो जाता है। सम्पूर्ण त्याग या सम्पूर्ण समर्पण ही प्रेमका स्वभाव है।

११–जो प्रेम दूसरी-दूसरी वस्तुओंमें बँटा हुआ है, वह प्रेम वस्तुतः प्रेम ही नहीं है।

१२–प्रेम वाणीका विषय नहीं है।

१३–प्रेम रहता है मनमें और मन अपने वशमें रहता नहीं, वह रहता है प्रेमास्पदके वशमें। प्रेमका यह साधारण नियम है।

१४—प्रेमीके मनपर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा—सबपर अधिकार हो जाता है प्रेमास्पद श्रीभगवान्‌का।

१५—प्रेम उत्पन्न हो जानेपर मन, बुद्धि अर्पण करने नहीं पड़ते; ये स्वतः अर्पण हो जाते हैं।

१६—प्रेम बड़ी दुर्लभ वस्तु है, यह सहजमें नहीं मिलता; और जिसे मिल जाता है, उसके समान भाग्यशाली कोई नहीं।

१७—प्रेममें वस्तुतः भगवान्‌का कभी वियोग नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी बाहर नहीं जाते। श्रीगोपीजनोंको छोड़कर किसी समय भी कहीं नहीं जाते। श्रीगोपीजनोंने उद्धवको दिखला दिया था कि श्रीकृष्ण गोपीजनोंके पास ही निरन्तर रहते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेमी बनकर श्रीगोपीजनोंको प्रेमास्पद समझते हैं।

१८—प्रेमास्पद प्रेमीका ही बन जाता है। श्रीकृष्ण भी गोपिकाओंके ही बन गये। उन्होंने कहा है—गोपिकाओ! देवताओंकी-जैसी आयु धारण करके भी मैं तुम्हारा यह प्रेम-ऋण चुका नहीं सकता।

१९—प्रेमका ऋण चुकानेके लिये भगवान्‌के पास कुछ भी नहीं रहता, पर प्रेमी उन्हें ऋणी नहीं बनाता। उन्हें ऋणी मानकर उनसे कुछ चाहे, ऐसा प्रेमी कभी नहीं करता।

२०—जहाँ कुछ भी अपनी चाह है, वहाँ प्रेम नहीं है।

२१—प्रेमीका सुख इसीमें है कि उसका प्रेमास्पद सुखी रहे—'तत्सुखे सुखित्वम्'।

२२—हमारे दुःखसे यदि प्रेमास्पद सुखी होता हो तो वह दुःख हमारे लिये सुख है—यह प्रेमीका हार्दिक भाव होता है। ऐसे दुःखको, ऐसी विपत्तिको वह परम सुख—परम सम्पत्ति मानता है। मानता ही नहीं, सर्वथा ऐसा ही अनुभव करता है।

२३—प्रेमका स्वभाव विचित्र है, इसमें त्याग-ही-त्याग—देना-ही-देना है।

२४–प्रेमी प्रेमास्पदको अखण्ड सुखी देखना चाहता है, उसको सुखी देखकर ही वह सुखी होता है। प्रेमीके सुखका आधार है—प्रेमास्पदका सुख। इसी भावका जितना विकास इस जगत्‌में जहाँ-कहीं भी होता है, वहाँ उतना ही पवित्र भाव होता है।

२५–भगवान् जिसे अपना प्रेम देते हैं, उसका सब कुछ हर लेते हैं। किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रह जाती, समस्त ममता भगवान्‌में जुड़ जाती है और इसे लेकर वह एक ही बात चाहता है—कैसे मेरे प्रेमास्पद सुखी हों।

२६–भगवान् जब अपने आपको किसीके हाथ बेच देना स्वीकार कर लेते हैं, तभी किसीको अपना प्रेम देते हैं।

२७–भगवान् प्रेमके साथ ही अपने-आपको भी दे डालते हैं। यह सौदा महँगा नहीं, बड़ा ही सस्ता है। हमारा सब कुछ जाय और बदलेमें भगवान् मिल जायँ, इसके समान कोई लाभ नहीं—यह परम लाभ है।

२८–बुद्धिमान् जन प्रेमके लिये मोक्षको भी भगवच्चरणोंमें समर्पित कर देते हैं।

२९–भगवान् मोक्ष देना चाहते हैं, पर प्रेमीजन उसे स्वीकार ही नहीं करते।

३०–जिसे प्रेम प्राप्त हो जाता है, उसके ऊपर और कोई बन्धन तो रहता ही नहीं। रहता है केवल, एकमात्र प्रेमका बन्धन। भला, प्रेमी प्रेमके बन्धनसे कभी छूटना चाह सकता है? यह बन्धन तो उसके परम सुखका आधार है। जो इस बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वह तो प्रेमी ही नहीं है।

३१–इस प्रेमके बन्धनमें जो आनन्द है, उसकी तुलना लाख मुक्तियोंसे भी नहीं हो सकती। प्रेमानन्द बड़ा ही विलक्षण आनन्द है। इसका एक कण प्राप्त करके ही मनुष्य निहाल हो जाता है।

३२–प्रेमका विकास और तुच्छ स्वार्थबुद्धिका नाश—दोनों साथ-साथ होते हैं।

३३–जबतक स्वार्थका त्याग नहीं है, तबतक भगवान्में प्रेम नहीं है।

३४–भगवान्में प्रेम त्यागसे होता है, त्यागसे पवित्रता आती है।

३५–जितना-जितना भोगोंसे प्रेम हटता जायगा, उतनी-उतनी पवित्रता आती जायगी।

३६–भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर प्रेमकी बाहरी दशा दोमेंसे एक होती है—या तो जगत्से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है या जगत्में प्रवृत्ति हो जाती है। पहली अवस्थामें वह उन्मत्तकी तरह प्रतीत होने लगता है, दूसरीमें सम्पूर्ण जगत्का भगवान्के रूपमें दर्शन करता हुआ सबकी सेवा करता है, सबकी पूजा करता है। दोनों ही अवस्थाओंमें जगत्के पहलेवाले रूपसे तो उसकी निवृत्ति ही रहती है, जगत्के पहलेवाले रूपको तो वह भूल ही जाता है।

३७–जहाँ देखता है, वहीं श्याम—एक तो यह अवस्था होती है। दूसरे प्रकारकी अवस्था यह है कि श्यामके सिवा और कुछ सुहाता ही नहीं। दोनों ही अवस्थाएँ पवित्रतम हैं, पर बाहरी लीलामें भेद होता है।

३८–कहीं तो श्यामसुन्दर नहीं दीखते और उनके लिये अभिसार होता है तथा कहीं यह भाव होता है—यहाँ भी वही, वहाँ भी वही—'जित देखूँ तित स्याममयी है'। ये दोनों भाव वस्तुतः दो नहीं—एक ही भगवत्प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं।

३९–भगवत्प्रेममें एक बात तो निश्चय ही होगी कि प्रेमास्पद भगवान् और प्रेमीके बीचमें किसी दूसरेके लिये स्थान नहीं रहेगा।

४०–प्रेम दोमें नहीं होता। वह एकमें ही होता है और एक ही प्रेमास्पद सब जगहसे प्रेमीकी दृष्टिको छा लेता है। एक ही प्रेमास्पद सर्वत्र फैल जाता है।

४१–प्रेमका विकास होनेपर सर्वत्र भगवान् दीखते हैं।

४२–प्रेमास्पद भगवान्का रूप अनन्त होनेसे प्रेमीकी प्रेममयी अवस्था भी अनन्त है। प्रेमियोंकी न जाने क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं।

४३–प्रेम अखण्ड होता है।

४४–भगवान् प्रेम हैं और प्रेम ही भगवान् है।

४५–प्रेम भगवत्स्वरूप है, मन-वाणीका विषय नहीं। इसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। यह तो अनुभवकी वस्तु है।

४६–जहाँसे स्वार्थका त्याग होता है, वहींसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है। स्वार्थ और प्रेम—दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते।

४७–सांसारिक प्रेममें भी, यह निश्चित है कि जहाँ त्याग नहीं है, वहाँ प्रेम नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ त्याग होगा ही।

४८–जैसे-जैसे भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे स्वार्थका त्याग होता चला जायगा।

४९–जहाँ अपनी चाह है, परवाह है, त्यागकी तैयारी नहीं है, वहाँ प्रेम कहाँ ?

५०–साधारण किसी मनुष्यसे प्रेम कीजिये, उसमें भी त्यागकी आवश्यकता होगी।

५१–माँका अपने बच्चेके लिये प्रेम रहता है। देखिये, वह बच्चेके लिये कितना त्याग करती है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, पति-पत्नी—जहाँ कहीं भी प्रेमका सम्बन्ध है, वहाँ त्याग है ही।

५२–प्रेम हुए बिना वास्तविक त्याग नहीं होता और त्यागके बिना प्रेम नहीं होता।

५३–सर्व प्रकारका सहन (तितिक्षा) प्रेममें होता है। प्रेम करना आरम्भ कर दें, फिर तितिक्षा तो अपने-आप आ जायगी। माँ बीमार है, पर बच्चा परदेशसे आ गया; माँ उठ खड़ी होगी, उस बीमारीकी अवस्थामें ही बच्चेके लिये भोजन बनाने लगेगी। यह तितिक्षा प्रेमकी ही उत्पन्न की हुई है।

५४–यह सत्य है कि प्रेमका वास्तविक और पूर्ण विकास भगवत्प्रेममें ही होता है; पर जहाँ कहीं भी इसका आंशिक विकास देखा जाता है, वहाँ-वहाँ ही त्याग साथ रहता है। गुरु गोविन्दसिंहके बच्चोंमें धर्मका प्रेम था, उन्होंने उसके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी बलि चढ़ा दी। सतीत्वमें प्रेम होनेके कारण अनेक आर्य-रमणियोंने प्राणोंकी आहुति दे दी।

५५—प्रेम होनेपर त्याग करना नहीं पड़ता, अपने-आप हो जाता है और उसीमें आनन्दकी उपलब्धि होती है।

५६—प्रेममें पवित्रता भी अपने-आप आ जाती है; क्योंकि छल, कपट, बेईमानी आदि स्वार्थमें ही रहते हैं और प्रेममें स्वार्थ रहता नहीं।

५७—जहाँ विशुद्ध प्रेम है, वहाँ मन विशुद्ध है ही।

५८—भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ाइये, अपने-आप अन्तःकरण शुद्ध होगा।

५९—सच्चे प्रेममें पाप नहीं रह सकता। पाप होते हैं कामनाके कारण और प्रेममें कामना रहती नहीं। जब कामना ही नहीं, तब पाप कैसे रहें।

६०—प्रेम परम तपरूप है।

६१—जो दे नहीं सकता, वह प्रेमी नहीं। उत्सर्ग प्रेममें स्वभावसे ही रहता है।

६२—भगवत्प्रेम अन्तिम—चरम और परम पुरुषार्थ है।

६३—विषयोंका प्रेम प्रेम नहीं है।

६४—मोक्षका परित्याग विषयकामी भी करता है और भगवत्प्रेमी भी; परंतु दोनोंके त्यागमें महान् अन्तर है।

६५—विषयकामीको मोक्ष मिलता नहीं, पर भगवत्प्रेमीको त्याग देनेपर भी मोक्ष नित्य प्राप्त रहता है। वह जगत्‌के बन्धनसे नित्यमुक्त रहता है।

६६—भगवत्प्रेम अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी सहज ही प्राप्त हो सकता है, यदि कोई अनन्य उत्कण्ठाके साथ इसके लिये भगवान्‌पर निर्भर हो जाय।

६७—प्रेम प्राप्त करनेके लिये त्याग आवश्यक है। बिना त्यागके प्रेम नहीं मिलता।

६८—यदि हम सचमुच चाहें तो भगवान् कृपा करके अपने-आप त्याग करवा देते हैं। पर सच्ची बात यह है कि हम त्याग (जागतिक विषयोंके प्रेमका त्याग) करना नहीं चाहते।

६९—हम चाहते हैं हमें प्रेम मिल जाय, पर विषय छोड़ना चाहते नहीं। विषयोंमें सुखकी भ्रान्ति ही इसका कारण है।

७०—विषयासक्ति प्रेममें बड़ी बाधक है।

७१—वास्तविकरूपमें देखें तो समस्त वस्तुएँ भगवान्‌की हैं, इनपर उन्हींका अधिकार है। हमको तो मिथ्या ममत्व त्यागना है। वस्तुएँ भगवान्‌की होकर हमारे पास ही रहेंगी।

७२—जो विषय—जो पदार्थ अभी जलाते हैं, वे ही भगवान्‌के बना दिये जानेपर, उनमेंसे आसक्ति निकल जानेपर सुख देनेवाले हो जायँगे। उनमें ममता और आसक्ति ही हमें जलाती हैं।

७३—भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर मनुष्य जहाँ भी रहे, सुखी ही रहता है।

७४—प्रेमीका अपना कुछ रहता नहीं, सब भगवान्‌का हो जाता है। पुत्र, धन, प्रतिष्ठा ज्यों-के-त्यों रहते हैं, कहीं चले नहीं जाते; पर ममताका स्थान बदल जाता है। समस्त जगत्‌से ममता निकलकर एक स्थानमें—केवल भगवान्‌में जाकर ठहर जाती है।

७५—प्रेमीकी दृष्टिमें सब कुछ प्रेमास्पद ही हो जाता है; उसकी दृष्टि जहाँ जाती है, उसे प्रेमास्पद ही दीखते हैं।

७६—प्रेमीके लिये सदा-सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है।

७७—जहाँ 'स्व' भगवान्‌में जाकर मिला कि प्रेमी बन गये।

७८—यह नियम है—जहाँ प्रेम रहता है, वहाँ सुख है ही तथा जहाँ द्वेष है, वहाँ दुःख रहेगा ही।

७९—प्रेमीके लिये वैरका स्थान, वैरका कोई पात्र रहता ही नहीं—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते हौं घट घट बिहरौं॥

उसके मनकी ऐसी दशा हो जाती है।

८०—प्रेमका उत्तरोत्तर विकास होना ही मनुष्यकी वास्तविक उन्नति है।

८१—आज जगत्‌में 'स्व' इतना संकुचित हो गया है कि प्रायः 'परिवार' का अर्थ किया जाता है हम और हमारी स्त्री। इससे ठीक विपरीत, भारतवर्षके ऋषियोंका सिद्धान्त तो अत्यन्त विशाल है—'वसुधैव

कुटुम्बकम् ।' स्वयं भगवान् 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' इस प्रकारका अनुभव करनेकी प्रेरणा करते हैं ।

८२—भगवत्प्रेमके लिये साधना करनी चाहिये—जैसे भी हो, इसकी उपलब्धि करनी चाहिये ।

८३—जिस दिन मनुष्य सब भूतोंमें भगवान्‌को तथा सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित देख लेता है, फिर भय-संकोच सब नष्ट हो जाते हैं । उसके लिये केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ।

८४—प्रेमकी महिमा अद्भुत है । इतने बड़े भगवान् इतने छोटे हो जाते हैं कि बच्चोंमें आकर बच्चे बनकर खेलते हैं । एक बार खेल हो रहा था; खेलकी यह शर्त थी कि जो हारे, वह घोड़ा बने । भगवान् हारे तथा घोड़ा बने—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १८ । २४)

८५—भगवान् प्रेमके वश होकर क्या नहीं करते—सब कुछ करते हैं ।

८६—विश्वम्भर होकर भगवान् माँसे कहते हैं कि 'हमें भूख लगी है, दूध पिलाओ !' यह है प्रेमकी महिमा ।

८७—जिस प्रेममें भगवान् मित्र, पुत्र, पति बनकर खेलने लग जाते हैं, उस प्रेमके सामने मोक्ष क्या वस्तु है !

८८—भगवत्प्रेम बहुत ऊँची वस्तु है, पर कम-से-कम इसकी प्राप्तिकी इच्छा तो होनी चाहिये । इच्छा होगी तो इसके लिये प्रयत्न भी होगा ।

८९—भगवत्प्रेमकी बात सुनकर मनुष्य डरने लगता है कि कहीं सब कुछ चला न जाय । होता भी यही है, अपना प्रेमदान करनेके पहले भगवान् और सबसे प्रेम हटा देना चाहते हैं; इसीलिये लोग डर जाते हैं । एक गुजराती कविने कहा है—

प्रेम पंथ पावकनी ज्वाळा भाळी पाछा भागे जोने ।
माँहि पड्या ते महारस माणे देखनारा दाझे जोने ॥

—प्रेमका मार्ग धधकती हुई आगकी ज्वाला है, इसे देखकर ही लोग वापस भाग जाते हैं; परंतु जो उसमें कूद पड़ते हैं, वे महान् आनन्दका उपभोग करते हैं । देखनेवाले जलते हैं ।

९०—वह प्रेम प्रेम नहीं है, जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है।

९१—नियमोंके सारे बन्धनोंका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है ।

९२—जबतक नियम जान-बूझकर तोड़े जाते हैं, तबतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति हमसे वैसा करवा रही है । प्रेममें नियम तोड़ने नहीं पड़ते, परंतु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है ।

९३—प्रेममें एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोंकी ओर देखना नहीं जानती ।

९४—प्रेममें भी सुखकी खोज होती है; परंतु उसमें विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है ।

९५—प्रेमास्पदके सुखी होनेमें यदि प्रेमीको भयानक नरकयन्त्रणा भोगनी पड़े तो उसमें भी उसे सुख ही मिलता है; क्योंकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमें विलीन कर चुका है ।

९६—अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है, जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं । पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमें ही सुखी रहती है; क्योंकि वह वास्तवमें एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती ।

९७—प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा करके किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इससे प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है; क्योंकि उस समय उसके प्रेमास्पदको सुख हो रहा है ।

९८–जो वियोग-वेदना, अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

९९–प्रेम वाणीका विषय नहीं; जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है, वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

१००–प्रेमके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं; सारा जीवन केवल प्रतीक्षामें बिताना पड़े, तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं।

१०१–प्रेम खिलौना नहीं है, परंतु धधकती हुई आग है। जो सब कुछ भुलाकर उसमें कूद पड़ता है, वही उसे पाकर कृतार्थ होता है।

१०२–प्रेमका आकार असीम है; जहाँ संकोच या सीमा है, वहाँ प्रेमको स्थान नहीं।

१०३–प्रेम प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनामें बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढ़ता है।

१०४–प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियोंकी हृदय-गुफाओंमें ही छिपा रहता है। जो बाहर आता है, वह तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है।

१०५–जिस प्रेममें भोग-सुखकी इच्छा है, संयमका अभाव है, कर्तव्यविमुख होकर केवल पास रहने या देखते रहनेकी ही चेष्टा है, थोड़ा भी मानसिक विकार है, स्वार्थ-साधनका प्रयास है और परस्पर पवित्रता बढ़ानेकी जगह इन्द्रिय-तृप्तिकी सुविधा खोजी जा रही है, वह प्रेम कदापि पवित्र नहीं हो सकता।

प्रेमका प्रधान स्वरूप है, निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग। भोगप्रधान पाशविक इन्द्रिय-सुखका प्रयास तो पवित्र प्रेमके नामको कलङ्कित करनेवाला पाप है। प्रेम सदा देता ही रहता है, तनिक भी बदला नहीं चाहता। वस्तुतः जिस प्रेमके आधार भगवान् नहीं हैं, वह यथार्थ प्रेम नहीं है। प्रेम सदा स्वार्थशून्य है, इन्द्रियविकाररहित पवित्र है, भोगेच्छाके लिये उसमें स्थान नहीं। आजके मनुष्यने तो मोहको ही प्रेमका नाम दे रक्खा

है और इसीका फल है महान् मानसिक अशान्ति और दारुण दुःखभोग ।

१०६—बाहरी ज्ञान बना रहनेकी स्थितिमें प्रेमी भक्त अपने प्रियतमके प्रति अनन्य भाव रखता हुआ उसके प्रतिकूल कार्योंसे सर्वथा उदासीन रहता है । प्रेमी भक्तके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा अपने प्रियतमके अनुकूल होती है और अनन्य भावसे उसीकी सेवाके लिये होती है । प्रतिकूल चेष्टा तो उसके द्वारा वैसे ही नहीं होती, जैसे सूर्यके द्वारा कहीं अँधेरा नहीं होता या अमृतके द्वारा मृत्यु नहीं हो सकती ।

१०७—प्रेमके मार्गमें क्रियाका विरोध नहीं है, अपितु उसमें क्रिया और भी सुन्दर ढंगसे होती है । हमारी क्रियासे प्रेमास्पदको सुख पहुँचता है—इस भावसे तो क्रियामें और भी रस, माधुर्य, सौन्दर्य, उत्साह और भाव बढ़ जाता है ।

१०८—अलग-अलग भावोंसे और अलग-अलग प्रयोजनोंसे हम बहुतोंसे प्रेम करते हैं; किंतु अपने प्रति जो प्रेम होता है, उसमें प्रयोजनका अन्तर नहीं, भावका अन्तर नहीं । श्रीकृष्ण आत्माके आत्मा हैं । अतः उनमें जो प्रेम होता है, उसमें न तो स्वतन्त्र भाव है, न तो स्वतन्त्र प्रयोजन ।

१०९—जो श्रीकृष्णसे प्रेम करते हैं, उनका जो जगत्से प्रेम होता है, वह श्रीकृष्णको लेकर ही । यह नियम है, आत्मसम्बन्धशून्य प्रेम कहीं नहीं होता । श्रीकृष्ण आत्माके आत्मा हैं । अतएव जो श्रीकृष्णके प्रेमी हैं, वे यदि दूसरोंसे प्रेम करते हैं तो श्रीकृष्णको लेकर ही ।

११०—जगत्में जितना प्रेम है, वह न चिरस्थायी है, न एक समान है और न एकमें है । पर भगवान्का प्रेम चिरस्थायी, एक समान तथा एकमें है । श्रीकृष्णमें जिसका एक बार प्रेम हो गया, वह एकमें हो गया, स्थायी हो गया तथा एक-सा हो गया । फिर वह श्रीकृष्णको छोड़कर अथवा अलग किसी प्रयोजनसे किसीसे प्रेम नहीं करता ।

१११—भगवान्को प्राप्त करनेका सबसे सरल साधन है—तीव्र व्याकुलता । उनके लिये हमारे प्राण जितना ही अधिक करुण-क्रन्दन करेंगे, उतना ही वे हमारे समीप आयेंगे ।

११२—हमारा काम है, एकमात्र कर्तव्य है—व्याकुल हृदयसे नित्य उनका स्मरण करना, उन्हें पुकारना।

११३—सचमुच जिनका मन श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र हो जाता है, जो श्रीकृष्णको पानेके लिये पागल हो जाते हैं और उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं, जिनमें श्रीकृष्णप्राप्तिकी लालसा आत्यन्तिक रूपसे जाग्रत् हो जाती है, वे पथ-अपथ क्या देखते हैं ? वे कब हिसाब लगाते हैं कि इस रास्तेमें कितना क्लेश है ? उनको कौन रोक सकता है ? उनकी उद्दामगतिमें कौन बाधक हो सकता है ? उनको कोई दुःख रोक नहीं सकता। दुःख उनके ध्यानमें आता ही नहीं; स्त्री-पुत्र, धन-मान, कीर्ति आदिकी लालसा उनको मोहित नहीं कर सकती। हजारों, लाखों दुःखोंको भी वे दुःख नहीं मानते।

११४—प्रेम होना चाहिये; जिस वस्तुमें प्रेम होता है, उसके सेवनमें नींद नहीं आती, जी नहीं ऊबता। × × × × भगवान्‌की सेवाका समय उपस्थित होनेपर प्रेमीके सामने जितने भी प्रतिबन्ध हों, वे अपने-आप हट जाते हैं।

११५—अन्यान्य साधनोंद्वारा भगवान् अन्यान्य रूपोंमें प्राप्त होते हैं, परंतु प्रेमके द्वारा तो वे 'प्रियतम' रूपमें मिलते हैं। यह प्रेम ही चरम या पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसमें मोक्षका भी संन्यास हो जाता है। यही जीवनका परम फल है।

११६—माधुर्य-भावके उपासकको लौकिक विषय-सुख और सुविधाओंसे परम विरक्त होकर ही प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें परम अनुरक्त होना चाहिये। उनके विरहमें रोना, उन्हींको आर्तभावसे पुकारना उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। अपना जीवन, अपना सर्वस्व उनपर निछावर करके उन्हींका होकर रहना और उन्हींके लिये जीवन धारण करना चाहिये।



प्रेम-एकादशी

अति निर्मल, अति ही मधुर दिव्य सुधा रस धाम ।
भोग-कामना-बासना-राग रहित अभिराम ।।
निज सुख इच्छा तें रहित, बिरत भोग संसार ।
मन इंद्रिन के मिटत सब, बिषय-भोग-ब्यापार ।।
अति बिरक्त मन भोग तें, मुक्ति कामना हीन ।
चित्त-बुद्धि सब ह्वै रहैं प्रियतम-प्रेम बिलीन ।।
रहत न रंचकहूँ तहाँ अघजुत कर्म बिचार ।
प्रगटत पावन प्रेम जहँ परम सुद्ध अबिकार ।।
चिंता-भय-माया रहित, सहित सांतिमय त्याग ।
अनु अनु मैं छायौ रहत नित बिसुद्ध अनुराग ।।
कामासक्ति बिहीन सब पावन भाव-सुकर्म ।
केवल प्रियतम सुख अमल एक प्रेम कौ धर्म ।।
प्रभु-महत्त्व, सेवा परम प्रभु के मन की बात ।
जानि तत्त्वतः रहत प्रिय सेवा रत दिन-रात ।।
प्रियतम प्रभु कौ प्रेम ही होय जीवन कौ रूप ।
प्रियतम के गुन बिसद तहँ प्रगटित रहैं अनूप ।।
बढ़त, घटत, बदलत सतत, होत जगत कौ अंत ।
बढ़त रहत पै त्यागमय पल-पल प्रेम अनंत ।।
कलुष रहित, उज्ज्वल, अकल, अनुपम, परम अमान ।
प्रेमरूप हरि ही स्वयं, प्रेम स्वयं भगवान ।।
सोइ प्रेम नित मूर्त ह्वै बन्यौ राधिका-रूप ।
बिलसत संतत स्याम सँग, प्रगटत सुधा अनूप ।।

प्रेमका नेम

प्रेम कौ एक मधुर यह नेम ।
जो प्रिय के मन भावै, सोई धर्म, जोग अरु छेम ॥
जो नित प्रेम-सुधा-रस पूरित, भूल्यौ सब संसार ।
निज बिस्मृति सौं भए धर्म बिस्मृत, कछु रही न सार ॥
धर्मी बिना धर्म कहँ कैसैं रहै पृथक रखि टेक ।
घुल-मिल भयौ नित्य प्रियतम के मन सौं प्रेमी एक ॥
नहीं कामना, तृष्ना, आसा, नहीं स्व-पर कौ भाव ।
एक मात्र प्रियतम कर की पुतरी, यह सहज सुभाव ॥
नहीं नेक निज दुख-सुख की सुधि, नहीं राग नहिं रोष ।
नहीं अहित-हित की चिंता कछु, नहिं बिराग लखि दोष ॥
सर्व त्याग अति सहज, नहीं कछु मद-ममता-अभिमान ।
तन-मन प्रान-बुद्धि सब प्रियतम, जीवन-मरन समान ॥
बिधि-निषेध कौ नहिं बिबेक कछु, नहीं बोध आचार ।
प्यारौ जो करवावै सोई करै, न अन्य बिचार ॥



बावरी गोपी



[पृष्ठ ५२५

गोपी घर तें निकसि बेचन दधि सिर धर भरकर मटकी ।
'लेउ स्याम गोविंद'—पुकारत फिरत बावरी-सी भटकी ॥
रँगी स्याम-रँग वृत्ति-दृष्टि-मधुकरी स्याम-सरसिज अटकी ।
मुग्ध मनोहर छबि प्रिय, बलिहारी फहरानि पीत पटकी ॥

श्रीगोपाङ्गना

वन्दना

बंदौं गोपी-जन-हृदय, जो हरि राखे गोय ।
पलकहुँ नहिं निकसत कबहुँ, मानि परम सुख सोय ॥
बंदौं गोपी-मन सरस, मिल्यौ जो हरि-मन जाय ।
हरि-मन गोपी मन बन्यौ करत नित्य मन भाय ॥
बंदौं गोपी-राग सुचि, जाके बस हरि होय ।
नित्य रिनी बनि परम सुख लहत, ईसता खोय ॥
बंदौं गोपी-नेह जो हरि-पद-रज कौं सेय ।
भगवत-रूप प्रकास तैं बिनसै सब रज हेय ॥
बंदौं गोपी-भाव, जो नित प्रियतम-सुख हेतु ।
बहत पलहि पल भंग करि सब मरजादा-सेतु ॥
बंदौं गोपी-ब्रत परम स्व-सुख-वासना हीन ।
सती परम जिन मन सतत रहत सुसेवा लीन ॥
बंदौं गोपी-प्रनय जो हरि आकरषत सत्य ।
आकरषत जो ध्यान मैं बरबस मुनिमन नित्य ॥
बंदौं गोपी-नाम, जे हरि मुरली महँ टेर ।
सुख पावत हरि स्वयं करि कीर्तन बेरहिंबेर ॥
बंदौं गोपी-रूप, जो हरिदृग रह्यौ समाय ।
निकसत नेकु न नयन तैं छिन-छिन अधिक लुभाय ॥

मोक्ष-संन्यासिनी गोपियाँ

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित्फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

—श्रीशंकराचार्य

'कुछ लोग प्रतिदिन सकामोपासना करके मनोवाञ्छित फल चाहते हैं, दूसरे कुछ लोग यज्ञादिके द्वारा स्वर्गकी तथा (कर्म और ज्ञान-) योग आदिके द्वारा मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं; परंतु हमें तो यदुनन्दन श्रीकृष्णके चरणयुगलोंके ध्यानमें ही सावधानीके साथ लगे रहनेकी इच्छा

है । हमें उत्तम लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और मोक्षसे क्या प्रयोजन है ?'

सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनलीला अति मधुर है, आकर्षक है, अद्भुत है और अनिर्वचनीय है । वहाँ सभी कुछ विचित्र है, चराचर सभी प्राणी श्रीकृष्णप्रेममें निमग्न हैं, उनमें भी गोपियोंका प्रेम तो सर्वथा अलौकिक और अचिन्त्य है । वहाँ वाणीकी गति ही नहीं है, मन भी उस प्रेमकी कल्पना नहीं कर सकता । करे भी कैसे, उसकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है । मनुष्य प्रेमकी कितनी ही ऊँची-से-ऊँची कल्पना क्यों न करे, वह उस कल्पनातीत भगवत्-प्रेमके एक कणके बराबर भी नहीं है । उस गुणातीत अप्राकृत 'केवल प्रेम' की कल्पना गुणोंसे निर्मित प्राकृत मन कर ही कैसे सकता है । इस अवस्थामें सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नामधारिणी अपनी ही छायामूर्तियोंसे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था, उसका वर्णन कौन कर सकता है । अबतक जितना वर्णन हुआ है, वह प्रायः अपनी-अपनी विभिन्न भावनाओंके अनुसार ही हुआ है । इस प्रेमका असली स्वरूप तो यत्किञ्चित् उसीकी समझमें आ सकता है, जिसको प्रेमघन श्रीकृष्ण समझाना चाहते हैं, पर जो उसे समझ लेता है, वह तत्क्षण गोपी बन जाता है, इसलिये वह फिर उसका वर्णन कर नहीं सकता । वास्तवमें वह वर्णनकी वस्तु भी नहीं है । वे दोनों एक दूसरेका रहस्य समझते हैं और मनमानी लीला करते हैं । गोपियोंके प्राण और श्रीकृष्णमें तथा श्रीकृष्णके प्राण और गोपियोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता,—वे परस्पर अपने आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते हैं । श्रीकृष्ण और गोपी दो स्वरूपोंमें वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं । कवि कहता है—

कान्ह भए प्रानमय प्रान भए कान्हमय,
हिय मैं न जानि परै कान्ह है कि प्रान है ॥

भगवान् अपने इस तरहके भक्तके लिये कहते हैं कि वह तो मेरा आत्मा ही है—'आत्मैव मे मतम् ।' आत्मा क्या है, वह उससे भी अधिक प्यारा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५)

'उद्धव ! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी एवं अपना आत्मा भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे भक्त प्रिय हैं (क्योंकि मेरा ऐसा भक्त मुझमें ही संतुष्ट है । उसे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहिये)'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४, १६)

'इस प्रकारका मेरा प्रिय भक्त अपने आत्माको मुझमें अर्पित कर देता है; वह मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्तीका पद, पाताल आदिका राज्य और योगकी सिद्धियाँ आदिकी तो बात ही क्या है, मोक्ष भी नहीं चाहता । (ऐसे मोक्ष-संन्यासी भक्तोंको जो सुख मिलता है, उसे वे ही जानते हैं ।) ऐसे इच्छारहित, मद्गतचित्त, शान्त, निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ ।'

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि उद्धवजीको यह दुर्लभ पद गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करनेके बाद ही मिला था । जब उद्धवको भगवान् ऐसा कहते हैं, फिर गोपियोंका तो कहना ही क्या । श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अनुभवमें आती है, वही आगे चलकर बहुत नीची प्रतीत होने लगती है ।

जो भगवद्गीता आज संसारका सर्वमान्य ग्रन्थ है, भगवान्की दिव्य वाणीमें परमोपयोगी उपदेश होनेके कारण जो सबका पूज्य है, उसमें जो

कुछ करनेके लिये कहा गया है, गोपियोंके जीवनमें वे सब बातें स्वाभाविक वर्तमान थीं ।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रिय सखा भक्त अर्जुनको जो परम रहस्यमय सार उपदेश दिया है, वह इस प्रकार है—

'जो सर्वत्र मुझको व्यापक देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता ।' (गीता ६ । ३०) '(मेरे) दृढनिश्चयी भक्त निरन्तर मेरे नाम-गुणका कीर्तन करते हुए मेरे ही लिये चेष्टा करते हुए तथा बारंबार मुझको ही प्रणाम करते हुए, नित्य मुझमें मन लगाकर अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं ।' (गीता ९ । १४) 'वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले तथा मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले मेरे भक्त परस्पर मेरी ही चर्चा करते हैं, मेरी ही लीला गा-गाकर संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं; इस प्रकार प्रेमपूर्वक नित्ययुक्त होकर मुझे भजनेवाले भक्तोंके साथ अपनी ईश्वरीय बुद्धिका योग मैं करा देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते है ।' (गीता १० । ९-१०)

इसके बाद गीताका परम तत्त्व, परम गोप्य रहस्य बतलाते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(१८ । ६५-६६)

'तू केवल मुझमें ही मन अर्पण कर दे, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझको ही नमस्कार कर; फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अति प्रिय सखा है । सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल एक मेरे ही शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर ।'

गोपियोंके आचरणोंमें ये सारी बातें ओतप्रोत ही नहीं, बल्कि बढ़ी हुई थीं। कारण, उपदेशमें उतनी बातें आ ही नहीं सकतीं, जितनी आचरणमें आती हैं। फिर अर्जुनको तो ऐसा बननेके लिये उपदेश दिया जा रहा था, जब कि गोपियाँ भगवान्‌की बनी-बनायी भक्त थीं। भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे उनकी बड़ाई करते हुए कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥
सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी सम्हाल इसलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है, गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है। वे मेरी सहायिका हैं, गुरु हैं, शिष्या हैं, दासी हैं, बन्धु हैं, प्रेयसी हैं—कुछ भी कहो, सभी हैं। मैं सच कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं! हे पार्थ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनोरथको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं, और कोई नहीं जानता!'

गोपियोंके मनमें इहलोक और परलोकके किसी भी भोगकी कामना नहीं थी, इन्द्रियका कोई विषय उनके मनको आकर्षित नहीं कर सकता था; उन्होंने अपने मनोंको श्रीकृष्णके मनमें और अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके प्राणोंमें विलीन कर दिया था। वे इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वैसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण, लोक-परलोक—सब श्रीकृष्ण-की इच्छाके अधीन था; उन्होंने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छामें मिला दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन एकान्तमें प्यारे उद्धवजी-से कहा—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४—६)

'हे उद्धव ! गोपियोंने अपने मन और प्राण मेरे अर्पण कर दिये हैं, मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धियोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं, मैं ही उनके सुख और जीवन-का कारण हूँ। गोकुलकी उन स्त्रियोंको मैं प्रिय-से-प्रिय हूँ, मेरे दूर रहनेके कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरहमें अत्यन्त ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं। मेरे शीघ्र गोकुल लौटनेके संदेशके भरोसे ही अपने आत्माको मुझमें समर्पण कर देनेवाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनतासे किसी प्रकार जीवन धारण कर रही हैं।'

गोपियोंका हृदय श्रीकृष्णमय हो गया था; वे खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, घरका काम-काज करते—सब समय एक श्रीकृष्णको ही देखती और उन्हींके गुणोंका स्मरण कर-करके आँसू बहाया करती थीं। भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(१० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें पानी छिड़कते और झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है!'

यह गोपी-प्रेम बड़ा ही पवित्र है, इसमें अपना सर्वस्व प्रियतमके चरणोंमें न्योछावर कर देना पड़ता है। मोक्षकी इच्छा और नरकका भय—दोनोंसे ही मुख मोड़ लेना पड़ता है। प्रियतम श्रीकृष्णका प्रिय कार्य करना ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। दूसरेके द्वारा मुझे सुख मिले, मेरी इन्द्रियोंकी और मनकी तृप्ति हो—इसका नाम 'काम' है, चाहे वह भाव भगवान्‌के प्रति ही क्यों न हो। और मेरे द्वारा मेरा प्रियतम सुखी हो, इसीमें मैं सुखी होऊँ—इसका नाम 'प्रेम' है। काम भोगके लिये और प्रेम परमात्माके लिये हुआ करता है। विषयानुराग ही काम है और भगवदनुराग ही प्रेम है। यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌का प्रतिबिम्ब बना देता है, तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है।

प्रेमीको तो प्रेमास्पद भगवान्‌के इङ्गितानुसार लोकधर्म, वेदधर्म, देह-धर्म और सारे कर्म तथा लज्जा, धैर्य, शरीर-सुख, आत्मसुख आदि सबका त्याग कर देना पड़ता है। जो लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णप्रेममें त्याग और वैराग्यकी आवश्यकता नहीं, वे बहुत ही भूलते हैं। श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्तिका आधार तो श्रीकृष्णार्थ सर्वस्वत्याग ही है, तभी श्रीकृष्णरूप परमशान्ति प्राप्त होती है—'*त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्* ।' (गीता १२ । १२)

जबतक विषयोंमें मन रहता है तबतक तो भगवान्‌का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन ही नहीं हो सकता, फिर समर्पणकी तो बात ही कहाँ है। यह भ्रम है कि लोग विषयासक्त चित्तसे विषयोंका सेवन करते हुए अपनेको भगवान्‌का प्रेमी और गोपीप्रेमके कहने-सुनने और तदनुसार आचरण करनेका अधिकारी मान बैठते हैं; इसीसे उनका पतन होता है।

श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। ऊपर कहा गया है कि श्रीकृष्णप्रेमी नरकके भयकी भी परवा न करके प्रियतम भगवान्‌का प्रिय कार्य करता है। इससे कोई यह न समझे कि 'वह ऐसा दुष्कर्म भी करता है, जिससे उसको नरकका भागी होना पड़े।' बात यह है कि वह मोक्ष-भोग या स्वर्ग-नरककी बातको स्मरण ही नहीं करता, वह तो

श्रीकृष्णगतचित्त रहता है। उसके मन, प्राण और बुद्धि तो श्रीकृष्णमें तल्लीन हो जाते हैं। ऐसे भक्तसे किसी भी दुष्कर्मकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है। श्रीभगवान्‌से पाप या दुष्कर्म हों तो उससे भी हों; क्योंकि उसने तो सारी विषयासक्तिको छोड़कर अपने मनको भगवान्‌का मन बना दिया है। इस दशामें भगवान्‌के मनमें आसक्तिवश पापका भाव आये तो उसके भी आये। भगवान्‌के द्वारा पाप-पुण्य होते नहीं, इसलिये भक्त भी पाप-पुण्यसे अलग ही रहता है।

अमृत चाहे विषका काम कर दे, शीतल जल चाहे जगत्‌को भस्म कर दे, परंतु श्रीकृष्णप्रेमी भक्तसे दुष्ट कर्म कदापि नहीं हो सकता। अतएव गोपियोंके कार्योंमें पाप देखना हमारे चित्तकी पापमयी वृत्तिका ही फल है। थोड़ी दूरपर बातें करते हुए जवान बहिन-भाईकी निर्दोष हँसी और बात-चीतमें भी कामीको कामके दर्शन होते हैं। इसी प्रकार हम भी गोपीप्रेममें काम देखते हैं। वास्तवमें वहाँ तो काम था नहीं; गोपीप्रेमके सच्चे अनुयायियोंमें भी काम-गन्धका नाश हो जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वहाँ तो केवल कृष्ण-ही-कृष्ण रह जाते हैं। उनके मन या नेत्रोंके सामने दूसरी चीज न तो ठहरती है और न आती ही है! उन्हें त्रिभुवन श्याममय दीखता है। उनकी सारी इन्द्रियाँ केवल श्रीकृष्णको ही विषय करती हैं।

भगवान्‌के आदेशसे उद्धवजी व्रजमें आकर गोपियोंको समझाने लगे। उन्होंने अनेक उपदेश दिये, परंतु गोपिकाओंके प्रेमको देखकर उनकी सारी ज्ञानगरिमा गल गयी। वे प्रेमके निर्मल प्रवाहमें बह गये।

गोपियोंने कहा—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारौ धन,
आठौ जाम ऊधौ हमैं स्यामही सौं काम है।
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधे की सी लाकरी अधार स्यामनाम है॥

स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सौं भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे, पाती लैकैं आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अरे, यहाँ तो श्यामके सिवा और कुछ है ही नहीं; सारा हृदय तो उससे भरा है, रोम-रोममें तो वह छाया है। सोते-बैठते कभी साथ तो छोड़ता ही नहीं; फिर बताओ, तुम्हारे ज्ञान और योगको रक्खें कहाँ ?—

नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसें आनिए उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ! लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन, घट न सिंधु समात॥

तुम्हीं बताओ, क्या किया जाय! वह तो हृदयमें गड़ गया है और रोम-रोममें ऐसा अड़ गया है कि किसी तरह निकल ही नहीं पाता; भीतर भी वही और बाहर भी सर्वत्र वही!

उर मैं माखनचोर गड़े।
अब कैसें निकसैं वे ऊधौ, तिरछे आनि अड़े॥

उद्धव चकित हो गये। सबसे अधिक आश्चर्य तो उन्हें तब हुआ, जब गोपी-कृपासे उन्होंने श्रीगोपीनाथको गोपियोंके बीच सर्वत्र अपनी आँखोंके सामने देखा।

महात्मा सूरदासजी कहते हैं—

सुनि गोपिन कौ प्रेम नेम ऊधौ कौ भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनि मैं फूल्यौ॥
छिन गोपिन के पग परैं, धन्य तुम्हारौ नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेंटई ऊधौ छाके प्रेम॥

उद्धवजीकी विचित्र दशा हो गयी! आये थे ज्ञान देकर उनका विरहानल बुझाने—गुरु बनकर उन्हें योगकी दीक्षा देने; पर अब तो चेले बनकर पुकार उठे—

उपदेसन आयौ हुतौ, मोहि भयौ उपदेस।

चेला बनते ही उन्होंने मथुराका राजवेष त्यागकर गोपी-पदपङ्कज-पराग गोपका वेष धारण कर लिया और उसी वेषमें वे भगवान्के पास पहुँचे। इस समय उन्हें यह होश नहीं था कि मैं यदुवंशी उद्धव हूँ; वे अपनेको गोपियोंके चरणोंका चाकर समझते थे, जगत्को भी इसी रूपमें देखते थे। अतएव भगवान् श्रीकृष्णको भी वे यदुनाथ कहना भूल गये और गोपीनाथके नामसे ही पुकारने लगे—

ऊधौ जदुपति पै चले, किएँ गोप को भेस॥
भूल्यौ जदुपति नाम, कह्यौ 'गोपाल गुसाँई!
एक बेर ब्रज जाहु, देहु गोपिनि दिखराई॥

उद्धव कहने लगे—'हे गोपाल, हे गोपीनाथ! एक बार चलो न व्रजको! उस प्रेमलोकको छोड़कर यहाँ इस रूखी-सूखी मथुरामें कहाँ आ बसे?

बृंदाबन सुख छाँड़ि कै, कहाँ बसे हौ आय?
गोबरधन प्रभु जानि कै ऊधौ पकरे पाय॥
ऊधौ ब्रज कौ प्रेम नेम बरनौ सब आई।
उमग्यौ नैननि नीर, बात कछु कही न जाई॥

उद्धव भगवान्के पैर पकड़कर फुफकार मारकर रोने लगे, भगवान् भी प्रेमविह्वल हो जमीनपर गिर पड़े और फिर अपने पीताम्बरसे आँसू पोंछते हुए बोले—'वाह, तुम तो खूब योग सिखाकर आये, उद्धव!'

सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नैन जल छाइ।
पौंछि पीत पटसौं, कह्यौ—'भल आए जोग सिखाइ'॥

भगवान्ने कहा—'उद्धव! देखा तुमने गोपबालाओंका निर्मल, विशुद्ध, अहैतुक और अनन्य प्रेम! इसीलिये मैं उन्हें क्षणभर नहीं भूल सकता!' धन्य! इसी प्रसङ्गमें व्रज-रस-रसीले श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

उद्धवजीने कहा—

करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
तबही लौं कहौ लाख जबहि लौं बाँधी मूठी॥

मैं जान्यौं ब्रज जाय कैं निरदय तुम्हरौ रूप।
जे तुम कौं अवलंबहीं तिनकौं मेलो कूप॥
कौन यह धर्म है ?

पुनि-पुनि कहै, हे स्याम ! जाय बृंदाबन रहियै।
प्रेम-परम कौ पुंज जहाँ गोपी सँग लहियै॥
और संग सब छाड़ि कैं उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात है अबहीं नेह-सनेहु॥
करौगे तौ कहा ?

उद्धवजीके शब्द सुनकर भगवान्‌की क्या दशा हुई ? सुनिये श्रीनन्द-दासजीके ही मुखारविन्दसे—

सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ॥
रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै गईं साँवर गात।
काम-तरोरुह साँवरौ, ब्रजबनिता ही पात॥
उलहि अँग अंग ते।

फिर किसी तरह सचेत होकर भगवान्‌ने कहा—

ह्वै सुचेत कहि भलें सखा पठए सुधि लावन।
औगुन हमरे आनि तहाँ तैं लगे बतावन॥
उनमैं मोमैं हे सखा ! छिन भरि अंतर नाहिं।
ज्यौं देख्यौ मो माहिं वे, हौं हूँ उनही माहिं॥
तरंगनि बारि ज्यौं।

इसके बाद भगवान्‌ने अपना गोपीरूप दिखलाकर उद्धवका भ्रम दूर किया—

गोपी आप दिखाइ एक करि कै बनवारी।
ऊधौ के भरे नैन डारि ब्यामोहक जारी॥
अपनौ रूप बिहार कौ लीन्हौ बहुरि दुराय।
नंददास पावन भयौ, सो यह लीला गाय॥
प्रेमरस पुंजनी।

यह तो शब्दोंसे किया जा सकनेवाला वर्णन है। वास्तविक गोपीप्रेम

तो इससे बहुत ऊँचा है। कुछ महानुभावोंकी धारणा है कि गोपियोंका भगवान्‌के प्रति वही प्रेम था, जो कान्ता—स्त्रीका अपने स्वामीके प्रति होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि यह बात नहीं है; जैसा परकीया—परायी स्त्रीका प्रेम अपने जारके प्रति होता है, वैसा प्रेम गोपियोंका था। मेरी समझसे ये दोनों ही उदाहरण गोपीप्रेमके लिये पूरे लागू नहीं होते। यह सत्य है कि कान्ताभावमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यका समावेश हो जाता है। पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन-धर्म सभी कुछ पतिके अर्पणकर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है और पतिके सम्बन्धियोंकी सेवामें शान्तभाव, पतिकी सेवामें दास्यभाव, पतिके साथ परामर्श करनेमें सख्यभाव और भोजनादि करानेमें वात्सल्यभाव रखती है तथा अपना शरीर और मन सब भाँति निस्संकोचरूपसे पतिके अर्पण कर देती है; परंतु भगवान्‌के प्रति गोपियोंके समान केवल प्रेममूर्ति शुद्ध भागवत जीवोंका जो प्रेम होता है, वह तो कुछ विलक्षण ही होता है। ऐसे ही परकीयाका भाव भी सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। परकीयाके प्रेमकी इतनी ही बात उदाहरणस्वरूपमें ली जा सकती है कि जैसे परकीयाकी चित्तवृत्ति घरका काम-काज करते हुए भी आठों पहर जारमें लगी रहती है, इसी प्रकार भक्तोंकी भी भगवान्‌में लगी रहती है; परंतु परकीयाके मनमें तो अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती है, गोपियोंमें कामवासनाका लेश भी नहीं था। परकीयाका प्रेमास्पद जार होता है। भगवान् परमात्मामें जारभाव कभी नहीं हो सकता। परमात्मा सर्वथा शुद्ध और निर्विकार हैं; इसलिये यही कहा जाता है कि गोपीप्रेममें दिव्य परकीया भाव है, जो परम विशुद्ध, सर्वथा अनन्य तो है ही, वरं इससे भी परे उस कोटिका है, जहाँतक हमारी कल्पना पहुँचती ही नहीं। इसीसे वह अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है।

गोपी-प्रेम विलक्षण है। उसमें 'शृङ्गार' है, पर 'राग' नहीं है; 'भोग' है, पर 'लौकिक अङ्गसंयोग' नहीं है; 'आसक्ति' है, पर 'अज्ञान' नहीं है; 'वियोग' है, पर 'विछोह' नहीं है; 'क्रन्दन' है, पर 'दु:ख' नहीं है; 'विरह' है, पर 'वेदना' नहीं है; 'सेवा' है, पर 'अभिमान' नहीं है; 'मान' है, पर 'धैर्य'

नहीं है; 'त्याग' है, पर 'संन्यास' नहीं है; 'प्रलाप' है, पर 'बेहोशी' नहीं है; 'ममता' है, पर 'मोह' नहीं है; 'अनुराग' है, पर 'कामना' नहीं है; 'तृप्ति' है, पर 'अनिच्छा' नहीं है; 'सुख' है, पर 'स्पृहा' नहीं है; 'देह' है, पर 'अहं' नहीं है; 'जगत्' है, पर 'माया' नहीं है; 'ज्ञान' है, पर 'ज्ञानी' नहीं है; 'ब्रह्म' है, पर 'निर्गुण' नहीं है; 'मुक्ति' है, पर 'लय' नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी यह परम भावकी रासलीला नित्य है, प्रत्येक युगमें है, आज भी होती है; प्रत्येक युगके अधिकारी संतोंने इसे देखा है, अब भी अधिकारी देखते हैं, देख सकते हैं।

यदि इस प्रकारके प्रेमकी तनिक भी झाँकी देखकर धन्य होना चाहते हो, यदि इस अचिन्त्य प्रेमार्णवका कोई एक बिन्दु प्राप्त करना चाहते हो तो भोग और मोक्षकी अभिलाषाको छोड़ दो, श्रीकृष्णमें अपना चित्त जोड़ दो; प्राण खोलकर रोओ, उनके नाम और रूपपर आसक्त हो जाओ। बेच डालो अपना सब कुछ उनके एक रूपबिन्दुके लिये, सर्वस्व निछावर कर दो उनके चरणोंपर; लगा दो अपना तन, मन, धन उनकी सेवामें; सदाके लिये अपना सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दो।

तुम पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, पुण्यात्मा हो या पापी—जो कुछ भी हो, दृढ़ताके साथ भगवान् श्रीकृष्णके निज-जन बननेकी प्रतिज्ञा कर लो। सारे जीवोंमें श्रीकृष्णके दर्शन करो; सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति और जीवन-मरण—सभीमें उस प्रेमास्पदको पहचानकर आनन्दानुभव करो। दिल खोलकर मुक्तकण्ठसे श्रीकृष्णनामका संकीर्तन करो, श्रीकृष्णके लिये सच्चे हृदयसे हृदयविदीर्णकारी क्रन्दन करो, सब जगह श्रीकृष्ण रसिक-शेखरकी त्रिभङ्ग माधुरी देखो। उनकी कृपा होगी और तुम्हें प्रेम मिलेगा, तुम कृतार्थ हो जाओगे। सबको कृतार्थ कर दोगे! यह निश्चय रक्खो!

जदपि जसोदा नंद अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या जग मैं प्रेम कौं गोपी भई अनन्य॥

—रसखानिजी

गोपी-प्रेम

कहा 'रसखान' सुख-संपति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाएँ अंग छार कौं।
कहा साधैं पंचानल, कहा सोएँ बीच जल,
कहा जीत लीन्हैं राज सिंधु वारापार कौं॥
जप बार-बार, तप-संजम, अपार ब्रत,
तीरथ हजार अरे ! बूझत लबार को ?
सोई है गँवार, जिहिं कीन्हौ नाहिं प्यार, नाहिं
सेयौ दरबार यार नंद के कुमार कौं॥
कंचन के मंदिरन दीठि ठहरात नायँ,
सदा दीपमाल लाल रतन उजारे सौं।
और प्रभुताई सब कहाँ लौं बखानौं, प्रति-
हारिनकी भीर भूप टरत न द्वारे सौं॥
गंगाजू मैं न्हाय, मुकताहल लुटाय, बेद
बीस बार गाय ध्यान कीजै सरकारे सौं।
ऐसे ही भये तौ कहा कीन्हौ 'रसखान' जु पै
चित्त दै न कीन्ही प्रीति पीत पटवारे सौं॥

'गोपी-प्रेम' पर कुछ भी लिखना वस्तुतः मुझ-सरीखे मनुष्यके लिये अनधिकार चर्चा है। गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है, जिसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण स्वयं कृपापूर्वक जना देते हैं। जाननेवाला भी उसे कह अथवा लिख नहीं सकता; क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्‌की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत, अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्‌के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्‌की निज आनन्दशक्ति,

योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुरलीलामें योग देनेके लिये व्रजमें प्रकट हुए हैं। व्रजमें प्रकट इन महात्माओंकी चरण-रजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०, ३२, ३४)

'हे प्रभो! मुझे ऐसा महान् सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्ममें अथवा किसी तिर्यक्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ, जिससे आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ। अहो! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं। इनके धन्य भाग्य हैं जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं आप हैं। इस धरातलपर व्रजमें और उसमें भी गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है, जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरणरजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले।'

जिन व्रजवासियोंकी चरण-धूलिको ब्रह्मा चाहते हैं, उनका कितना बड़ा महत्त्व है! ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं। इस बातको स्वयं ब्रह्माजीने कहा है कि 'भगवन्! मुक्ति तो कुचोंमें विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी। इन प्रेमियोंको क्या वही देंगे—इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा।' और भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार भी किया है। आप गोपियोंसे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

'हे प्रियाओ ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओंके समान आयुमें भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामें भगवान् कहते हैं—

तब बोले पिय नव किसोर हम रिनी तिहारे।
अपने हिय तैं दूरि करौ सब दोष हमारे ॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति-उपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं होउँ तौ ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममई तुम्हरी माया मो मन मोहति है ॥

सारे संसारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेड़ीसे निरन्तर बाँधे रखनेवाले सच्चिदानन्दघन, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगत्को मायाके खेलमें सदा रमानेवाले मायापति हरि गोप-बालकोंसे खेलमें हारकर, स्वयं घोड़े बनकर उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाते हैं। उन व्रजवासी नर-नारियोंको धन्य है ! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक कामोंमें लग रही थीं, बालकृष्ण मचल गये और बोले—मैं गोद चढ़ूँगा। माताने कुछ ध्यान न दिया। इसपर खीझकर आप लगे रोने और आँगनमें लोटने। इतनेमें ही देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़े रो रहे हैं। इस दृश्यको देखकर देवर्षि गद्गद हो गये और यशोदाको पुकारकर कहने लगे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग् विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।

नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम् ॥

'यशोदे ! तेरा सौभाग्य महान् है । क्या कहें, न जाने तूने पिछले जन्मोंमें तीर्थोंमें जा-जाकर कितने महान् पुण्य किये हैं ! अरी ! जिस विश्वपति, विश्वस्रष्टा, विश्वरूप, विश्वाधार भगवान्‌की कृपाको इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भी नहीं प्राप्त कर सकते, वही पूर्णब्रह्म आज तेरी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़ा लोट रहा है !'

जो विश्वनायक भगवान् मायाके दृढ़ सूत्रमें बाँध-बाँधकर अखिल विश्वको निरन्तर नाच नचाते हैं, वे ही विज्ञानानन्दघन भगवान् गोपियोंकी प्रेम-मायासे मोहित होकर सदा उनके आँगनमें नाचते हैं ! उनके भाग्यकी सराहना और उनके प्रेमका महत्त्व कौन बतला सकता है । रसखानि कहते हैं—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं ।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं ॥
नारद-से सुक-ब्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥

गोपियोंके भाग्यकी सराहना करते हुए परम विरागी, सदा ब्रह्मस्वरूप मुनि शुकदेवजी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ९ । २०)

'ब्रह्मा, शिव और सदा हृदयमें रहनेवाली लक्ष्मीजीने भी मुक्तिदाता भगवान्‌का वह दुर्लभ प्रसाद नहीं पाया, जो प्रेमिकाश्रेष्ठ गोपियोंको मिला ।'

इसी प्रकार ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धवजी कहते हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६०)

'रासोत्सवके समय भगवान्‌के भुजदण्डोंको गलेमें धारणकर पूर्णकामा व्रजकी गोपियोंको श्रीहरिका जो दुर्लभ प्रसाद प्राप्त हुआ था, वह निरन्तर भगवान्‌के वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजीको और कमलकी-सी कान्ति और सुगन्धसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है।'

सूरदासजी कहते हैं—

बनी सहज यह लूट हरिकेलि गोपीन कें
सुपनें यह कृपा कमला न पावै ॥
निगम निरधार त्रिपुरारहू बिचार रह्यौ,
पचि रह्यो सेस नहिं पार पावै ॥
किंनरीं बहुर अरु बहुर गंधरबनीं,
पंनगनीं चितवन नहिं माँझ पावैं।
देत करताल वे लाल गोपाल सौं,
पकर व्रजबाल कपि ज्यौं नचावैं ॥

× × × ×

देन कहि लौनी पुनि चाहि रहत बदन हँसि,
स्वभुज बीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूलि रहीं,
कान्ह बलराम के संग डोलैं ॥
सूर गिरधरन मधु चरित मधु पान के,
और अमृत कछु आन लागै।
और सुख रंक को कौन इच्छा करे,
मुक्तिहू लौन सी खारी लागै ॥

जयति ललितादि देवीय ब्रज श्रुतिरिचा,
कृष्ण प्रिय केलि आधार अंगी।
जुगल-रस-मत्त आनंदमय रूपनिधि,
सकल सुख समय की छाँह संगी ॥
गौरमुख हिमकिरन की सु किरनावली,
स्रवत मधु गान हिय पिय तरंगी।
'नागरी' सकल संकेत आकारिनी,
गनत गुनगनहि मति होति पंगी ॥

गोपियोंकी चरण-रज पानेके लिये व्रजमें लता-गुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपीभावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५)

'हे उद्धव ! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं, जितने तुम-जैसे भक्त प्रियतम हैं ।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी, किंचित् कल्पना हुई होगी । भगवान्‌की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्णन मुझ-जैसा मनुष्य कैसे कर सकता है । परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहीं प्रेमका अधिकार मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओंके प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है । यह साधन-सापेक्ष है । केवल अध्ययन या ग्रन्थपाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती । तथापि भगवत्कृपासे इधर-उधरसे जो कुछ बातें ज्ञात हुई हैं, उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है । भाग्यवान् पूज्यपाद प्रेमीजन कृपापूर्वक अपराध और धृष्टता क्षमा करेंगे ।

गोपी-प्रेमका स्वरूप

गोपी प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परंतु वह राग सब जगहसे सिमटकर भुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वतोंको लाँघकर केवल श्रीकृष्णमें अर्पण हो गया है । गोपियोंके मन, प्राण—सब कुछ श्रीकृष्णके हैं । इहलोक और परलोकमें गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नहीं जानतीं । उनका जीवन केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये है; उनका जागना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, शृङ्गार-सज्जा करना, कबरी बाँधना, गीत गाना, बात-चीत करना—सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है । श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य उन गोपियोंको अपार सुख होता है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥

'हे अर्जुन ! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं ! गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है ।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सुख-समुद्र विज्ञानानन्दघन भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा, क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है ? भगवान् क्या स्वयं सुखसंदोह नहीं हैं ? हैं क्यों नहीं, शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं; वे इस शक्तिको अपनी वंशीध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं, भगवान्‌की यह शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी अङ्गशक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंको—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं । भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर, अपना सर्वस्व न्योछावर कर भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौड़ता है । भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भेंटको स्वीकार करते हैं और फिर उसीको लौटा देते हैं । दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वयं ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है । इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियोंके सुखकी भेंटको स्वीकार कर, उनकी इस कामनाको कि 'श्रीकृष्ण हमें देखकर, हमारी सेवा स्वीकार कर, हमारे साथ खेलकर सुखी हों' पूरी कर देते हैं । भगवान् सुखी होते हैं और वह सुख अपरिमितरूपमें बढ़ाकर उन्हींको दे देते हैं । गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है कि गोपियोंको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है । उनके मनमें अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती । वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुए देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमें डूबी रहती हैं । गोपियोंका प्रेम काम-कालिमाशून्य है; वह निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है, अलौकिक है ! श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल,
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म, कर्म,
लज्जा, धैर्य, देह-सुख, आत्म-सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

काम और प्रेममें बड़ा ही अन्तर है, हम विषयविमोहित जीव कामको ही प्रेम मानकर पाप-पङ्कमें फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसकमें ही सुखसुधाका स्वाद मिलता है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति, इन्द्रियचरितार्थता है; प्रेममें तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकाङ्क्षा है। काममें इन्द्रियतृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममें दुःखरूप है, प्रेम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। काममें विषयतृष्णा है, प्रेममें विषयविस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है, आत्मतृप्ति है; प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता है। यद्यपि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता है और समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं, परंतु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमें काम नहीं है। गौतमीय तन्त्रमें आया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

गोपियोंके प्रेमका नाम काम होनेपर भी वह असलमें काम नहीं, किंतु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं। क्योंकि गोपियोंमें निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझकर ही अपने

सकल अङ्गोंको सम्पूर्णरूपसे अर्पण कर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्णगतप्राणा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य,
कृष्णसुख तात्पर्य गोपीभाव वर्य।
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपिकार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम-विहार॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार।
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

अपने तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक, परलोक—सबको श्रीकृष्णकी सुख-सामग्री समझकर श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। इस गोपीभावमें मधुर रसकी प्रधानता है। रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लौकिक और ईश्वरीय—दिव्य भेदसे ये पाँचों रस दो प्रकारके हैं। अर्थात् लौकिक प्रेम भी उपर्युक्त पाँच प्रकारका है और दिव्य प्रेम भी पाँच प्रकारका है। परंतु इन पाँचोंमें मधुर रस—कान्ताप्रेम सबसे ऊँचा है; क्योंकि इसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये चारों ही रस विद्यमान हैं। यह अधिक गुणसम्पन्न होनेसे अधिक स्वादिष्ट है, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' है। इसी प्रकार दिव्य प्रेममें भी कान्ताप्रेम—मधुर रस ही सर्वप्रधान है। शान्त और दास्यरसमें 'भगवान् ऐश्वर्यशाली है, मैं दीन हूँ; भगवान् स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ'—ऐसा भाव रहता है। इसमें कुछ अलगाव-सा है, भय है और संकोच है; परंतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निजजन हैं, अपने प्यारे हैं, प्रियतम हैं। इनमें भगवान् ऐश्वर्यको भुलाकर, विभूतिको छिपाकर सखा, पुत्र या कान्तरूपसे भक्तके सामने सदा प्रकट रहते हैं; इन रसोंमें प्रार्थना-कामना है ही नहीं। अपने निजजनसे प्रार्थना कैसी ? उसका सब कुछ अपना ही तो है! इनमें भी कान्ताभाव सर्वप्रधान है। कान्ताभावमें पिछले दोनों रसोंका—सख्य और वात्सल्य-

का पूर्ण समावेश है। यहाँ भगवान्‌की सेवा खूब होती है, इतनी होती है कि सेवा करनेवाला भक्त कभी थकता ही नहीं; क्योंकि यह मालिककी सेवा नहीं है, प्रियतमकी सेवा है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही अपार सुख है; जितना सुख पहुँचे, उतना ही थोड़ा; क्योंकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतने ही अपार सुखका अनुभव उसे सुख पहुँचानेवाली प्रेममयी प्रियतमाको होता है।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया। लौकिक कान्ताभावमें परकीयाभाव त्याज्य है, घृणित है; क्योंकि उसमें अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती है और प्रेमास्पद 'जार-मनुष्य' होता है। परंतु दिव्य कान्ताभावमें—परमेश्वरके प्रति होनेवाले कान्ताभावमें परकीयाभाव ग्राह्य है, वह स्वकीयासे श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें कहीं अङ्ग-सङ्ग या इन्द्रियतृप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं है। प्रेमास्पद पुरुष जार नहीं है, स्वयं 'विश्वात्मा भगवान्' हैं—पति-पुत्रोंके और अपने सबके आत्मा परमात्मा हैं। इसीलिये गोपीप्रेममें परकीयाभाव माना जाता है। यद्यपि स्वकीया पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन, धर्म—सभी पतिके अर्पणकर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है, तथापि परकीयाभावमें तीन बातें विशेष होती हैं। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, उससे मिलनेकी अतृप्त उत्कण्ठा और प्रियतममें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयामें सदा एक ही घरमें एक साथ निवास होनेके कारण ये तीनों ही बातें नहीं होतीं। गोपियाँ भगवान्‌को नित्य देखती थीं, परंतु परकीयाभावकी प्रधानतासे क्षणभरका वियोग भी उनके लिये असह्य हो जाता था, आँखोंपर पलक बनानेवाले विधाताको वे कोसती थीं; क्योंकि पलक न होते तो आँखें सदा खुली ही रहतीं। गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटियुगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १० । ३१ । १५)

'जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके

कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर संध्याके समय जब हम वनसे लौटते हुए आपके घुँघराली अलकावलियोंसे युक्त श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंमें पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् एक पलक भी आपको देखे बिना हमें कल नहीं पड़ती।'

भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना, पलभरके अदर्शनमें भी महान् विरह-वेदनाका अनुभव करना और सर्वतोभावसे दोष-दर्शनरहित होकर आत्म-समर्पण कर चुकना गोपियोंका स्वभाव था। इसीसे वे उस प्रियतमसेवाके सामने किसी बातको कुछ भी नहीं समझती थीं। लोक, वेद—सबकी मर्यादाको छोड़कर वे कृष्णानुरागिणी बन गयी थीं। भोग और मोक्ष दोनों ही उनके लिये सर्वथा तुच्छ और त्याज्य थे।

ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीतगोविन्दकारने 'धेहि मे पदपल्लव-मुदारम्' कहकर भगवान्‌से श्रीराधाजीके पदकमलकी चाह करायी है। और इसी आधारपर रसिक रसखानिजीने कहा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यौ पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यौ, रसखानि बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यौ, दुर्‌यौ वह कुंज कुटीरमें बैठ्यौ पलोटत राधिका-पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह चाहता नहीं कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दबायें; परंतु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। महाभारतमें सखा-भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन संजयने कौरवोंकी राजसभामें किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था, तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीया-भाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थभाव

नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे उनपर दोषारोपण कर बैठते हैं। असलमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। उसमें सभी रसोंका विकास है, परंतु मधुररस प्रधान है। यह मधुररस उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रातःस्मरणीया व्रजदेवियोंमें ही था। श्रीभगवान्ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रज-मण्डलमें इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाको प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्ने रमणाभिलाषासे अथवा गोपियोंकी काम-वासना-तृप्तिके लिये नहीं की थी; न तो भगवान्में रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमें कामवासना ही। यह तो की गयी थी जगत्के जीवोंके कामनाशके लिये। रासलीलाप्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर शुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'जो धीर पुरुष व्रजबालाओंके साथ भगवान् विष्णुके (श्रीकृष्णके) इस रासविहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुने या पढ़ेगा वह शीघ्र ही भगवान्की पराभक्तिको प्राप्तकर हृदयके रोगरूप कामविकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढ़नेसे ही हृद्रोग—कामविकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमें कामविकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना कामविमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धि-दोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमें सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमें दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षित्को महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं, जिससे

सहज ही पराभक्तिको प्राप्तकर परीक्षित् भगवान्‌के असली तत्त्वको जान लें और भगवान्‌को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके नामसे पराभक्ति-प्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५१—५५)

अर्थात् 'जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, मिताहारी, मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण करनेवाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको सर्वथा त्यागकर ममतारहित, शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है; फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही करता है और सब प्राणियोंमें समभावसे भगवान्‌को देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। उस पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जान लेता है कि मैं किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर भक्त तदनन्तर ही मुझमें मिल जाता है।'

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोंमें उपर्युक्त सभी बातें पूर्णरूपसे थीं। विशुद्ध बुद्धिका इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्त-

सेवन—शरीरसे ही नहीं, मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-वाणी-शरीरको विषयोंसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें लगाये रखना, घर-परिवार आदि किसी भी भोग-पदार्थमें राग न रखना, निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमें संलग्न रहना, मनमें श्रीकृष्णकी दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको श्रीकृष्णमय बनाये रखना, श्रीकृष्ण-विषयक पदार्थोंके सिवा अन्य सभी शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्याग देना, जगत्‌की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष न रखना; अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह—सबका श्रीकृष्णमें उत्सर्ग कर देना; घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग और मोक्षमें भी ममत्व न रखना; चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें समाहित रखकर जगत्‌के विषयोंसे शान्त रखना और श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोंके चरित्रमें पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णको सब प्राणियोंमें देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोंको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बातें गोपियोंमें स्वाभाविक थीं; इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीड़ा करके उन्हें श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोंसे विशेषता यह रही कि इसमें सारी बातें केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वयं भक्तोंके साथ नाचे। उन्होंने अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोंके चित्तको चुराकर, अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोंको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हें सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्यदृष्टिसे देखकर सखी-भावमें प्रवेश होकर कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'हे सखि! एक कौतुककी बात सुन। मैंने आज बाबा नन्दके आँगनमें वेदान्तके चरम सिद्धान्त ब्रह्मको गोधूलिधूसरिताङ्ग हुए नाचते देखा।'

ग्यानी बोधस्वरूप ह्वै होहिं ब्रह्ममैं लीन ।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रबीन ॥
ग्यानी ढिग गंभीर हरि सच्चिद् ब्रह्मानंद ।
प्रेमी सँग खेलत सदा चंचल प्रेमानंद ॥
ग्यानी ब्रह्मानंद सौं रहत सदा भरपूर ।
पै प्रेमी निरखत सुखद दुरलभ हरि कौ नूर ॥
प्रेमी भाग्य सराहि मुनि, ग्यानी बिमल बिबेक ।
चहैं सुदुरलभ प्रेमपद तजि निजपद की टेक ॥

श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी

भगवान्‌की उस रूपमाधुरीका वर्णन कौन कर सकता है । वे एक बार जिसकी ओर प्रेमकी नजरसे देख लेते, उसीपर प्रेमसुधा बरसाकर उसे अमर कर देते, उसकी सारी विषयासक्तिको नष्टकर अपना प्रेमी बना लेते । पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

'रे चित्त ! तेरे हितके लिये तुझे सावधान किये देता हूँ । कहीं तू उस वृन्दावनमें गाय चरानेवाले, नवीन नील मेघके समान कान्तिवाले छैलको अपना बन्धु न बना लेना; वह सौन्दर्यरूप अमृत बरसानेवाली अपनी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे प्रिय समस्त विषयोंको तुरंत नष्ट कर देगा ।' अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदनस्वामीजीको भी उसकी रूपछटाके फंदेमें पड़कर स्वाराज्यसिंहासनसे च्युत होना पड़ा था । वे कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमको गोपियोंके पीछे-पीछे

फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक (जबरदस्ती, इच्छा न रहनेपर भी) अपने चरणोंका गुलाम बना लिया।'

व्रज-रस-रसीले साह कुन्दनलालजी श्रीललितकिशोरीजी बने हुए कहते हैं—

नैन-चकोर मुख-चंदहू पै वारि डारौं,
वारि डारौं चित्तहि मनमोहन चितचोर पै।
प्रानहू कौं वारि डारौं हँसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचन की कोर पै॥
वारि डारौं मनहि सुभंग-अंग स्यामा-स्याम,
महल मिलाप रसरास की झकोर पै।
अतिहि सुघर बर सोहत त्रिभंगी लाल,
मरबस वारौं वा ग्रीवा की मरोर पै॥

सर्वस्व वार देनेपर भी वह फिर अपनी तिरछी चितवनकी बरछीसे प्रेमी भक्तको घायल करता है और बार-बार उसकी ओर झाँक-झाँककर, हँस-हँसकर 'घावपर नमक बुरकाता रहता है—

देखो री ! यह नंदका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवनकी पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदरदी मंद-मंद मुसकाता है।
'ललितकिसोरी' जख्म जिगरपर नौनपुरी बुरकाता है॥

श्यामकी तिरछी नज़रसे घायल प्रेमीका यह जख़्मेजिगर कभी सूख ही नहीं सकता, वह सदा हरा रहता है और उसकी पल-पलकी कसक ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर आनन्द दिया करती है। गोपियोंके हृदयमें यह घाव बहुत गहरा था। बड़े भाग्यसे' यह दिनोंदिन बढ़नेवाला घाव होता है और स्वयं साँवरेके वैद्य बनकर आनेपर भी यह अच्छा नहीं होता। श्यामसुन्दरके दर्शनसे यह और भी बढ़ जाता है, परंतु अदर्शन कभी सुहाता नहीं। एकमात्र वे ही वैद्य हैं; परंतु वैद्य घाव बढ़ाते हैं, घटाते नहीं। इस घावके बढ़नेमें ही सुख है, इसीलिये घावसे कराहना और बार-बार घाव बढ़ानेका कार्य करना—यही बस, प्रेमियोंके जीवनका नित्य परम सुखदायी दुःख हो जाता है।

मुरली और रास

यही हाल उसकी मुरलीका है। जब वह बजती है, तब औरोंकी तो बात ही क्या, निर्बीज-समाधिमें स्थित योगियोंकी समाधि भी टूट जाती है।

वह वंशीध्वनि निकलते ही जडको चेतन और चेतनको जड बना देती है। इसीसे एक बार एक गोपीने व्यंगसे मुरलीकी महिमा गाते हुए कहा था—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! अरे, मेरे रसोई बनाते समय तो तुम कृपा करके अपनी मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो; क्योंकि उस ध्वनिके आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो रस टपकाने लगती हैं और आग बुझ जाती है, जिससे रसोई भी नहीं हो पाती।' दूरसे मुरलीकी टेर सुनकर एक सखी दूसरीसे कहती है—

सुनती हौ कहा, भजि जाहु घरै, बिंध जाओगी नैन के बानन मैं।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिष सौं बगरावति है बिष प्रानन मैं॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू, भँवरौ जब मीठी-सी तानन मैं।
कुलकानि जो आपनि राखि चहौ, दै रहौ अँगुरी दोउ कानन मैं॥"

इस वंशीकी और रासकी कुछ आलोचना किये बिना गोपी-प्रेमकी चर्चा अधूरी रह जाती है। इसलिये इन विषयोंपर भी कुछ विचार करना है।

श्रीकृष्णमिलनके लिये कात्यायनीकी पूजा करनेवाली गोपियोंको वर देनेके दिन भगवान्‌ने उनके वस्त्र हरणकर उनके निर्मल और अनन्य प्रेमकी परीक्षा की। उनका सारा भेद-ज्ञान हरण करके उन्हें निर्मल प्रेमपथकी अधिकारिणी समझकर मिलनका वरदान दिया। वस्त्रहरणलीलामें पाप देखना पापबुद्धिका परिणाम है। जीवात्माका परमात्माके सामने कोई पर्दा नहीं रह सकता। पर्दा मायामें ही है। सबके अन्तरात्मा भगवान्‌से

कौन जीवात्मा अपने अङ्गोंको छिपानेका भाव रख सकता है। वह जबतक छिपाता है, तबतक परमात्माको परमात्मा न समझकर अपने पृथक्त्वका अभिमान बनाये रखता है। चीरहरणसे गोपियोंका यह मोह भङ्ग हुआ। उन्होंने श्रीकृष्णको परमात्मा समझा और जीवभावके हेतु अभिमानके पर्देको तोड़कर भेदमूलक मायाके वस्त्रोंसे सर्वथा रहित होकर वे सर्वात्मरूप प्रभुके सामने आ गयीं।

इसके कुछ दिनों बाद शरत्पूर्णिमा आयी। भगवान्‌के मिलनका दिन आया। शारदीया रजनी, प्रफुल्ल मल्लिका, पूर्ण सुधांशुकी सुधामयी मधुर किरणें आदि उद्दीपन भावोंसे गोपियोंके हृदयमें एक अलक्ष्य आकाङ्क्षा जाग उठी, मानो उनका हृदय किसी अलभ्य वस्तुको चाहने लगा। यह थी श्रीकृष्णमिलनकी कामना।

बस, इसी समय श्रीकृष्णकी मोहन मुरली बज उठी। शारद सुधाकरकी ज्योत्स्नामें, नील यमुनाके निर्मल सैकतमें स्थित, मन्दानिलसे आन्दोलित माधवी कुञ्जमें आत्माराम, पूर्णकाम, योगेश्वर, नित्य-नव नटवर मोहनकी मधुर मुरलीसे विश्व-विमोहन प्रेमके आवाहनका अनङ्गवर्धक, आनन्ददायक संगीत प्रारम्भ हो गया। शुकदेवजी कहते हैं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४)

'उस अनङ्गवर्धन (श्रीकृष्ण-मिलन-कामनाको बढ़ानेवाले) गानके कानोंमें पड़ते ही समस्त व्रज-वनिताओंका मन श्रीकृष्णमय हो गया। वे उसी समय तुरंत सब कुछ छोड़कर अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास चली गयीं। उतावलीके कारण किसीने किसीको साथ लेनेका भी कोई प्रयत्न नहीं किया (सब अलग-अलग ही, जो जिस अवस्थामें थी, उसी अवस्थामें सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ी)। उस समय वे इतने वेगसे चलीं कि सारे रास्ते उनके कानोंके कमनीय कुण्डल हिलते रहे।'

अनङ्गके बढ़ जानेपर वे अपने-अपने पतियोंके पास न जाकर श्रीकृष्णके पास क्यों गयीं ? इसमें कारण है । उनका अनङ्ग लौकिक काम नहीं था, श्रीकृष्णमिलनकी योगिजनदुर्लभ प्रबल कामना थी, जो किसी अङ्गवाली न होनेपर भी बड़ी प्रबल थी और जिसने उनको बरबस श्रीकृष्णकी ओर दौड़नेको बाध्य कर दिया था । वंशीध्वनि अखण्डानन्द प्रदान करनेके लिये भगवान्का अनिवार्य निमन्त्रण था, उसे वे कैसे टाल सकती थीं ! उसे कोई भी नहीं टाल सकता । वह वंशी कैसे बजी, उसकी ध्वनि कहाँतक गयी !

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम् ।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥

'वंशीका वह पवित्र संगीत अपनी सुधामयी स्वरलहरीसे समस्त वृन्दावनको आप्लावित करता हुआ, आकाशमें पहुँचकर जलदसमूहको स्तम्भित करता हुआ, स्वर्गमें देवगायक तुम्बुरुको पुनः-पुनः चकित करता हुआ, ब्रह्मलोकमें सनन्दनादि महामुनियोंकी निर्गुण ब्रह्मविषयक निर्बीज समाधिको भङ्ग करता हुआ, स्वयं प्रजापति ब्रह्माको विस्मित करता हुआ—यों ऊर्ध्वलोकमें अपनी विजयपताका फहराकर नीचे पातालकी ओर चला और वहाँ राजा बलिको चौंकाकर, नागराज अनन्त शेषनागके सहस्र फणोंको कँपाकर, अखिल ब्रह्माण्डकटाहको भेदकर श्रीकृष्णका वह वंशी-संगीत सब ओर फैल गया ।'

परंतु इतनेपर भी इस आवाहन-संगीतको सुना भक्तोंने ही और वे उसी समय दौड़ चले । अब भी श्यामकी यह वंशी वैसे ही बजती है और प्रेमी भक्त अब भी उसे सुनते हैं । अस्तु !

भक्तप्रवर श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

सुनत चलीं ब्रज-बधू गीत-धुनि कौ मारग गहि ।
भवन भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकीं नहिं ॥
नाद अमृत कौ पंथ रँगीलौ सूछम भारी ।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं, आन कोउ नहिं अधिकारी ॥

वे मुरलीकी ध्वनिको लक्ष्य करके उन्मत्तकी भाँति चलीं और भगवान् श्रीकृष्णके चरण-प्रान्तोंमें जा पहुँचीं। यहाँ फिर प्रेम-परीक्षा होती है। मुख्यतया दो बातें देखनी हैं—(१) गोपियोंका किसी सांसारिक विषयमें मन आसक्त है या नहीं और (२) वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती हैं या नहीं। इसीलिये पहले-पहल भगवान्‌ने उनसे कहा—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।१८)

'महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है। कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें सब कुशल तो है? इस समय अपने यहाँ आनेका कारण तो बताओ!'

गोपियाँ भगवान्‌की ऐसी वाणी सुनकर मुसकरा दीं, कुछ बोलीं नहीं। भगवान् फिर बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।१९)

'हे सुन्दरियो! देखो, रात्रि बड़ी घोर है। इस समय बहुत-से भयानक जीव इधर-उधर फिर रहे हैं। इसलिये तुमलोग तुरंत व्रजको लौट जाओ। यहाँ स्त्रियोंका अधिक देर ठहरना ठीक नहीं।'

गोपियोंने कुछ उत्तर नहीं दिया। भगवान् फिर बोले—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।२०)

'तुम्हें घरमें न देखकर तुम्हारे माता-पिता, पुत्र, भाई और पति आदि तुम्हें ढूँढ़ते होंगे। तुम यहाँ ठहरकर अपने घरवालोंको व्यर्थ घबराहट-में न डालो।'

यहाँ भगवान्‌ने सांसारिक अति निकटके सम्बन्धियोंकी बात याद

दिलाकर यह जानना चाहा कि देखें, गोपियोंके मनमें उनके प्रति मोह या उनसे भय है या नहीं। ये मायिक जगत्‌में हैं या ईश्वराभिमुखी हैं ? परंतु गोपियाँ इस परीक्षामें पास हो गयीं। ऋषिपत्नियाँ यहीं, इसी प्रसङ्गपर घर लौट गयी थीं। गोपियाँ कुछ नहीं बोलीं। उनके चित्तमें संसारकी आत्मीयताका कुछ भी मोह नहीं जाग्रत् हुआ। वे भगवान् परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें डूब रही थीं।

चाँदनी रातकी सुन्दर शोभा देखकर गोपियोंके मनमें श्रीकृष्णप्रेम जागा था; यह जागृति लौकिक थी या दिव्य ? इसीको जाँचनेके लिये भगवान्‌ने फिर कहा—

इदं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥
तद् यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । २१-२२)

'तुम रजनीशकी रश्मियोंसे रञ्जित और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल मन्द-मन्द पवनकी गतिसे हिलते हुए नवपल्लवोंसे सुशोभित एवं कुमुद-कुसुम-मण्डित, मनोहर इस वृन्दावनकी शोभा देख चुकीं। अब हे सतियो ! देर न करो, तुरंत ही व्रज लौट जाओ और अपने-अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, बालक और तुम्हारी गायोंके बछड़े रो रहे होंगे, जाकर उन्हें दूध पिलाओ और गायें दुहो।'

'सती' स्त्रीके लिये पति-सेवासे बढ़कर और कौन-सा महत्त्वका कार्य हो सकता है ? भगवान्‌ने 'सती' सम्बोधन करके गोपियोंको पतियोंकी याद दिलायी। माताको पुत्र और ग्वालिनोंको गौ-बछड़े बड़े प्रिय होते हैं, उनका भी करुण शब्दोंमें स्मरण कराया। इनका मन पति-पुत्रोंमें है या सबसे विरक्त होकर केवल मुझ भगवान्‌में है—यह जाननेके लिये भगवान्‌ने इतनी बातें कहीं। गोपियाँ अब भी कुछ नहीं बोलीं। अबकी बार अपने बाह्य सौन्दर्यकी महिमा दिखलाकर—यह जाननेके लिये कि ये केवल सौन्दर्यपर ही मोहित हैं या मुझे ईश्वर समझकर आयी हैं, भगवान्‌ने कहा—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । २३)

'अथवा यदि तुम मेरे स्नेहके कारण आसक्तचित्त होकर मुझे देखने आयी हो तो कोई दोषकी बात नहीं; क्योंकि मुझको देखकर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं।' परंतु—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । २४–२६)

'हे कल्याणियो! पति और उसके बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना तथा संतानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है। जिन स्त्रियोंको शुभ गति पानेकी इच्छा हो, वे अपने अपातकी पतिका किसी प्रकार भी त्याग न करें—चाहे वह बुरे स्वभाववाला, अभागा, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुलस्त्रियोंके लिये उपपतिकी (जारकी) सेवा करना सर्वथा निन्दनीय है; इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, संसारमें अपकीर्ति होती है। यह अत्यन्त ही निन्दनीय और भयदायक कार्य है।'

भगवान्ने सब बातें खोलकर कह दीं। 'यदि मुझको मनुष्य मानकर कामाभिलाषासे आयी हो तो नरकगामिनी होओगी, संसारमें अयश होगा; क्योंकि यही वेदधर्म है।'

इस उपदेशसे भी गोपियाँ नहीं हिलीं, तब भगवान्ने उन्हें जाँचनेके लिये फिर कहा—

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा संनिकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । २७)

(अच्छा मुझमें कुछ महत्त्व समझकर आयी हो तो भी) 'मेरे गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तनसे मुझमें जैसा प्रेम होता है, वैसा पास रहनेसे नहीं होता; इसलिये तुम अपने घरोंको लौट जाओ ।' ऋषिपत्नियाँ इसी प्रकारकी बात सुनकर लौट गयी थीं, परंतु गोपियाँ नहीं लौटीं। ऋषिपत्नियोंने भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् तो जान लिया था, परंतु घरोंमें उनकी ममता थी। गोपियाँ संसारसे सर्वथा वैराग्यवती और भगवान्की महिमासे पूर्णतया परिचित थीं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि 'भगवान् समस्त जगत्के आत्मा हैं। हमारे, हमारे पतियोंके, हमारे पुत्रोंके—सबके एकमात्र आत्मा हैं।' जगदात्मा भगवान्में औपपत्यकी (जारपनेकी) कभी कल्पना ही नहीं हो सकती; बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी संसारके सारे बन्धनोंको तोड़कर सबसे उपराम होकर जिन सच्चिदानन्दघन प्रभुकी प्राप्ति चाहते हैं, वे ही साक्षात् परमात्मा सुन्दर प्रियतमके रूपमें हमारे सामने खड़े हैं, उन्हींके चरणोंमें हम उपस्थित हैं। अब इन्हें छोड़कर कहीं जाना मूर्खता नहीं तो क्या है। अतः प्रेममयी गोपियाँ आँखोंमें आँसू भरकर प्रणयकोपके कारण गद्गद हुई वाणीसे बोलीं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३१-३२)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ४)

'हे सर्वव्यापक! आपको ऐसे कठोर शब्द नहीं कहने चाहिये। हम

अन्य समस्त विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके चरणकमलोंमें ही अनुरक्त हैं। अतः जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको अपनाते हैं, आप भी हमलोगोंको इसी प्रकार ग्रहण कीजिये, कभी त्यागिये नहीं। हे कृष्ण! आप स्वयं धर्मको जाननेवाले हैं। (सबसे बढ़कर धर्म तो आपके चरणोंका आश्रय है, फिर आप धर्मविद् होकर कैसे हमें लौट जानेको कहते हैं।) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका धर्म है सो यह उपदेश आप ईश्वरमें ही रहे; क्योंकि इस उपदेशके आश्रय आप ही हैं। आप ही धर्मकी अन्तिम गति हैं। पति, पुत्र आदि समस्त देहधारियोंके आप ही प्रिय बन्धु और आत्मा हैं। निश्चय ही आप केवल यशोदाके पुत्र नहीं, बल्कि आप समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आपने सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।'

हमें छलिये नहीं। आप साक्षात् परमेश्वर हैं, आपके बिना पति-पुत्रादि किसीकी भी सत्ता और सम्भावना नहीं है। सबके आश्रय, सबकी गति, समस्त धर्मोंके अधिष्ठान, ईश्वरोंके ईश्वर आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ और क्यों जायँ?

गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, विज्ञानानन्दघन, विश्वात्मा परमेश्वर हैं। परमेश्वर ही सबके आत्मा और चरम गति हैं, अब उन परमात्माको पाकर गोपियाँ वहाँसे क्यों हटने लगीं? उन्होंने कहा—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३३-३४)

'शास्त्रज्ञ पुरुष अपने नित्य प्रिय आत्मास्वरूप आपमें ही प्रेम करते हैं। इस लोकमें संसार-दुःख देनेवाले पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या प्रयोजन है। अतः हे परमेश्वर ! आप हमपर प्रसन्न होइये। हमारी चिरकालकी आशा-लताको काटिये नहीं। अब हम किसी प्रकार घर नहीं जा सकतीं। हमारा जो चित्त सुखपूर्वक घरमें आसक्त था, उसको आपने चुरा लिया; हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी आपके चरण-कमलोंसे एक पग भी दूर नहीं हटना चाहते। हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर अब करें भी क्या।'

भगवान्‌ने भक्तकी परीक्षा की, परीक्षामें भक्त उत्तीर्ण हो गया, तब उसे मनोवाञ्छित फल दिया। योगेश्वरेश्वर भगवान्‌ने आत्माराम होकर गोपियोंके साथ आत्मरमण किया। इसके बाद भगवान् एक बार अन्तर्धान हो गये। पीछेसे गोपियाँ भगवान्‌के अदर्शनसे व्याकुल होकर भगवान्‌को ढूँढ़ती और विविध विलाप करती रहीं—

रोला

ह्वै गईं बिरह बिकल तब बूझत द्रुम बेली बन।
को जड़, को चैतन्य, कछु न जानत बिरही जन॥
हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन गिरिधरन लाल लखे इत॥
हे केतकि ! इत तैं चितए कितहूँ पिय रूसे।
कै नँदनंदन मंद मुसकि तुमरे मन मूसे॥
हे मुक्ताफल बेलि ! धरें मुकता मनि माला।
निरखे नैन बिसाल मोहने नंद के लाला॥
हे मंदार उदार, बीर करबीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन-हरन धीर-गति॥
हे चंदन ! दुखकंदन ! सब कहुँ जरत सिरावहु।
नँदनंदन जगबंदन चंदन हमहि मिलावहु॥
बूझहु री इन लतनि फूलि रहि फूलनि सोहीं।
सुंदर पिय कर परस बिना अस फूल न होहीं॥
हे सखि ! ये मृगबधू इनहि किन बूझहु अनुसरि।
डहडहे इन के नैन अबहिं कतहूँ चितए हरि॥

अहो कदँब, अहो अंब, निंब, क्यों रहे मौन गहि ।
अहो बट ! तुंग सुरंग बीर कहुँ इत उलहे लहि ॥
जमुन निकट के बिटप पूछि भइँ निपट उदासी ।
क्यौं कहिहैं सखि महा कठिन ये तीरथबासी ॥
हे अवनी ! नवनीत चोर चित चोर हमारे ।
राखे किते दुराइ बतावहु प्रानपियारे ॥
अहो तुलसि कल्यानि ! सदा गोबिँद पद प्यारी ।
क्यौं न कहति तू नँदनंदन सौं बिथा हमारी ॥
अपने मुख चाँदने चलैं सुंदरि तिन माहीं ।
जहँ आवै तम पुंज कुंज गहबर तरु छाहीं ॥

(नन्ददासजी)

वे बोलीं—

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३० । २९)

'भगवान् श्रीगोविन्दकी चरणरज अत्यन्त पवित्र है । ब्रह्मा, शिव, रमा आदि भी इसको मस्तकपर धारण करते हैं, हमलोग भी इसे मस्तकपर धारण करें ।' यों कहते-कहते वे श्रीकृष्णमें तन्मय होकर श्रीकृष्णकी-सी लीलाएँ करने लगीं ।

इहि बिधि बन-बन ढूँढ़ि बूझि उनमत की नाइँ ।
करन लगीं मनहरन लाल-लीला मन भाइँ ॥
मोहन लाल रसाल की लीला इनही सोहैं ।
केवल तन्मय भइँ कछु न जानैं हम को हैं ॥

(नन्ददासजी)

तदनन्तर पुनः भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रत्येकके साथ एक-एक अलग-अलग बनकर रास किया ।

रासका पहला श्लोक है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

'भगवान्‌ने योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा की ।' इसके बाद 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' (आत्माराम होकर रमण किया),

'साक्षान्मन्मथमन्मथः' (कामदेवको भी मोहनेवाले), 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (अस्खलितवीर्य), आत्मकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर आदि शब्द आते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की यह लीला परम दिव्य थी ! इसमें लौकिक कामगन्धको जरा-सा भी स्थान नहीं है। 'भगवान्' शब्दसे ही सिद्ध होता है कि भगवान्‌में औपपत्य नहीं हो सकता; क्योंकि वे सबके आत्माराम हैं। जिनमें अणिमादि आठों ऐश्वर्य विद्यमान हों; जो धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानके अपार और अटूट भंडार हों, उन्हींको भगवान् कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(श्रीविष्णुपुराण ६ । ५ । ७४)

इस प्रकार षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्‌में कामवासना या औपपत्य घट ही नहीं सकता। भगवान्‌ने यह सारी लीला अपनी योगमायाके द्वारा की। जिसकी जैसी इच्छा थी, भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌की योगमायासे उसे वैसा ही होता प्रतीत हुआ। योगमाया (भगवान्‌की अपनी दिव्य नित्य शक्ति) के प्रभावसे ही निस्सङ्ग भगवान् सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी लीला किया करते हैं। ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपने इच्छानुसार दर्शकोंको मोहित करके मनमानी घटनाएँ उन्हें दिखाता है, इसी प्रकार भगवान्‌ने योगमायासे लीलाएँ कीं। राधिकाजी योगमायाका स्वरूप थीं, योगमायाके दूसरे एक स्वरूपको पहले भेजकर कंसको संदेश दिलाया था और उसी योगमायाके द्वारा व्रजमें भगवान्‌ने दिव्य लीलाविलास किया। ब्रह्माके द्वारा गोप-बालकोंके और गोवत्सोंके हरण किये जानेपर पाँच वर्षके शिशु श्रीकृष्ण अपनी योग-मायाके प्रभावसे स्वयं गोप-बालक, बछड़े और उनके सारे सामान—कपड़े, सींग, लाठी आदि बन गये। छः वर्षके बालक श्रीकृष्णने अपनी योगमायाके प्रभावसे कालियदमन और दावाग्नि-पान किया। इसी अवस्थामें भगवान्‌ने अपने-को पतिरूपसे चाहनेवाली व्रजबालाओंका मायाभ्रम दूर करके सम्पूर्ण आत्म-समर्पणकी योग्यता प्रदान करनेके लिये उनके वस्त्र-हरणकी लीला की। इसी योगमायाके प्रभावसे सात वर्षके बालक श्रीकृष्णको व्रजयुवतियोंने नवयौवन-

सम्पन्न देखा। इसी अपनी योगमायाके प्रभावसे रासमण्डलमें भगवान् क्रीडा (रमण) करते हुए प्रतीत हुए। इसी योगमायाके बलसे प्रत्येक गोपीने गोपीनाथको अपने साथ देखा। बालक जैसे दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बके साथ स्वच्छन्द खेलता है, इसी प्रकार योगमायाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी छायास्वरूपा गोपियोंसे विलास किया—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

(श्रीमद्भा० १।३३।१७)

—और योगमायाके प्रभावसे ही व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोये हुए देखा—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३८)

योगमायाके प्रभावसे ही कंसके दरबारमें प्रवेश करते समय एकादश-वर्षीय बालक श्रीकृष्णको मल्लोंने वज्रके समान, नागरिकोंने विलक्षण नरश्रेष्ठ-रूपमें, स्त्रियोंने मूर्तिमान् कामदेवके तुल्य, गोपोंने निज-जनके सदृश, दुष्ट राजाओंने शासकके समान, वसुदेव और देवकीने पुत्ररूपमें, कंसने साक्षात् मृत्युरूपमें, विद्वानोंने विराट् पुरुषके रूपमें, योगियोंने परमतत्त्वके रूपमें और यादवोंने परम देवताके रूपमें देखा।

यह पूर्णकाम, सत्यकाम, योगेश्वरेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण, अघटनघटनापटीयसी योगमायाके संचालक, ह्लादिनी शक्तिके शक्तिमान्, भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् भगवान् और उन्हींके प्रतिबिम्बरूप भक्तोंकी दिव्य प्रेमलीला थी।

वास्तवमें श्रीकृष्णके साथ राधाका सर्वथा अभेद है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य और माधुर्यका आस्वादन करनेवाली श्रीकृष्णकी अपनी ही ह्लादिनी शक्तिका नाम श्रीराधा है और श्रीकृष्णकी असंख्य शक्तियोंमेंसे जो शक्तियाँ इस ह्लादिनी शक्तिकी पुष्टिकारिणी हैं, वे ही श्रीराधाकी सहचरी सखियाँ श्री-गोपियाँ हैं। उनमें भी सखी, सहेली, सहचरी, दूतिका, दासी आदि कई भेद हैं। श्रीकृष्ण सुन्दरतम और मधुरतम हैं; इसीलिये वे रसराज, साक्षात् मन्मथमन्मथ, कोटि-मनोज-लजावनहारे, कंदर्पके मूल बीज, दिव्य, नित्य

नवीन मदन, विज्ञानानन्दघन परम पुरुषोत्तम हैं; और श्रीराधा श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यसे मुग्ध कृष्णानुरागमयी, कृष्णभावमयी परा प्रकृति हैं। श्रीकृष्ण इस अपनी ही शक्तिद्वारा अपने सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करते हैं। यही रसराज श्रीकृष्ण और रसरङ्गिणी श्रीराधाकी पारस्परिक प्रेम-सम्पत्ति है। यह प्रेम मानवीय नहीं है, यह नरलोकमें नहीं होता। इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास॥

इस अति रसके उल्लासरूप दिव्य परकीयाभावका व्रजके (दिव्य श्रीकृष्णप्रेममय गोलोकके) अतिरिक्त अन्यत्र कहीं निवास नहीं है और इसीलिये ये व्रजराज रसराज श्रीकृष्ण इस वृन्दावनको छोड़कर एक पैंड भी कहीं नहीं जाते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध चिन्मय, शुद्ध आनन्दमय, शुद्ध प्रेममय, शुद्ध रसमय हैं और ये श्रीकृष्णकान्ता गोपियाँ (श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा और श्रीराधा-कृष्णका सदा मिलन-संयोग करानेमें ही नित्य संलग्न रहनेवाली, श्रीराधासे भी बढ़कर सुखानुभव करनेवाली सखियाँ) शुद्ध चिन्मयी, शुद्ध आनन्दमयी, शुद्ध प्रेममयी और शुद्ध भावमयी हैं। ये और इनके देहादि हमलोगोंकी भाँति वस्तुतः रक्त-मांसमय नहीं हैं, प्रापञ्चिक या कल्पित नहीं हैं, कर्मजन्य सुख-दुःखके भोग-निमित्त नहीं हैं, ये नित्य हैं। प्रपञ्चमय मायिक जगत्‌में प्रकट होनेपर भी, मृत्युलोकमें लीला करनेपर भी मरणधर्मसे सर्वथा अतीत हैं। प्रेमसे छलकते हुए दिव्य नेत्रोंसे ही इनकी दिव्य मूर्तियोंके और नित्यरासके दर्शन हो सकते हैं।

श्रीमहादेवजीके प्रति स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम्।
अस्याश्च परितः पश्चात् सख्यः शतसहस्रशः॥
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम॥

सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम् ।
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ॥

(पद्म० पाताल० ५१ । ७३—७५)

'ये श्रीराधिकाजी मेरी प्रिया हैं—इन्हें परमदेवता समझिये । इनके चारों ओर और पीछे लाखों सखियाँ हैं; जैसे मैं नित्यविग्रह हूँ, उसी प्रकार ये सब भी नित्य हैं । मेरे पिता, माता, सखा, गोप, गौएँ और यह मेरा वृन्दावन—सभी नित्य और सच्चिदानन्द-रसमय हैं । मेरे इस वृन्दावनका नाम आनन्दकन्द जानो ।'

रसोल्लासतन्त्रमें भगवान् श्रीशिवजी देवी पार्वतीसे रासके सम्बन्धमें कहते हैं—

शरीरे देहानि यथा स्थूलं सूक्ष्मं च कारणम् ।
तथैवान्यद् देहं ज्ञेयं भावदेहं प्रकीर्तितम् ॥
कृपालब्धमिदं देहं सहजं जन्मजन्मनि ।
अथवा साधनालब्धं कदापि वा महेश्वरि ॥
न सगुणं निर्गुणं वा देहमिदं परात्मकम् ।
कुत्रापि नहि द्रष्टव्यं लोके वृन्दावनं विना ॥
संगतं सह कृष्णेन गोपीनां चरितं च यत् ।
तन्न कामादकामाद्वा भावदेहेन तत्कृतम् ॥

अर्थात् 'जैसे शरीरके स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद हैं, ऐसे ही एक भावदेह और होता है; यह देह भगवत्कृपासे प्राप्त होता है और उन्हींकी कृपासे जन्म-जन्मान्तरमें सहज ही मिल जाता है । (प्रायः ऐसा देह भगवान्‌के मुक्त परिकरोंका या कारकपुरुषोंका होता है ।) अथवा हे महेश्वरि ! कभी-कभी साधनाके द्वारा भी इस देहकी प्राप्ति हो सकती है ; यह भावदेह न (कर्मजन्य) सगुण है और न निर्गुण है; यह परात्मक देह है, जो वृन्दावनके सिवा और कहीं नहीं देखा जाता । श्रीकृष्णके साथ मिलकर गोपियाँ कृतार्थ हुई थीं, उनका यह मिलन न कामजन्य था और न अकाम । वह भावदेहकृत था ।' शिवजीके इन वाक्योंसे श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमकी दिव्यता स्पष्ट है । गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ रमण प्राकृत—शारीरिक नहीं था, उसमें इन्द्रियोंका विषय तनिक भी नहीं था; अतएव इस दिव्य प्रेमलीलामें दोष देखना महापाप है !

अधिकार और कर्तव्य

परंतु एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि ऐसी लीलाका नायक सिवा भगवान्के और कोई भी नहीं हो सकता। गोपीभावसे भगवान्की उपासना करनेका अधिकार सभी वैराग्य और प्रेमसम्पन्न जीवोंको है। गोपीभाव न तो केवल स्त्रियोंके ही लिये है न स्त्रीके-जैसी पोशाक पहनकर स्त्री सजनेकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है गोपियोंको आदर्श मानकर उनके-जैसा प्रेमभाव हृदयमें उत्पन्न करनेकी। यह उपासना भावनासिद्ध है, वेषसिद्ध नहीं। जिसमें ऐसा अपार्थिव निष्काम अनन्य प्रेम होगा, वही गोपीभावसे उपासना कर सकेगा। परंतु उपास्य केवल परमात्मा ही होंगे।

गोपीभावके उपासकोंकी धारणामें सभी लोग भावदेहसे प्रकृति हैं और पुरुषप्रधान अप्राकृत नवीन मदन व्रजेन्द्रनन्दन ही सबके एकमात्र पति—परम पति हैं। एक श्रीनन्दनन्दनको छोड़कर वे दूसरे पुरुषकी कल्पना ही नहीं कर सकते। 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।' इस दिव्य प्रेमराज्यमें श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी भी पुरुषका और श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति भक्तरूपा रमणीके सिवा अन्य किसी नारीका प्रवेशाधिकार या प्रवेशसामर्थ्य नहीं है। भगवान्की आनन्दमयी शक्तिके इस दिव्य प्रेम-सदनमें दूसरे साधारण नर-नारियोंका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। इस महामन्दिरमें प्रवेश करनेवालेको ड्योढ़ीपर पहरा देनेवाली सखीको प्रवेशपत्र दिखलाना पड़ता है और श्रीकृष्णप्रेम-रसमें डूबी हुई बुद्धिरूपी उस प्रवेशपत्रीको वही प्राप्त कर सकता है, जो अपना तन-मन-धन प्रियतम प्रभुके अर्पणकर, सर्वथा कामनाशून्य होकर, काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे रहित होकर, वैराग्यरूप परम सुन्दर वस्त्रोंको धारणकर, दैवी गुणोंके अलंकारोंसे सुसज्जित होकर प्रेमकी वेदीपर अपनी बलि चढ़ा देता है—

प्रथम सीस अरपन करै, पाछैं करै प्रवेस।
ऐसे प्रेमी सुजन कौ है प्रवेस यहि देस॥

अतएव इसमें कोई भी मनुष्य कदापि श्रीकृष्ण नहीं बन सकता, चाहे वह महान् आचार्य, उपदेशक, प्रेमी, जीवन्मुक्त या दिव्य भाववाला ही क्यों न समझा जाता हो; इसलिये यदि कोई मनुष्य श्रीकृष्ण बनकर गोपीभावसे

उपासना करानेका दावा करे तो उससे सदा दूर रहना चाहिये। विशेष करके स्त्रियोंके द्वारा गोपीभावसे अपनी उपासनाकी बात कहनेवाले मनुष्यको तो दुराचारी ही मानना चाहिये। साधक पुरुषके लिये तो, स्त्रीकी बात तो दूर रही, स्त्रियोंका सङ्ग करनेवालेका सङ्ग भी त्याज्य है।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २९)

यह प्रेम अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार नहीं है। जो भगवान्‌के व्रजरसके रसिक हैं, व्रजभावके भावुक हैं, व्रजप्रेमके प्रेमी हैं, वे भक्त ही इस अत्यन्त उच्च प्रेमरसका पान किया करते हैं। गोपीपदाश्रय करके गोपीभावका अवलम्बन करनेसे ही इस दुर्लभ, कामगन्धहीन, विषयाभिलाषाशून्य, दिव्य प्रेम और प्रेमस्वरूप प्रेमाधार श्यामसुन्दरकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

सेइ गोपीभावामृते जाँर लोभ हय,
वेदधर्म सर्व त्यजि सेइ कृष्णेरे भजय।
रागानुरागमार्गे भजे जेइ जन,
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

परंतु प्रेमी वेदधर्म छोड़ना नहीं चाहता, प्रेमके प्रकट होनेपर वह वेदधर्म ही अपने परमफलस्वरूप प्रेमपदको प्राप्त हुआ जानकर उस साधकको छोड़ देता है। जो जान-बूझकर छोड़ता है, उसका तो पतन ही होता है—

एक नेम यह प्रेम कौ, नेम सबै छुटि जाहिं।
पै जो छाँड़ै जानि कै, तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

यह पंथ विषयकामियोंका नहीं है, यह मार्ग बाह्य वेषधारियोंका नहीं है। यह तो उन सच्चे त्यागियोंका पावन पथ है, जो सारे जगत्‌का मोह और सारी कामनाएँ त्यागकर एकमात्र भगवान्‌को ही भजना चाहते हैं। जिनके हृदयमें भोग-लालसा है, उनका तो इस मार्गपर पैर रखना मानो धधकती हुई अग्निमें कूदना या कालसर्पके मुँहमें हाथ देना है—

प्रेम-अमिय पीयौ चहै, करै बिषय सौं नेह।
बिष ब्यापै, जारै हियौ, करै जरजरित देह॥

इसीलिये शुकदेवजी सबको सावधान करते हुए कहते हैं—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३१, ३६-३७)

'शिवजी हलाहल पी गये, प्रत्येक मनुष्य नहीं पी सकता। इसी प्रकार भगवान्‌ने यह लीला की, मनुष्य नहीं कर सकता। अतः असमर्थ मनुष्योंको भगवान्‌की इस लीलाका अनुकरण कभी मनसे भी नहीं करना चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। भगवान् तो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा हैं, साक्षीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, उन्होंने लीलासे ही शरीर धारणकर अवतार लिया था और जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही उस दिव्य देहसे ऐसी अलौकिक लीलाएँ की थीं, जिन्हें सुनकर लोग भगवत्परायण हो जायँ।'

अतएव भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका अनुकरण न करके, पवित्र गोपीभावको आदर्श मानकर, अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा सब प्रकारसे भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये और उनका नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक चिन्तन करना चाहिये; भक्त बनना चाहिये, भगवान् नहीं।

जीव भगवान्‌का अंश है, इसलिये इसमें भी आनन्दांश है—ह्लादिनी शक्तिका अंश है। यदि मनुष्य आनन्दमयी शक्तिके इस अंशको भ्रमसे सुखरूप भासनेवाले अनित्य क्षणभङ्गुर दुःखमय भोगोंसे हटाकर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य-सुखकी ओर लगा दे तो उस अनित्य और भ्रमपूर्ण तुच्छ विषयानन्दके बदले उसे शाश्वत भूमानन्द मिल सकता है। मनुष्यकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति उन्नत और परिष्कृत होनेपर कैतवशून्य और कामगन्ध-शून्य होकर केवल श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादनके लिये लालायित हो उठती है; परंतु जबतक जीवकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति विषयभोगोंमें

डूबी रहती है, तबतक इसकी कृष्णाभिमुखी गति नहीं होती। इसलिये विषयानुरागको विषवल्लीके समान त्यागकर सदा-सर्वदा परम श्रद्धाके साथ श्रीराधाकृष्णकी लीलाका श्रवण-कीर्तन करते-करते और श्रीकृष्णकी किसी प्रेममयी सखीको गुरु बनाकर उसके आज्ञानुसार श्रीकृष्णलीलाका ध्यान करते-करते तन-मनकी सुधि भुलाकर प्रेममें तन्मय हो जाना चाहिये।

गोपी-प्रेम दिव्य रसपूर्ण है। उस रसको साधारण मनुष्य कहाँसे प्राप्त करे और वाणी या लेखनी कैसे उसका वर्णन करे। हमलोगोंको उचित है कि परम प्रेममयी गोपिकाओंका चरण-वन्दन करके उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगें और उनके प्यारे श्यामसुन्दरके नाम-गुणोंका गानकर जन्म-जीवनको सफल करें। श्रीललितकिशोरीजी कहते हैं—

रुचि कै सँवारे नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम,
एरी धिक्कार और नाना कर्म कीबे पै।
पायन कौं धोइ निज करन ना पान कियौ,
आली अंगार परैं सीतल जल पीबे पै॥
बिचरे ना बृंदाबन कुंज-लतान तरे,
गाज गिरै अन्य फुलवारी-सुख लीबे पै।
'ललितकिसोरी' बीते बरस अनेक, दृग
देखे ना प्रानप्यारे, छार ऐसे जीबे पै॥

श्यामसुन्दर आज भी हैं, उनकी लीला भी नित्य है। परंतु हमें वे श्यामसुन्दर कैसे दीखें और हमें उनके चरण धोनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो? नित्य-निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे उनका नाम जपना, उनके गुणोंका कीर्तन करना, उनके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करना, उनके अनुकूल कार्य करना, उनके आज्ञानुसार चलना, उनके प्रत्येक विधानमें संतुष्ट रहना, जगत्‌का मोह छोड़कर उनकी रूपमाधुरीपर न्योछावर होनेकी साधना करना, उनकी लीलाओंका मनन करना और प्राण खोलकर, हृदयके अन्तस्तलसे उनको पानेके लिये रोना—ये ही सब उपाय हैं। यदि चाहते हैं तो विषयासक्ति छोड़कर इन उपायोंका अवलम्बन कीजिये। करते-करते आप ही भावोंका विकास होगा और श्रीकृष्ण हमें सर्वस्वरूपमें मिल जायँगे। बोलो गोपी और गोपीनाथके पद-पद्म-परागकी जय!

गोपीहृदयमें प्रेम-समुद्र

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। वास्तवमें ये गोपरमणियाँ प्रेम-जगत्की तो परम आदर्श हैं ही, नारी-जगत्में भी इनकी कहीं तुलना नहीं है। विश्व तो क्या, भगवत्-राज्यमें भी किसी भी नारीके चरित्रमें नारी-जीवनकी महिमामयी सेवाकी ऐसी आदर्श मनोहर सहज मूर्तिका विकास नहीं हुआ। सावित्री, अरुन्धती, लोपामुद्रा, उमा, रमा—किसीकी उपमा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ नहीं दी जा सकती। आत्मसुख-लालसाकी गन्धसे रहित होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही जीवन धारण करना, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष—सब कुछ भूलकर प्रियतमकी रुचिके अनुसार अपने जीवनकी क्षण-क्षणकी समस्त क्रियाओंका सहज सम्पादन करना ही गोपी-प्रेम है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, उनमें किसी भी वासना-कामनाका पृथक् अस्तित्व नहीं है; पर वे परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेम-सुखका आस्वादन करने-करानेके लिये अपने भगवत्स्वरूप मनमें नित्य नयी-नयी विचित्र वासनाओंका उदय करते हैं और भगवान्की उन प्रतिक्षण उदय होनेवाली नित्य-नवीन वासनाओंके अनुकूल अपनेको निर्माण करके भगवान्को सुख पहुँचाना केवल श्रीगोपाङ्गनाओंके ही शक्ति-सामर्थ्यसे सम्भव है। बस, प्रियतमकी रुचिको—चाहको पूर्ण करना ही जिनके

जीवनका स्वरूप है, जिनकी प्रत्येक स्फुरणामें, प्रत्येक संकल्पमें, प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक शब्दमें और प्रत्येक क्रियामें केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमजनित वासनापूर्तिका ही सहज सफल प्रयास है, उन श्रीगोपाङ्गनाओंकी तुलना कहीं, किसीसे भी नहीं हो सकती।

श्रीगोपाङ्गनाओंमें मधुर भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस मधुर भावसे ही मधुर रसका प्राकट्य होता है। एक महात्माने बताया है कि यह मधुर रस तीन प्रकारका होता है। तीनों ही अत्यन्त मूल्यवान् हैं, पर एककी अपेक्षा दूसरा अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे मणियाँ तीन प्रकारकी होती हैं— साधारण मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभमणि। साधारण मणिका जैसा साधारण मूल्य होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके प्रति कुब्जाकी प्रीतिका मूल्य साधारण है। श्रीकृष्ण-सम्पर्कसे महाभागा होनेपर भी उसमें श्रीकृष्णकी सेवा करके केवल अपने ही सुखका संधान था। इसीसे उसे 'दुर्भगा' कहा गया। चिन्तामणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। उसका मूल्य भी बहुत अधिक है। सब लोग उतना मूल्य दे ही नहीं सकते। वैसे ही श्रीकृष्णकी पटरानियोंकी दिव्य प्रीति है। श्रीकृष्णका भी सुख और अपना भी सुख—उनमें इस प्रकारका उभय-सुखी भाव बना रहता है; इसलिये उनकी इस रतिका नाम समञ्जसा है। श्रीगोपाङ्गनाका प्रेम साक्षात् कौस्तुभमणिके सदृश है। चिन्तामणि तो दस-बीस भी मिल सकती हैं; पर कौस्तुभमणि तो एक ही है और वह केवल श्रीभगवान्‌के कण्ठका ही भूषण है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलती। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाकी प्रीति भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली व्रजके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। ऐसा प्रेम श्रीगोपाङ्गना ही जानती है, कर सकती है और यह प्रेम इस प्रेमके एकमात्र पात्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है। इस दिव्य प्रेम-सुधा-रसका अनन्त अगाध समुद्र नित्य-नित्य लहराता रहता है—गोपीहृदयमें। इसीसे वह अनुपमेय, अतुलनीय और अप्रमेय है।



गोपी-प्रेमकी महिमा

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये । गोपी-प्रेमकी बात किसी प्रेमीसे पूछिये । मैं तो इसका अधिकारी भी नहीं हूँ । मुझ अनधिकारीको ही जब यह इतना आनन्द देता है, तब जो महानुभाव अधिकारपूर्वक इसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता । श्रीराधिकाजी स्वयं रसराज, रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्णको रस-सागरमें निमग्न कर देनेवाली उन्हींकी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति हैं । श्रीकृष्णके प्रति जो परम उच्च निष्काम 'रति' होती है, उसे 'प्रेम' कहते हैं । श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है कि यही रति जब बढ़ते-बढ़ते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुरागके रूपमें परिणत होकर 'भाव'-रूपा होती है, तब वह बड़ी ही विलक्षण होती है । यही 'भाव' जब 'महाभाव'-स्वरूपको प्राप्त होता है, तब उसे प्रेमकी अत्युच्च स्थिति कहते हैं । श्रीमती राधिकाजी इस 'महाभाव'-का ही मूर्तिमान् दिव्य विग्रह हैं । इन 'महाभाव'-रूपा श्रीराधिकाजीकी जो महाभाग्यवती सखियाँ रसराज श्रीकृष्णके साथ उनके मिलनकी साधनामें लगी रहती हैं, वे ही श्रीगोपीजनके नामसे प्रख्यात हैं । इनका प्रेम ऐसा दिव्य और विलक्षण है कि उसका तनिक-सा स्मरणमात्र भी साधकको इस मायाके क्षेत्रसे बाहर—अति दूर उस दिव्य प्रेमसाम्राज्यमें ले जाता है, जहाँका सभी कुछ अनोखा है, जहाँ कभी कोई वस्तु पुरानी होती ही नहीं । श्रीकृष्ण जैसे नित्य-नव-सुन्दर हैं और सदा एकरस होनेपर भी उनका सौन्दर्य जैसे प्रतिक्षण नये-नये रूपमें वर्द्धित होता रहता है, वैसे ही वहाँकी प्रत्येक वस्तु—गौ, गोप-गोपी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता सच्चिदानन्दरसमय, दिव्य और नित्य नवीनरूपमें प्रकाशित होती रहती है । इसी प्रकार यह गोपीप्रेम भी नित्य-नूतन बना रहता है । हमारे इस जगत्में ऐसी बात नहीं है । प्रेमके प्रथम प्रकाशमें प्रेमास्पद जितना सुन्दर और मधुर प्रतीत होता है, कुछ दिनोंके बाद उसके उस सौन्दर्य और माधुर्यकी वैसी अनुभूति नहीं होती । वह पुराना पड़ जाता है । उसमें पहले-जैसा आकर्षण नहीं रह

जाता। उससे मिलनेके लिये चित्तमें पहले-जैसी छटपटी नहीं रह जाती। परंतु इस गोपी-प्रेममें यह बात नहीं है। इसकी अलौकिक आनन्द-सुधा-धारा नित्य-नवीन-आनन्ददायिनी होती है; क्योंकि इसी दिव्य प्रेमसे नित्य-नव-सुन्दर रसिकशिरोमणि रसमय श्रीश्यामसुन्दरके नित्य-नव-सौन्दर्यके दर्शन होते रहते हैं। इस प्रेमकी तनिक-सी छाया भी समस्त ब्रह्माण्डोंके ऐश्वर्य-सुखको——यहाँतक कि मोक्षसुखको भी नीरस और हेय बना देती है। फिर बस, जीवनमें केवल एक ही साध बनी रह जाती है और वह पूरी होती रहनेपर भी कभी पूरी होती ही नहीं! वह साध है——नित्य-निरन्तर प्रतिक्षण अपने जीवनाधार अखिलरसामृतमूर्ति श्यामसुन्दरके नित्य नये-नये सौन्दर्य और माधुर्यको देखते रहना।

क्या लिखा जाय? गोपी-प्रेमके इस 'भाव'-राज्यमें जिनका तनिक-सा भी प्रवेश है, उनकी दशा कुछ कही नहीं जाती। यह प्रेम-रस-सागर अगाध और असीम है। इसमें जो डूबा, उसे क्या मिल गया——कुछ कहा नहीं जा सकता। अहा! इस अगाध एकरस महासागरमें कितनी विचित्रता है! यह नित्य स्थिर होनेपर भी परम चञ्चल है। इसमें नित्य नयी-नयी भाव-लहरियाँ उठती रहती हैं——उनमें तनिक भी विराम या विश्राम नहीं है। धन्य हैं वे, जो इसमें डूबे हुए इन लहरियोंके साथ लहराते रहते हैं। बिजलीकी चमककी भाँति कहीं एक बार क्षणमात्रके लिये भी इस प्रेमकी और इस प्रेमके विषय रसघनविग्रह श्यामसुन्दरकी झाँकी हो जाती है तो वह सदाके लिये आनन्दरस-सागरमें डुबो देनेवाली होती है।

यह गोपी-प्रेम उसीको प्राप्त होता है, जो कर्म-धर्म, भुक्ति-मुक्ति, ज्ञान-वैराग्य——सबका मोह छोड़कर केवल प्रेम ही चाहता है और सारे भोगोंकी लालसाको तथा असत्य, हिंसा, काम, क्रोध, मान, बड़ाई, परचर्चा, लोक-वार्ता आदिको सर्वथा त्यागकर परम-आश्रय बुद्धिसे श्रीगोपीजनोंकी चरणोपासना करता है और एक प्रेमलालसासे युक्त होकर उनसे केवल इस प्रेमकी ही भीख माँगता रहता है।



गोपियोंके श्रीकृष्ण

एक कथा आती है—पाँच सखियाँ थीं, पाँचों श्रीकृष्णकी भक्त थीं। एक समय वे वनमें बैठी फूलोंकी माला गूँथ रही थीं। उधरसे एक साधु आ निकले। साधुको रोककर बालाओंने कहा—'महात्मन्! हमारे प्राणनाथ श्रीकृष्ण वनमें कहीं खो गये हैं, उन्हें आपने देखा हो तो बता दीजिये।' इसपर साधुने कहा—'अरी पगलियो! कहीं श्रीकृष्ण यों मिलते हैं? उनके लिये घोर तप करना चाहिये। वे राजराजेश्वर हैं, रुष्ट होते हैं तो दण्ड देते हैं और प्रसन्न होते हैं तो पुरस्कार।' सखियोंने कहा—'महात्मन्! आपके वे श्रीकृष्ण दूसरे होंगे; हमारे श्रीकृष्ण तो राजराजेश्वर नहीं हैं, वे तो हमारे प्राणपति हैं। वे हमें पुरस्कार क्या देते? उनके कोषकी कुंजी तो हमारे ही पास रहती है। दण्ड तो वे कभी देते ही नहीं, यदि हम कभी कुपथ्य कर लें और वे हमें कड़वी दवा पिलायें तो यह तो दण्ड नहीं है, प्रेम है।' साधु उनकी बात सुनकर मस्त हो गये। वे अपने श्रीकृष्णको याद करके नाचने लगीं और साथ ही साधु भी तन्मय होकर नाचने लगे। × × × ×



श्रीगोपाङ्गनाओंकी महत्ता

सप्रेम हरिस्मरण।……………गोपीजनोंको भगवान्‌के स्वरूपका पूर्णतया ज्ञान था, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। गोपियाँ भगवान्‌की अन्तरङ्ग शक्तियाँ थीं, जिनके मन-प्राण सदा भगवान्‌में ही लगे रहते थे, वे उनके स्वरूप और महत्त्वको न जानती हों—यह कैसे सम्भव है।

श्रीमद्भागवतके २९ वें अध्यायमें श्रीशुकदेवजीने जो यह कहा कि—'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥' और उसपर राजा परीक्षित्‌ने जो शङ्का की कि—'कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।' इत्यादि, तथा इस शङ्काको स्वीकार करके जो शुकदेवजीने उत्तर दिया—'उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः। द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥' यह सब ठीक है। इस प्रसङ्गसे गोपीजनोंकी महत्तापर ही प्रकाश पड़ता है। श्रीधरस्वामीने जो अपनी व्याख्यामें लिखा है—'जीवेष्वावृतं ब्रह्मत्वं कृष्णस्य तु हृषीकेशत्वादनावृतमतो न तत्र बुद्ध्यपेक्षा।' अर्थात् जीवोंका चेतनभाव या चित्स्वरूपता आवृत है, अतः उसको समझनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है; परंतु श्रीकृष्ण तो सबकी इन्द्रियोंके नियामक एवं अन्तर्यामी हैं, इसलिये उनका चिन्मय स्वरूप आवृत नहीं है। अतः उनके इस स्वरूपकी अनुभूतिके लिये या उनके चिन्तनसे होनेवाली मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके अनावृत सच्चिदानन्दघन स्वरूपका प्रतिपादनमात्र किया गया है। इसका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि गोपियोंकी उनके प्रति परमात्मबुद्धि नहीं थी, या वे उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं

जानती थीं। 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' इत्यादि पदोंसे भी इस धारणाकी पुष्टि हो जाती है।

यह सब होनेपर भी भगवान्‌की स्वरूपभूत मायाशक्ति या लीलाशक्ति गोपियोंके ज्ञानको तिरोहित तथा प्रेमभावको ही प्रायः जाग्रत् किये रहती है। श्रीकृष्ण परमात्मा या ब्रह्म हैं, इस भावका स्मरण उन्हें नहीं रहता; वे यही अनुभव करती हैं—श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम हैं, प्राणवल्लभ हैं। आपको 'जारबुद्ध्यापि' यह कहना खटक सकता है। ब्रह्माजी भी जिनकी चरण-रजकी वन्दना करते हैं तथा उद्धव-जैसे ज्ञानी भी जिनकी चरणरेणु पानेके लिये तरसते हैं, उन व्रजललनाओंकी भी सच्चरित्रताका समर्थन करना पड़े, उनके चरित्रपर भी संदेहका अवसर आये—यह आपहीको नहीं, सभी भगवत्प्रेमियोंको व्यथा देता है।

जो यह कहते हैं कि 'गोपियोंके मनमें काम ही था, प्रेम नहीं', उनका यह कथन श्रीगोपीजनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण ही है। उनके इस कथनका विरोध तो श्रीमद्भागवतमें ही हो जाता है। शास्त्रमें कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'—गोपियोंका प्रेम ही लोकमें कामके नामसे प्रसिद्ध हुआ। गोपियाँ प्रेमकी प्रतिमूर्ति थीं। उनके मनमें लौकिक कामकी गन्ध भी नहीं थी। उनके लिये जो 'जारबुद्ध्यापि' इस पदका प्रयोग किया गया है, यह भी उनकी महत्ताका ही परिचायक है। जब उनमें लौकिक काम नहीं, अङ्ग-सङ्गकी वासना नहीं, तब वहाँ लौकिक जारभाव या औपपत्यकी कल्पना कैसे की जा सकती है?

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न श्रीकृष्ण और गोपियोंके स्वरूपको भुलाकर ही किया जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान—सबके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। गोपियों, उनके पतियों, उनके सगे-सम्बन्धी तथा जगत्‌के सभी प्राणियोंके हृदयमें आत्मा एवं परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण किसीके पराये नहीं हैं। वे सबके अपने हैं और सब उनके हैं। श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरसस्वरूप एवं लीलारसमय परमात्मा हैं

तथा गोपियाँ उनकी आह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता स्वरूपभूता श्रीराधारानीकी ही अनेकानेक मूर्तियाँ हैं। अतः श्रीकृष्ण उनके लिये जार या परकीय नहीं तथा वे भी श्रीकृष्णकी परकीया नहीं। वास्तवमें तो उनमें स्वकीया-परकीयाका कोई भेद था ही नहीं। वे सब श्रीकृष्णकी अभिन्न थीं और श्रीकृष्ण उनके अभिन्न थे। भगवान् स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक, लीलाधाम तथा विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें प्रकट होकर अपने स्वरूपभूत अनन्तानन्तरसका समास्वादन करते तथा कराते रहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि गोपियों या श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जारभाव या परकीयत्वकी कल्पना असंगत है। ऐसी दशामें 'जारबुद्धि' अथवा 'औपपत्य' आदि पदोंका क्या स्वारस्य है, यह विचारणीय प्रश्न है। इसके विषयमें निवेदन यह है कि गोपियाँ परकीया नहीं थीं, पर उनमें परकीयाभाव था। इसी दृष्टिसे श्रीकृष्णके प्रति उनके मनमें जारभाव था, वास्तवमें श्रीकृष्ण उनके सर्वथा अपने थे। परकीया होने और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। जार और जारभावमें भी यही अन्तर है। परकीयाभावमें चार बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—(१) अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, (२) मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा, (३) दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव और (४) प्रियतमसे किसी वस्तुकी कामना नहीं। गोपियाँ श्रीकृष्णकी परकीया थीं, या श्रीकृष्णको जारभावसे भजती थीं—इस कथनका इतना ही तात्पर्य है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करतीं, उनसे मिलनेकी उनके मनमें निरन्तर उत्कण्ठा जाग्रत् रहती, वे श्रीकृष्णमें दोष कभी नहीं देखतीं और श्रीकृष्णसे कुछ भी न चाहकर निरन्तर अपनेको पूर्ण समर्पित समझती थीं। वे उनके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी ही दृष्टिसे देखा करती थीं। इसी भावको व्यक्त करनेके लिये 'जारबुद्धि' आदि पदोंका प्रयोग हुआ है। हमें गोपियोंके इस अहैतुक प्रेमका, जो केवल श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये था, निरन्तर स्मरण रखना चाहिये।

गोपीभावकी साधना

सप्रेम हरिस्मरण।............गोपीभावमें प्रधान बातें पाँच हैं—

१—श्रीभगवान्‌के स्वरूपका पूर्ण ज्ञान (यद्यपि वह प्रकट नहीं रहता), २—श्रीभगवान्‌में प्रियतमभाव, ३—श्रीभगवान्‌के प्रति सर्वस्व अर्पण, ४—निजसुखकी इच्छाका पूर्ण त्याग, ५—भगवान्‌के सुखार्थ ही जीवनके सारे आचार-विचार अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ जीवनधारण।

आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविता, श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति, श्रीकृष्णगत-प्राणा, श्रीकृष्णसुखपरायणा व्रजगोपियोंमें ये पाँचों बातें पूर्णरूपसे थीं।

जिनका मन विषयोंमें फँसा है, जिन्हें भौतिक सौन्दर्य अपनी ओर खींचता है, जिनकी भोग्यपदार्थोंमें आसक्ति है, शरीर और शरीरसम्बन्धी वस्तुओंपर जिनकी ममता है, जो शरीरके आराम और विषय-भोगकी चाह रखते हैं और जिनका जीवन-प्रवाह निरन्तर भगवान्‌की ओर नहीं बहने लगा है, वे लोग गोपीभावकी साधनाके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग भगवान्‌के अप्राकृत प्रेम-तत्त्वकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति दिव्य मधुररसको स्थूल कामतत्त्व या लौकिक आदिरस ही समझेंगे और भगवान् तथा श्रीगोपीजनोंका अनुकरण करने जाकर भयानक नरक-कुण्डमें गिर पड़ेंगे!

जिनके हृदयमें भोगोंसे सच्चा वैराग्य है, जिनका चित्त कामसुखसे हट गया है और जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय भगवद्-रसका आस्वादन करनेके लिये आतुर हैं—वे ही महाभाग पुरुष गोपी-भावका अनुसरण कर सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—संवित्, संधिनी और ह्लादिनी। भगवान्‌का मधुर अवतार ह्लादिनीनामक आनन्दमयी प्रेमशक्तिके निमित्तसे ही हुआ करता है। वे ह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीराधिकाजी ही हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्तिकी ही अनन्त विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है। उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। उनकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं

होती, जिसमें भगवत्प्रीतिसम्पादनके सिवा, श्रीकृष्ण-राधिकाके मिलनसुखकी साधनाके सिवा अन्य कोई उद्देश्य हो। उनके बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आत्माके सहित सदा श्रीकृष्णके ही अर्पण हैं। उनके द्वारा निरन्तर श्रीकृष्णकी ही सेवा बनती है। कभी भूलकर भी उनका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता, दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करता; वे श्रीकृष्णमें ही सुखी रहती हैं, उनको सुखी देखकर ही परमसुखका अनुभव करती हैं। उनका निज सुख श्रीकृष्णसुखमें ही समाया रहता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(१०।३०।४३)

उनके चित्त भगवान्‌के चित्त हो गये थे अर्थात् उनके चित्तोंमें भगवद्भावके सिवा अन्य किसी संकल्पका उदय ही नहीं होता था। वे उन्हींकी चर्चा करती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थीं—इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गयी थीं और भगवान्‌का गुण-गान करते हुए उन्हें अपने शरीरोंकी तथा घरोंकी भी सुधि नहीं रही थी। वे जब घरोंका काम करतीं, तब भी वे अपने मनमें, अपनी वाणीमें और अपनी आँखोंमें निरन्तर श्रीभगवान्‌का ही स्पर्श पाती थीं, उन्हींके दर्शन करती थीं।

इसीलिये भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवजीने गोपी-प्रेमकी महान् महिमासे प्रभावित होकर व्रजमें लता-गुल्म बननेकी अभिलाषा करते हुए गोपियोंकी चरणरजकी वन्दना की है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥



वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६१-६३)

'अहा ! कैसा सौभाग्य हो मेरा, यदि मैं वृन्दावनमें कोई बेल, अनाजके पौधे या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ, जिनपर इन व्रजबालाओंके चरणकी धूलि पड़ती रहती है । धन्य हैं ये व्रज-गोपियाँ, जिन्होंने बड़ी कठिनतासे छोड़ने-योग्य बन्धुओंको और सनातन (मर्यादा-) धर्मको त्यागकर उस मुकुन्द-पदवीका अनुसरण किया है, जो श्रुतियोंद्वारा खोजी जाती है (परंतु प्राप्त नहीं होती) । अहो ! साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती हैं तथा ब्रह्मा आदि आप्तकाम योगेश्वरगण भी जिनका अपने चित्तमें ही चिन्तन करते हैं (परंतु प्रत्यक्ष रूपमें पाते नहीं), भगवान् श्रीकृष्णके उन चरणकमलोंको रासके पूर्व होनेवाली प्रेमचर्चाके समय जिन्होंने अपने वक्षःस्थलपर रखकर अपने विरह-तापको बुझाया, जिनका हरिकथामय गान तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है, नन्दव्रजकी उन गोपरमणियोंकी चरण-धूलिको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।'

गोपियोंका हृदय प्रतिक्षण यही पुकारा करता है—'कैसे हमारे प्रियतम श्रीकृष्णकी इच्छा पूर्ण हो ! ये धन-धाम, ये मन-प्राण, ये देह-गेह कैसे प्यारे कन्हैयाको सुख पहुँचानेवाले हों । अरे, ये तो उन्हींके हैं—उन्हींकी सामग्री हैं; फिर यह चाहा भी कैसे जाय कि इनको लेकर, इन्हें अपनी सेवामें लगाकर तुम सुखी हो जाओ । दी तो जाती है वह वस्तु, जो अपनी होती है; यहाँ तो सब कुछ उन्हींका है, अहा ! मुझपर भी तो उन्हींका एकाधिकार है । फिर मैं कैसे कहूँ, तुम मुझे ले लो, मुझे अपनी सेवामें लगा लो । क्या मुझपर मेरा अधिकार है ? बहुत ठीक, अब कुछ नहीं कहना है । तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो—बस, वही करो ।'

कैसी ऊँची स्थिति है ! इन्हें किसी भी वस्तु, किसी भी स्थितिकी तनिक भी परवा नहीं है । शास्त्रोंमें आठ फाँसियाँ बतलायी गयी हैं, जिनमें

बँधा हुआ मनुष्य निरन्तर कष्ट भोगता रहता है और प्रेममय, आनन्दमय भगवान्‌की ओर अग्रसर नहीं हो सकता—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

'घृणा, शङ्का, भय, लाज, जुगुप्सा, कुल, शील और मान—ये आठ जीवके पाश हैं। अब गोपियोंमें देखिये—इनमेंसे कहीं एक भी उनमें ढूँढ़े नहीं मिलता। वे इन आठ सुदृढ़ फाँसियोंको तोड़कर स्वतन्त्र हो चुकी हैं। इसीसे वे सर्वस्व त्यागकर अपने जीवनकी गतिको सब ओरसे फिराकर भगवान् श्रीकृष्णमें लगा सकी हैं। मनुष्य भगवत्कृपासे प्राप्त अनुकूल साधना और तत्परताके फलस्वरूप जब इस अवस्थापर पहुँच जाता है, तब वह गोपीभावसे सम्पन्न होकर तुरंत ही भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये अभिसार करता है। फिर वह कुल-शील, लज्जा-भय, मानापमान, धर्माधर्म और लोक-परलोककी चिन्ता छोड़कर पागलकी तरह 'हा प्रियतम, हा प्राणप्यारे, हा मेरे मनमोहन! तुम्हारी मधुर छविको देखे बिना अब एक पल भी मुझसे रहा नहीं जाता, मेरा एक-एक निमेष अब युगके समान बीत रहा है' पुकारता हुआ दौड़ पड़ता है अपने जीवनकी सारी चेष्टाओंको लेकर श्रीकृष्ण-की ओर। जो ऐसा कर पाता है, वह बड़ा ही भाग्यवान् है। उसीका जीवन धन्य है!

पाँच भाव हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। सारे जीव इन पाँच भावोंके अधीन हैं। जो भाग्यवान् पुरुष इन भावोंको इस अनित्य और दुःखपूर्ण संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगा देता है, वही सच्चा साधक है। ऐसा करना ही वस्तुतः परम पुरुषार्थ है। इन पाँच भावोंमें सबसे उत्तम 'मधुर' भाव है। 'मधुर' भावमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य—चारोंका ही समावेश है। मधुरभावापन्न पत्नीके लिये कहा गया है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री।
भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥

पति-पत्नीके मधुरभावकी अपेक्षा भी भावकी दृष्टिसे 'परकीया'का भाव और भी ऊँचा है। वह सर्वस्वका त्याग करके अपने प्रियतमको भजती है। यह भाव जब लौकिक कामजन्य होता है, तब वह महान् दूषित और घोर यन्त्रणामय भयानक नरकोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है और यही भाव जब रसराज रसेन्द्रशिरोमणि रसस्वरूप आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दनमें होता है, तब वह सर्वथा निर्दोष, परम उत्कृष्ट, अति उच्च साधनसाम्राज्यका उच्चतम स्तर होता है। इस भावका उदय भगवत्कृपासे ही होता है और उन्हीं महानुभावोंमें होता है, जो इस लोक और परलोकके देवदुर्लभ भोगोंकी और कैवल्य-मोक्षकी भी अभिलाषाको छोड़कर संयम-नियमपूर्वक श्रद्धा-विश्वासके साथ पूरी तत्परतासे साक्षात् भगवत्स्वरूपा श्रीराधिकाजीकी या उन्हींकी घनीभूत मूर्ति तत्त्वतः अभिन्नस्वरूपा किसी गोपीजनकी आराधना करते हैं। इस रसका पूर्ण अनुभव करनेवाली श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति श्रीगोपियाँ हैं, उन्हींमें इसका पूर्ण प्रकाश है। वे कहती हैं—

तौक पहिराऔ, पाँव बेड़ी लै भराऔ, गाढ़े
बंधन बँधाऔ, औ खिंचाऔ काची खाल सौं।
विस लै पियाऔ, तापै मूठ भी चलाऔ,
मँझधार मैं डुबाऔ बाँधि पाथर कमाल सौं॥
बिच्छू लै बिछाऔ, तापै मोहि लै सुवाऔ, फेरि
आग भी लगाऔ, बाँध कापड़ दुसाल सौं।
गिरि तैं गिराऔ, कारे नाग पै डसाऔ, हा! हा!
प्रीति ना छुड़ाऔ प्यारे मोहन नँदलाल सौं॥
कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसौ नरलोक वरलोक लोक लोकन मैं
लीन्हीं मैं अलीक लोक लीकनि तैं न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
जीव किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
बृंदाबनवारी बनवारी की मुकुटवारी
पीत पटवारी वाही मूरति पै वारी हौं॥

नँदलाल सौं मेरौ मन मान्यौ, कहा करैगौ कोय री ।
हौं तो चरनकमल लपटानी, होनी होय सो होय री ॥
गृहपति मातुपिता मोहि त्रासत, हँसत बटाऊ लोग री ।
अब तौ जिय ऐसी बनि आई, बिधना रच्यौ है सँजोग री ॥
जो मेरौ यह लोक जायगौ, अरु परलोक नसाय री ।
नंदनँदन कौं तऊ न छाँडौं, मिलूँगी निसान बजाय री ॥
यह तन फिरि बहुरौ नहिं पैयै बल्लभ बेस मुरार री ।
परमानँद स्वामी के ऊपर सरबस डारौं वार री ॥

अवश्य ही ये कवियोंकी उक्तियाँ हैं, परंतु इनमें गोपीभावनाकी बाहरी रूप-रेखाका स्पष्ट दिग्दर्शन है । गोपीभावका यथार्थ रहस्य तो गोपीभावापन्न प्रेमी पुरुष ही जानते हैं । उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता । यह तो उसका अति बाह्य स्थूल आंशिक प्रकाशमात्र है । न यही समझना चाहिये कि परकीयाभाव ही गोपीप्रेमका यथार्थ उदाहरण है । वह प्रेम तो इतना अनिर्वचनीय और अनुपम है कि न तो वह कहा जा सकता है और न उसकी किसीके साथ तुलना ही हो सकती है ।

गोपीभावकी प्राप्तिके लिये संक्षेपतः निम्नलिखित दस साधन करने आवश्यक हैं ।

१—किसी ऐसे सद्गुरुका आश्रय, जो काम-क्रोध-लोभादिसे सर्वथा रहित हों, अन्तर-बाहरसे पवित्र और सदाचारपरायण हों, शान्त, निर्मत्सर और प्रेमी हों, श्रीकृष्णरसके तत्त्वज्ञ हों, कृष्णमन्त्रके ज्ञाता हों, कृष्णानुग्रहको ही श्रीकृष्णप्राप्तिका एकमात्र उपाय जानते हों, दयालु और परम वैराग्यवान् हों और श्रीकृष्णलीला-गुणोंके श्रवण-कीर्तनमें जीवन बिताते हों । ऐसे गुरु न मिलें, तो जगद्गुरु श्रीकृष्णको ही परमगुरुरूपमें वरण करना चाहिये ।

२—श्रीगुरुदेवमें जो गुण बतलाये गये हैं, इन्हीं गुणोंको अपने अंदर बढ़ानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये ।

३—भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्णतम परमेश्वर, सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वमय, सर्वातीत, अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न, अखिलरसामृतसिन्धु,

भक्तवाञ्छाकल्पतरु, नित्यविहारी, अज, अविनाशी, परमब्रह्म, सर्वदेवपूज्य, सर्वदेवस्वरूप, परब्रह्मके भी परम आश्रय, नित्य, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, अप्रमेय, अनवद्य, अकल, अचल, अनामय, सच्चिदानन्दघन और अचिन्त्य-चिन्मय विग्रह हैं—ऐसा मानकर उन्हींको अपना परम आराध्य इष्टदेव बनाना चाहिये ।

४–इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको भगवत्प्राप्तिके मार्गमें सर्वथा बाधक समझकर उनसे चित्तकी आसक्तिको बिल्कुल हटा लेना चाहिये और आवश्यकतानुकूल भोगोंका व्यवहार भगवत्प्रीत्यर्थ—उन्हें भगवत्पूजनकी सामग्री बनाकर ही करना चाहिये । किसी भी भोग्य वस्तुमें आसक्ति, ममता और कामना थोड़ी भी नहीं रहनी चाहिये ।

५–भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर व्रजलीलाको प्राकृत स्त्री-पुरुषोंकी कामक्रीड़ा कभी नहीं मानना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तामें और उनकी प्रत्येक लीलाकी अप्राकृत सच्चिदानन्दमयतामें नित्य पूर्ण विश्वास होना चाहिये ।

६–किसी भी प्राणीका तनिक भी अहित न करके वैष्णवोचित सत्य, अहिंसा, प्रेम, विनम्रता, ब्रह्मचर्य, सेवा आदि सद्गुण और सत्कर्मोंका तथा श्रीतुलसीजी, गङ्गाजी, यमुनाजी, श्रीविग्रह, भक्त-संत आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ श्रद्धापूर्वक यथायोग्य सेवन करना चाहिये ।

७–श्रीयुगलमन्त्रका जाप विधिपूर्वक यथासमय अवश्य करना चाहिये और श्रीभगवन्नामका जप-कीर्तन निरन्तर करते रहना चाहिये ।

८–श्रीश्रीराधिकाजी अथवा श्रीललिताजी आदिका भक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

९–नित्य-निरन्तर अपनेको सर्वतोभावसे भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण करते रहना और उनसे सेवाधिकार-दानके लिये करुण प्रार्थना करते रहना चाहिये ।

१०–कामविकारके नाशके लिये विशेष प्रयत्नवान् होना चाहिये;

क्योंकि जबतक थोड़ा-सा भी कामविकार रहता है, तबतक गोपीभावकी साधनाका अधिकार किसी तरह भी नहीं मिल सकता।

× × × ×

पद्मपुराणमें भगवान् श्रीशंकरने देवर्षि नारदजीसे श्रीराधाकृष्णकी उपासना, उनके स्वरूप और मन्त्रादिके विषयमें बहुत रहस्यकी बातें कही हैं—उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। भगवान् शिवजी कहते हैं—

श्रीकृष्णके 'मन्त्रचिन्तामणि' नामक दो अत्युत्तम मन्त्र हैं—एक षोडशाक्षर है और दूसरा दशाक्षर!

मन्त्र

षोडशाक्षर मन्त्र है—

गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये।

और दशाक्षर है—

नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्।

इन मन्त्रोंके अधिकारी सभी वर्णोंके, सभी आश्रमोंके और सभी जातिके वे स्त्री-पुरुष हैं, जिनकी सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति है—'''भक्तिर्भवेदेषां कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे'। श्रीकृष्णभक्तिसे रहित याज्ञिक, दानशील, तान्त्रिक, सत्यवादी, वेद-वेदाङ्गपारग, कुलीन, तपस्वी, व्रती और ब्रह्मनिष्ठ—कोई भी इनके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये ये मन्त्र श्रीकृष्णके अभक्त, कृतघ्न, दुरभिमानी और श्रद्धारहित मनुष्योंको नहीं बतलाने चाहिये।

दम्भ, लोभ, काम और क्रोधादिसे रहित श्रीकृष्णके अनन्य भक्तको ही ये मन्त्र देने चाहिये। इनका यथाविधि न्यास करके श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। फिर उनका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

ध्यान

सुन्दर वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे सुरम्य रत्नसिंहासनपर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान हैं। श्रीकृष्णका वर्ण नवजलधरके समान नील-श्याम है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, द्विभुज हैं, विविध रत्नोंकी और पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित हैं, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंसे

भी सुन्दर है । तिरछे नेत्र हैं, ललाटपर मण्डलाकृति तिलक हैं, जो चारों ओर चन्दनसे और बीचमें कुङ्कुमबिन्दुसे बनाये हुए हैं । कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभायमान हैं, उन्नत नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है । पक्व बिम्बफलके समान अरुणवर्ण अधर हैं, जो दाँतोंकी प्रभासे चमक रहे हैं । भुजाओंमें रत्नमय कड़े और बाजूबंद हैं और अँगुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ शोभा पा रही हैं । बायें हाथमें मुरली और दाहिनेमें कमल लिये हुए हैं । कमरमें मनोहर रत्नमयी करधनी है, चरणोंमें नूपुर सुशोभित है । बड़ी ही मनोहर अलकावली है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है । सिरमें कनेरके पुष्पोंके आभूषण हैं । भगवान्‌की देहकान्ति नवोदित कोटि-कोटि दिवाकरोंके सदृश स्निग्ध ज्योतिर्मय है, उनके दर्पणोपम कपोल स्वेदकणोंसे सुशोभित हैं, चञ्चल नेत्र श्रीराधिकाजीकी ओर लगे हुए हैं । वामभागमें श्रीराधिकाजी विराजिता हैं, तपे हुए सोनेके समान उनकी देहप्रभा है, नील वस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं । चञ्चल नेत्रयुगल स्वामीके मुखचन्द्रकी ओर लगे हुए हैं और चकोरीकी भाँति उनके द्वारा वे श्याम-मुख-चन्द्र-सुधाका पान कर रही हैं । अङ्गुष्ठ और तर्जनी अँगुलिके द्वारा वे प्रियतमके मुखकमलमें पान दे रही हैं । उनके गलेमें दिव्य रत्नोंके और मुक्ताओंके हार हैं । क्षीण कटि करधनीसे सुशोभित है । चरणोंमें नूपुर, कड़े और चरणाङ्गुलियोंमें अङ्गुरीय आदि शोभा पा रहे हैं । उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे लावण्य छिटक रहा है । उनके चारों ओर तथा आगे-पीछे यथास्थान खड़ी हुई सखियाँ विविध प्रकारसे सेवा कर रही हैं ।

श्रीराधिकाजी कृष्णमयी हैं, वे श्रीकृष्णकी आनन्दरूपिणी ह्लादिनी शक्ति हैं । त्रिगुणमयी दुर्गा आदि शक्तियाँ उनकी करोड़वीं कलाके करोड़वें अंशके समान हैं । सब कुछ वस्तुतः श्रीराधाकृष्णसे ही भरा है । उनके सिवा और कुछ भी नहीं है । यह जड-चेतन अखिल जगत् श्रीराधाकृष्णमय है—

चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत् ।

परंतु वे इतने ही नहीं हैं । अनन्त अखिल ब्रह्माण्डोंसे परे हैं, सबसे

परे हैं, सबके अधिष्ठान हैं, सबमें हैं और सबसे सर्वथा विलक्षण हैं। यह श्रीकृष्णका किंचित् ऐश्वर्य है।

बहुत दिनोंसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा पत्नी जैसे एकमात्र अपने पतिका ही सङ्ग चाहती हुई दीनभावसे सदा-सर्वदा स्वामीके गुणोंका चिन्तन, गान और श्रवण किया करती है, वैसे ही श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर साधकको श्रीकृष्णके गुण-लीलादिका चिन्तन, गायन और श्रवण करते हुए ही समय बिताना चाहिये। और बहुत लंबे समयके बाद पतिके घर आनेपर जैसे पतिव्रता स्त्री अनन्य प्रेमके साथ तद्गतचित्त होकर पतिकी सेवा, उसका आलिङ्गन आदि तथा नयनोंके द्वारा उसके रूपसुधामृतका पान करती है, वैसे ही साधकको उपासनाके समय शरीर, मन, वाणीसे परमानन्दके साथ श्रीहरिकी सेवा करनी चाहिये।

एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणापन्न होना चाहिये और वह भी श्रीकृष्णके लिये ही, दूसरा कोई भी प्रयोजन न रहे। अनन्य मनसे श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये। श्रीकृष्णके सिवा न किसीकी पूजा करनी चाहिये और न किसीकी निन्दा। किसीका जूठा नहीं खाना चाहिये और न किसीका पहना हुआ वस्त्र ही पहनना चाहिये। भगवान्‌की निन्दा करनेवालोंसे न तो बात-चीत करनी चाहिये और न भगवान् और भक्तोंकी निन्दा ही सुननी चाहिये।

जीवनभर चातकीवृत्तिसे अर्थ समझते हुए युगलमन्त्रकी उपासना करनी चाहिये। चातक जैसे सरोवर, नदी और समुद्र आदि सहज ही मिले हुए जलाशयोंको छोड़कर एकमात्र मेघजलकी आशासे प्याससे तड़पता हुआ जीवन बिताता है, प्राण चाहे चले जायँ पर मेघके सिवा किसी दूसरेसे जलकी प्रार्थना नहीं करता, उसी प्रकार साधकको एकाग्र मनसे एकमात्र श्रीकृष्ण-गतचित्त होकर साधना करनी चाहिये।

परम विश्वासके साथ श्रीयुगलसरकारसे निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥

योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'नाथ ! पुत्र, मित्र और घरसे भरे हुए इस संसारसागरसे आप ही दोनों मुझको बचानेवाले हैं; आप ही शरणागतके भयका नाश करते हैं। मैं जो कुछ भी हूँ और इस लोक तथा परलोकमें मेरा जो कुछ भी है, वह सभी आज मैं आप दोनोंके चरणकमलोंमें समर्पण कर रहा हूँ। मैं अपराधोंका भंडार हूँ। मेरे अपराधोंका पार नहीं है। मैं सर्वथा साधनहीन हूँ, गतिहीन हूँ। इसलिये नाथ ! एकमात्र आप ही दोनों प्रिया-प्रियतम मेरे गति हैं। श्रीराधिकाकान्त श्रीकृष्ण ! और श्रीकृष्णकान्ते राधिके ! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ और आप ही मेरे एकमात्र गति हैं। मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंपर पड़ा हूँ। आप अखिल कृपाकी खान हैं। कृपापूर्वक मुझपर दया कीजिये और मुझ दुष्ट अपराधीको अपना दास बना लीजिये।'

जो भगवान् श्रीराधाकृष्णकी सेवाका अधिकार बहुत शीघ्र प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको भगवान्के चरणकमलोंमें स्थित होकर इस प्रार्थनामय मन्त्रका नित्य जप करना चाहिये।

भगवान् शंकरने फिर नारदजीसे कहा कि—

'देवर्षि ! मैं भगवान्के मन्त्रका जप और उनका ध्यान करता हुआ बहुत दिनोंतक कैलासपर रहा, तब भगवान्ने प्रकट होकर मुझे दर्शन दिये और वर माँगनेके लिये कहा। मैंने बारंबार प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—'कृपासिन्धो ! आपका जो सर्वानन्ददायी, समस्त आनन्दोंका आधार नित्य मूर्तिमान् रूप है, जिसे विद्वान् लोग निर्गुण 'निष्क्रिय शान्तब्रह्म

कहते हैं, हे परमेश्वर ! मैं उसी रूपको अपनी आँखोंसे देखना चाहता हूँ ।'

'भगवान्‌ने कहा—'आप श्रीयमुनाजीके पश्चिम तटपर मेरे वृन्दावनमें जाइये, वहाँ आपको मेरे स्वरूपके दर्शन होंगे ।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये । मैंने उसी क्षण मनोहर यमुनातटपर जाकर देखा—समस्त देवताओंके ईश्वरोंके ईश्वर, भगवान् श्रीकृष्ण मनोहर गोपवेष धारण किये हुए हैं । उनकी सुन्दर किशोर अवस्था है । श्रीराधाजीके कंधेपर अपना अति मनोहर बायाँ हाथ रक्खे वे सुन्दर त्रिभङ्गीसे खड़े मुसकरा रहे हैं । आपके चारों ओर गोपियोंका मण्डल है । शरीरकी कान्ति सजल जलद-के सदृश स्निग्ध श्यामवर्ण है । आप अखिल कल्याणके एकमात्र आधार हैं ।

'इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अमृतोपम मधुर वाणीमें मुझसे कहा—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।
वदन्त्युपनिषत्संघा इदमेव ममानघ ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वर ॥
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि ।
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर ॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ॥
मायागुणैर्यतो मंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम् ।
न करोमि स्वयं किंचित् सृष्ट्यादिकमहं शिव ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

''शंकरजी ! आपने आज मेरा यह परम अलौकिक रूप देखा है । सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्दघन रूपको ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं । मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अनन्त हैं—उनका वर्णन नहीं हो सकता । और मेरे वे गुण प्राकृत दृष्टिसे सिद्ध नहीं होते, इसलिये

सब मुझको निर्गुण कहते हैं। महेश्वर! मेरे इस रूपको चर्मचक्षुओंके द्वारा कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद इसको अरूप या निराकार कहते हैं। मैं अपने चैतन्यांशके द्वारा सर्वव्यापी हूँ, इसलिये विद्वान्‌लोग मुझको ब्रह्म कहते हैं। और मैं इस विश्वप्रपञ्चका रचयिता नहीं हूँ, इसलिये पण्डितगण मुझको निष्क्रिय बतलाते हैं। शिव! वस्तुतः सृष्टि आदि कोई भी कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) ही माया-गुणोंके द्वारा सृष्टि-संहारादि कार्य किया करते हैं।"

"देवर्षि! भगवान्‌के इस प्रकार कहने और कुछ अन्य उपदेश करनेपर मैंने उनसे पूछा—'नाथ! आपके इस युगल-स्वरूपकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है, इसे कृपा करके बतलाइये।' भगवान्‌ने कहा—'हम दोनोंके शरणापन्न होकर जो गोपीभावसे हमारी उपासना करते हैं, उन्हींको हमारी प्राप्ति होती है, अन्य किसीको नहीं।'

गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः।

"एक सत्य बात और है—वह यह है कि पूरे प्रयत्नके साथ इस भावकी प्राप्तिके लिये श्रीराधिकाकी उपासना करनी चाहिये।

'हे रुद्र! यदि आप मुझे वशमें करना चाहते हैं, तो मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण ग्रहण कीजिये।"

आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि।

इस वर्णनसे पता लगा होगा कि भगवान् श्रीराधाकृष्णकी प्राप्ति और उनकी सेवा ही गोपीभावकी साधनाका लक्ष्य है और इसकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्पर होकर साधना करनी चाहिये तथा भगवान् श्रीकृष्णके परम मनोहर मुनिजनमोहन सौन्दर्यसुधामय स्वरूपका अतृप्त और निर्निमेष मानस नेत्रोंसे अपने हृदयमें ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते-करते जब उनकी कृपासे आपको उनके मधुर रूप-माधुर्यके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे, तब तो आप निहाल ही हो जाइयेगा। फिर तो आप भी यही चाहियेगा—

माथे पै मुकुट देखि, चंद्रिका-चटक देखि,
छबि की लटक देखि, रूपरस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि, चित्त चाव कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि, अलक बलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरबस ही दीजिये।
पीतांबर छोर देखि, मुरली की घोर देखि,
साँवरे की ओर देखि देखिबोई कीजिये॥

× × × × ×

गोपीभाव 'सर्वसमर्पण' का भाव है। इसमें निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग है। गोपीभावमें न तो लहँगा, साड़ी या चोली पहननेकी आवश्यकता है न पैरोंमें नूपुर और नाकमें नथकी ही। गोपीभावकी प्राप्तिके लिये श्रीगोपीजनोंका ही अनुगमन करना होगा। ध्यान कीजिये—श्रीकृष्ण मचल रहे हैं और मा यशोदा उन्हें माखन देकर मना रही हैं। श्रीकृष्ण कुञ्जमें पधार रहे हैं, श्रीमती राधिकाजी उनकी अगवानीकी तैयारीमें लगी हैं। गोपीभावमें खास बात है 'रसकी अनुभूति'। 'श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र प्राणनाथ हैं। वे ही परम प्रियतम हैं। उनके सिवा मेरे और कुछ भी नहीं है।' इतना कह देनेमें ही रस नहीं मिलता। रसके लिये रसभरा हृदय चाहिये। वाणीसे बाह्य रसका भानमात्र होता है! एक पतिप्राणा पत्नी प्रेमभरे हृदयसे पतिको जब 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' कहती है, तब उसके हृदयमें यथार्थ ही यह भाव मूर्तिमान् रहता है। इसीसे उसे रसानुभूति होती है। इसीसे वह प्राणनाथके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेमें नहीं हिचकती या यों कहना चाहिये कि उसके प्राणोंपर वस्तुतः पतिका ही अधिकार होता है। पतिको 'प्रियतम कहते समय उसके हृदयमें स्वाभाविक ही एक गुदगुदी होती है, आनन्दकी रस-लहरी छलकती है। इसी प्रकार भक्तका हृदय भगवान्‌को जब सचमुच अपना 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' मान लेता है, तभी वह गोपीभावकी प्राप्तिके योग्य होता है। और ठीक पत्नीकी भाँति जब भगवान्‌को पतिरूपमें वरण कर लिया जाता है तभी उन्हें 'प्रियतम' और 'प्राणनाथ' कहा जाता है।

गोपीभावकी प्राप्ति

सप्रेम हरिस्मरण ! पत्र मिला । आप गोपीप्रेम प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं—यह तो बड़े सौभाग्यकी बात है । उसके लिये आपने जो तीन प्रश्न पूछे हैं, उनके विषयमें मैं अपने विचार नीचे लिखता हूँ—

१. गोपीप्रेमकी प्राप्ति सभीको हो सकती है । बिना इस भावकी प्राप्ति हुए तो प्रियतमकी अन्तरङ्ग लीलाओंमें प्रवेश ही नहीं हो सकता । परंतु यह सर्वोच्च सौभाग्य किस जीवको कब प्राप्त होगा—इसका निर्णय कोई नहीं

कर सकता। यह तो उन प्राणनाथकी अहैतुकी कृपापर ही अवलम्बित है। वे जब कृपा करके जिस जीवको वरण करते हैं, तभी उसे यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होता है। जीव तो अधिक-से-अधिक अपनेको उनके चरणोंमें समर्पित ही कर सकता है। समर्पण ही इसका साधन है। साधन इसलिये कि जीव अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकता है। परंतु वास्तवमें यह भाव तो साधन-साध्य नहीं है, केवल कृपासाध्य ही है।

२. गोपी-भावकी प्राप्ति सब कुछ त्यागनेपर तो होती ही है, परंतु यह सर्वस्व-परित्याग किसी बाह्य क्रियापर अवलम्बित नहीं है। यह घरमें रहते हुए भी हो सकता है और वनमें जानेपर भी नहीं होता। गोपियाँ कब वनमें गयी थीं। यह तो भावकी एक परमोत्कृष्ट अवस्था है, जो प्रेमका परिपाक होनेपर ही होती है। प्रेमीके लिये तो सब कुछ प्राणनाथका ही है; उसका है क्या, जिसे वह छोड़े। छोड़नेके साथ तो सूक्ष्मरूपसे ममताका पुट लगा हुआ है। जिसकी किसीमें ममता नहीं है, वह किसे छोड़ेगा? अतः छोड़नेका स्वाँग न करके प्रेमकी अभिवृद्धि ही करनी चाहिये। जो प्रियतमके चरणोंमें आत्मोत्सर्ग कर देता है, उसका अपना कुछ रहता ही नहीं, सब कुछ प्यारेका ही हो जाता है।

३. गुरु, वेष और स्थान भावकी प्राप्तिके साधन अवश्य हैं; परंतु अधिकतर इनके द्वारा लोगोंको एक प्रकारकी संकीर्ण साम्प्रदायिकता ही हाथ लगती है। जिसे स्वयं गोपी-भावकी प्राप्ति नहीं हुई, वह दूसरोंको कैसे उसकी प्राप्ति करा सकता है और गोपी-भाव-प्राप्त गुरु भी कहाँ मिलेगा। वेष तो, प्रियतमकी रुचि जाने बिना कैसे निश्चय किया जाय कि वे किस रूपमें आपको देखना चाहते हैं। प्रियतमका स्थान ही इस लोकसे परे है; इस लोकका वृन्दावन तो केवल उसका प्रतीक है। वह नित्य एवं चिन्मय वृन्दावन तो सर्वत्र है, उसकी उपलब्धि केवल भावमय नेत्रोंसे ही हो सकती है। भावुक उस प्रियतमके धामसे एक क्षण भी बाहर नहीं रह सकता। ××××

साधकका सिद्धदेह

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । साधनक्षेत्रमें सिद्धदेहविषयक यह आपका प्रश्न रागानुगा भक्तिके एक अति उच्च साधनका संकेत करता है । वास्तवमें ये सब प्रश्न गोपनीय दिव्य-साधनासे सम्बन्ध रखते हैं ।

साधकदेह और सिद्धदेह—इस प्रकार सेवाके लिये दो देह माने गये हैं । हमारे इस पाञ्चभौतिक स्थूल देहको ही साधनामें संलग्न होनेपर साधक-देह कहते हैं । इसके परे सिद्धदेह है, जिसकी पहले साधकदेहवाले महानुभाव भावना करते हैं और उस भावनामय सिद्धदेहके द्वारा भगवान्‌की सेवा किया करते हैं । पर जिनके हृदयमें यथार्थ रतिकी उत्पत्ति हो गयी है, उनको सिद्धदेहकी भावना नहीं करनी पड़ती, उसकी स्वयं स्फूर्ति हुआ करती है और वे परम सौभाग्यवान् साधक उक्त सिद्धदेहके द्वारा श्रीराधा-माधवकी मधुरतम निकुञ्जसेवामें नियुक्त रहकर नित्य निरतिशय परमानन्दा-म्बुधिमें निमग्न रहते हैं । यह सिद्धदेह न तो अस्थिमांसरक्तमय जडदेह है और न सांख्यप्रोक्त सूक्ष्म और कारणदेह ही है । यह है दिव्यानन्दचिन्मय-रसप्रतिभावित नित्यशुद्ध सुचारु समुज्ज्वल परम सुन्दरतम सच्चिदानन्दरसमय विग्रह । वैष्णवसाधनाके क्षेत्रमें इस सच्चिदानन्दरसमयी मूर्तिको 'मञ्जरी' कहते हैं । ये सखियोंकी अनुमतिके अनुसार श्रीराधामाधवकी सेवामें नियुक्त रहती और परमानन्दका अनुभव करती हैं । इनका यह देह नित्य सुन्दर, नित्य मधुर, नित्य नव-सुषमासम्पन्न और नित्य समुज्ज्वल रहता है । इनपर देश-कालका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस मार्गकी साधनाकी परिपक्व स्थितिमें इस सिद्ध-देहकी स्वयमेव स्फूर्ति हुआ करती है । पाञ्चभौतिक देह छूट जाती है, पर ये सच्चिदानन्द-रस-विग्रहमयी व्रजसुन्दरियाँ भगवान्‌के प्रेमधाममें स्फूर्ति प्राप्त करके श्रीयुगलस्वरूपकी सेवामें नित्य नियुक्त रहती हैं । इस साधनाके क्षेत्रमें तथा भगवान् श्रीराधामाधवके प्रेमधाममें भगवान् श्रीवृन्दावनेश्वर तथा श्रीवृन्दा-वनेश्वरी, उनकी अष्ट सखी और अष्ट मञ्जरियोंके नाम, वर्ण, वस्त्र, वय तथा सखी एवं मञ्जरियोंकी दिशा और उनकी सेवाकी सूची निम्नलिखित प्रकारसे मानी गयी हैं—

दिशा	नाम	देहका वर्ण	वस्त्रका रंग	वयस्—वर्ष मास दिन	सेवा
×	श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दर	इन्द्रनीलमणि	पीला	१५ । ९ । ७	×
	श्रीमती राधिका रासेश्वरी	तपाया स्वर्ण	नीला	१४ । २ । १५	×
			सखी		
उत्तर	श्रीललिता	गोरोचन	मयूरपुच्छ	१४ । ३ । १२	ताम्बूल
ईशानकोण	श्रीविशाखा	बिजली	तारावर्ण	१४ । २ । १५	कर्पूरादि
पूर्व	श्रीचित्रा	काश्मीर	काचवर्ण	१४ । १ । १९	वस्त्र-सेवा
अग्निकोण	श्रीइन्दुलेखा	हरिताल	दाडिमपुष्प	१४ । २ । १२	नृत्य
दक्षिण	श्रीचम्पकलता	चम्पापुष्प	नीलवर्ण	१४ । २ । १४	चँवर
नैर्ऋत्यकोण	श्रीरङ्गदेवी	कमल-केसर	जवापुष्प	१४ । २ । ८	अलक्तक
पश्चिम	श्रीतुङ्गविद्या	चन्द्रकुङ्कुम(कर्पूरयुक्त केसर)	पाण्डुवर्ण	१४ । २ । २०	नाना वाद्य
वायव्यकोण	श्रीसुदेवी	तपाये हुए स्वर्णके समान	प्रवालवर्ण	१४ । २ । ८	जल

मञ्जरी

दिशा	नाम	देहका वर्ण	वस्त्रका रंग	वयस्—वर्ष मास दिन	सेवा
उत्तर	श्रीरूपमञ्जरी	गोरोचन	मयूरपिच्छ	१३ । ६ । ०	ताम्बूल
ईशानकोण	श्रीमञ्जुलीलामञ्जरी	तप्तस्वर्ण	किंशुकपुष्प	१३ । ६ । ७	वस्त्र
पूर्व	श्रीरसमञ्जरी	चम्पापुष्प	हंसवर्ण	१३ वर्ष	चित्र
अग्निकोण	श्रीरतिमञ्जरी	बिजली	तारावर्ण	१३ । २ । ०	चरणसेवा
दक्षिण	श्रीगुणमञ्जरी	बिजली	जवापुष्प	१३ । १ । २७	जल
नैर्ऋत्यकोण	श्रीविलासमञ्जरी	स्वर्णकेतकी	भ्रमरवर्ण	१३ । ० । २६	अञ्जन-सिन्दूर
पश्चिम	श्रीलवङ्गमञ्जरी	बिजली	तारावर्ण	१३ । ६ । १	माला
वायव्यकोण	श्रीकस्तूरीमञ्जरी	स्वर्णवर्ण	काचवर्ण	१३ वर्ष	चन्दन

इनके नाम, सेवा आदिमें व्यतिक्रम भी माना जाता है ।

प्रधान अष्टमञ्जरियोंके नामोंमें भी अन्तर माना गया है, मञ्जरियोंकी उपर्युक्त सूचीके स्थानपर ये नाम भी माने गये हैं—(१) श्रीअनङ्गमञ्जरी, (२) श्रीमधुमतीमञ्जरी, (३) श्रीविमलामञ्जरी, (४) श्रीश्यामलामञ्जरी, (५) श्रीपालिकामञ्जरी, (६) श्री-मङ्गलामञ्जरी, (७) श्रीधन्यामञ्जरी, (८) श्रीतारकामञ्जरी । तथा इन प्रत्येकके अनुगत दो-दो मञ्जरियाँ अथवा प्रिय नर्मसखियाँ क्रमशः



इस प्रकार मानी गयी हैं—(१) श्रीलवङ्गमञ्जरी, (२) श्रीरूपमञ्जरी, (३) श्रीरसमञ्जरी, (४) श्रीगुणमञ्जरी, (५) श्रीरतिमञ्जरी, (६) श्रीभद्रमञ्जरी, (७) श्रीलीलामञ्जरी, (८) श्रीविलासमञ्जरी (क), (९) श्रीविलासमञ्जरी (ख), (१०) श्रीकेलिमञ्जरी, (११) श्रीकुन्दमञ्जरी, (१२) श्रीमदनमञ्जरी, (१३) श्रीअशोकमञ्जरी, (१४) श्रीमञ्जुलालीमञ्जरी, (१५) श्रीसुधामञ्जरी, (१६) श्रीपद्ममञ्जरी। प्रधान अष्ट सखियोंका क्रम भी कहीं-कहीं ऐसा माना गया है—श्रीरङ्गदेवी, श्रीसुदेवी, श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीचम्पकलता, श्रीचित्रा, श्रीतुङ्गविद्या, श्रीइन्दुलेखा अथवा श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीचम्पकलता, श्रीइन्दुलेखा, श्रीतुङ्गविद्या, श्रीरङ्गदेवी, श्रीसुदेवी, श्रीचित्रा। कहीं-कहीं प्रधान अष्ट सखियोंके नामोंमें भी अन्तर माना गया है।

सखियों और मञ्जरियोंकी संख्या इतनी ही नहीं है। ये तो मुख्य आठ-आठ हैं। सिद्धदेहमें मञ्जरियोंकी स्फूर्ति और तद्रूपता प्राप्त हो जाती है। यह परम गोपनीय साधन-राज्यका विषय है। यह बात जान लेनेकी है कि इस राग-मार्गमें—रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये आठ स्तर माने गये हैं। इनमें रति प्रथम है और वह रति तभी मानी जाती है जब कि इस लोक और परलोकके—ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंसे तथा मोक्षसे भी सर्वथा विरति होकर केवल भगवच्चरणारविन्दमें ही रति हो गयी हो। साधकके चित्तमें नित्य-निरन्तर केवल एक यही धारणा दृढ़ताके साथ बद्धमूल हो जाय कि इस लोकमें, परलोकमें सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे हैं। श्रीकृष्णके सिवा मेरा और कोई भी, कुछ भी, किसी कालमें भी नहीं है। अतएव यहाँ दूसरी वस्तुमात्र तथा तत्त्वका ही अभाव हो जाता है; तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या और असूया आदि दोषोंके लिये तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये तो साधकदेहमें ही समाप्त हो जाते हैं। सिद्धदेहमें तो नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णानुभवके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं।

सिद्ध सखीदेह

सप्रेम हरिस्मरण ।—××××× तीन प्रकारके प्रेमी भक्त होते हैं—नित्यसिद्ध, कृपासिद्ध और साधनसिद्ध । नित्यसिद्ध वे हैं, जो श्रीकृष्णके नित्य परिकर हैं और श्रीकृष्ण स्वयं लीलाके लिये जहाँ विराजते हैं, वहीं वे उनके साथ रहते हैं । कृपासिद्ध वे हैं, जो श्रीभगवान्‌की अहैतुकी कृपासे प्रेमियोंका सङ्ग प्राप्त करके अन्तमें उन्हें पा लेते हैं; और साधनसिद्ध वे हैं, जो भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌की रुचिके अनुसार भगवत्प्रीत्यर्थ प्रेम-

साधना करते हैं। ऐसे साधकोंमें जो प्रेमके उच्च स्तरपर होते हैं, किसी सखी या मञ्जरीको गुरुरूपमें वरण करके उनके अनुगत रहते हैं। ऐसे पुरुष समय-समयपर प्राकृत देहसे निकलकर सिद्धदेहके द्वारा लीला-राज्यमें पहुँचते हैं और वहाँ श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं। ऐसे भक्त आज भी हो सकते हैं। कहा जाता है कि महात्मा श्रीनिवास आचार्य इस स्थितिपर पहुँचे हुए भक्त थे। वे सिद्ध सखीदेहके द्वारा श्रीराधागोविन्दकी नित्यलीलाके दर्शनके लिये अपनी सखी-गुरुके पीछे-पीछे श्रीव्रजधाममें जाया करते। एक बार वे ऐसे ही गये हुए थे। स्थूलदेह समाधिकी भाँति निर्जीव पड़ा था। तीन दिन बीत गये। आचार्यपत्नीने पहले तो इसे समाधि समझा; क्योंकि ऐसी समाधि उनको प्रायः हुआ करती थी। परंतु जब तीन दिन बीत गये, शरीर बिल्कुल प्राणहीन प्रतीत हुआ, तब उन्होंने डरकर शिष्य भक्त रामचन्द्रको बुलाया। रामचन्द्र भी उच्च स्तरपर आरूढ़ थे, उन्होंने पता लगाया और गुरुपत्नीको धीरज देकर गुरुकी खोजके लिये सिद्धदेहमें गमन किया। उनका भी स्थूलदेह वहाँ पड़ा रहा। सिद्धदेहमें जाकर रामचन्द्रने देखा—श्रीयमुनाजीमें क्रीड़ा करते-करते श्रीराधिकाजीका एक कर्ण-कुण्डल कहीं जलमें पड़ गया है। श्रीकृष्ण सखियोंके साथ उसे खोज रहे हैं, परंतु वह मिल नहीं रहा है। रामचन्द्रने देखा सिद्ध-देहधारी गुरुदेव श्रीनिवासजी भी सखियोंके यूथमें सम्मिलित हैं। तब रामचन्द्र भी गुरुकी सेवामें लगे। खोजते-खोजते कुछ देरके बाद रामचन्द्रको श्रीजीका कुण्डल एक कमलपत्रके नीचे पङ्कमें पड़ा मिला। उन्होंने लाकर गुरुदेवको दिया। उन्होंने अपनी गुरुरूपा सखीको दिया, सखीने यूथेश्वरीको अर्पण किया और यूथेश्वरीने जाकर श्रीजीकी आज्ञासे उनके कानमें पहना दिया। सबको बड़ा आनन्द हुआ। श्रीजीने खोजनेवाली सखीका पता लगाकर परम प्रसन्नतासे उसे चर्वित ताम्बूल दिया। बस, इधर श्रीनिवासजी तथा रामचन्द्रकी समाधि टूटी, रामचन्द्रके हाथमें श्रीजीका चबाया हुआ पान देखकर दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी।



गोपीप्रेमकी साधना और सिद्धि

प्रथम साधना है इसकी---इन्द्रिय-भोगोंका मनसे त्याग।
हरिकी प्रीति बढ़ानेवाले सत्कर्मोंमें अति अनुराग॥
कठिन काम-वासना-पापका करके पूरी तरह विनाश।
दंभ-दर्प, अभिमान-लोभ-मद, क्रोध-मानका करके नाश॥
परचर्चाका परित्याग कर, विषयोंका तज सब अभिलाष।
मधुमय चिन्तन नाम-रूपका, मनमें प्रभुपर दृढ़ विश्वास॥
हरि-गुण-श्रवण, मनन लीलाका, लीला-रसमें रति निष्काम।
प्रियतम-भाव सदा मोहनमें, प्रेम-कामना शुचि, अभिराम॥
सर्व समर्पण करके हरिको, भोग-मोक्षका करके त्याग।
हरिके सुखमें ही सुख सारा, हरिचरणोंमें ही अनुराग॥
भोग-मोक्ष-रुचि-रहित परम जो अन्तरंग हरिप्रेमी संत।
उनका विमल सङ्ग, उनकी ही रुचिमें निज रुचिका कर अंत॥
पावन प्रेमपंथके साधक करते फिर लीलाचिन्तन।
श्यामा-श्याम-कृपासे फिर वे कर पाते लीला-दर्शन॥
गोपी-भाव समझकर फिर वे होते हैं शुचि साधनसिद्ध।
रस-साधनमें सिद्धि प्राप्तकर पाते गोपीरूप विशुद्ध॥
तब लीलामें नित्य सम्मिलित हो बन जाते प्रेमस्वरूप।
परम सिद्धि यह प्रेम-पंथकी, यही प्रेमका निर्मल रूप॥

गोपीप्रेमके अधिकारी

कर्म, योगपथ, ज्ञान-मार्गके सिद्ध नहीं आते इस ठौर।
वे अपने शुचि विहित मार्गसे जाते सदा साध्यकी ओर॥
राधा-कृष्ण-बिहार ललितका यह रहस्यमय दिव्य विधान।
दास्य-सख्य-वात्सल्यभावमें भी इसका नहिं होता भान॥
व्रजरमणीके शुद्ध भावका ही केवल इसमें अधिकार।
वहीं फूलता-फलता, इस उज्ज्वल रसका होता विस्तार॥



गोपियोंकी महिमा

गोपीजन की महिमा अतुलित ।
जिनके भाव लहन कौं तरसत बेदरिचा नित ऋषि-मुनि तप-रत ॥
बिमल ब्रह्मविद्या गोपिन-सम तप करि चहत प्रीति अति पावन ।
जा सौं मिलत ब्रह्म पर-सौं पर रसमय मधुर रूप मनभावन ॥
सदा प्रेम-परबस जिनके हरि, राखत मन जिन कौं अति आदर ।
सदा रहत जिनके ढिग बरबस, चहत न रहन छाँड़ि तिन छिनभर ॥
बस्यौ रहत मन-प्रान-नयन महँ बन तिनके मन-प्रान-पुतरिदृग ।
रास-बिलास करत नित रसमय भूलि सकल भगवत्ता अग-जग ॥



प्रकीर्ण

प्रार्थना

देखा करूँ तुम्हारी लीला,
गाया करूँ तुम्हारा नाम ।
सुना करूँ नित मुरलीकी धुन,
वचन तुम्हारे परम ललाम ॥
नेत्र मधुप नित करें तुम्हारे
वदन-कमल-मधु-रसका पान ।
पूर्ण समर्पण हो जाये इन्द्रिय-
तन-मन-मति-जीवन-प्रान ॥



एक कृष्णप्रेमीके पत्रका उत्तर

(पत्र)

मधुमास कृष्णैकादशीकी संध्या

परम-पूज्य प्रिय सखा, स्वामि, गुरु, हितू हमारे ।
श्रीहनुमानप्रसाद (जी) भाव के भोरे-भारे ॥
बंदौं चरन-सरोज सीस धरि सदा तुम्हारे ।
देहु इहै आसीस, बसें हिय जुगल हमारे ॥
छायौ अब कलिकाल घोर, नहिं धर्म-लेस कहुँ ।
अनाचार, पाखंड, पाप बाढ़्यौ देखत चहुँ ॥
कपटी, कायर, कुटिल, कामबस, अतिसै क्रोधी ।
बाढ़े चोर, जुवार, बिप्र-गुरु-संत-बिरोधी ॥
तिन के मधि बसि रहन कठिन जिमि दसनन जीहा ।
साँच कहै, है मरन, मिलनपिय कठिन अलीहा ॥
तासू पै त्रैताप घोर यौं तपत सदा ननु ।
ऐसे भीषन बिपति-काल नहिं कोउ अवलंबनु ॥
होते जौ संसारी तौ यह सब सहि लेते ।
काहू कौ उपकार-भार नहिं सिर पै लेते ॥
कहा कहौं ? कहि जात नहीं अब जिय की बातैं ।
बड़ी मरम की पीर, बीर रसिकन की बातैं ॥
मातु-पितादिक स्वजन निरस अति ग्यान सिखावैं ।
कोउ निहकाम सकाम कर्म के मर्म सुझावैं ॥
मुकौ लागत नाहिं किए उन अमित उपाई ।
कहा करौं ह्वै गई संग बस कृष्न-मिताई ॥
सो अब छूटत नाहिं, जतन मैं हूँ बहु हेरी ।
बरबस ही करि लई स्याम बिनु मोलन चेरी ॥
ना जानौं प्रारब्ध कौन-सौ बिमुख पर्‌यौ है ।
जो बैरी इहि भाँति मोहि ते रहत अर्‌यौ है ॥
अनइच्छित जे कर्म तिनहिं बरबस करवावत ।
परत है दिन-रैन मूढ़ लउ नास न पावत ॥

नित दुःसंगति परयौ, नाहिं सत्संग बसत तनु ।
नहिं भागवत-पुरान-कथा कौ श्रवन-कीरतनु ॥
अपनेहिं कर करि रह्यौ हाय ! अपनी ही हाँती ।
यहि सोचत हौं जबहिं, तबहिं भरि आवत छाती ॥
बिनु पंखनके बिहग सरिस उछरत औ गिरत हौं ।
भव-दवाग्नि मैं बिबस हाय ! अब नित्य जरत हौं ॥
काढ़ि लीजियो मित्र ! मोहि हिय करुना करि कै ।
या दीजो मत उचित, करौं सोइ हिय हरि धरि कै ॥
कठिन कुअवसर माहि है रही मति-गति भोरी ।
ओ 'कल्यान' सुदानी ! भरियो 'नेह' की झोरी ॥
१३ । ३ । ४२ इति शम् ।

'नेहलता'

(उत्तर)

नेहभरी श्रीनेहलता ! तुम धन्य सदाई ।
जुगल-कृपा ते लही जो दुर्लभ कृष्न-मिताई ॥
परम पूज्य, प्रिय, सखा, स्वामि, गुरु, हितू तिहारे ।
रसिकसिरोमनि एक स्याम गोपीजन-प्यारे ॥
अनुकंपा उन की अपार कौ तुम्हैं सहारौ ।
का करि सकै बिगार घोर कलिकाल तिहारो ॥
सकल ताप-संताप सुदारुन बिपति-बुराई ।
अहै तिहारे प्रीतम ही की सबै पठाई ॥
बड़ी मरम की पीर, बीर ! सहियो सब सुख सौं ।
पिय कौ प्रिय संदेस, न कछु कहियो निज मुख सौं ॥
संसारीहू बड़ौ होय जो हरि अनुरागी ।
अष्टजाम अनुगत सेवारत अति बड़भागी ॥
स्यान-कर्म कौ मर्म सुनत-समुझत क्यौं डरिये ।
सब ही सौं अपने मोहन की सेवा करिये ॥
नंदसुवन-सेवा ही सब कौ परम चरम फल ।
बिना दाम घनस्याम-हाथ बिकिबौ अति मंगल ॥
दारुन ग्रह, दुर्दैव स्याम-चेरिहि न सतावै ।
स्याम-प्रेम सब काम सदा बरबस करवावै ॥

चेरी कौ चित सदा एक स्यामै पहिचानैं।
भलौ-बुरौ परिनाम स्याम-पीतम ही जानैं॥
ह्वै निश्चिंत, अचिंत्य स्याम-पद सेवन कीजै।
दिवस-रैन मन-चैन स्याम-सुमिरन चित दीजै॥
बिनु पंखन के बाल-बिहँग जोहैं जननी-मग।
जिमि पत्नी पिय-दरस-हेतु आकुल-चित डगमग॥
तिमि प्यारे पीतम के अति पावन बिरहानल।
जरि जरि लहियै अमल अलौकिक आनँद प्रतिपल॥
स्याम-चरन कौ एक भरोसौ कबहुँ न तजियो।
अग-जग की चिंता बिसारि गोपालै भजियो॥
मोपै हू करि कृपा इहैं श्रीहरि सौं कहियो।
अपनी ओर निहारि छोह नित करते रहियो॥
बाढ़ी जग मैं ख्याति, लोकरंजन मन छायौ।
रस की बातें बिसरि व्यर्थ ही काल गँवायौ॥
ह्वैहैं वे दिन कबै, जबै श्रीराधा रानी।
गनि आपनौ गुलाम नेह सौं धरि सिर पानी॥
अपनी रुचि अनुकूल सकल आचरन बनावैं।
स्यामसहित निज चरनन की सेवा करवावैं॥
लौकिक परिचय कछुक दीजियो, जौ मन मानैं।
तुम कौ हम कौं स्याम सदा निज-जन करि जानैं॥

वै० कृष्ण० १, १९९५
रतनगढ़ (बीकानेर)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

उपर्युक्त पत्र किनका है, यह पता नहीं। मालूम होता है, पत्रलेखक महानुभाव मुझसे कुछ परिचित हैं। उन्होंने अपना नाम-पता कुछ भी नहीं लिखा, इसीसे 'कल्याण' के द्वारा उनके पद्यात्मक पत्रका उत्तर दिया जा रहा है। उनसे प्रार्थना है कि वे उत्तरमें लिखी तुकबंदीकी कविता-सम्बन्धी भूलोंपर ध्यान न देकर भावोंपर ध्यान दें। मैं कवित्वज्ञानसे शून्य हूँ। एक प्रार्थना और है—उन्होंने पत्रमें जो मुझको प्रणाम किया है और मुझसे 'आसीस' माँगी है, इससे मुझे बड़ा संकोच हुआ है; क्योंकि मैं न तो प्रणामका अधिकारी हूँ और न मुझमें आशिष् देनेकी योग्यता है। पत्र-लेखक महोदय कृपापूर्वक भविष्यमें ऐसा न करें। —हनुमानप्रसाद पोद्दार

स्वागतकी तैयारी करो

हृदय-मन्दिरमें मनमोहनको बुलाना चाहते हो तो पहले काम, तृष्णा, लोभ, क्रोध, वैर, हिंसा, अभिमान, अहंकार, मद, ममता, आसक्ति, विषाद और मोहके दुर्गन्धभरे कूड़ेको कोने-कोनेसे झाड़-बुहारकर बाहर दूर फेंक दो और संयम, संतोष, दया, क्षमा, मैत्री, अहिंसा, नम्रता, त्याग, वैराग्य, प्रसन्नता, समता, विवेक, भक्ति और प्रेम आदि सुन्दर-सुन्दर फूलोंको चुन-चुनकर उनसे मन्दिरको भीतर-बाहर खूब सजा लो! जब सजावटमें कुछ भी कसर न रह जाय, तब उस प्यारेको जोरसे पुकारो, तुरंत उत्तर मिलेगा और उसकी मोहिनी रूप-छटासे तुम्हारा हृदय-मन्दिर उसी क्षण जगमगा उठेगा।

सरकारी नौकर अपने अफसरके, सेवक मालिकके, प्रजा राजाके, जनता नेताके, शिष्य आचार्यके, बन्धु अपने माननीय बन्धुके और पत्नी अपने प्राणाधार पतिके स्वागतके लिये अपने-अपने भावोंके अनुसार कैसी-कैसी तैयारियाँ करते हैं। फिर जो यम, वायु, अग्नि आदि लोकपालोंके भी शासक, ब्रह्मा आदि स्वामियोंके भी स्वामी, नारद, सनत्कुमार आदि नेताओंके भी नेता, देवराज इन्द्र आदि सम्राटोंके भी सम्राट्, व्यास-वाल्मीकि आदि आचार्योंके भी आचार्य, बन्धुओंमें भी परम बान्धव और पतियोंके भी परम-पति हैं—जिन एक ही सब गुणोंके अथाह सागरकी ये सब बूँदें हैं, उन सर्वगुणाधारके स्वागतके लिये भी तो कुछ तैयारी करनी चाहिये। तुम्हारी तैयारीका तभी पता चलेगा, जब तुम्हारे मनमें और कुछ भी न रहकर केवल उसका मोहन मुखड़ा देखने और कोमल चरण-स्पर्श करनेकी ही अनन्य और तीव्र लालसा रह जायगी।



'लंगर मोरि गागर फोरि गयो'

सखि ! जाने कहाँ ते अचक आय मोरि गागर फोरि गयो ॥ लं० ॥
नई चुनरिया चीर चीर करि निपट निडर पुनि आँखि दिखावै,
देख बीर ! अति कोमल बैयाँ दोउ कर पकर मरोरि गयो ॥ लं० ॥
मो ते कहे सुन एरी सुंदरी, तो समान ब्रज सुघर न कोऊ !
नख-सिख लौं छबि निरखि परखि कैं सघन कुंज की ओर गयो ॥ लं० ॥
कहँ लग कहौं कुचाल ढीठ की, नाम लेत मेरो जिया काँपत है,
नारायन मैं घनौं बरज रहि मोतियन की लर तोरि गयो ॥ लं० ॥

श्यामसुन्दर अचानक आकर गोपीकी गागर फोड़ चले। उसकी नयी चुनरीको चीर-चीरकर बाँह मरोड़ गये, उसे व्रजमें सबसे अधिक सुन्दरी बताकर उसका नख-शिख निरख-परखकर सघन कुञ्जकी ओर चले गये और जाते समय उसके हजार रोकते-रोकते मोतियोंका हार भी तोड़ गये। गोपी प्रणयकोपसे श्यामसुन्दरको 'लंगर' कहकर अपनी सखीको सब हाल सुना रही है।

धन्य हो तुम व्रजकी गोपियो, जो तुम्हारे लिये श्यामसुन्दर स्वयं पधारते हैं और अपने हाथों तुम्हारी गागर फोड़ जाते हैं। क्यों न हो ? तुमने जो इसका अधिकार प्राप्त कर लिया है ! इस लोक और परलोककी सारी भोग-वासनाओंके और जागतिक मोह-ममता, अभिमान-अहंकार, राग-रंग और नीति-रीति आदि समस्त विकारोंके विषभरे कु-रससे अपनी गागरको बिल्कुल खाली करके और कठिन नियम-संयमकी पवित्र सुधाधारासे उसे अच्छी तरह धोकर तुमने उसमें मधुर गोरस—दिव्य प्रेम-रस भर लिया है और वह मधुर रस भरा भी है तुमने केवल श्रीश्यामसुन्दरको आप्यायित करनेके लिये ही ! तभी तो प्रेमसुधाके प्यासे तुम्हारे परम प्रियतम श्यामसुन्दर नटवर वेषमें बड़ी साधनासे संचित तुम्हारे मधुरातिमधुर प्रेमरसका पान

करनेके लिये तुम्हारे समीप दौड़े आये हैं। समस्त विश्वको आनन्दित करनेवाले उस मधुर दिव्य प्रेमरसको भला, वे तुम्हारी नन्ही-सी संकुचित गगरियामें कैसे रहने दें। वे तुम्हारी गागर फोड़ डालते हैं और अपनी अनन्त महिमासे तुम्हारे प्रेमरसको (परिमाण और माधुर्य—दोनोंमें) अनन्तगुना बनाकर अनन्त मुखोंसे स्वयं उसे पान करते हैं और अनन्त हाथोंसे जगत्‌के अनन्त जीवोंको बाँट देते हैं।* सारे जगत्‌को पवित्र प्रेमका दान करनेवाली गोपी! तुम धन्य हो!

अहा! श्रीकृष्ण निपट निःशङ्क होकर तुम्हारी नयी चुनरी चीर-चीर कर डालते हैं! गोपी! तुम इससे नाराज क्यों होती हो? सच बताओ क्या तुमने यह चुनरी इसी कामनासे नहीं ओढ़ी थी कि श्यामसुन्दर आयें और तुम्हारी इस दुनियावी चुनरीके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। तुम तो सच्चिदानन्दघन नित्य-नवकिशोर श्रीकृष्णकी प्रिया सदासुहागिन हो न? फिर तुम इस अनित्य सुहागका परिचय देनेवाली दुनियावी चुनरीको कैसे ओढ़े रहती? तुम्हें तो उस दिव्य चुनरीकी चाह है, जो कभी किसी भी कालमें न पुरानी होती है और न उतरती ही है। हाँ, तुम्हारा यह अनोखा नाज अवश्य है कि तुम इस दुनियावी चुनरीको अपने हाथों नहीं फाड़ती। तुम्हारे प्रेमबलसे यह काम भी श्रीकृष्णको ही करना पड़ता है। तुम्हारे मार्गका अनुसरण करती हुई गिरधर-गोपालकी मतवाली मीराँने तो अपने ही हाथों दुनियावी चुनरीके टूक-टूक कर डाले थे। 'चुनरी के किए टूक, ओढ़ लीन्ही लोई।'

---

* परमपदपर पहुँचे हुए प्रेमस्वरूप प्रेमी भक्तोंका मधुर प्रेमरस ही भगवान्‌के द्वारा जगत्‌में विस्तृत होकर मातृप्रेम, पितृप्रेम, मातृपितृभक्ति, धर्मप्रेम, विश्वप्रेम, देशप्रेम, पतिपत्नीप्रेम, मैत्रीप्रेम आदि नाना भावोंमें पात्रानुसार परिणत होता हुआ क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमें पहुँचकर फिर अपने उद्गमस्थानकी ओर अग्रसर होता है और अन्तमें मधुर प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है। इस प्रकारके गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्धमान, सूक्ष्मतर, अनुभवरूप, अविच्छिन्न भगवत्प्रेमकी नित्य निर्मल और दिव्य धाराका जिसमें पर्यवसान होता है, वही प्रेमका अनिर्वचनीय स्वरूप है और वह भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न है।

गोपीके दिलके खुले दरवाजेपर—एकमात्र श्रीकृष्णके लिये ही खुले द्वारपर श्रीकृष्णको संकोच या डर किस बातका हो ? हाँ, वहाँ तो श्रीकृष्ण अवश्य सकुचा जाते हैं—बल्कि जाकर भी वापस लौट आते हैं, जहाँ भीतरी दिलका दरवाजा बंद होता है या उसमें दूसरोंको भी जानेकी अनुज्ञा होती है; पर तुम्हारा तो सभी कुछ श्रीकृष्णका है न ? तुम तो अपना तन-मन-धन, लोक-परलोक, सर्वस्व श्रीकृष्णके चरणोंपर ही न्योछावर कर चुकी हो न ? तुम्हारे सब कुछके एकमात्र स्वामी—आत्माके भी आत्मा केवल श्रीकृष्ण ही तो हैं। फिर वे अपनी निजकी सम्पत्तिपर अधिकार करनेमें 'निपट निडर' क्यों न हों ? और क्यों न तुम्हारी प्रेमभरी विपरीत चेष्टापर प्रणयकोप करके आँखें दिखायें ?

ओहो ! श्रीकृष्णने अपने दोनों करकमलोंसे पकड़कर तुम्हारी अति कोमल बाँहोंको मरोड़ दिया ! अरे—विषयोंकी गुलामीमें लगे हुए हम पामर प्राणियोंकी भुजाएँ न जाने किन-किन पातकी चरणोंकी सेवामें लगी हैं ! न जाने अबतक इन हमारी भुजाओंने कैसे-कैसे दूषित हृदयोंका आलिङ्गन कराया है ! हमारी ये असती भुजाएँ कभी प्यारे श्रीकृष्णकी सेवाके लिये नहीं ललचायीं ! प्रियतम श्यामसुन्दरको अँकवारमें भरनेके लिये आकुल होकर ये कभी नहीं फैलीं। गोपी ! तुम्हारी भुजाएँ तो सती हैं, वे विषयोंसे सर्वथा विमुख हैं। वे एक श्रीकृष्णको छोड़कर और किसीके लिये कभी नहीं फैलतीं। इसीसे श्रीकृष्ण आते हैं और तुम्हारी उन बाँहोंको पकड़कर, अहाहा ! अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर तुम्हें अपने हृदयके एकान्त मन्दिरमें विराजित कर लेना चाहते हैं ! अनादिकालसे जीवकी जीवनधारा जिस अचिन्त्यके हृदयमें प्रवेश करनेके लिये, जिस अनन्त आनन्दसागरमें अपनेको मिलाकर अनन्तरूप बन जानेके लिये ही बह रही है, क्या उस अचिन्त्य हृदयमें प्रवेश करना तुम्हें अवाञ्छनीय है ? नहीं, नहीं, अवाञ्छनीय क्यों होता ? पर तुम सकुचाती हो ! यद्यपि तुम परमशुद्धा हो, इतनी पवित्र हो कि तुम्हारी चरणधूलि बड़े-से-बड़े महापातकीको पलभरमें पतितपावन बना सकती है, बड़े-बड़े देवता और ज्ञानी देवर्षि-महर्षि तुम्हारी दुर्लभ चरण-रजकी कामना करते हैं, फिर भी तुम इस संदेहसे कि 'कहीं मेरे हृदयमें अपने

सुखकी वासनाका तो कोई कण छिपकर नहीं रह गया है' सकुचा जाती हो। निज-सुखकी वासना तो प्रेममें कलङ्क है न ? सच्चे भक्तका यही तो आदर्श है। वह सोचता है कि रंचमात्र भी विषय-वासना हृदयमें रहते यदि भगवान् मिल गये तो भगवान्के मिलनका मूल्य ही घट जायगा। इसीलिये वह कहता है—'ठहरो प्रभु ! अभी मैं तुम्हारे दर्शन पानेके योग्य नहीं हूँ। जब मैं अपना सारा हृदय पूर्णरूपसे तुम्हारे लिये खाली कर दूँ, उसमें कुछ रहे तो बस, केवल तुम्हें सुख पहुँचानेवाली सामग्री ही रहे, मेरे लिये तुम्हारे सुखके सिवा और कुछ भी न रहे, तभी तुम मुझे दर्शन देना।'

गोपी ! तुम प्रेमरूपा हो, प्रेमकी अधिष्ठात्री देवी हो, प्रेमकी संस्थापिका हो—कदाचित् इसी आदर्शकी रक्षाके लिये तुम श्यामसुन्दरकी बाँहोंमें अपनेको नहीं देना चाहती; पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। तुम्हारे हृदयमें भला विषय-वासनाके लेशका कलङ्क क्यों रहने पायेगा। तुम तो कृष्णगत-प्राणा हो, कृष्णरसभावभाविता हो। हाँ, तुम बड़ी मानिनी हो, प्रेमकी हठीली हो। भला, इसी तरह श्रीकृष्णके साथ क्यों मिलने लगी ? परंतु तुम्हारे प्रेममें बड़ा आकर्षण है। सबको बरबस अपनी ओर खींचनेवाले श्रीकृष्णको भी तुम्हारा प्रेम खींच लाता है ! श्रीकृष्ण आते हैं और तुम्हारी बाँहोंको पकड़कर तुम्हें अपने हृदयमें बिठा लेना चाहते हैं। तुम मान करके पीछे हटती हो, बाँहें मरोड़ खा जाती हैं और छूट जाती हैं। धन्य-धन्य ! गोपी ! प्रेमकी ध्वजा गोपी ! तुम्हारी जय हो, जय हो !

अहा ! तुम प्रेमी भक्तोंमें सर्वशिरोमणि हो। तुम्हारे प्रेममें कितना सामर्थ्य है जो सर्वशक्तिमान् अचिन्त्यबल भगवान् भी अपनी शक्ति भूलकर तुम्हारे दिव्य प्रेमसे खिंचे हुए स्वयं आतुर होकर तुमसे मिलनेको चले आते हैं ! सचमुच तुम अप्रतिम सुन्दरी हो ! तुम्हारी जिस सुन्दरताने मुनिमन-मोहन मदनमोहन मोहनके चिन्मय मनको भी मोह लिया, उस तुम्हारी सुन्दरताका बखान सच्चे सौन्दर्यके पूरे पारखी श्रीकृष्ण क्यों न करें। वे लोग भूले हुए हैं, जो तुम्हारे इस दिव्य सौन्दर्यको पार्थिव शरीरकी बाहरी बनावट समझते हैं। तुम तो दिव्य सुन्दरतामयी ही हो। सबसे सुन्दर तो तुम्हारा

वह हृदय है, जिसमें प्रकृतिजन्य अहंता-ममता, राग-द्वेष, मद-अभिमान, लोभ-मोह, ईर्ष्या-मत्सरता, काम-क्रोध, चिन्ता-विषाद और सुख-दुःख आदिका संस्कार भी नहीं है और जो समस्त दैवी सम्पदाके परम सार एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रेमकी महिमामयी माधुरीसे ही मण्डित है ! तुम्हारे इस परम सुन्दर अन्त-स्तलका ही आभास तुम्हारे मोहन-मोहन मुखड़ेपर, तुम्हारे नचीले-नुकीले नेत्रों-पर, तुम्हारी घुघराली काली अलकावलीपर और तुम्हारे अतुलनीय अङ्ग-अङ्गपर छाया है। इसीसे तुम विश्वमोहन-मोहिनी हो। इसीसे श्रीकृष्ण तुम्हारी नख-शिख छवि निहारनेको नित्य लालायित रहते हैं। वे बड़े पारखी हैं, इसीसे वे किसीकी बाहरी सुन्दरतापर मुग्ध नहीं होते। उन्हें तो निर्मल हृदयकी परम निर्मल माधुरी चाहिये। ऐसी सुन्दरता हो जो केवल सुन्दरतासे ही बनी हो; तभी वे उसपर मोहित होते हैं। बड़े रिझवार न ठहरे, गोपी ! इसीसे वे तुम्हारी मोहिनी माधुरीपर मुग्ध हैं !

सघन कुञ्ज ही तो उनकी नित्यविहार-स्थली है। जिस कुञ्जमें घनता नहीं है—जहाँकी बातें बाहर दीखती-सुनती हैं और जिसमें बाहरवालोंका प्रवेश सम्भव है, वहाँ वे सच्चिदानन्दघन कूटस्थ कैसे रह सकते हैं। घनता और अनन्यतामें ही उनका निवास होता है, इसीसे तो भक्तलोग अपने हृदयको भी सघन कुञ्ज ही बनाया करते हैं !

अहाहा ! तुम जब उन्हें 'लंगर' और 'ढीठ' कहती हो, तब तुम्हारी रसनासे कैसा मधुर रस बरसता है। बलिहारी तुम्हारे प्रेमपर ! तभी तो वे 'कुचाल' करके तुम्हारे बरजते-बरजते तुम्हारी 'मोतियनकी लर तोड़कर' झट सघन कुञ्जमें जा छिपते हैं। मीराँने तो अपने हाथों 'मोती-मूँगे उतार बन-माला पोयी' थी। हाँ, तुम्हारा गौरव इतना बढ़ा हुआ है कि तुम्हारी मोतीकी लड़ तोड़ने भी उन्हें स्वयं आना पड़ा ! वह मोतीकी लड़ ही कैसी, जिसके लिये श्यामसुन्दरको अपनी मनमानी करते रुकना पड़े, और फिर ऐसी प्रति-बन्धकरूप मोतीकी लड़को श्यामसुन्दर क्यों न तोड़ डालें ? गोपी ! तुम्हारा मोतीका हार क्या तुम्हारे शृङ्गारके लिये है ? नहीं, तुम्हारा तो भोग-त्याग, जीवन-मरण——सभी कुछ श्रीकृष्णसुखके लिये है। तब श्रीकृष्ण यदि उस

मुक्ताहारको तोड़कर सुखी होना चाहते हैं तो तुम उन्हें बरजती क्यों हो ? अरी, तुम बरजती नहीं; यह तो तुम्हारी नखरेबाजी है। तुम इसलिये नहीं बरजती कि मोतीके हारपर तुम्हें मोह है; तुम तो बार-बार उन्हें बरजकर अधिकाधिक रसानुभव करना-कराना चाहती हो ! उनका नाम लेते तुम्हारा हृदय इसलिये नहीं काँपता कि वे तुम्हारे साथ बरजोरी करते हैं। श्यामकी बरजोरी तो तुम्हारे मनकी नित्यकी साध है। पूर्ण समर्पण कोई कर नहीं सकता, वह तो बरजोरीसे ही करा लिया जाता है। बस, समर्पणकी तैयारीभर होनी चाहिये। तुम्हारा तो हृदय सदा समर्पणकी ही माला जपता है। उसका प्रकम्प बस, वह जाप ही है, जो सघन कुञ्जसे उन्हें लौटानेके लिये या वहाँ स्वयं पहुँच जानेके लिये तुम कर रही हो। उनकी विरह-वेदनासे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी विकलताभरी चञ्चलता—तुम्हारे हृदयका छटपटाहटभरा प्रतिपलका वह प्रेम-स्पन्दन ही तुम्हारे जीका काँपना है !

गोपी ! घबराओ नहीं, श्यामसुन्दर तुम्हें अवश्य मिलेंगे। नहीं-नहीं, वे तो तुम्हें मिले ही हुए हैं। वे तुममें हैं, तुम उनमें हो ! तुम्हारा-उनका बिलगाव कभी होता ही नहीं। तुमसे मिले रहनेमें ही उनकी 'श्यामसुन्दरता' है, और उनसे मिली रहती हो, इसीसे तुम 'गोपी' हो। यह तो तुम्हारी लीला है जो जीवोंके कल्याणार्थ तुम अनायास ही करती हो। देवी ! आनन्द-चिन्मय-रस-भाविता भगवती ! श्रीकृष्णकी ही आनन्द-लीलामयी श्रीमूर्ति मेरी माँ ! ऐसी अमोघ कृपा करो, जिससे इस पामर प्राणीको भी तुम्हारे गोपी-प्रेम-प्रासादके रासमण्डपमें एक झाड़ू देनेवाली अनुचरीका काम मिल जाय और फिर कभी श्रीकृष्णदर्शनके लिये तरसता हुआ यह भी तुम्हारी ही तरह गा उठे—

कारुण्यकर्बुरकटाक्षनिरीक्षणेन
तारुण्यसंवलितशैशववैभवेन।
आपुष्णता भुवनमद्भुतविभ्रमेण
श्रीकृष्णचन्द्र शिशिरीकुरु लोचनं मे॥



तीन मधुर प्रसङ्ग

(१)

श्रीकृष्ण द्वारकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात छिड़ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्ष्या होती थी। इनकी ईर्ष्या भङ्ग करनेके लिये भगवान्ने एक लीलाका अभिनय किया। नित्य निरामय भगवान् रुग्ण हो गये। रोग भी कठिन था। वैद्यजीने औषधकी व्यवस्था की, अनुपान बतलाया 'चरणरज।' यह अनुपान कौन देता? चरणरजके लिये सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुँह मोड़ लिया। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुस्साहस कौन करता। देवर्षि नारदजीको भेजा गया विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास। परंतु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुस्साहस करे। नारदजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्ने कहा, 'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' नारदजीको बात बहुत नहीं भायी। परंतु भगवान्का कहना था, व्रज जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं, सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही दौड़ीं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी अस्वस्थताकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने कहा—

'क्यों, क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी तैयार है; परंतु अनुपान नहीं मिलता।' —नारदजीने कहा।

'ऐसा क्या अनुपान है?'

'अनुपान बहुत ही दुर्लभ है, सारे जगत्‌में चक्कर लगा आया। है सभीके पास, पर कोई भी देना नहीं चाहता या दे नहीं सकता।'

'कहिये, कहिये भगवन्! क्या वह अनुपान हमलोगोंके पास भी है? होगा तो हम अवश्य ही देंगी', व्रजगोपियोंने व्याकुल होकर कहा।

'तुम नहीं दे सकोगी।'

'जिसे उनको न दे सकें, ऐसी हमारे पास कोई वस्तु कैसे रह सकती है?'

'अच्छा! क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूल दे सकोगी। इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नाश होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं; जितनी चाहिये, चरणधूलि अभी ले जाओ'—गोपियोंने सरल हृदय और उत्साहसे कहा। "अरी, करती क्या हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्‌को चरणधूलि दे रही हो? वे जगत्पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?" नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारी मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई—सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकोंमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुनः स्वस्थ और सबल पा सकें तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं, नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर (अघ-असुर), नरकासुर (नरक-असुर) आदिको तो पहलेसे ही मार रक्खा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं एकमात्र हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीलाविलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीलाविलासके अंदर शरीरमें मल लिया। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

नारदका वक्षःस्थल पवित्र प्रेमधारासे धुल गया। नारदजीने गोपाङ्गनाओंसहित श्रीश्रीराधारानीके चरणोंकी रज लेकर थोड़ी-सी तो अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें लगायी और शेष बची हुईको पोटली बाँध ली, विश्वेश्वरकी

ऐश्वर्य-व्याधिके विनाशके लिये। गोपीपदरजके स्पर्शसे परमोज्ज्वल-तनु होकर जब नारदजी चरणधूलिकी पोटलीको मस्तकपर रक्खे द्वारकामें पधारे, तब द्वारकामें आनन्दकी लहर बह चली। चरणरजके अनुपानसे श्रीकृष्णने औषध ली और सहज ही निरामय हो गये। महिषियोंका मान भङ्ग हो गया, उन्होंने आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे गोपीप्रेमकी अपार अतलस्पर्शी गम्भीरता और मधुरिमाको देख लिया और श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात छिड़ते ही क्यों तन-मनकी सुधि भूल जाते हैं, इसका रहस्य भी उनकी समझमें आ गया! धन्य प्रेमयोग! (उज्ज्वलभारत)

(२)

एक समय श्रीधाम द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति प्रधान अष्ट राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका, तब बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जाग्रत् किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किंचित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुनः निद्रित हो गये; परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं, 'देखो, हम सब मिलाकर सोलह सहस्र एक सौ आठ महिषियाँ हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं हैं; तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है! रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं, वह रमणी भी न जाने कितनी रूप-गुणवती होगी।' इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं, 'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधा-नाम्नी एक गोपकुमारी है, उसके प्रति हमारे प्राणेश्वर अत्यन्त आकृष्ट हैं; इसीलिये रूप-लावण्य-वैदग्ध्य-पुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक-चित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुणग्राम

भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं, 'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं; फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमाताको पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा; क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुरमें पधारकर स्नानादि करके समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखा-वृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किंचित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। इस अवसरको पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रज-वृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं, 'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी अधिकांश घटनाएँ जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं, 'माताजी! जिस किसी प्रकार भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो—सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो, किसीको अंदर न आने दे; फिर मैं निस्संकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी।' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा, 'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीला वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके, तब उत्कण्ठितचित्त होकर अन्तःपुर-की ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा, 'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो,

हमलोग भीतर जायँ ।' श्रीमती सुभद्रादेवीने कहा, 'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रक्खा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे ।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे, तब माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी । यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परम कल्याणमय, परमपावन, अद्भुत, मङ्गलमयरासविहारात्मक थी । सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे । क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये । अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी । यह देखकर श्रीमती सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं । जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीकी अद्भुत प्रेमवैचित्र्यावस्था वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके । उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्तपद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़ विलास-वर्णन करने लगीं तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई । दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर श्रीमती सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हुई । तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल, निर्वाक्, स्पन्दरहित महाभावावस्था ! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपदावयव किंचित् भी परिलक्षित नहीं होते थे । आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया ।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम द्वारकामें आ उपस्थित हुए । उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं । देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाध गति तो है ही; अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए, उससे

देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनर्वार किसी एक रसान्तरका प्रसङ्ग उठाया, तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्यलाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना संगत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव-स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है। कहिये मैं आपका क्या प्रीति-सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने कर जोड़ प्रार्थना की—'प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुत पूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।'

भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदन-चन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृतवर्षण करने लगे—'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्नकृत्य-समापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रजलीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई उसी तरह आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्रा द्वारपालिका-रूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई, उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीराधाजीके महा-

भावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रस्त होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्‌ने जब देवर्षिसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया, तब देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ, निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जिस अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्तिका मैंने प्रत्यक्ष दर्शन किया है, वे ही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। माया-संनिपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं प्रभु-दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवन-रसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षसहित जययुक्त हो।' करुणायतन भक्तवाञ्छा-पूर्णकारी श्रीभगवान्‌ने कहा—'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और भक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्त-चूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्ति स्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्या-से प्रसन्न होकर मैं नीलाचल क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जन-साधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्ती नीला-चलक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्वजीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्तकर प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुण-माधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजी-के कथंचित् संकोचकी आशङ्का करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं। (व्रजके एक महात्मा)

(२)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें

स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्‌की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्‌के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुना करती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्‌की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्‌की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। समस्त सखियोंसहित श्रीराधाजीको उन सबके दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्‌की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा, 'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है, परंतु चकोर अनेक होते हैं; सूर्य एक होता है, परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्ता अनेक हैं।'

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियों-पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने डेरेपर लायीं और उनका यथासाध्य सबोंने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्‌की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने डेरेपर पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्‌के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वे आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा, भगवान्‌की पूरी चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी सङ्गिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्‌के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित रह गयीं। भगवान्‌से पूछनेका साहस किसीका नहीं। तब श्रीभगवान्‌ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ एकत्र होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजी-

ने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्‌से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्‌ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो, तुमलोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा, 'दूध गरम था तो, उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता; आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्‌ने मुसकराते हुए कहा, 'श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध तनिक ठंढा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।



नादब्रह्म—मोहनकी मुरली

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम्।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम्॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

'नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है।'

नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है, तभीसे नाद है। महाप्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें जब परमात्माका यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ', तभी इस अनादि नादकी आदि-जागृति होती है। यह नादब्रह्म ही शब्द-ब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव इसी नादसे होता है। नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती स्वरूपा-शक्तिसे होता है और इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव है और इसीको बीज कहते हैं।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद् बिन्दुसमुद्भवः॥
नादो बिन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः।
भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत्।
स एवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम्॥

'सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति आविर्भूत हुई, उससे नाद प्रकट हुआ और नादसे बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। वही बिन्दु नाद, बिन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है। बीजरूप बिन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ, तब उससे अव्यक्त और व्यक्त प्रकारके शब्द प्रकट हुए। व्यक्त शब्द ही श्रुतिसम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म हुआ।'

यही नाद क्रमशः स्थूलरूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत्में फैल जाता है। पाँच भूतोंमें सबसे पहले महाभूत आकाशका गुण शब्द है। यह नादका ही एक रूप है। आदि-नादरूप बीजसे ही पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति

मानी गयी है। इस स्थूल नादकी उत्पत्ति अग्नि और प्राणके संयोगसे होती है। ब्रह्म-ग्रन्थिमें प्राण रहता है, इस प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है। अग्निमें यह प्रेरणा आत्मासे प्रेरित चित्तके द्वारा होती है। तब प्राणवायु अग्निसे प्रेरित होकर नादको उत्पन्न करता है। यह नाद नाभिमें अति सूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और वदनमें कृत्रिमरूपसे आकार धारण करता है। कहते हैं कि 'न' कार प्राण है और 'द' कार वह्नि है और प्राण तथा वह्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसको 'नाद' कहते हैं।

योगी लोग इसी नादकी उपासना करके ब्रह्मको प्राप्त किया करते हैं। हठयोग-शास्त्रोंमें इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास किया जाता है। इस नादसाधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहतनाद योगियोंका परम ध्येय है। शास्त्रोंमें नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक साधन माना है। नादके बिना जगत्का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पाञ्चभौतिक जगत्में आकाश सर्वप्रधान है और आकाशका प्राण नाद ही है। इसीसे जगत्को नादात्मक कहते हैं। नादका माहात्म्य अपार है। संगीतदर्पणकी एक सुन्दर उक्ति है कि देवी सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही वक्षःस्थलमें सदा तूँबी धारण किये रहती हैं।

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥

संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है। गीत, नृत्य और वाद्य नादात्मक हैं। नादद्वारा ही वर्णोंका स्फोट होता है। वर्णसे पद और पदसे वाक्य बनता है। इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं, सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं। इसीसे अवतारविग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों-करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि

सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है। चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था। श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही यह नादावतार था। इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधाममें जडको चेतन और चेतनको जड बना दिया। मोहनके वेणुनिनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्धमें, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें प्रेमानन्द भर दिया। उस वंशीनादको सुनकर विमानोंपर चढ़ी हुई सुरबालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया। वे सहसा मुग्ध हो गयीं। उनकी कबरियोंमें खोंसे हुए नन्दनकाननके कमनीय कुसुम हठात् वहाँसे खिसककर मर्त्यभूमिपर गिर पड़े। गन्धर्व-कन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं। ऋषि, मुनि, तपस्वी, परमहंस, योगियोंकी ब्रह्म-समाधि भङ्ग हो गयी। बरबस उनका मन वीणा-स्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न हो गया। सुधाकरकी चाल बंद हो गयी। श्रीकृष्णके उस वेणुविनिर्गत ब्रह्मनादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंको खींचना छोड़कर केवल उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ चरना भूल गयीं। सुरम्य वृन्दारण्यके विहंगोंने मधुर काकलीका त्याग करके वंशीध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये आँखें मूँद लीं और श्रवणपात्रोंका मुख उस सुधाधाराके प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-मृगादि वनचर प्राणी भय और हिंसा भुलाकर मुरलीमनोहरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंको अतृप्त बोध करने लगे। महिषी कालिन्दी अपनी ऊर्मि-भुजाओंको फैलाकर परम प्रियतमका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ पड़ीं। इस प्रकार दिव्य धामकी दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन जीव जडवत् अचल हो गये और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्ष ही नहीं, सूखे काठतक रस बरसाने लगे। सूरदासजीने कहा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यौ।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यौ॥
स्वरग पताल दसौं दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौ।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई, गोपिन कौं सुख दीनौ॥

जड़सम भए जीव जल थल के, तनकी सुधि न सम्हारा ।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब व्यवहारा ॥

एक गोपी रसोई बना रही थी, इतनेमें मोहनकी मुग्धकारिणी मुरली बजी । मुरलीध्वनिके साथ ही मुरलीधरकी मधुर छबि गोपीके ध्यान-नेत्रोंके सामने आ गयी । इधर उस रसवर्षिणी मुरलीध्वनिने रस बरसाकर चूल्हेकी सारी लकड़ियोंके हृदयको गीला कर दिया, उनमेंसे रस बहने लगा । आग बुझ गयी । परम भाग्यवती सच्चिदानन्द-प्रेमिका गोपी प्रेमका उलाहना देती हुई-सी बोली—

मुरहर ! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम् ।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम् ॥

'हे मुरारे ! भला, भोजन बनाते समय तो कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो । देखो, तुम्हारी मुरलीध्वनिसे मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हेकी आग बुझ जाती है ।' इस जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया । महान् योगी भी इससे नहीं बचने पाये । बचते भी कैसे ? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है । वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा ।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥

'निर्बीज-समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर विजयदुन्दुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है ।'

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था जो वे इस वंशी-ध्वनिको सुनते थे । और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी

ईर्ष्या करते हैं, जिनका आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परंतु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। संध्याको गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, उस समय व्रज-बालाओंके झुंड-के-झुंड घरोंसे निकलकर रास्तोंमें उनकी प्रतीक्षा करते थे। एक दिन एक नवीन व्रजगोपी मुरलीध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर दरवाजेपर खड़ी थी; उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका व्याजसे बखान करती हुई दूसरी महाभागा गोपी कहती है—

सुनती हौ कहा, भजि जाहु घरै, बिंध जाओगी नैनके बानन मैं।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिष सौं बगरावति है बिष प्रानन मैं॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू, भँवरौ जब मीठी-सी तानन मैं।
कुलकानि जो आपनि राखि चहौ, दै रहौ अँगुरी दोउ कानन मैं॥

वंशीनादसे आकृष्ट गोपीजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर रूपसे किया है। भागवतका वेणु-गीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें-सुनें।

भक्त रसखान कहते हैं—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रँगभीनी।
तान सुनी जिनहीं, तिनहीं तबहीं कुल-लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी-घरी नंदके द्वार, नवीनी कहा कहूँ बाल प्रबीनी।
या ब्रजमंडलमैं रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥
बजी सुबजी रसखानि बजी, सुनिकै अब गोकुल-बाल न जीहै।
न जीहै कदाचित कानन कौं, अब कान परी वह तान अजी है॥
अजी है, बचाऔ, उपाय नहीं, अबलापर आनि कै सैन सजी है।
सजी है हमारौ कहा बस है, जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥
आजु अली एक गोपलली भइ बावरि, नैकु न अंग सँभारै।
मातु अघात न देवन पूजत, सासु सयानि सयानि पुकारै॥
यौं रसखानि फिरी सगरे ब्रज, आन कुआन उपाय बिचारै।
कोउ न कान्हरके करतें वह बैरन बाँसुरिया गहि डारै॥

ऐ सजनी वह नंदकुमार सु या बन धेनु चराइ रह्यौ है।
मोहनी तानन गोधन गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यौ है॥
ताही समै कछु टोनौं करौ, रसखानि हिये सु समाइ रह्यौ है।
कोउ न काहु की कानि करै, सिगरौ ब्रज बीर बिकाइ रह्यौ है॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित व्रजधामकी कुछ कल्पना भक्त कविके उपर्युक्त शब्दोंसे की जा सकती है। एक गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—

अब कान्ह भए बस बाँसुरिके, अब कौन सखी हम कौं चहिहै।
वह रात दिना सँग लागी रहै, यह सौत कौ सासन को सहिहै॥
जिन मोह लियौ मन मोहन कौ, रसखानि सु क्यौं न हमैं दहिहै।
मिलि आऔ सबै कहुँ भाजि चलैं, अब तो ब्रजमें बँसुरी रहिहै॥

दूसरी एक बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना करके और उसे वंशका नाम बिगाड़नेवाली बतलाती हुई कहती है—

वै मगदायक अंधनि के, तुम अच्छिनहू की सुचाल बिगारयौ।
वै जलथाह बताव्रत हैं, तुम प्रेम अथाह के बारिधि पारयौ॥
वै बर बास बसाय भले, तुम बास छोड़ाय उजार मैं डारयौ।
का कहिये, हरिकी मुरली ! तुम आपने बंसकौ नाम बिगारयौ॥

दूसरी कहती है—अरी मुरली ! तेरे सौभाग्यका क्या कहना है—

अधर सेज नासा बिजन स्वर मिस चरन दबाय।
अरी सोहागिनि मुरलिया ! लियो स्याम बिलमाय॥

तीसरी एक मुरलीके साथ ईर्ष्या करती हुई बड़े विनययुक्त शब्दोंमें मुरलीसे पूछती है—

मुरली ! कौन तप तैं कियौ।
रहत गिरधर मुखहि लागी, अधर कौ रस पियौ॥
नंदनंदन पानि परसे तोहि तन मन दियौ।
सूर श्रीगोपाल बस किए, जगत मैं जस लियौ॥

मुरली उत्तर देती है—

तप हम बहुत भाँति करयौ ।
हेम बरषा सही सिर पैं, घाम तनहि जरयौ ॥
काटि बेधी सप्त सुर सौं, हियौ छूछौ करयौ ।
तुमहि बेगि बुलायबे कौ लाल अधरन धरयौ ॥
इतने तप मैं किए तबहीं, लाल गिरधर बरयौ ।
सूर श्रीगोपाल सेवत सकल कारज सरयौ ॥

'मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सहती रही, ग्रीष्मकी ज्वालामें मैंने तनको तपाया। काटी गयी, शरीरको सात स्वरोंसे बिंधवाया। हृदयको शून्य कर दिया। कहीं कोई गाँठ नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर लालने मुझको वरा है।'

प्राणधन श्रीगोपालके अधरामृतका पान चाहनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी इस साधनाका अनुकरण करना चाहिये। याद रहे, जबतक लौकिक सुख-दुःखमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक प्रियतम प्रभुके लिये तन-मनकी बलि नहीं दे दी जाती, जबतक हृदयको अन्य वासना-ग्रन्थिसे सर्वथा शून्य नहीं कर लिया जाता, तबतक प्रियतमके मधुर आलिङ्गनका सुख हमें नहीं मिल सकता।

परंतु जो मुरलीकी भाँति साधनमें प्रवृत्त होगा, वही इस मधुर ध्वनिको भलीभाँति सुन सकेगा। वृन्दावनके प्रातःस्मरणीय भगवत्-सखाओंने और अन्तरङ्ग शक्ति गोपीजनोंने अपनेको इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुन पाया था।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है। 'कलं वामदृशां मनोहरम्।' इस कलपदामृत वेणुगीतसे 'क्लीं' पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल=क्ल। इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करनेपर क्ली बनता है। यह मनोहर है यानी मनके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रको या चन्द्रबिन्दुको हरण करता है। अतएव क+ल+ई+ंके संयोगसे 'क्लीं' बनता है। यह 'क्लीं' कामबीज

है । मुरलीध्वनि यही कामबीज है । यह काम भगवत्-काम है, अतएव साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है । व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ-मन्मथ मदन-मोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न अपने भक्त-साधकोंमें इस कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सब कुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं । साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माका पतन करनेवाले, विषय-विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्के जीवोंको भी उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये इस चिन्मय नादका संचार करते हैं । कामबीजकी बड़ी महिमा है । भगवान्का सृष्टि-संकल्प ही कामबीज है । यही नादस्वरूप है । इसीसे सृष्टि होती है और यही जगत्-स्वरूप बन जाता है । शास्त्र इस 'क्लीं'रूप कामबीजसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए इसका स्वरूप-निर्देश करते हैं—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी ॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम् ।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम् ॥

"'क' कार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं । 'ई' कार महाभाव-स्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं । 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है और नाद-बिन्दु इस माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करनेवाले हैं ।"

यह श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है । यह आत्म-रमण है । ('आत्मारामोऽप्यरीरमत्') यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द भगवान्की लीला है । इस लीलाका विकास 'क्लीं' रूप मुरलीनिनादसे ही होता है । यह मुरलीनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है । ब्रह्मरूप है, यही नादब्रह्म है ।



मधुर-स्वर सुना दो !

प्यारे व्रजेन्द्र-नन्दन ! तुम्हारी विश्व-जन-मन-मोहिनी मुरलीके मधुर स्वरमें कितनी मादकता है ! जिसके कर्णरन्ध्रमें एक बार भी वह स्वर प्रवेश कर जाता है, उसीको तुरंत पागल बना देता है। वह फिर संसारके विषय-जन्य मन्द रसोंको विस्मृतकर एक दिव्य रसका आस्वाद पाता है । लज्जा-संकोच, धैर्य-गाम्भीर्य, कुल-मान, लोक-परलोक—सभी कुछ भूल जाता है। उसके लिये तुच्छ पार्थिव विलास-रस सम्पूर्णरूपसे विनष्ट होकर एक अपूर्व स्वर्गीय अलौकिक रसका प्रादुर्भाव हो उठता है, उसकी चित्त-वृत्तियोंकी सारी विभिन्न गतियाँ रुक जाती हैं और वे सब-की-सब एक भावसे, एक ही लक्ष्यकी ओर, एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। एक ऐसा नशा शरीर-मनपर छा जाता है कि फिर जीवनभर वह कभी उतरता ही नहीं; जब कभी उतरता है तो 'अहम्' को लेकर ही उतरता है। ऐसे ही नशेमें चूर भाग्यवती व्रज-बालाओंने कहा था—

दूध दुह्यौ सीरौ पर्यौ तातौ न जमायौ बीर
जामन दयौ सो धर्यो धर्योई खटायगौ।
आन हाथ आन पाय सबही के तबही ते,
जबही ते 'रसखानि'ताननि सुनायगौ॥
ज्यौं ही नर त्यौं ही नारी, तैसी ये तरुनि बारी,
कहिये कहा री, सब ब्रज बिललायगौ।
जानिये आली ! यह छोहरा जसोमति कौ,
बाँसुरी बजायगौ कि बिष बगरायगौ॥

—रसखानि

जिस शुभ क्षणमें व्रजमण्डलमें तुम्हारी वंशी बजी, उस क्षण व्रजके प्रेमी जीवोंकी क्या दशा हुई थी—इस बातका मधुरातिमधुर अनुभव उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको होता है। हमलोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सुनते हैं कि तुम्हारी उस वंशी-ध्वनिने जडको चैतन्य और चैतन्यको जड बना दिया था, सारे

कामियोंको विशुद्ध प्रेमी बना दिया था। तुम्हारे मुरली-निनादको सुनकर सांसारिक भोगोंकी सबकी सारी कामनाएँ क्षणभरमें नष्ट हो गयी थीं और संसारके प्रिय-से-प्रिय पदार्थोंको तृणवत् त्यागकर सबका चित्त केवल एक तुम्हारी ओर ही लग गया था। यही तो सच्चा प्रेम है। जब तुम्हारे लिये—तुम्हारे प्रेमके लिये अपने सारे सुख, सारे भोग, सारे आनन्द—यहाँतक कि मुक्तितकका त्याग करनेकी तैयारी होती है, तभी तो तुम्हारा प्रेम प्रस्फुटित होता है। फिर संसारमें रहने या उसके त्याग करनेसे कोई मतलब नहीं रह जाता। फिर तो तुम जहाँ जिस तरह रखना और जो कुछ भी करवाना चाहते हो, उसीमें परम सुख मिलता है; क्योंकि फिर जीवनका ध्येय केवल तुम्हारी रुचि और इच्छाका अनुसरण करनामात्र रह जाता है। यही तो दशा प्रेमकी है। भोगमें रहकर भोगोंको अपना भोग्य न समझना, संसारमें रहकर संसारको भूल जाना, जगत्‌में रहकर अपने आपको सारे जगत्‌सहित तुम्हारे चरणोंमें अर्पण कर देना, केवल तुम्हारा होकर तुम्हारे लिये ही जीवन धारण करना और सँपेरेकी पूँगी-ध्वनिपर नाचनेवाले साँपके समान निरन्तर प्रमत्त होकर वंशी-ध्वनिके पीछे-पीछे अप्रमत्तरूपसे नाचना जिसके जीवनका स्वभाव बन जाता है, वही तो तुम्हारा प्रेमी है। कहते हैं, फिर उसको तुम्हारी वंशी-ध्वनि नित्य सुनायी देती है, क्षण-क्षणमें तुम्हारा मन-मोहन मुरली-स्वर उसे पथ-प्रदर्शककी मसालके समान मार्ग दिखलाया करता है। वे प्रेमी महात्मा धन्य हैं, जो तुम्हारे इस प्रकारके प्रेमको प्राप्तकर त्रैलोक्यपावन पदवीपर पहुँच चुके हैं।

हम तो नाथ! इस प्रेम-पाठके अधिकारी नहीं हैं। सुना है कि परम वैराग्यवान् पुरुष ही इस प्रेम-पाठशालामें प्रवेश कर सकते हैं। नहीं तो, यह प्रेमका पारा फूट निकलता है और सारे शरीर-मनको क्षत-विक्षत कर डालता है। प्रेमका पारा वैराग्यसे ही शुद्ध होता है। वैराग्यके अभावमें तो नीच काम प्रेमके सिंहासनपर बैठकर सारी साधनाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतएव प्रभो! भोगोंमें

फँसे हुए, हम संसारी जीव इस दिव्य-प्रेम-लीलाकी बात करनेका दुस्साहस कैसे कर सकते हैं। हम तो दीन-हीन, पतित पामर प्राणी हैं। तुम्हारे पतित-पावन स्वरूपपर भरोसा किये दरवाजेपर पड़े हैं, परंतु नाथ! हममें न श्रद्धा है, न भक्ति है और न प्रेम है। फिर किस मुँहसे तुमसे कहें कि प्रभो! तुम हमारी रक्षा करो। तुम भक्तोंके परम सखा हो; जो जगत्का सारा भरोसा छोड़कर केवल तुम्हारी दयापर ही निर्भर करते हैं, उनकी तुम रक्षा करते हो। हम तो संसारासक्त भक्तिविहीन दीन प्राणी हैं। किस साहससे तुमसे उद्धारके लिये प्रार्थना करें? परंतु नाथ! तुम दीनबन्धु हो, तुम अनाथ-नाथ हो, तुम अकारण ही कृपा करते हो। सुना है कि तुम केवल दुखियों और दुराचारियोंका दया या दमनके द्वारा परित्राण करनेके लिये ही जगत्में बार-बार अवतार लेते हो। प्रभो! हम-सा दुखी और दुराचारी और कौन होगा? दुखियोंके दुःख और पतितोंके पातक तुम्हारे सिवा कौन नाश करेगा? तुम्हीं तो अशरणके शरण और अनाथके नाथ हो। तुम्हीं तो अगतिके गति और निर्बलके बल हो। तुम्हीं तो स्नेहमयी जननीकी भाँति अपनी दुर्गुण संतानसे स्नेह करनेवाले हो। प्रभो! बताओ, तुम्हें छोड़कर इस विपत्तिपङ्कसे निकालनेके लिये किसको पुकारें? ऐसा कौन है, जो तुम्हारी तरह बिना ही हेतु दया करता है? प्रभो! हमें इस दुःख-सागरसे पार करो, बचाओ। नाथ! तुम्हींने पापानलसे संतप्त पतित अजामिलको एक ही नामसे प्रसन्न होकर पावन कर दिया था, तुम्हींने जलमें अनाथकी भाँति डूबते हुए गजेन्द्रकी दौड़कर रक्षा की थी और तुम्हींने भरी सभामें विपद्ग्रस्त द्रौपदीकी लाजको बचाया था।

इसलिये हे दीनबन्धु! अब तुम अपनी ओर देखकर ही हमें अपनाओ और हे नाथ! दयाकर एक बार तुम्हारी उस मोहिनी मुरलीका वह उन्मादकारी मधुर स्वर सुना दो, जिसने व्रजवनिताओंको श्रीकृष्णगतप्राणा बना दिया था!

वह दिन कब आयेगा ?

प्यारे नटवर ! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवाञ्छित वह सुदिन कब आयेगा ? दुलारे चितचोर ! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा, जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनूप रूपमाधुरीका पान करके अन्य किसी भी छविको न देख सकेंगे ? अहा ! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा, जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मोहन मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहिनी चटकीली चाँदनीसे विश्वको चमका देगा । उस समय कोयल पञ्चम स्वरसे 'कुहू-कुहू' की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी । पपीहा 'पी कहाँ'की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा । मोरके शोरसे सहसा हृदयमें चोट लग जायेगी । योगी चञ्चल चितवनसे उस नवीन चन्द्रकी ओर त्राटक लगा लेंगे और प्रकृतिदेवी उस अलौकिक सौन्दर्यकी झाँकीपर थिरक-थिरक नाचने लगेगी ।

भक्त-मन-चोर ! सच कहना, यह चोरीकी कला तुमने किससे और कब सीखी ? सुनते हैं, तुम व्रज-ललनाओंसे बड़े इठलाते हो, उनका माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि उनका सर्वस्व लूट लेते हो ! यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हारी इस लूटपाटका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ ? क्या मैं भी तुमसे कह सकता हूँ कि ऐ अनोखे चोर ! मेरा भी 'चित्त' चुरा लो ? क्या मेरी ओरसे तुम्हारा नाम 'मन-चोर' न पड़े ?

× × × ×

गोपीकुमार ! वह समय कब आयेगा, जब मैं तुम्हें कदम्बपर मन्द-मन्द हास्य करते हुए बाँसुरीका मधुर तान छेड़ते सुनूँगा, जिसे

सुनकर व्रजललनाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र, कुटुम्ब-परिवारको परित्याग कर तुम्हारी ओर बलात्कारसे खिंच जाती थीं। लीलामय ! सुना है, तुम्हारी मुरलीमें विचित्र आकर्षण है ! उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है। बाँसुरी तो मैंने बहुत सुनी है, पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती है ! देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको सुनकर स्तब्ध हो खाना-पीना भूल जाते हैं !

सुना है, अब भी तुम वृन्दावनकी कुञ्जोंमें वही राग-तान छेड़ते हो और भाग्यवान् भक्तोंको अब भी तुम्हारी वंशीकी ध्वनि स्पष्टतया सुनायी देती है। यदि तुम्हारी कृपादृष्टि हो गयी तो तुम उन्हें अपने मोहन मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो। पतितपावन ! क्या मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा ? क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम-पथ-पथिक तुम्हारे प्रेम-पथसे गुमराह हो जाय और कँटीले जंगलोंमें भटकता रहे ? यह तो बिल्कुल सच है कि मेरे अंदर व्रजललनाओंका-सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम-लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्त्तनाद नहीं, प्रह्लाद-की-सी अनन्यता, निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी-सी पुकार नहीं, सूरदासकी-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं; फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित। यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से-पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते तुमसे कहता हूँ और करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन कब आयेगा, जब तुम इस पतितका उद्धार करके अपने पतितपावन नामको सार्थक करोगे ?

मेरे हृदयके राजा ! वह दिन कब आयेगा जब मैं सांसारिक झंझटोंको छोड़, विषयोंसे मुख मोड़, सोनेकी बेड़ी तोड़ तुम्हारे पादपद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा ? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करके शान्ति-लाभ करूँगा, तुम्हारे कमलनयनोंको देखकर तृषित नेत्रोंको शान्त करूँगा, तुम्हारे मुखकमलको निरख-निरख कलेजेकी कसकको मिटाऊँगा और तुम्हारी

सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्दका अनुभव करूँगा, जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिलकर वर्णन नहीं कर सकतीं।

वह दिन कब आयेगा, जब मैं भी बिल्वमंगलकी नाईं कहूँगा—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे और मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा, जबतक तुम पकड़े न जाओगे।

मेरे जीवनाधार! अब न तरसाओ! बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक सीमा होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है। 'का बरषा सब कृषी सुखानें?' यदि मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो; मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। देखते-देखते आँखें फूट गयीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया, पर तुम न आये! हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं और प्रेम-शय्या भी बिछी है, तुम जब चाहो उसपर शयन कर सकते हो। तुम्हें यह कहनेका भी अवसर नहीं मिलेगा कि 'द्वार खटखटाया, पर उत्तर न मिला।' द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तंग करते हैं; पर तुम्हारे ही कारण मैंने उसे खोल रक्खा है और तबतक खुला रक्खूँगा जबतक उनका तनिक भी अस्तित्व रह जायेगा। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तब भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा। अवश्य ही अब मैंने समझा, तुम्हारे कर्णरन्ध्र-तक मेरी करुण पुकार नहीं पहुँची है; नहीं तो, तुम अपना वाहन छोड़ पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रक्खो, यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते।

प्रान तृषातुर के रहैं, थोरेहु जल दान।
पाछैं जल भरि सहस घट डारेहुँ मिलैं न प्रान॥



एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है। उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर भगवान्‌में एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजमें ही हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता

होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संत-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा—यह शङ्का सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है, परंतु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। विवेक—ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक षट्सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है, वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द—ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध* होनेपर भी प्रकारभेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीडित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, तब उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्—परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना—इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे—इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी

---

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले पथिककी भाँति मैं भी धन्य हो जाऊँगा—इस प्रकारकी मूढ़-मतिवालोंकी बुद्धिको 'अतिमन्द मुमुक्षा' कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।' इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न करके उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन-धर्म-कर्म—सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने-आपको प्रियमिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बंसरी नन्दकिशोर॥

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है;

वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको बलात् तत्काल ही तोड़ डालता है । प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी ! घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन-बन फिरना बेहतर हमको, रतन-भवन नहिं भावै है ।
लता तले पड़ रहने में सुख नाहिंन सेज सुहावै है ॥
सोना कर धर सीस भला, अति तकिया ख्याल न आवै है ।
'ललितकिसोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है ॥

अब बिलंब जनि करौ लाड़िली ! कृपा-दृष्टि टुक हेरौ ।
जमुना-पुलिन गलिन गहवर की बिचरूँ साँझ सबेरौ ॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी, रसिकन ते भट-भेरौ ।
'ललितकिसोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरौ ॥

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मन महँ धारूँ ।
बंसीबट, कालिंदी-तट, नट-नागर नित्य निहारूँ ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ ।
परमानंद भूलि सगरौ जग, स्यामहि स्याम पुकारूँ ॥

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है !



प्रियतमसे प्रार्थना !

मनमोहन ! मेरे मनको अपनी माधुरीसे मोह लो । मेरे मनमें जो मान, यश और विषय-सुखकी इच्छारूपी आग जल रही है, इसे तुम्हीं अपने कृपा-वारिसे बुझा दो । प्रभो ! मैं केवल तुम्हींको चाहूँ, केवल तुम्हींको अपना सर्वस्व समझूँ, तुम्हीं मेरे प्राणाधार और प्राण हो; तुम्हीं मेरे आत्मा और परमात्मा हो—इस बातको जानकर मैं केवल तुम्हींसे प्रेम करूँ; तुम्हारे

इस प्रेम-प्रवाहमें मेरा अपना माना हुआ धन-जन, मान-मोह--सब बह जाय। तुम्हारे प्रेमसागरमें सब कुछ डूब जाय। मैं केवल तुम्हारी ही झाँकी करता रहूँ—ऐसा सौभाग्य दे दो, मेरे प्रियतम !

फिर सारे जगत्में मुझको तुम्हीं दिखायी पड़ने लगो, सारा जगत् तुम्हीं हो जाओ। मैं सबमें, सब ओर, सदा-सर्वदा तुम्हींको देखूँ, सब तुम्हारे ही स्वरूपमें परिणत हो जाय। अहा! वह दिन कैसा सुदिन होगा, वह घड़ी कैसी शुभ घड़ी होगी, वह क्षण कैसा मधुर क्षण होगा और वह स्थिति कैसी आनन्दमयी होगी, जब ऐसा हो जायगा। तब इस जगत्में मेरे लिये कोई पराया नहीं रहेगा; तब मेरे मनके राग-द्वेष, वैर-विरोध, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व मिट जायँगे और मुझे सब ओर विशुद्ध प्रेम, सब ओर अपार आनन्द, सब ओर अनन्त शान्ति और सब ओर सौन्दर्य-माधुर्यभरी तुम्हारी मनमोहिनी मूर्ति दिखायी देगी। मेरी साधना सफल हो जायगी, मैं निहाल हो जाऊँगा; क्योंकि उस समय मैं और तुम—बस, हम दो ही रह जायँगे। मैं तुम्हारी मनमानी सेवा करूँगा और तुम उस सेवाको स्वीकारकर मेरी सेवा करोगे! सभी बातें मेरे मनकी होंगी। नहीं, तब मेरा मन भी तो मेरा नहीं रहेगा, वह तो तुम्हारे ही मनकी छाया बन जायगा; अतः सब तुम्हारे ही मनकी होगी। तुम जबतक अपने महान् संकल्पसे मुझे यों अलग रखकर मुझसे खेलोगे, तबतक मैं 'परम धन्य और परम सुखी बना तुम्हारे साथ तुम्हारी रुचिके अनुसार खेलता रहूँगा और तुम जिस क्षण अपने संकल्पको छोड़कर अपने उस खेलको समेटकर मुझे आलिङ्गन करना चाहोगे, उसी क्षण मैं तुम्हारे विशाल हृदयमें समा जाऊँगा। यह खेल भी कैसा मधुर होगा, मेरे मधुरिमामय मोहन! मेरा यह सुख-स्वप्न सच्चा कर दो मेरे सनातन स्वामी !



प्यारे कन्हैया !

प्यारे कन्हैया ! तेरी ही पलकोंके इशारेपर मुनिमन-मोहिनी महामाया-नटी थिरक-थिरककर नाच रही है । तेरे ही संकेतसे महान् देव रुद्र अखण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं । तुझे ही रिझानेके लिये हाथमें वीणा लिये सदानन्दी नारद मतवाला नाच नाच रहे हैं । तेरी ही प्रसन्नताके लिये व्यास-वाल्मीकि और शुक-सनकादि घूम-घूमकर और झूम-झूमकर तेरा गुणगान करते रहते हैं ! तेरा रूप तो बड़ा ही अनोखा है । जब तेरी वह रूपमाधुरी स्वयं तुझीको पागल बनाये डालती है तब ज्ञानी-महात्मा, संत-साधु और प्रेमी भक्तोंके उसपर लोक-परलोक निछावर कर देनेमें तो आश्चर्य ही क्या है ? आनन्दका तो तू अनन्त असीम सागर है, तेरे आनन्दके किसी एक क्षुद्र कणको पाकर ही बड़े-बड़े विद्वान् और तपस्वी लोग अपने जीवनको सार्थक समझते हैं । अहा ! अनिर्वचनीय प्रेमका तो तू अचिन्त्य स्वरूप है । तुझ प्रेम-स्वरूपके एक छोटे-से परमाणुने ही संसारके समस्त जननी-हृदयोंमें, समग्र शुद्ध-प्रेमी-प्रेमिकाओंके अन्तरमें, सम्पूर्ण मित्र-अन्तस्तलोंमें और विश्वके अखिल प्रिय पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर जगत्को रसमय बना रक्खा है । ज्ञानका अनन्त स्रोत तो तेरे उन चरणकमलोंके रजःकणोंसे प्रवाहित होता है, इसीसे बड़े-बड़े संत-महात्मा तेरी चरणधूलिके लिये तरसते रहते हैं !

किसमें सामर्थ्य है जो तुझ सर्वथा निर्गुणके अनन्त दिव्य गुणोंकी थाह पा ले ? ऐसा कौन शक्तिसम्पन्न है, जो तुझ ज्ञानस्वरूप प्रकृतिपर परमात्माके अप्राकृत ज्ञानकी शेष सीमातक पहुँचे ? किसमें ऐसी शक्ति है जो तुझ अरूपकी विश्व-विमोहिनी नित्य रूप-छटाका सर्वथा सक्षात्कार करके उसका यथार्थ वर्णन कर सके; कौन ऐसा सच्चा प्रेमी है जो तुझ अपार अलौकिक प्रेमार्णवमें प्रवेश करके उसके अतल तलमें सदाके लिये डूबे बिना रह जाय ? फिर बता, तेरा वर्णन—तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका विवेचन कौन करे और कैसे करे ? प्यारे कृष्ण ! बस, तू तू ही है ! तेरे लिये जो कुछ कहा जाय, वही थोड़ा है । तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका दिव्य ध्यान-ज्ञान-जनित अनुभव भी तेरी कृपा बिना तुझ देश-काल-कल्पनातीत अकल कल्याण-निधिके वास्तविक स्वरूपके कल्पित चित्रतक भी पहुँचकर उसका सच्चा वर्णन नहीं कर सकता । फिर अनुभवशून्य कोरी कल्पनाओंका तो मूल्य ही क्या है ? वस्तुतः तेरे स्वरूप और गुणोंका मनुष्यकृत महान्-से-महान् वर्णन भी यथार्थ तत्त्वको बतलानेवाला न होनेके कारण, महा-महिमान्वित चक्रवर्ती सम्राट्को तुच्छ ताल्लुकेदार बतलानेके सदृश एक प्रकारसे तेरा अपमान ही है । परंतु तू दयामय है । तेरे प्रेमी कहा करते हैं कि तू, प्यारे दुलारे नन्हे मुन्नोंकी हरकतोंपर कभी नाराज न होकर स्नेहवश सदा प्यार करनेवाली जननीकी भाँति, किसी तरह भी अपना चिन्तन या नाम-गुण ग्रहण करनेवाले लोगोंके प्रति प्रसन्न ही होता है । तू उनपर कभी रुष्ट होता ही नहीं । बस, इसी तेरे विरदके भरोसेपर मैं भी मनमानी कर रहा हूँ ! पर भूला, मेरी मनमानी कैसी ? नचानेवाला सूत्रधार तो तू है, मैं मनमानी करनेवाला पामर कौन ? तू जो उचित समझे, वही कर ! तेरी लीलामें आनाकानी कौन कर सकता है; पर मेरे प्यारे साँवलिया ! तुझसे एक प्रार्थना अवश्य है । कभी-कभी अपनी मोहिनी मुरलीका मीठा सुर सुना दिया कर और जँचे तो कभी अपनी भुवन-विमोहिनी सौन्दर्य-सुधाकी दो-एक बूँद पिलानेकी दया भी.......................................



मनोरथ

ब्रज के लता-पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जासौं सिर दीजै॥
आवत-जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे-राधे मुख, यह बर मुँह-माँग्यौ हरि! दीजै॥



